॥ श्रीदक्षिणामूर्तये नम ॥

श्वेताश्वतर-उपनिषद्

महेशानन्द गिरि

प्रकाशक

श्री दक्षिणामूर्ति मठ,

डी ४६।६ मिश्रपोखरा

वाराणसी

मुद्रक

पर्वतीय मुद्रणालय

पचगगा, वाराणसी

प्रथम सस्करण १६७५

मूल्य २०) रुपया

प्राप्तिस्थान—

(१) श्री दक्षिणामूर्ति महाविद्यालय

डी ४६।६ मिश्रपोखरा, वाराणसी १

(२) श्री शंकर मठ,

माउण्ट आबू, (राजस्थान)

(३) श्री संन्यास आश्रम,

श्री राम रोड, दिल्ली ११०००८

उपोद्घात

यन्नत्वा यतय सर्वे शिवयोगे स्थिराभवन्।

महेश निर्मलं वन्दे श्वेताश्वतरकं प्रभुम् ।।

वैदिक साहित्य मे वर्तमान उपलब्ध शाखाओ मे सबसे अधिक शाखाये कृष्ण यजुर्वेद की पाई जाती है। जबकि ऋग्वेद की एक, अथर्ववेद की दो, सामवेद की तीन एव शुक्ल यजुर्वेद की दो शाखाये पाई जातो है, तब केवल कृष्ण यजुर्वेद की तैत्तिरीय, काठक, कपिष्ट-काठक एव मैत्रायणी शाखाये प्रकाशित हो चुकी है, तथा कुछ शाखाओ के हिस्से भी प्राप्त हो चुके है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि किसी काल मे यजुर्वेद, तत्रापि कृष्ण यजुर्वेद, का कितना अधिक प्रचार रहा होगा। इसी कृष्ण यजुर्वेद को शाखाओ मे श्वेताश्वतर शाखा भी आती है। बहुत दिन प्रयत्न करने पर भी हमे इस शाखा का मत्र, ब्राह्मण एव आरण्यक कुछ भी उपलब्ध नही हो सका। केवल मात्र श्वेताश्वतर उपनिषद् इस शाखा का एकमात्र ग्रन्थ बच गया है। स्वभावत इसका सम्यक् परिशीलन करना दुस्साध्य हो गया है, क्यो कि यदि श्वेताश्वतर शाखा उपलब्ध होनी तो हमे उसी सदर्भ मे वैसे ही उपनिषद् का विचार करने का मौका मिलता, ठीक जैसे हम ईशा-वास्य उपनिषद् के अध्ययन मे काण्व शाखा के द्वारा उपकृत हुए हैं। फिर भी कृष्ण यजुर्वेद के मत्रो मे शाखाभेद होने पर भी काफी साम्य मिलता है एव कपिष्ठ काठक सहिता का श्वेताश्वतर वालो से कुछ वैसा ही सम्बन्ध रहा है जैसा कि शाकल्य शाखा का बाष्कल शाखा से। खिल काण्ड से अतिरिक्त चू कि विशिष्ट भेदो का समर्थन नही मिलता, हमने भी इसी दृष्टि से श्वेताश्वतर का विचार करते हुए प्रधानरूप से कपिष्ठ काठक का सदर्भ रखा है एव कही कहो तैत्तिरीय ब्राह्मण एव तैत्तिरीय आरण्यक का आधार लिया है, क्योकि कपिष्ठ कठ के ब्राह्मण एव आरण्यक हमे केवल हस्तलेख रूप मे देखने को मिले जिनका बार बार अभ्यास करना सम्भव नही हो सका।

वैदिक दृष्टि से ही नही, वरन् पुरातत्व शास्त्र की दृष्टि से भी शिवपूजन न्यूनतम आठ हजार वर्ष पुराना है। मोहिंजोदडो एव हडप्पा मे शिवलिंग स्पष्ट रूप मे तथा जलहरी भी मिली है। वहा की मुद्राओ पर ऊर्ध्वरेता पशुपति की मूर्ति खुदी मिली है। ऋग्वेद मे रुद्र के जो कि शिव का ही नामान्तर है, अनेक सूक्त उपलब्ध होते है। पाश्चात्य देश वालो ने यद्यपि ऋग्वेद मे उपलब्ध शिश्नदेवा का अर्थ लिगपूजक किया हे परन्तु यह सर्वथा ऋग्वेद को न समझने के कारण ही है। लिग शिश्न का रूप नही है वरन् प्रकृति मे जो स्वाभाविक रूप से अण्डाकार गति है तथा समग्र ब्रह्माण्ड का अण्डाकार स्वरूप है, इसी को लेकर अण्डाकार रूप चिह्न अर्थात् लिंग शिव का प्रतीक माना गया है। किसी भी समाज मे स्पष्ट रूप से शिश्न का पूजन सम्भव ही नही हो सकता। जो भी हो, वेदो मे रुद्र का काफी वर्णन है तथा रुद्र के वर्णन मे कही भी शिश्नदेव का सकेत नही है। अतः यदि आधुनिको की यह कल्पना सत्य भी हो तो शिश्नदेव शैव नही थे, यह तो स्पष्ट ही है। इसके विपरीत रुद्र को कपर्दी अर्थात् जटा वाला, शतधन्विने अर्थात् अनेक धनुषो को चलाने की सामर्थ्य वाला, त्रयम्बक अर्थात् अम्बा का पति, पुष्टिवर्द्धन पुष्ट करने वाल' मृत्योमुंक्षीय मृत्यु से छुडाने वाला आदि अनेक विशेषणों से याद कि गया है। सामविधान ब्राह्मण में रुद्र सहिता मिलती है। शुक्ल र्जुर्वेद के सोलहवें तथा कृष्ण यजुर्वेद के चौथे अध्याय मे प्रसिद्ध शतरुद्राध्याय प्राप्त होता है जिसमे शिव को अनेक नामो से स्मरण किया गया है। इसी प्रकार अथर्ववेद के छठे, ग्यारहवे एव पन्द्रहवें काण्ड मे शिव, रुद्र, महादेव आदि नामो से शिवस्तुतियॉं है। काठक सूत्र परिशिष्टीय रुद्रकल्प मे शिव ध्यान एव पूजा आदि का विस्तृत वर्णन किया गया है। अनेक स्मार्त उपनिषद् शैव उपनिषद् हैं। गौतम बुद्ध भी अपने उपदेशो मे शिवविद्याओ का वर्णन करते

है जिसे शिव चिह्ना कहते है। मन्दिरो की दृष्टि से भी सबसे प्राचीन मन्दिर शिव के ही है। जब अशोक नेपाल गया तब वहा पशुपति मन्दिर का दर्शन किया, यह घटना आज से २२०० वर्ष पूर्व की है। उसकी पुत्री चारुमती वही रह गई थी एव पशुपति नाथ के उत्तर मे उसने एक मठ निर्माण भी करवाया था। अशोक स्वय भी बौद्ध बनने के पहले शैव था और उसका बडा पुत्र जलौ, जो काश्मीर का राजा बनाया गया था, शैव था एव उसने काश्मीर मे अपने पिता के नाम से अशोकेश्वर महादेव की स्थापना की थी। न केवल आर्यावर्त के लोग ही वरन् कड्फिस द्वितीय एव कनिष्क प्रथम तथा हुविष्क जैसे अनार्य आगन्तुक राजा भी शैव बने थे एव उनकी मुद्राओ पर नदी, उमेश एव त्रिशूल की मूर्तिया बनी हुई है। हर्ष का पूर्व पुरुष पुष्यमूर्ति शैव था एव हर्ष का समकालीन बगाल का राजा शशाक भी शैव था, ऐसा ह्वेनसाग ने अपने ग्रन्थ मे बताया है। यद्यपि वातापि अब खण्डहर बन गया है परन्तु वहा के चालुक्य राजा ने ५५० शताब्दी से ७५० शताब्दी तक राज्य किया था। उनके बनाये हुए शव मन्दिरो के ध्वसावशेष अब भी उपलब्ध है। चट्टान मन्दिरो मे सबसे प्रसिद्ध और प्रधान एलोरा मे बना हुआ कैलाश मन्दिर राष्ट्रकूटो के द्वारा बनवाया गया था जो उनके शैवधर्मी होने का प्रमाण है। ९८५ मे चोलराज राजराजा ने जो मन्दिर बनवाया था, वह आज भी विद्यमान है। १०२३ मे राजेन्द्र ने गगेकोडा चोलपुर मे एक तीस फुट ऊचा शिवलिंग प्रतिष्ठित किया। बसव के द्वारा कर्नाट प्रान्त मे वीर शैवो की प्रतिष्ठा के बाद तो आज तक वहा पर शैव धर्म ही प्रधान रूप से विद्यमान है। चिदम्बर का नटराज का मन्दिर अघोर शिवाचार्य के समय काफी प्रसिद्ध था। अघोर शिव का समय ११५८ माना जाता है। पाणिनी, कालिदास, नदिकेश्वर इत्यादि तो स्पष्ट रूप से ही शैव थे। कालिदास ने मेघदूत मे महाबलेश्वर का वर्णन

किया हैं और वह मन्दिर आज भी उज्जैन मे विद्यमान है। इस प्रकार वैदिक एव पुरातत्व खोज तथा ऐतिहासिक आधार पर निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि भारत का धर्म शैव धर्म ही रहा। डा० रघुवीर के द्वारा कोरिया, चीन, हिन्देशिया, काकेशिया से लाई हुई ग्रन्थराशि से यह सप्रमाण सिद्ध हो चुका है कि बौद्ध धर्म के पूर्व वहा भी शैव धर्म ही प्रचलित था। योरोप मे भी जगह-जगह पर प्राचीन शिवलिंग अब भी मिलते हैं तथा दक्षिण अमरीका मे गणेश, देवी के साथ शिव मूर्तिया भी उपलब्ध हुई है। एक दृष्टि से कहा जा सकता है कि न केवल भारत का वरन् विश्व का प्राचीनतम धर्म शैव धर्म ही है। यद्यपि यह सत्य है कि यजुर्वेद मे ही शिव का माहात्म्य सर्वाधिक प्रतिपादित है एव सभी शिव सम्प्रदायो मे प्रचलित **ॐ नम शिवाय** का महामत्र भी यजुर्वेद मे ही मिलता है तथापि सनातन धर्म की दृष्टि से वेदो मे केवल विषय के अनुसार भेद माना जाता है, देव के अनुसार नही। चू कि यजुर्वेद ही प्रधान रूप से कर्मकाण्ड का प्रतिपादक रहा, अत उसमे शिव माहात्म्य का अधिक आना स्वाभाविक था। तैत्तिरीय आरण्यक मे तो पच ब्रह्म मत्र तथा लिंग स्थापन इत्यादि की विधि मे प्रयुक्त सभी मत्र उपलब्ध होते है। इस भाग को **याज्ञिकी आरण्यक** कहा जाता है जिसका एक भाग याज्ञिकी उपनिषद् है। **एक एव रुद्रोऽवतस्थे न द्वितीयाय तस्थु.** इत्यादि से स्पष्ट है कि जहा-कही एक ब्रह्म का वर्णन आया है, उसे रुद्र नाम से ही कहा गया है। अद्वैत वेदात का सर्वोत्तम ग्रन्थ माण्डूक्य उपनिषद् भी तुरीय अवस्था को शिव नाम से स्मरण करता हैं। किसी समय शैव धर्म बहुत फूला फला था और आज भी हमको उनके कम से कम आठ सम्प्रदायो के ग्रन्थ मिलते है। पाशुपत द्वैतवाद, सिद्धात शैव वाद, लकुलीश द्वैताद्वैतवाद, श्रीकण्ठ विशिष्टाद्वैतवाद, वीर शैव विशेषाद्वैतवाद, नन्दिकेश्वर शैववाद, रसेश्वर शैववाद, प्रत्यभिज्ञा

त्रिक, क्रम आदि काश्मीर के शैव आदि सभी शैव ही हैं। यद्यपि गत ४०० वर्षों से शैव धर्म का ह्रास होता रहा है तथापि प्राचीन साहित्य को देखने से पता चलता हैं कि प्राय सभी दार्शनिक, साहित्यकार, सगीतकार इत्यादि शैव ही रहे। शैवागम भी बडे विस्तृत है जिनमे ज्ञान, योग, क्रिया और चर्या के अध्यायो मे व्यावहारिक पूजा इत्यादि का वर्णन बडे विस्तार से किया गया है। इन्ही शैवागम के ग्रन्थो के आधार पर समरागण सूत्रधार की रचना राजा भोज ने की थी जो मन्दिर निर्माण का प्रधान ग्रन्थ है तथा **तत्व प्रकाशिका** मे प्राय. सभी शिवपूजा विधियो का वर्णन किया गया है। पातजल योगसूत्र भी शैवागमो पर ही आधारित है। आज भी नाथयोगी शिवोपासक ही होते है। आचार्य शकर के सम्प्रदाय मे सौन्दर्य लहरी एव दक्षिणामूर्ति स्तोत्र का सर्वाधिक प्रयोग उपासना के लिये किया जाता है। ये दोनो ही शिव तत्रो पर ही आधारित है। इस प्रकार कह सकते है कि अनेक भागो मे बटा हुआ शैव धर्म का मूल वेद ही रहा है।

यद्यपि शैवो मे विशिष्टाद्वैतवादी एव द्वैतवादी भी हुए हैं लेकिन इनकी सख्या अति न्यून रही है। शिवविशिष्टाद्वैतवादी श्रीकण्ठाचार्य अपने ब्रह्मसूत्र भाष्य मे **निरन्वय भाष्य** के नाम से अद्वैतभाष्य को ही चरम तात्पर्य मानते है, जिसे **शिवार्कमणिदीपिका** मे आचार्य अप्पयदीक्षितेन्द्र ने विस्तार से प्रतिपादित किया है। इसी प्रकार वीर शैवो मे भी शिवोह की उपासना प्रचलित है। अत. किंचित् भेद होने पर भी वस्तुत ये सभी अद्वैतवादी ही रहे हैं। वस्तुत भावुक लोगो को अद्वैतवाद मे भक्ति पर कुछ प्रहार सा प्रतीत होता है और इसीलिये अद्वैत के रहस्य को न समझकर वे प्राय भक्ति की सिद्धि के लिये द्वैत को स्वीकार कर लेते हैं। परन्तु वास्तविक दृष्टि से अद्वैत से ही भक्ति का समन्वय सम्भव है। प्रेम की सीमा प्रिय पात्र से अभिन्न होकर नित्य एकता मे ही होती है, न कि

भेद मे। आचार्य शकर के साक्षात् गुरु आचार्य गोविन्दपाद के द्वारा रसेश्वर शैव दर्शन पर ग्रन्थ का निर्माण इस बात को स्पष्ट करता है कि वह उसके भी आचार्य थे। हेगेल ने अपने ग्रन्थो मे कला, धम एव दर्शन को एक त्रिशूल माना है, जिसमे कला वाद, धर्म प्रतिवाद एव दर्शन सवाद है, और यह हेगेल की दृष्टि मे अतिम त्रिशूल है। हम वाद और प्रतिवाद को स्वीकार करे या न करे लेकिन इतना तो मानना ही पडेगा कि इन तीन अवस्थाओ मे से प्रत्येक साधक को निकलना पडता है। अत शव धर्म से ही आगे दर्शन प्रादुर्भूत हुआ। वैदिक दर्शनो मे उपनिषद् ही प्रथम कडी है। यद्यपि सभी उपनिषदो मे शिव वाचक शब्दो की भरमार है तथापि श्वेताश्वतर उपनिषद् जो एक प्रकार से सभी उपनिषदो के सार रूप से और सभी महिताओ के उपदेश के अनन्तर किया गया है, उसमे तो स्पष्ट रूप से शैव धर्म के साथ-साथ शैव दर्शन का भी प्रतिपादन है। यह उन १६ उपनिषदो मे से है जो वेद की शाखाओ से सम्बन्धित है, अत श्रौत है तथा जिनमे से सूत्रकारो ने उद्धरण ग्रहण किये है तथा भाष्यकारो ने उन उद्धरणो का उद्धार किया है। यद्यपि इसके ऊपर आचार्य शकर का कोई भाष्य नही है तथापि इसका कारण इसमे किसी प्रकार के दार्शनिक मतभेद की सम्भावना नही होने के कारण ही है, परवर्ती काल मे इस उपनिषद् को ही आधार मानकर साख्यों ने प्रकृतिवाद एव योगियों ने २६ तत्ववाद का विवरण किया, तथापि निष्पक्ष दृष्टि से इसे पढने पर पता लग जाता है कि यह शुद्ध वेदात की दृष्टि से प्रतिपादित किया हुआ ग्रन्थ है और सृष्टि प्रक्रिया मे यद्यपि साख्य तत्त्व और ध्यान प्रक्रिया मे योग तत्त्वों का प्रतिपादन है तथापि दर्शन पक्ष मे तो अद्वैत ही स्वीकृत है। ध्यान पक्ष मे योग एव सृष्टि-पक्ष मे साख्य की प्रक्रिया तो वेदात से मिलती-जुलती है ही, तथा शैवागमो की प्रक्रियाओ की तो साख्यवाद ने मानो नकल ही उतारी

है। हेगेल का कथन यहा पर चरितार्थ होता है क्योकि यह बिल्कुल ठीक है कि प्रकृति को जब सहृदय कवि देखता है तब उसके हृदय मे जो स्पन्द होता है, वही धर्म होता है। वैदिक मत्रो मे अधिकतर प्रकृति के सौन्दर्य से प्रभावित ऋषियो के हृदय की प्रार्थनाओ का वर्णन है। इसका अर्थ यह नही समझ लेना चाहिये कि इन ऋषियो ने इन मत्रो को लिखा था क्योकि वस्तुत वेद अपौरुषेय है। भाव केवल इतना ही है कि इन मत्रो मे इस प्रकार के साधको की भावनाओ को अकित किया गया है। फिर जब इस धर्म भावना को बुद्धि के द्वारा ग्रहण करने की प्रवृत्ति हुई तब मानो उसका अतिम नतीजा श्वेताश्वतर उपनिषद् मे ग्रथित कर दिया गया।

अन्य उपनिषदो मे यद्यपि किसी न किसी एक ऋषि की विशेषता रहती है परन्तु स्पष्ट रूप से बृहदारण्यक को भी याज्ञवल्क्यीय उपनिषद् नही कहा जा सकता, तो दूसरे उपनिषदो की तो बात ही क्या। पर श्वेताश्वतर उपनिषद् मे स्पष्ट किया गया है कि श्वेताश्वतर महर्षि ने अपने शिष्यो को, जो स्वय ब्रह्मनिष्ठ थे, यह अतिम उपदेश दिया। इस दृष्टि से इस उपनिषद् का बडा वैशिष्ट्य है। ठीक जिस प्रकार वेदात ज्ञान का उपदेश भगवान् कृष्ण के मुख से होने पर उसमे एक व्यक्तित्व का भी विज्ञान सम्मत प्रभाव आ गया, वैसा ही श्वेताश्वतर उपनिषद् मे भी प्रतीत होता है। गीता तथा श्वेताश्वतर उपनिषद् मे और भी अनेक समानताये वैचारिक दृष्टि से है जिनका विस्तृत वर्णन करना यहा इष्ट नही है।

यह उपनिषद् छ अध्यायो मे विभक्त है एव छठा अध्याय एक तरह से सारे ही पूर्व अध्यायो का सक्षेपमात्र है। प्रथम अध्याय मे कुछ ब्रह्मवेत्ता लोग आपस मे विचार करते है कि जगत् का कारण, सचालक एव प्रतिष्ठाता कौन है ? जब युक्तियो के द्वारा किसी निर्णय र नही पहुँचते तो ध्यान का सहारा लेते है एव ध्यान के द्वारा

इनको प्रवाह एव चक्र इन दो का साक्षात्कार होता है। यह एक रहस्यमय दर्शन है एव इस प्रकार का अद्वैत ध्यान और कही भी उपलब्ध नही होता हैं। इसी के फलस्वरूप वह एकात्मवाद का अनुभव करते है और यह समझ लेते है कि जब तक आत्मा और परमात्मा को अलग समझते है तब तक बधन है, और आत्मा और परमात्मा की एकता के ज्ञान से ही मोक्ष है। इसके बाद इसका विस्तार किया गया हैं एव ध्यान के कई प्रकारो का वर्णन है। दूसरा अध्याय ध्यान का वर्णन करते हुए ध्यान के अग कुण्डलिनीयोग, प्राणायाम योग, आसन इत्यादि का विस्तार से वर्णन करता है एव उससे होने वाले फलो का प्रतिपादन करके अत मे परमात्मा की व्यापकता को सहिता के मत्रो से उद्धृत करके बताते है कि एक परमात्मा किस प्रकार अपनी शक्तियो से अनेक रूप का बनता है, यह तीसरे अध्याय मे बताया है। तीसरे अध्याय की सबसे बडी विशेषता है कि रुद्राध्याय के अनेक मत्रो का एव पुरुषसूक्त के अनेक मत्रो का यहा प्रयोग किया गया है। चौथे अध्याय मे केवल उस महादेव की कृपा से ही शुभ बुद्धि की प्राप्ति बताई है जिसके फलस्वरूप वह परमात्मा ही अग्नि, सूर्य आदि रूपो में, पुरुष स्त्री इत्यादि रूपो मे, नीले, हरे इत्यादि रूपो मे प्रतीत होता है। यही वह प्रसिद्ध मत्र मिलता है जिसमे एक अजा के द्वारा अनेक प्रकार की सृष्टि का वर्णन है एव जिसके आधार पर साख्यवादी अपनी त्रिगुणात्मिका प्रकृति को वैदिक सिद्ध करने का दुस्साहस करते हैं। परन्तु प्रकरण से यह स्पष्ट है कि यहा पर किसी भी प्रकार की त्रिगुणात्मिकता का प्रतिपादन नही है। उसके बाद ऋग्वेद के मत्रो के सहारे जीव और ईश्वर के स्वरूप का वर्णन किया जाता है एव महेश्वर और उसकी माया का निरूपण करके अत्यत शाति का उपाय कई मत्रो मे बताया है। यही पर दक्षिणामूर्ति उपासना का भी प्रतिपादन किया गया एव यजुर्वेद के अपनी रक्षा के मानस्तोके इस

प्रसिद्ध मत्र का आध्यात्मिक अर्थ किया है। पाचवें अध्याय मे विद्या और अविद्या इन दो शक्तियो को बताते हुए कहा है कि किस प्रकार विश्व आगे बढता है एव जीव अत्यल्प दीखने पर भी वस्तुत परमात्मरूप ही है, पुरुष स्त्री आदि शरीरो मे रहते हुए भी वह वस्तुतः उन शरीरो से अतीत है। शिव केवल भाव के द्वारा ही ग्रहण किया जा सकता है एव समग्र कलाओ को उत्पन्न करने वाला एकमात्र वही हैं। छठे अध्याय मे इन सब बातो को सक्षेप मे बताते हुए उसकी एकता, निष्कलता, निष्क्रियता का प्रतिपादन किया तथा शरण प्राप्ति के मत्रो का वर्णन किया। तप और शिव की कृपा से ही श्वेताश्वतर महर्षि ने इस तत्त्व का साक्षात्कार किया और यह केवल गुरुभक्त को ही प्रकाशित होता है, यह कहकर इस उपनिषद् को समाप्त किया। इस प्रकार साधक के काम की जितनी भी बातें हो सकती है, सभी इस उपनिषद् मे आ गई है। यद्यपि इस उपनिषद् के ऊपर कम से कम ६ टीकाओ का प्रकाशन हो चुका है एव अन्य अनेक टीकायें हस्तलिखित रूप मे उपलब्ध हैं तथापि इसका सर्वतोभावेन निरूपण प्राय नही किया गया है। वर्तमान सस्करण मे हमने प्रत्येक पद के अर्थ का स्पष्टीकरण ही उद्देश्य रखा है। उसमे उपहित दार्शनिक मीमासा को बहुत ज्यादा विस्तृत करने का प्रयत्न नही किया परन्तु आधार भूत सिद्धान्तो का सकेत अवश्य सर्वत्र कर दिया है। यदि कभी द्वितीय सस्करण का अवसर आया तो उन सकेतो को कुछ और अधिक विस्तृत करने का प्रयास किया जायेगा। उपनिषदो मे जो उपासना प्रकरण हैं वे प्राय बडे गूढ हैं एव जहा कही उपासना प्रकरण आता है, वहा समग्र तत्र एव आरण्यक भागो का पूर्णत अवलम्बन किये बिना स्पष्टार्थता आना सम्भव नहीं होता। इसीलिये सम्भव हैं कि कुछ मत्रो का अर्थ स्पष्ट न हो पाया हो। परन्तु उनके बारे मे जितनी सामग्री उपलब्ध हो सकी है, वह प्रस्तुत की गई है।

साधक उसके ऊपर विचार करके और अधिक नवीन तत्त्वो का भी उद्भावन कर सकेगे। शास्त्र रसज्ञ यदि किन्ही उपासनाओ के बारे मे किसी अधिक सामग्री को अपने पास रखते हो तो उन हस्त-लेखो को प्राप्त करने पर उनका सग्रह अवश्य ही अगले संस्करण मे अथवा अलग मे भी किया जा सकता है। इस प्रकार प्रकाशित टीकाओ मे एक टीका आचार्य शकर के नाम से भी मिलती है परन्तु निश्चित रूप से ही वह प्रस्थानत्रयी भाष्यकार भगवत्पाद के द्वारा निर्मित नही है, यह कहा जा सकता है। उपनिषद् भाष्यो मे वेद-मूलकता ही भाष्यकार की प्रधानता रही है। पुराण स्मृति इत्यादि का उद्धरण देना उन्हे कभी भी सगत नही लगा। उनकी यह शैली सभी प्रस्थानो के भाष्य मे देखी जा सकती है। इतना ही नही, बहुत लम्बे लम्बे आठ आठ, दस दस श्लोको के असम्बद्ध उद्धरण देते चले जाना उन्हे कभी प्रिय नही रहा। मूल के तात्पर्य प्रतिपादन मे युक्ति, विचार मे चाहे बृहदारण्यक के कुछ स्थल विस्तृत हो गये हो परन्तु केवल उद्धरण मात्र से उन्होने कभी भी अपने ग्रन्थो का व्यर्थ विस्तार नही किया। आचार्य नारायण ने प्राय २४ उपनिषदो पर अपनी दीपिकायें लिखी हैं एव प्रत्येक उपनिषद् के अत मे जहा कही भाष्य उपलब्ध रहा है, वहा **शकरोक्त्युपजीविन** कहा है, एव जहा भाष्य उपलब्ध नही हुआ है वहा **श्रुतिमात्रोपजीविनः** कहा है। श्वेताश्वतर दीपिका मे तो **श्रुतिमात्रोपजीविन** हो कहा है एव इस दीपिका मे तथा कथित भाष्य का एक भी उद्धरण नही है। इसी प्रकार उन्होने प्रस्थान त्रयी भाष्यकार आचार्य शकर का प्राय शब्दश सक्षेप कर उपलब्ध भाष्यो का सकेत किया है, परन्तु श्वेताश्वतर की दीपिका मे न केवल तथा कथित भाष्य के सकेत का अभाव है, वरन् कई मत्रो की व्याख्या तथा कथित शाकर भाष्य की व्याख्या से विरुद्ध भी है। चक्र एवं प्रवाह दर्शन के अध्यात्म-रहस्य के निरूपण मे साख्य प्रक्रिया

का उद्धरण अक्षरश दे देना आचार्य शकर के लिये कथमपि सम्भव नही होता। ब्रह्मसूत्र भाष्य मे त्रिगुणात्मिका प्रकृति को ऊहापोह के साथ अवैदिक सिद्ध करने वाले प्रस्थानत्रयी भाष्यकार यहा मानो त्रिगुणात्मिका प्रकृति को वैदिक सिद्ध करने मे कोई विरोध नही देखते। दार्शनिक मीमासा तो प्रायः सर्वथा ही इसमें नही मिलती। आधुनिक दृष्टि से विचार करने पर भाषा भी प्रस्थानत्रयी के भाष्यो से बिल्कुल ही नही मिलती। प्रस्थानत्रयी के समग्र भाष्यो पर टीका करने वाले आचार्य आनन्दगिरि स्वामी ने भी इसपर टीका नही लिखी है। धनपति सूरी जो भाष्य के गहन अध्येता ही नही, वरन् भाष्य के पदार्थो का अपने ग्रन्थो मे पूर्णत प्रतिपादन करने वाले थे, उन्होंने भी डिण्डिम टीका मे आचार्य द्वारा कृत दस उपनिषदो के भाष्यो का ही वर्णन किया है। यदि प्रस्थानत्रयी भाष्यकार भगवत्पाद शकर श्वेताश्वतर उपनिषद् पर भी भाष्य लिखने वाले होते तो शकर विजय के प्रसग मे इसका अवश्य ही उल्लेख किया जाता। विद्यारण्य स्वामी ने भी इस भाष्य का अपनी दीपिका एव **अनुभूति प्रकाश** मे कोई सकेत नही दिया है। इन सब बातो से स्पष्ट होता है कि यह महेश्वर परावतार ज्ञान शक्तिरूप भाष्यकार शकर की कृति नही है। हमे विश्वास है कि इस प्रकार के पद पदार्थ से लोग विचार करने मे अधिक प्रवृत्त होगे। हमने प्राय नारायण तथा शकरानन्द का अनुसरण किया है, यद्यपि सभी टीकाकारो के समत अर्थ का प्रतिपादन हमारा ध्येय रहा है। प्रज्ञा पाठशाला के सस्करण में भी शकरानद को ही शकर सम्प्रदाय का प्रतिनिधि स्वीकार किया है। परमहस सम्प्रदाय मे अनेक प्राचीन ग्रथो के सग्राहक प्रसिद्ध अर्थों का तो इसमे पूर्ण समावेश कर ही दिया गया है। अन्य उपनिषदो की तरह यहाँ भी हमारा ध्येय उपनिषद् को एक मृत दर्शन की तरह समुपस्थित करना नही वरन् जीवित धर्म के सदर्भ मे उपस्थित करना ही रहा है।

१९७२ के चातुर्मास्य में अर्बुदाचल मे प० भागीरथ पाण्डेय के प्रयत्न से ही ग्रन्थ का लेखन सम्भव हो सका। इस ग्रन्थ के एक मत्र की व्याख्या किसी समय सन्यास आश्रम, दिल्ली में एक पक्ष तक चली थी एव वह पुस्तकाकार प्रकाशित भी हुई थी। तभी से प्रिय पाण्डेय जी का आग्रह रहा कि इस उपनिषद् का समग्र विवरण उपस्थित किया जायें। हस्तलेख तैयार हो जाने पर भी प्रकाशन के लिये किसी एक स्थान पर रहना आवश्यक था एव वह १९७३ के चातुर्मास्य में काशी में हो पाया। अत- यही से इसका प्रकाशन हो रहा है।

ग्रन्थ का टकण करने में प्रिय मदनलाल खटर का प्रयास स्तुत्य रहा है।

काशी चातुर्मास्य व्रत — भगवत्पादीयो

भाद्रपद, २०३० — महेशानन्दगिरि

———

विषयसूची

ॐ

तत्सद्ब्रह्मणे नमः

श्वेताश्वतरोपनिषद्



ॐ सह नाववतु । सह नौ भुनक्तु । सह वीर्यं
करवावहै । तेजस्विनावधीतमस्तु ।
मा विद्विषावहै ।



प्रथमोऽध्यायः

हरिः ॐ ब्रह्मवादिनो वदन्ति—

किं कारणं ब्रह्म कुतः स्म जाता जीवाम केन क्व च संप्रतिष्ठा ।
अधिष्ठिताः केन सुखेतरेषु वर्तामहे ब्रह्मविदो व्यवस्थाम् ॥ १ ॥
कालः स्वभावो नियतिर्यदृच्छा भूतानि योनिः पुरुष इति चिन्त्यम् ।
संयोग एषां न त्वात्मभावादात्माप्यनीशः सुखदुःखहेतोः ॥ २ ॥
ते ध्यानयोगानुगता अपश्यन् देवात्मशक्तिं स्वगुणैर्निगूढाम् ।
यः कारणानि निखिलानि तानि कालात्मयुक्तान्यधितिष्ठत्येकः ॥ ३ ॥

तमेकनेमिं त्रिवृतं षोडशान्तं शतार्धारं विंशतिप्रत्यराभिः ।
अष्टकैः षड्भिर्विश्वरूपैकपाशं त्रिमार्गभेदं द्विनिमित्तैकमोहम् ॥ ४ ॥
पञ्चस्रोतोऽम्बुं पञ्चयोन्युग्रवक्रां पञ्चप्राणोर्मिं पञ्चबुद्ध्यादिमूलाम्।
पञ्चावर्तां पञ्चदुःखौघवेगां पञ्चाशद्भेदां पञ्चपर्वामधीमः ॥ ५ ॥
सर्वाजीवे सर्वसंस्थे बृहन्ते अस्मिन्हंसो भ्राम्यते ब्रह्मचक्रे ।
पृथगात्मानं प्रेरितारं च मत्वा जुष्टस्ततस्तेनामृतत्वमेति ॥ ६ ॥
उद्गीतमेतत्परमं तु ब्रह्म तस्मिंस्त्रयं सुप्रतिष्ठाक्षरं च ।
अत्रान्तरं ब्रह्मविदो विदित्वा लीना ब्रह्मणि तत्परा योनिमुक्ताः॥ ७ ॥
संयुक्तमेतत्क्षरमक्षरं च व्यक्ताव्यक्तं भरते विश्वमीशः ।
अनीशश्चात्मा बध्यते भोक्तृभावाज्ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः । ८ ॥
ज्ञाज्ञौ द्वावजावीशनीशावजा ह्येका भोक्तृभोग्यार्थयुक्ता ।
अनन्तश्चात्मा विश्वरूपो ह्यकर्ता त्रयं यदा विन्दते ब्रह्ममेतत् ॥ ९ ॥
क्षरं प्रधानममृताक्षरं हरः क्षरात्मानावीशते देव एकः ।
तस्याभिध्यानाद्योजनात्तत्त्वभावाद्भूयश्चान्ते विश्वमायानिवृत्तिः ॥१०॥
ज्ञात्वा देवं सर्वपाशापहानिः क्षीणैः क्लेशैर्जन्ममृत्युप्रहाणिः ।
तस्याभिध्यानात्तृतीयं देहभेदे विश्वैश्वर्यं केवल आप्तकामः ॥ ११ ॥
एतज्ज्ञेयं नित्यमेवात्मसंस्थं नातः परं वेदितव्यं हि किञ्चित् ।
भोक्ता भोग्यं प्रेरितारं च मत्वा सर्वं प्रोक्तं त्रिविधं ब्रह्ममेतत् ॥ १२ ॥
वह्नेर्यथा योनिगतस्य मूर्तिर्न दृश्यते नैव च लिङ्गनाशः ।
स भूय एवेन्धनयोनिगृह्यस्तद्वोभयं वै प्रणवेन देहे ॥ १३ ॥

स्वदेहमरणिं कृत्वा प्रणवं चोत्तरारणिम् ।
ध्याननिर्मथनाभ्यासाद्देवं पश्येन्निगूढवत् ॥ १४ ॥

तिलेषु तैलं दधनीव सर्पिरापः स्रोतःस्वरणीषु चाग्निः ।
एवमात्मात्मनि गृह्यतेऽसौ सत्येनैनं तपसा योऽनुपश्यति ॥ १५ ॥

सर्वव्यापिनमात्मान क्षीरे सर्पिरिवार्पितम् ।
आत्मविद्यातपोमूल तद्ब्रह्मोपनिषत्परम् ॥
तद्ब्रह्मोपनिषत्परम् ॥ १६ ॥

इति श्वेताश्वतरोपनिषदि प्रथमोऽध्याय' ॥ १ ॥

द्वितीयोऽध्यायः

युञ्जानः प्रथम मनस्तत्त्वाय सविता धियः ।
अग्नेर्ज्योतिर्निचाय्य पृथिव्या अध्याभरत ॥ १ ॥
युक्तेन मनसा वय देवस्य सवितुः सवे ।
सुवर्गेयाय शक्त्या ॥ २ ॥
युक्त्वाय मनसा देवान्स्वर्यतो धिया दिवम् ।
बृहज्ज्योतिः करिष्यतः सविता प्रसुवाति तान् ॥ ३ ॥
युञ्जते मन उत युञ्जते धियो विप्रा विप्रस्य बृहतो विपश्चितः ।
वि होत्रा दधे वयुनाविदेक इन्मही देवस्य सवितुः परिष्टुतिः ॥ ४ ॥
युजे वा ब्रह्म पूर्व्यं नमोभिर्विश्लोक एतु पथ्येव सूरेः ।
शृण्वन्तु विश्वे अमृतस्य पुत्रा आ ये धामानि दिव्यानि तस्थुः ॥ ५ ॥
अग्निर्यत्राभिमथ्यते वायुर्यत्राधिरुध्यते ।
सोमो यत्रातिरिच्यते तत्र सजायते मनः ॥ ६ ॥
सवित्रा प्रसवेन जुषेन ब्रह्म पूर्व्यम् ।
तत्र योनि कृणवसे न हि ते पूर्तमक्षिपत् ॥ ७ ॥
त्रिरुन्नत स्थाप्य सम शरीर हृदीन्द्रियाणि मनसा सनिवेश्य ।
ब्रह्मोडुपेन प्रतरेत विद्वान् स्रोतांसि सर्वाणि भयावहानि ॥ ८ ॥

प्राणान्प्रपीड्येह स युक्तचेष्टः क्षीणे प्राणे नासिकयोः श्वसीत।
दुष्टाश्वयुक्तमिव वाहमेन विद्वान्मनो धारयेताप्रमत्तः ॥ ९ ॥

समे शुचौ शर्करावह्निवालुकाविवर्जिते शब्दजलाश्रयादिभिः।
मनोऽनुकूले न तु चक्षुपीडने गुहानिवाताश्रयणे प्रयोजयेत् ॥ १० ॥

नीहारधूमार्कानिलानलानां खद्योतविद्युत्स्फटिकशशीनाम्।
एतानि रूपाणि पुरःसराणि ब्रह्मण्यभिव्यक्तिकराणि योगे ॥ ११ ॥

पृथ्व्याप्यतेजोऽनिलखे समुत्थिते पञ्चात्मके योगगुणे प्रवृत्ते।
न तस्य रोगो न जरा न मृत्युः प्राप्तस्य योगाग्निमयं शरीरम् ॥ १२ ॥

लघुत्वमारोग्यमलोलुपत्वं वर्णप्रसादं स्वरसौष्ठवं च।
गन्धः शुभो मूत्रपुरीषमल्पं योगप्रवृत्तिं प्रथमां वदन्ति ॥ १३ ॥

यथैव बिम्बं मृदयोपलिप्तं तेजोमयं भ्राजते तत्सुधान्तम्।
तद्वैआत्मतत्त्वं प्रसमीक्ष्य देही एकः कृतार्थो भवते वीतशोकः ॥ १४ ॥

यदात्मतत्त्वेन तु ब्रह्मतत्त्वं दीपोपमेनेह युक्तः प्रपश्येत्।
अजं ध्रुवं सर्वतत्त्वैर्विशुद्धं ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः ॥ १५ ॥

एषो ह देवः प्रदिशोऽनु सर्वाः पूर्वो ह जातः स उ गर्भे अन्तः।
स एव जातः स जनिष्यमाणः प्रत्यङ्जनास्तिष्ठति सर्वतोमुखः ॥ १६ ॥

यो देवो अग्नौ यो अप्सु यो विश्वं भुवनमाविवेश।
य ओषधीषु यो वनस्पतिषु तस्मै देवाय नमो नमः ॥ १७ ॥

इति श्वेताश्वतरोपनिषदि द्वितीयोऽध्यायः ॥ २ ॥



तृतीयोऽध्यायः

य एको जालवानीशत ईशनीभिः सर्वाँल्लोकानीशत ईशनीभिः ।
य एवैक उद्भवे सम्भवे च य एतद्विदुरमृतास्ते भवन्ति ॥ १ ॥

एको हि रुद्रो न द्वितीयाय तस्थुर्य इमाँल्लोकानीशत ईशनीभिः ।
प्रत्यङ् जनास्तिष्ठति सञ्चुकोचान्तकाले संसृज्य विश्वा भुवनानि गोपाः ॥ २ ॥

विश्वतश्चक्षुरुत विश्वतोमुखो विश्वतोबाहुरुत विश्वतस्पात् ।
स बाहुभ्या धमति सम्पतत्रैर्द्यावाभूमी जनयन्देव एकः ॥ ३ ॥

यो देवाना प्रभवश्चोद्भवश्च विश्वाधिको रुद्रो महर्षिः ।
हिरण्यगर्भं जनयामास पूर्वं स नो बुद्ध्या शुभया संयुनक्तु ॥ ४ ॥

या ते रुद्र शिवा तनूरघोरापापकाशिनी ।
तया नस्तनुवा शन्तमया गिरिशन्ताभिचाकशीः ॥ ५ ॥

यामिषु गिरिशन्त हस्ते बिभर्ष्यस्तवे ।
शिवा गिरित्र ता कुरु माहिंसीः पुरुष जगत् ॥ ६ ॥

ततः पर ब्रह्मपर बृहन्त यथानिकाय सर्वभूतेषु गूढम् ।
विश्वस्यैक परिवेष्टितारमीश त ज्ञात्वामृता भवन्ति ॥ ७ ॥

वेदाहमेत पुरुष महान्तमादित्यवर्णं तमसः परस्तात् ।
तमेव विदित्वातिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय ॥ ८ ॥

यस्मात्पर नापरमस्ति किञ्चिद्यस्मान्नाणीयो न ज्यायोऽस्ति कश्चित् ।
वृक्ष इव स्तब्धो दिवि तिष्ठत्येकस्तेनेद पूर्णं पुरुषेण सर्वम् ॥ ९ ॥

ततो यदुत्तरतर तदरूपमनामयम् ।
य एतद्विदुरमृतास्ते भवन्त्यथेतरे दुःखमेवापियन्ति ॥ १० ॥

सर्वाननशिरोग्रीवः सर्वभूतगुहाशयः ।
सर्वव्यापी स भगवांस्तस्मात्सर्वगतः शिवः ॥ ११ ॥

महान्प्रभुर्वै पुरुषः सत्त्वस्यैष प्रवर्तकः ।
सुनिर्मलामिमां प्राप्तिमीशानो ज्योतिरव्ययः ॥ १२ ॥

अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषोऽन्तरात्मा सदा जनानां हृदये सन्निविष्टः ।
हृदा मनीषा मनसाभिक्लृप्तो य एतद्विदुरमृतास्ते भवन्ति ॥ १३ ॥

सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात् ।
स भूमिं विश्वतो वृत्वात्यतिष्ठद्दशाङ्गुलम् ॥ १४ ॥

पुरुष एवेदꣳ सर्वं यद्भूतं यच्च भाव्यम् ।
उतामृतत्वस्येशानो यदन्नेनातिरोहति ॥ १५ ॥

सर्वतःपाणिपादं तत्सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम् ।
सर्वतः श्रुतिमल्लोके सर्वमावृत्य तिष्ठति ॥ १६ ॥

सर्वेन्द्रियगुणाभासं सर्वेन्द्रियविवर्जितम् ।
सर्वस्य प्रभुमीशानं सर्वस्य शरणं बृहत् ॥ १७ ॥

नवद्वारे पुरे देही हंसो लेलायते बहिः ।
वशी सर्वस्य लोकस्य स्थावरस्य चरस्य च ॥ १८ ॥

अपाणिपादो जवनो ग्रहीता पश्यत्यचक्षुः स शृणोत्यकर्णः ।
स वेत्ति वेद्यं न च तस्यास्ति वेत्ता तमाहुरग्र्यं पुरुषं महान्तम् ॥ १९ ॥

अणोरणीयान्महतो महीयानात्मा गुहायां निहितोऽस्य जन्तोः ।
तमक्रतुं पश्यति वीतशोको धातुः प्रसादान्महिमानमीशम् ॥ २० ॥

वेदाहमेतमजरं पुराणं सर्वात्मानं सर्वगतं विभुत्वात् ।
जन्मनिरोधं प्रवदन्ति यस्य ब्रह्मवादिनो हि प्रवदन्ति नित्यम् ॥ २१ ॥

इति श्वेताश्वतरोपनिषदि तृतीयोऽध्यायः ॥ ३ ॥



चतुर्थोऽध्यायः

य एकोऽवर्णो बहुधा शक्तियोगाद्वर्णाननेकान्निहितार्थो दधाति ।
वि चैति चान्ते विश्वमादौ स देवः स नो बुद्ध्या शुभया संयुनक्तु ॥ १ ॥
तदेवाग्निस्तदादित्यस्तद्वायुस्तदु चन्द्रमाः ।
तदेव शुक्रं तद्ब्रह्म तदापस्तत्प्रजापतिः ॥ २ ॥
त्वं स्त्री त्वं पुमानसि त्वं कुमार उत वा कुमारी ।
त्वं जीर्णो दण्डेन वञ्चसि त्वं जातो भवसि विश्वतोमुखः ॥ ३ ॥
नीलः पतङ्गो हरितो लोहिताक्षस्तडिद्गर्भ ऋतवः समुद्राः ।
अनादिमत्त्वं विभुत्वेन वर्तसे यतो जातानि भुवनानि विश्वा ॥ ४ ॥
अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णां बह्वीः प्रजाः सृजमानां सरूपाः ।
अजो ह्येको जुषमाणोऽनुशेते जहात्येनां भुक्तभोगामजोऽन्यः ॥ ५ ॥
द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते ।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति ॥ ६ ॥
समाने वृक्षे पुरुषो निमग्नोऽनीशया शोचति मुह्यमानः ।
जुष्टं यदा पश्यत्यन्यमीशमस्य महिमानमिति वीतशोकः ॥ ७ ॥
ऋचो अक्षरे परमे व्योमन् यस्मिन्देवा अधि विश्वे निषेदुः ।
यस्तं न वेद किमृचा करिष्यति य इत्तद्विदुस्त इमे समासते ॥ ८ ॥
छन्दांसि यज्ञाः क्रतवो व्रतानि भूतं भव्यं यच्च वेदा वदन्ति ।
अस्मान्मायी सृजते विश्वमेतत्तस्मिंश्चान्यो मायया संनिरुद्धः ॥ ९ ॥
मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम् ।
अस्यावयवभूतैस्तु व्याप्तं सर्वमिदं जगत् ॥ १० ॥
यो योनिं योनिमधितिष्ठत्येको यस्मिन्निदं सं च वि चैति सर्वम् ।
तमीशानं वरदं देवमीड्यं निचाय्येमां शान्तिमत्यन्तमेति ॥ ११ ॥

यो देवाना प्रभवश्चोद्भवश्च विश्वाधिपो रुद्रो महर्षिः।
हिरण्यगर्भ पश्यत जायमान स नो बुद्धया शुभया सयुनक्तु ॥ १२ ॥

यो देवानामधिपो यस्मिल्लोका अधिश्रिताः।
य ईशे अस्य द्विपदश्चतुष्पदः कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥ १३ ॥

सूक्ष्मातिसूक्ष्म कलिलस्य मध्ये विश्वस्य स्रष्टारमनेकरूपम्।
विश्वस्यैक परिवेष्टितार ज्ञात्वा शिव शान्तिमत्यन्तमेति ॥ १४ ॥

स एव काले भुवनस्य गोप्ता विश्वाधिपः सर्वभूतेषु गूढः।
यस्मिन्युक्ता ब्रह्मर्षयो देवताश्च तमेव ज्ञात्वा मृत्युपाशांश्छिनत्ति ॥ १५ ॥

घृतात्पर मण्डमिवातिसूक्ष्म ज्ञात्वा शिव सर्वभूतेषु गूढम्।
विश्वस्यैक परिवेष्टितार ज्ञात्वा देव मुच्यते सर्वपाशैः ॥ १६ ॥

एषो देवो विश्वकर्मा महात्मा सदा जनाना हृदये सनिविष्टः।
हृदा मनीषा मनसाभिक्लृप्तो य एतद्विदुरमृतास्ते भवन्ति ॥ १७ ॥

यदातमस्तन्न दिवा न रात्रिर्न सन्न चासच्छिव एव केवलः।
तदक्षर तत्सवितुर्वरेण्य प्रज्ञा च तस्मात्प्रसृता पुराणी ॥ १८ ॥

नैनमूर्ध्वं न तिर्यञ्च न मध्ये परिजग्रभत्।
न तस्य प्रतिमा अस्ति यस्य नाम महद्यशः ॥ १९ ॥

न सदृशे तिष्ठति रूपमस्य न चक्षुषा पश्यति कश्चनैनम्।
हृदा हृदिस्थ मनसा य एनमेव विदुरमृतास्ते भवन्ति ॥ २० ॥

अजात इत्येव कश्चिद्भीरुः प्रपद्यते।
रुद्र यत्ते दक्षिण मुख तेन मा पाहि नित्यम् ॥ २१ ॥

मा नस्तोके तनये मा न आयुषि मा नो गोषु मा नो अश्वेषु रीरिषः।
वीरान्मा नो रुद्र भामितो वधीर्हविष्मन्तः सदमित्त्वा हवामहे ॥ २२ ॥

इति श्वेताश्वतरोपनिषदि चतुर्थोऽध्याय ॥ ४ ॥

पञ्चमोऽध्यायः

द्वे अक्षरे ब्रह्मपरे त्वनन्ते विद्याविद्ये निहिते यत्र गूढे ।
क्षर त्वविद्या ह्यमृत तु विद्या विद्याविद्ये ईशते यस्तु सोऽन्यः ॥ १ ॥
यो योनि योनिमधितिष्ठत्येको विश्वानि रूपाणि योनीश्च सर्वाः ।
ऋषि प्रसूत कपिल यस्तमग्रे ज्ञानैर्बिभर्ति जायमान च पश्येत् ॥ २ ॥
एकैक जल बहुधा विकुर्वन्नस्मिन्क्षेत्रे सहरत्येष देव. ।
भूयः सृष्ट्वा पतयस्तथेशः सर्वाधिपत्य कुरुते महात्मा ॥ ३ ॥
सर्वा दिश ऊर्ध्वमधश्च तिर्यक्प्रकाशयन्भ्राजते यद्वनड्वान् ।
एव स देवो भगवान्वरेण्यो योनिस्वभावानधितिष्ठत्येकः ॥ ४ ॥
यच्च स्वभाव पचति विश्वयोनिः पाच्याश्च सर्वान्परिणामयेद्यः ।
सर्वमेतद्विश्वमधितिष्ठत्येको गुणाश्च सर्वान्विनियोजयेद्यः ॥ ५ ॥
तद्वेदगुह्योपनिषत्सु गूढ तद् ब्रह्मा वेदते ब्रह्मयोनिम् ।
ये पूर्वदेवा ऋषयश्च तद्विदुस्ते तन्मया अमृता वै बभूवुः ॥ ६ ॥
गुणान्वयो यः फलकर्मकर्ता कृतस्य तस्यैव स चोपभोक्ता ।
स विश्वरूपस्त्रिगुणस्त्रिवर्त्मा प्राणाधिपः सचरति स्वकर्मभि ॥ ७ ॥
अङ्गुष्ठमात्रो रवितुल्यरूपः सङ्कल्पाहङ्कारसमन्वितो यः ।
बुद्धेर्गुणेनात्मगुणेन चैव आराग्रमात्रो ह्यपरोऽपि दृष्टः ॥ ८ ॥

बालाग्रशतभागस्य शतधा कल्पितस्य च ।
भागो जीवः स विज्ञेयः स चानन्त्याय कल्पते ॥ ९ ॥
नैव स्त्री न पुमानेष न चैवाय नपुसकः ।
यद्यच्छरीरमादत्ते तेन तेन स रक्ष्यते ॥ १० ॥

सङ्कल्पनस्पर्शनदृष्टिहोमैर्ग्रासाम्बुवृष्ट्या चात्मविवृद्धिजन्म ।
कर्मानुगान्यनुक्रमेण देही स्थानेषु रूपाण्यभिसम्प्रपद्यते ॥ ११ ॥
स्थूलानि सूक्ष्माणि बहूनि चैव रूपाणि देही स्वगुणैर्वृणोति ।
क्रियागुणैरात्मगुणैश्च तेषां संयोगहेतुरपरोऽपि दृष्टः ॥ १२ ॥
अनाद्यनन्तं कलिलस्य मध्ये विश्वस्य स्रष्टारमनेकरूपम् ।
विश्वस्यैकं परिवेष्टितारं ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः ॥ १३ ॥
भावग्राह्यमनीडाख्यं भावाभावकरं शिवम् ।
कलासर्गकरं देवं ये विदुस्ते जहुस्तनुम् ॥ १४ ॥

इति श्वेताश्वतरोपनिषदि पञ्चमोऽध्यायः ॥ ५ ॥

षष्ठोऽध्यायः

स्वभावमेके कवयो वदन्ति कालं तथान्ये परिमुह्यमानाः ।
देवस्यैष महिमा तु लोके येनेदं भ्राम्यते ब्रह्मचक्रम् ॥ १ ॥
येनावृतं नित्यमिदं हि सर्वं ज्ञः कालकालो गुणी सर्वविद्यः ।
तेनेशितं कर्म विवर्तते ह पृथ्व्याप्यतेजोऽनिलखानि चिन्त्यम् ॥ २ ॥
तत्कर्म कृत्वा विनिवृत्य भूयस्तत्त्वस्य तत्त्वेन समेत्य योगम् ।
एकेन द्वाभ्यां त्रिभिरष्टभिर्वा कालेन चैवात्मगुणैश्च सूक्ष्मैः ॥ ३ ॥
आरभ्य कर्माणि गुणान्वितानि भावांश्च सर्वान्विनियोजयेद्यः ।
तेषामभावे कृतकर्मनाशः कर्मक्षये याति स तत्त्वतोऽन्यः ॥ ४ ॥
आदिः स संयोगनिमित्तहेतुः परस्त्रिकालादकलोऽपि दृष्टः ।
तं विश्वरूपं भवभूतमीड्यं देवं स्वचित्तस्थमुपास्य पूर्वम् ॥ ५ ॥

स वृक्षकालाकृतिभिः परोऽन्यो यस्मात्प्रपञ्चः परिवर्ततेऽयम् ।
धर्मावह् पापनुद् भगेश ज्ञात्वात्मस्थममृत विश्वधाम ॥ ६ ॥
तमीश्वराणा परम महेश्वर त देवताना परम च दैवतम् ।
पति पतीना परम परस्ताद्विदाम देव भुवनेशमीड्यम् ॥ ७ ॥
न तस्य कार्य करण च विद्यते न तत्समश्चाभ्यधिकश्च दृश्यते ।
परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च ॥ ८ ॥
न तस्य कश्चित्पतिरस्ति लोके न चेशिता नैव च तस्य लिङ्गम् ।
स कारण करणाधिपाधिपो न चास्य कश्चिज्जनिता न चाधिप. ॥ ९ ॥
यस्तन्तुनाभ इव तन्तुभिः प्रधानजैः स्वभावतो देव एकः स्वमावृणोत् ।
स नो दधाद्ब्रह्माप्ययम् ॥ १० ॥
एको देवः सर्वभूतेषु गूढः सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा ।
कर्माध्यक्षः सर्वभूताधिवासः साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च ॥ ११ ॥
एको वशी निष्क्रियाणा बहूनामेक बीज बहुधा यः करोति ।
तमात्मस्थ येऽनुपश्यन्ति धीरास्तेषा सुख शाश्वत नेतरेषाम् ॥ १२ ॥
नित्यो नित्याना चेतनश्चेतनानामेको बहूना यो विदधाति कामान् ।
तत्कारण साख्ययोगाधिगम्य ज्ञात्वा देव मुच्यते सर्वपाशैः ॥ १३ ॥
न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारक नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः ।
तमेव भान्तमनुभाति सर्व तस्य भासा सर्वमिद विभाति ॥ १४ ॥
एको हसो भुवनस्यास्य मध्ये स एवाग्निः सलिले सनिविष्टः ।
तमेव विदित्वातिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय ॥ १५ ॥
स विश्वकृद्विश्वविदात्मयोनिर्ज्ञः कालकारो गुणी सर्वविद्य ।
प्रधानक्षेत्रज्ञपतिर्गुणेशः ससारमोक्षस्थितिबन्धहेतुः ॥ १६ ॥
स तन्मयो ह्यमृत ईशसस्थो ज्ञः सर्वगो भुवनस्यास्य गोप्ता ।
य ईशे अस्य जगतो नित्यमेव नान्यो हेतुर्विद्यत ईशनाय ॥ १७ ॥

यो ब्राह्मण विदधाति पूर्वं यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै ।
त ह देवमात्मबुद्धिप्रकाश मुमुक्षुर्वै शरणमह प्रपद्ये ॥ १८ ॥

निष्कल निष्क्रिय शान्त निरवद्य निरञ्जनम् ।
अमृतस्य परँ सेतु दग्धेन्धनमिवानलम् ॥ १९ ॥

यदा चर्मवदाकाश वेष्टयिष्यन्ति मानवाः ।
तदा देवमविज्ञाय दुःखस्यान्तो भविष्यति ॥ २० ॥

तपः प्रभावाद्देवप्रसादाच्च ब्रह्म ह श्वेताश्वतरोऽथ विद्वान् ।
अत्याश्रमिभ्यः परम पवित्र प्रोवाच सम्यगृषिसङ्घजुष्टम् ॥ २१ ॥

वेदान्ते परम गुह्य पुराकल्पे प्रचोदितम् ।
नाप्रशान्ताय दातव्य नापुत्रायाशिष्याय वै पुनः ॥ २२ ॥

यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ ।
तस्यैते कथिता ह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः ।
प्रकाशन्ते महात्मनः ॥ २३ ॥

इति श्वेताश्वतरोपनिषदि षष्ठोऽध्याय ॥ ६ ॥



श्वेताश्वतरोपनिषद्

(पद, पदार्थ एवं विशिष्टार्थ संवलिता)

ॐ ब्रह्मवादिनः[1] वदन्ति[2] ।

ब्रह्मवादी एकत्रित होकर आपस मे विचार प्रारभ करते है ।

१ ब्रह्म का अर्थ यहा परमात्मा है । परमात्मा के विषय मे विचार करने वाले लोगो का ही जगत्कारण के बारे मे विचार हुआ करता है । यदि ब्रह्म का अर्थ वेद भी इष्ट हो तो यहा वेद का उपनिषद् भाग ही सग्राह्य हो सकेगा । एव उपनिषदो का परमात्मा प्रतिपाद्य होने से पूर्वार्थ ही प्राप्त हो जायेगा ।

२ **वीतरागकथा वाद** अर्थात् रागद्वेष से रहित आग्रहहीन व्यक्तियो का सत्य निर्णय करने के लिये किया गया विचार-विनिमय वाद कहा जाता ह । जब मनुष्य पहले ही किसी पक्ष को अपना लेता है तब उसके लिये सत्य को निर्णय करना असभव हो जाता है । चू कि सन्यासी के लिये **न कञ्चन पक्षमाश्रयेत्** विधि की गई है अत. सन्यासी ही यहा विचार करने के लिये एकत्रित हुए थे । **अत्याश्रमिभ्य प्रोवाच** (६।२१) के द्वारा अन्त मे तो यह स्पष्ट कर ही दिया गया है ।

१

किम् कारणं ? ब्रह्म, कुतः स्म जाताः ? जीवाम केन ? क्व च सम्प्रतिष्ठा ? अधिष्ठिताः केन सुखेतरेषु वर्तामहे ? ब्रह्मविदः व्यवस्थाम् ॥

ब्रह्मविद्	=हे ब्रह्मवेत्ताओ[१] (आपलोग)
व्यवस्थाम्	=निर्णय
(विधेहि)	=करे (कि)
किम्	=क्या
कारणम्	=(सारे जगत् का) कारण[२] (है)?
कुत	=कहा से
जाता	=(कार्यकारण भाव[३] अथवा कार्य-करण सघात[४]) पैदा हुआ?
स्म	=है?
केन	=किस शक्ति[५] से
जीवाम	=हम जीवित[६] रहते है?
च	=और
क्व	=कहा[७]
सम्प्रतिष्ठा	=(सब कुछ) सप्रतिष्ठित[८] है?
केन	=किसके
अधिष्ठिता	=अधिकार[९] मे स्थित होते हुए
सुखेतरेषु	=सुख और दु खो मे[१०]
वर्तामहे	=प्रवृत्ति[११] करते है?
ब्रह्म	=ब्रह्म[१२]।

१ यद्यपि परमात्मा को इन ऋषियो ने श्रुति और युक्ति के बल से सामान्य रूप से जान लिया है तथापि उसका विज्ञान नही हुआ है। बिना परोक्ष ज्ञान के विचार की प्रवृत्ति ही असभव है एव विज्ञान हो जाने पर नि सन्दिग्ध अवस्था मे भी विचार सभव नही है। द्विकोटिक ज्ञान मे ही निर्णय-प्रवृत्ति सहेतुक और सफल होती है।

प्रत्येक ब्रह्मवेत्ता अपने को अपूर्ण समझकर सामूहिक रूप से अपने ज्ञानो को एक दूसरे के साथ कसौटी पर कसना चाहता है। इन सभी का निश्चय है कि श्वेताश्वतर महर्षि विज्ञान-सम्पन्न होने से हम सब का मार्ग-दर्शन यथोक्त रूप से कर सकेंगे।

अथवा यह श्वेताश्वतर महर्षि का ही अन्य महर्षियो के प्रति वचन हो सकता है कि उन लोगो ने ब्रह्म को कैसा समझा है।

अथवा बहुवचन आदरार्थक मानकर सब ऋषि परमहस श्वेताश्वतर को ही सम्बोधन करके कहते है कि आप हमारे प्रश्नो का निर्णय करे। इस अर्थ को स्वीकार करने पर द्वितीय मत्र ऋषियो का स्वानुभव एव उन सभी स्वानुभवो मे श्वेताश्वतर महर्षि का कमी बताना तथा तृतीय मत्र मे उनको ध्यान के द्वारा तत्त्वानुभव, इस प्रकार की श्रेष्ठ व्यवस्था बन जाती है।

२ सारे जगत् का कोई कारण है या नही, यह प्रथम प्रश्न है। यद्यपि वेदज्ञ होने से वे सारे जगत् का कारण ब्रह्म को मानते है लेकिन उस ब्रह्म का स्वरूप क्या है, भावरूप अथवा अभावरूप ? भावरूप होने पर भी वह केवल उपादान है, केवल निमित्त है अथवा निमित्त तथा उपादान उभय रूप है ? सर्व शास्त्रो मे ब्रह्म को असग और उदासीन माना गया है, फिर वह किस हेतु से जगत् का कारण बनता है, यह भी प्रश्न है। सभी कार्यो के प्रति कोई न कोई कारण होता है। क्या कोई ऐसा भी है जिसका कोई कारण न होने से वह सदा कारण ही है कभी भी कार्य नही है। सभी कारणो मे क्या कोई ऐसा अनुगत कारण है जिसकी वजह से वे सभी कारण बनते हैं ? क्या जगत् का कारण कोई एक ही निर्मल तत्त्व है अथवा किसी माया आदि के मल की सहायता आदि से कारण बनता है ? मल से मिलने पर वह स्वतत्र है या परतत्र ? इस प्रकार के सभी प्रश्न यहा निहित है।

३ मानवीय प्रकृति मन के अधीन है। मन न युगपत् सर्व देशो को ग्रहण करने मे समर्थ है, न काल, वस्तु एव घटनाओ को। अत इसे इन्हे क्रम से ग्रहण करना पडता है। इस क्रमिक ग्रहण से इसे आगे पीछे, पूर्व-पश्चिम, ऊपर-नीचे इत्यादि दिग्भ्रम, भूत-भविष्य-वर्तमान इत्यादि काल-भ्रम, एव निरन्तर आनन्तर्य-भ्रम हो जाता है। घट-नाओ मे निरन्तर आनन्तर्य से कार्य-कारण भ्रम हो जाता है। अतः

किसी भी अनुभूति के होते ही मन उसके अव्यवहित पूर्व क्षण मे अनु-भूत को कारण मान लेता है। अगली बार यदि कारण मानी हुई अनु-भूति के पश्चात् दूसरी अनुभूति पैदा नही होती तो उस अनुभूति मे व्यवहित जो अव्यवहित पूर्व क्षण है उसको कारण मानता है, यदि वह अनुभूति पुनरावृत्त हुई है। इस अवापोद्धार के ऊहापोह से कार-णत्व का निश्चय होता है। अत कारण एक कल्पना से अधिक कुछ नही। मनुष्य के मन मे जिस अनुभूति से सुख हुआ है उसे पुन. उत्पन्न करने की नियन्त्रण शक्ति प्राप्त करने की सहज कामना होती है। इसी प्रकार जिस अनुभूति से दु ख हुआ है उसकी पुनरावृत्ति को रोकने मे भी वह स्वतन्त्र होना चाहता है। ये कामनायें ही कारण को कल्पना को उत्पन्न करती रहती हैं एव बार बार इन कल्पनाओ के भ्रम सिद्ध होने पर भी मूल कल्पना को अर्थात् कार्य-कारण भाव को टूटने नही देती। चूँकि दैनन्दिन व्यवहार मे यह कल्पना व्यवहार को सिद्ध करती है अत इसका व्यावहारिकत्व तो अक्षुण्ण है ही। वर्तमान भौतिकी मे मानार्दी (Quantum machenics) एव हाइसनवर्ग-स्थैर्य (Heisenberg constant) तथा दीप्तातु- (radium) श्रृङ्खलन (deterioration) इत्यादि अनेक सिद्धान्त (Theory) कारणवाद की जड को खोखला करने मे पर्याप्त है। परन्तु अज्ञान के कारण राग द्वेष इस वास्तविकता का अनुभव नही करने देता और कार्य-कारण भाव को बनाये रखता है। ऋषियो की जिज्ञासा है कि यह कार्य-कारण भाव काल्पनिक होने पर भी क्यो होता है ? क्या अन्त करण मे यह स्वाभाविक है, या सृष्टि-क्रम मे अनिवार्य है अथवा सस्कारो के कारण हैं ?

४ मानवानुभूति देह, इन्द्रिया, प्राण और मन के साथ साथ रहते हुए ही उपलब्ध होती है। इनमे से किसी भी एक के पूर्णतया न रहने पर अनुभूति असभव हो जाती है। यद्यपि अनेक किस्से-कहानी अशरीरी अनुभवो के बारे मे सुने जाते हैं पर वे अनुभूतियां प्रकट

किसी न किसी शरीरवाले के द्वारा ही होती है। अत अनुभूति उत्पादक शरीरी हो अथवा अशरीरी, अनुभूति तो शरीरी मे ही होती है। चू कि ये सब शरीर, इन्द्रिया, प्राण और मन व्यभिचार वाले है अत इन्हे सघात मानना पडता है। प्रश्न स्वाभाविक है कि यह सघात किसने, कब, कहा, कैसे किया। यदि सघातो को एक ही स्थिति मे सघटित किया गया तो उनमे भेद क्यो दिखाई देता है और यदि अनेक स्थितियो मे तो इस अनेकता का कारण क्या है? अकारण मानने पर विषमता और निष्करुणता का दोष अपरिहार्य हो जायगा एव सकारण मानने पर अनवस्था दोष की प्राप्ति हो जायेगी।

कुक्कुटाण्ड-प्रवाह न्याय से यदि सृष्टि-प्रलय को अनादि माने तो प्रलय काल मे जीव उपादान कारण मे लीन होकर पुन वही से उत्पन्न होता है अथवा जलचन्द्रवत् निमित्त कारण मे लीन होकर वहा से उत्पन्न होता है। तात्पर्य है कि जीव वास्तविक रूप से है अथवा सघातो के कारण घटाकाश की तरह कल्पना मात्र है?

५ इस ससारयात्रा मे जीवन की क्षणभगुरता सर्ववादिसम्मत है। यह कहने मे कोई अतिशयोक्ति नही है कि जीना विकार है और मरना स्वाभाविक। किसी भी अनिश्चित क्षण मे काल-पाश कब किसको खीच ले जाता है यह आज के दिल दौरा युग मे सभी को प्रत्यक्ष सिद्ध है। फिर भी हम जीते रहते है इससे यह सिद्ध होता है कि किसी उद्देश्य की पूर्ति के लिये कोई शक्ति हमारी स्थिति को बनाये रखती है। वह कौन सी शक्ति है एव स्वय हमारे मे है या हमसे भिन्न और किसी चेतन या जड पदार्थ मे? यह स्थितिविषयक प्रश्न है। यदि किसी अदृष्ट या ईश्वर को कारण माना जाय तो भी वे अलग २ कारण है या मिलकर, एव उनकी कारणता स्वाभाविक है, सासर्गिक है या औपाधिक? यदिकर्म-परतत्र है तो उन्हे कारण मानना निरर्थक है और यदि कर्म के परतत्र नही है तो स्वतत्र है या परतत्र? यदि कर्म के परतत्र है तो उन कर्मो का विधायक कौन है

और विधि स्वतन्त्र होकर करता है या परतन्त्र होकर। भिन्न २ देश-कालो मे भिन्न २ विधियो का दर्शन होता है। वे देश-काल विधि प्रयुक्त है या विधि ही देश-काल प्रयुक्त है ? देश-काल विधिप्रयुक्त होने पर सब विधियो की गतार्थता माननी पडेगी, एव पाप पुण्य की मर्यादा का लोप हो जायेगा। विधि को देश काल प्रयुक्त मानने पर वह देश-काल परवर्ती होने से विधाता मे परिच्छिन्नता का आपादन कर देगी। अत जीवन की सोद्देश्यता मानने पर भी यह सब प्रश्न बने रहते है। निरुद्देश्यता मानने पर जीवन की स्थिति असभव है। उद्देश्य ही विधेयता का निर्णय करता है।

६ जीवन का अर्थ होता है सोद्देश्य कर्म-रतता। पिछडे से पिछडे आदमी मे भी सोद्देश्यता देखने मे आती है। यह उद्देश्य हट जाने पर मनुष्य केवल सास लेनेवाला एक लोथडा मात्र रह जाता है। इसी लिये सभी भाषाओं मे प्राण शब्द का अर्थ अत्यधिक प्रियता का द्योतक होता है जैसे जान, लॉइफ, वॉइटा आदि। जब यह प्रियता निकल जाती है तब जड और चेतन का भेद नष्ट हो जाता है, यहा तक कि इसको चेतनता देनेवाली शक्ति भी इसको छोड जाती है। अत जिसमे जितना जीवट है वह उतना ही अधिक जीवित है, आधुनिक युग मे सुख-सुविधाओ को उपलब्ध करने की चिन्ता ने मानव की जीवनास्था को इतना कम कर दिया है कि मानव मानव नही रह गया है। आस्था की अधिकता ही प्रीति की अधिकता का कारण है, एव प्रीति ही क्रीडा और रति को उत्पन्न कर सकती है। जितनी ही आस्था कम होती जायेगी उतना ही सुखानुभव क्षीण क्षीणतर होता जायेगा। इस कमी को उत्तेजना की तीव्रता से दूर करने का प्रयास किया जाता है जो स्नायु एव अनुभूति केन्द्रो को और अधिक सवेदन हीन बना देता है। आज का हिप्पीधर्म इसका परिचायक है। ऋषियो का प्रश्न है कि किस प्रकार जीवनास्था का सवर्धन किया जाय जिसमे पूर्ण सवेदना के द्वारा हम अपने जीवन की पूर्णता को प्राप्त कर सके।

७ यह प्रश्न आधार विषयक भी है और अधिष्ठान-विषयक भी। तात्पर्य है कि यह सब किसी समान सत्ता वाले पदार्थ मे स्थित है अथवा विषम सत्ता वाले मे ? यदि सत्ता समान है तो उन दोनो मे विरोध स्वाभाविक है। यदि सत्ता विषम है तो दोनो मे सम्बन्ध असम्भव हो जाता है।

बन्धन और मोक्ष की अवस्था किस मे स्थित है यह भी प्रश्न यहा इष्ट है। इसी प्रकार सृष्टि और प्रलय मे किस मे स्थिति होती है। मोक्षावस्था मे क्या अविकृत ब्रह्म मे एकता से स्थिति होती है या मायाविशिष्ट से ? या विद्या से माया नष्ट होकर जीव अविद्या रूप होने से स्वय ही नष्ट हो जाता है ? यही प्रश्न प्रलय के विषय मे भी समझ लेने चाहिये।

८ जो वस्तु जहा रहती है उसको वहा स्थित कहा जाता है। यदि वह अन्यत्र न जाय तो उसको सस्थित कहा जाता है। इसमे गति रूप परिणाम का निषेध है। जो वस्तु स्थानान्तरित और कालान्तरित होने पर भी अपनी सस्थिति पूर्ववत् बनाये हुए है उसे सम्प्रतिष्ठित कहा जाता है। यद्यपि पदार्थो की स्थिति का पता रसायनशास्त्र आदि विज्ञान दे देते है, पर सम्प्रतिष्ठा का विचार केवल उपनिषदो मे ही किया गया है।

९ सभी प्राणी अपने आप को परतत्र अनुभव करते है। यह परतत्रता वास्तविक है या नही ? वास्तविक होने पर नियामक को यह अधिकार क्यो और कैसे प्राप्त हुआ ? स्वाभाविक मानने पर स्वतत्र होना असम्भव हो जायेगा और शास्त्रप्रतिपादित मोक्ष बन्ध्यापुत्र हो जायगा। औपाधिक मानने पर उपाधि से सम्बन्ध होने के कारण का निरूपण करना पडेगा, जिसमे अनवस्था, चक्रिका, अन्योन्याश्रय दोष आजायेंगे। परतत्रता का अनुभव काल्पनिक मानने पर कल्पना करने वाला जीव स्वतत्र है या परतत्र ? स्वतत्र होगा तो सुख से इतर दु ख, मोह, शोक, श्रम आदि कल्पनायें अस-

गत हो जायेंगी। परनत्र मानने पर पुन पूर्ववत् दोष आजायेंगे। सस्कार आदि के द्वारा अनादि प्रवाह स्वीकारना तो बालको की बुद्धि को ही सतुष्ट कर सकता है।

१०. मनुष्य यद्यपि सुख और दुःख का तादात्म्येन ही अनुभव करता है तथापि जिन पदार्थों से उसे सुख-दु ख के अनुभव की प्रतीति होती है उन्हे वह सुख-दु ख का कारण मानकर उनकी ओर या उनसे दूर जाता है। परन्तु इनका कारण सदा ही अनिश्चित बना रहता है और इसीलिये निश्चित सुख-साधन का अन्वेषण अनादि काल से होते रहने पर भी आज तक निश्चित नही हो पाया। यह अनिश्चितता ही निरन्तर अन्वेषण का हेतु है।

११ एक क्षण भी शरीर, मन, इन्द्रिया और प्राण बिना किसी न किसी बर्ताव के नही रहते। कभी यह बर्ताव स्वतत्रता के साथ होते हैं, कभी परतत्रता के साथ, तो कभी दोनो भावो से युक्त होकर। मानव की दृष्टि परिच्छिन्न है। अत समग्र दृष्टि के अभाव से न तो उसे अपने बर्तावो मे कोई सम्बन्ध दृष्टिगोचर होता है, और न समग्र बर्तावो से सामूहिक रूप से उत्पन्न कोई फल। क्षणिक उद्वेग इतने प्रबल होते हैं कि वे हमे समग्र दृष्टि बनाने से पराङ्मुख कर देते है। इसीलिये या तो ऐसे मूर्ख क्षणिक सुखो से फूल जाते है जिनके जीवन मे समग्रता का कभी भान ही नहीं होता, अथवा वे महामानव, जिनके जीवन मे प्रतिक्षण समग्रता का भान रहने से जो प्रत्येक क्षण को उस समग्र फल की प्राप्ति के बढते हुए कोसो के चिह्न देखते है। शेष तो प्रवाह मे पडकर बहते भी जाते हैं और निष्फलता देख कर कराहते भी जाते हैं। वस्तुत प्रवाह की गति मे परिवर्तन की चेष्टा उद्देश्य को विना समझे हुए करना अनधिकार चेष्टा है। अत प्रवृत्ति का निरोध असम्भव है। ज्ञानी भी स्वप्रकृति के अनुकूल ही प्रवृत्ति करता है, यद्यपि वास्तविक दृष्टि से वह प्रवृत्ति और निवृत्ति दोनो को छोड चुका है। अज्ञानी प्रवृत्ति न करे यह असम्भव है। निवृत्ति भी सूक्ष्म सुखों की प्राप्ति के लिये एक प्रकार की प्रवृत्ति ही है।

१।७ इन सभी प्रश्नो का उत्तर ब्रह्म है। यद्यपि महर्षियो को यह ज्ञात है पर वे जानना चाहते है कि ब्रह्म किस प्रकार इन प्रश्नो का उत्तर है। प्राय मन का स्वभाव है कि किसी भी प्रश्न के उत्तर मे शब्द को सुन कर शान्त हो जाता है। पर कभी न कभी शब्द द्वारा द्योतित अर्थ को ग्रहण करने की अभिलाषा होती है। अर्थ का ज्ञान क्रिया, जाति, गुण, आदि के द्वारा होता है। ब्रह्म मे इन सब का अभाव होने से इसका अर्थ कैसे समझा जा सकता है। एव इनमे से किसी को उसमे स्वीकारने पर वह असग न रह सकेगा और परिणामी होकर विनाशी हो जायेगा। अत ऋषियो की जिज्ञासा समीचीन है।

वस्तुत ऐतिहासिक दृष्टि से ब्रह्म शब्द का प्रथम प्रयोग वेद के लिये हुआ है। वेद के मन्त्रो मे गहन विषय होने से उसे समझने के लिये अन्वेषण रूपी तप करना पडता था। अत ब्रह्म का अर्थ तप भी हो गया। क्रियाओ मे इस ब्रह्म को फलप्रद बनाने की शक्ति होने से क्रिया विशिष्ट ब्रह्म फलदाता माना गया। परवर्ती काल मे इसी को माया-विशिष्ट ब्रह्म या ईश्वर कहा गया। इस ईश्वर का वास्तविक स्वरूप यजमान द्वारा निर्णीत होने से यजमान भी ब्रह्म कहा गया। इस प्रकार आत्मा के लिये भी ब्रह्म पद के प्रयोग का स्वारस्य है। वस्तुत दोनो क पीछे सत्ता एक ही होने से निष्कल ब्रह्म ही ज्ञेय होकर ब्रह्म पद का लक्ष्यार्थ है। यह ज्ञान ही समग्र कामना और कर्मो का समूल नाश करके जीवन्मुक्ति का सुख उत्पन्न करता है, जो स्वरूप-सुख होने से ज्ञान के निवृत्त होने पर भी निवृत्त नही होता।

२

कालः स्वभावः नियतिः यदृच्छा भूतानि योनिः पुरुषः इति चिन्त्यम्। संयोगः एषां न तु आत्मभावात् आत्मा अपि अनीशः सुखदुःखहेतोः ॥

काल =समय[1],
स्वभाव =स्वभाव[2],
नियति =भाग्य[3],
यदृच्छा =अकस्मात्[4],
भूतानि =पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश[5],
योनि =प्रकृति[6],
पुरुष =जीव[7],
इति =इस प्रकार
चिन्त्यम् =सोचने योग्य[8] है ।
एषा =इन सभी का
संयोग =मेल[9]
(अपि) न =(भी) नही बनता ।
तु =दूसरे पक्ष मे
आत्मभावात् =आत्मा की विद्यमानता के कारण[10]
सुखदुःखहेतोः =सुख-दुःख की वजह से
आत्मा =आत्मा
अपि =भी
अनीश =असमर्थ है[11] ।

१ ऋषियो मे श्वेताश्वतर महर्षि के सामने जब विचार प्रारम्भ हुआ तो सबसे पहले कालवादियो ने काल को ही कारण बतलाया । जड चेतन सभी को परिवर्तित करने वाला सामान्य कारण लोक मे समय ही माना जाता है । किसी घटना के होने पर आज भी लोग यही कहते है कि समय की बात है । काल की कारणता व्यास आदि महर्षियो ने भी महाभारत इत्यादि मे मानी है, ऐसा माना जाता हैं । ज्योतिषी तो काल को ही प्रधान कारण मानने की वजह से निश्चित काल का पता लगाने के लिये ही गगनावेक्षण करते रहते हैं । यह काल निमेष से लेकर परार्ध तक अनुभूत पर परिच्छिन्न है । वर्तमान भूत और भविष्य के व्यवहार का यही कारण है । परन्तु इससे भिन्न अखण्ड महाकाल को भी कालवेत्ताओ ने स्वीकार किया है । नयायिको द्वारा परिगृहीत परमाणु-कारणवादका वस्तुत उनके ही सिद्धान्त मे कालसापेक्ष्य होने के कारण गौरवत्रस्त ऋषियो द्वारा स्पर्श ही नही किया गया । यही हाल मीमासको द्वारा स्वीकृत कर्मवाद का समझना चाहिये । महाकाल केवल क्षणादियो के द्वारा अनुभूत काल मे अपरि-

च्छिन्नता की अनुभूति से अपरिच्छिन्न काल को सिद्ध करने के लिये कल्पित है। प्रत्यक्ष द्वारा असत्यापित पदार्थ को केवल कल्पना के बल पर मानना कपोल कल्पना ही मानी जायेगी। शब्द प्रमाण का सहारा लेने पर तो श्रुति सवत्सर को ही काल मानती है। सवत्सर से अतिरिक्त महाकाल अश्रौत है। यदि अनुभूत, काल, विपल, पल, घटी, अहोरात्र, पक्ष आदि को ही काल माना जाय तो यह जगत् के अन्त-पाती होने से जगत् का कारण नही हो सकता है। ऐसा कहना तो मानो काल का कारण काल है कहने की तरह व्यर्थ सिद्ध हो जायेगा। यह काल प्रतिक्षण नष्ट भी होता रहता है अत प्रलय मे भी नष्ट हो जायेगा और जगत् का कारण नही बन पायेगा।

वस्तुतस्तु काल बुद्धि के सोचने के आधारभूत अक्षो मे से एक है। अत बुद्धि के ज्ञान से भिन्न उसकी कोई सत्ता नही। घडी के काटे समय नही बताते। उनसे उत्पन्न बुद्धि मे होने वाला ज्ञान ही समय बताता है। चू कि बौद्ध ज्ञान आत्म-सापेक्ष्य है अत आत्मा के रहते जो काल उत्पन्न होता है वह जगत् का कारण नही हो सकता। कुछ लोग काल को द्रव्य-सापेक्ष्य मानते है उनका तात्पय है कि काल चर-द्रव्य मे स्थित रूपविशेष है, और इसलिये द्रव्य से अलग होकर काल का विचार अनावश्यक है। आज का विज्ञान इसी मान्यता को मानता है। न्यूटन काल को स्वतत्र पदार्थ मानता था एव मानता था कि एक ही तरफ अर्थात् भविष्य की ओर इसका प्रवाह है। परन्तु आइन्स्टाइन ने इसे गलत सिद्ध कर दिया। द्रष्टृगति-सापेक्ष्य ही प्रत्यक्ष काल को मानना पडता है। भिन्न लोको मे रहने वाले व्यक्तियो का एक ही घटना के प्रति कालैक्य असम्भव ह। वस्तुतस्तु काल गुरुत्वाकर्षण क्षेत्र पर भी निर्भर करता है। द्रव्यसघात के निकट काल की गति क्षीण होती है। हर हालत मै द्रव्य भिन्न काल की सत्ता विज्ञान ने असिद्ध कर दी है। यद्यपि विज्ञान की यह मान्यता द्रव्य की असिद्धि से ही असिद्ध हो जाती है तथापि काल और

द्रव्य की सापेक्षता स्वय ही काल को असिद्ध करने मे पर्याप्त है। द्रव्यो की गति मे निरन्तर काल की अनुवर्तमानता बुद्धि द्वारा गतिमान् मे काल प्रक्षेप के द्वारा ही सिद्ध है। अत उससे काल की सिद्धि तो सर्वथा प्रमाण विरुद्ध है। इस प्रकार हम देखते है कि जो काल स्वय ही असिद्ध है वह जगत् का कारण कैसे हो सकता है।

लोकायत सिद्धान्त मे यद्यपि व्यवहारार्थ भूत भविष्य आदि का प्रयोग होता है परन्तु वह तो केवल अविचार जन्य है। वसन्त मे भी गरमी की लू चलती है और शरद् मे भी वर्षा हो जाती है। वृक्षादियों के फल भी भिन्न कालो मे पकते देखे जाते हैं। किसी पहाड पर जाने से यह सुस्पष्ट हो जाता है कि युगपत् ही नीचे की तलहटी मे खेती पकी होती है, मझली मे बाले आयी होती है और ऊपरी मे अभी अकुर ही फट रहे होते है। यह सब लौकिक दृष्टि से भी काल की कारकता को असिद्ध करते है।

२. पदार्थों मे जो किसी भी अन्य कारण के विना असाधारण कार्यकारिता होती है एव जिसके कारण वह पदार्थ अन्य सब पदार्थों से भिन्न सिद्ध होता है उसे स्वभाव कहते है। जैसे उष्णता अग्नि का स्वभाव है। चार्वाक प्राय इसे ही कारण मानते है। परन्तु यहाँ भी वस्तु-धर्म वस्तु के विना नहीं रह सकता। अत वस्तुके प्रति स्वभाव को कारण मानना असगत है। एक वस्तु का स्वभाव वस्त्वन्तर मे सक्रान्त नही हो सकता। अत जगत् को नित्य मानने पर भी उसके अन्त पाती वस्तुओ की उत्पत्ति के लिये भी स्वभाव पर्याप्त कारण नही ह। स्वभाव नित्य होता ह। अत यदि किसी स्त्री का स्वभाव पुत्र उत्पन्न करना ह तो नित्य करती ही रहेगी जो दृष्ट विरुद्ध ह। आत्मा के विना स्वभाव का ज्ञान आदि की असभवता तो पूर्ववत् ही है।

३ सारे पदार्थो मे अनुगत उन सबका नियन्त्रण करने वाली शक्ति-विशेष को नियति या भाग्य कहते है। प्राय काल और स्वभाव

को सगत न होने पर सभी लोग भाग्य को कारण बतलाने लगते है। जैसे यह नियत है कि चन्द्रोदय पर ही समुद्र मे ज्वार आता है या पेट का भोजन पच जाने पर ही भूख लगती है। सूर्य-चन्द्रादिका नियम से चलना भी इसी शक्ति से होता है। आग ऊपर की ओर ही जलती है और वायु भूमि के समानान्तर ही चलती है। नियत करने वाला जड है या चेतन? यदि चेतन है तो वह ईश्वर ही सिद्ध हो गया, और यदि जड है तो उसमे अनैकान्तिकता क्यो होती है? प्रत्येक पदार्थ का भाग्य हमेशा ही अनियत होता है। एक समय मे जो करोडो कमाता है वही कालान्तर मे माग खाता है। यह अनैकान्तिकता किसी कारणान्तर को अपेक्षित करके ही सभव है। यद्यपि कर्मकाण्डी लोग नियति के प्रति पुण्य-पाप को कारण मानते है पर वह भी सब समय सिद्ध नही हो पाता। अदृष्टकारणता तो अकारणता ही है। कार्य के पूर्व कारण का ज्ञान आवश्यक है। कार्योत्पत्ति के अनन्तर कारण-कल्पना वृथा श्रम है। अत नियति भी विचार से सिद्ध नही होती।

४ अनेक लोग, विशेषत आधुनिक काल मे, प्रत्येक पदार्थ को विना किसी कारण के (अर्थात् Chance से) उत्पन्न मानते है। जुआडियो ने एव काग्रेस के सरकारी जुवे (Lotteries) ने इस सिद्धान्त को और अधिक प्रश्रय दे दिया है। प्रमादियो के लिये तो यह अन्तिम आश्रय है। यद्यपि मूलत यह निरीश्वरवाद है क्यों कि इसमे बुद्धि वाले कर्त्ता का निषेध है तथापि मुसलमान आदियों ने इसको अपने सेश्वरवाद मे भी स्थान दे दिया है। पौराणिको ने तो इसे काल की पत्नी माना है। शुद्ध आकाश मे झटिति बादलो का आना, भूकम्प आदि से इसमे श्रद्धा हो जाती है। परन्तु इसे कारण मानने पर मानवों की समग्र प्रवृत्तिया निर्मूल सिद्ध होती है। भूख हटाने के लिये चावल आग इत्यादि का ही ग्रहण किया जाता है अकस्मात् पेट भरने की अपेक्षा नही। सारा ही कार्य-कारण भाव, विज्ञान

यदृच्छा का विरोधी है। जिस देश या व्यक्ति में इसकी मान्यता बढेगी वह आलस्य मे अवश्य नष्ट हो जायेगा। अत सर्व-प्रमाण विरुद्ध होने से एव प्रवृत्ति-निवृत्ति सभी का उपघात करने से इसकी कारणता को स्वीकार करना तो सर्वथा निन्द्य है।

५ किसी भी कार्य की उत्पत्ति के प्रति पृथिव्यादि भूतो के सग्रह को ही प्रवृत्ति होती है। यह भूतो की कारणता मे प्रबलतर प्रमाण है। चाहे यज्ञ यागादि के द्वारा स्वर्ग निष्पन्न करने के लिये गोघृत आदि पदार्थ, मन्त्र-ज्ञान आदि मानसिक पदार्थ तथा पुरोहितादि मानवीय पदार्थों का सग्रह हो अथवा गृह निर्माण के लिये ईंट, वज्र-चूर्णादि पदार्थ, प्रारूपादि मानसिक पदार्थ एव स्थपति, शिल्पी आदि मानव पदार्थो का सग्रह हो, या पुत्रोत्पति के लिये दुग्धादि पदार्थ, कामादि मानस पदार्थ एव स्त्री-देहादि मानव पदार्थो का सग्रह हो पर सर्वत्र कारणता पञ्च महाभूतो मे ही दृष्ट है। इस प्रकार भूत-कारणवाद तीन, चार आदि भूतो के सम्मेलन से ही सृष्टि की उत्पत्ति मानता है। नये नये पदार्थो की उत्पत्ति इन्ही आधारभूत भूतो से ही होती है। यहा कारणता परमाणु आदि अतीन्द्रिय पदार्थो मे न हो कर प्रत्यक्ष सिद्ध भूतो मे ही समझनी चाहिये।

भूतो की कारणता प्रमाण सिद्ध होने पर भी इनके सम्मेलन के लिये किसी चेतन कारण की अपेक्षा दृष्ट सिद्ध होने स सृष्टि मे भी माननी ही पडेगी। जैसे यहा भूतो के सम्मेलन के प्रति चेतन ही प्रवृत्त होता है वैसे ही सर्वत्र समझना चाहिये। अन्य पूर्व कारणो की अपेक्षा यह मत अधिक समीचीन है यह तो स्पष्ट ही है। भूतो का ज्ञान मन-सापेक्ष्य है अतः अन्योन्याश्रय दोष तो यहा भी है ही। प्रत्येक भूत को कारण मानने पर भूतान्तर अनावश्यक हो जाता है एव सब में कारणता के टुकडे मानने पर कारणता की एकता खडित हो जाती हैं। जब भूत अलग अलग हैं उस समय उनमे कारणता हो तो किञ्चित् २ कार्य विना भूतान्तर के ही उत्पन्न होता रहे। और यदि

अवयवो मे कारणता का सर्वथा अभाव है तो सघात मात्र से कारणता का आगमन एक जादू मात्र मानना पडेगा। अत भूतो को भी कारण मानना बनता नही। सामान्यत माता और पिता मिलकर ही पुत्र उत्पन्न करते हैं। पर द्रोण, धृष्टद्युम्न, ईसा इत्यादि मे इसका व्यभिचार सुना जाता है। अत नियत भूतो की सगति सर्वदा आवश्यक नही है।

६ भूतो की कारणता न मानने पर कुछ लोग शक्ति को ही कारण मानते हैं। शक्ति अर्थात् जिसके गर्भ मे सभी चीजो को उत्पन्न करने की सामर्थ्य (potential energy) हो। यह शक्ति अपने आपको उद्घाटित करती जाती है और इसी का नाम सृष्टि है एव जब वह पुन उनको सग्रहीत करती जाती है तब उसका नाम प्रलय है। प्राचीन विज्ञान के प्राय सभी सिद्धान्तो का खण्डन हो जाने पर भी शक्ति-प्रवाह का द्वितीय सिद्धान्त (second law of thermodynamics) आज भी अक्षुण्ण है। शक्ति और भूत की परस्पर परिणति को अणुस्फोट सिद्ध कर चुका है। अत' विचार दृष्टि से शक्ति की कारणता निर्दुष्ट सी है। परन्तु यह शक्ति भौतिक है, मानस, अतिमानस या शिवा, इसके बारे मे अभी बहुत कुछ ज्ञातव्य है। रूस के क्लेयरटोन, मैसिड, चैकोस्लोवाकिया के नेल्या आदि की गवेषणाओ ने भौतिक और मानस शक्तियो का एक दूसरे मे परिवर्तन सिद्ध कर दिया है। वैदिक मान्यता के अनुसार तो इन सभी शक्तियों का केन्द्र शिवा ही है।

यद्यपि सामान्य दृष्टि से शक्ति और शक्तिमान् अविरोधी प्रतीत होते हैं पर विचार दृष्टि से यह सर्वथा एक दूसरे के विरुद्ध है। योनि का अर्थ दो विरुद्ध तत्त्वो का साम्यावस्था में इस प्रकार से अविरुद्धवत् स्थित होना है जिसमें किसी भी एक क्षण एक तत्व के उभर आने से पुन सामञ्जस्य कायम होने तक गतिमत्ता रहती है। जब हम पदार्थ, भाव, व्यक्ति, कुटुम्ब, समाज, राष्ट्र, अन्ताराष्ट्र आदियों को जीती-

जागती क्रियात्मक अवस्था मे अध्ययन करते है तो उनकी आधार भूत क्रियाये, आपसी सम्बन्ध, प्रगति आदि मे ऐसा ही अन्तर्द्वन्द्व पाते है। सामान्यत हम किसी भी पदार्थ को एक स्थिर अवस्था मे मानकर विचार करते है और उसके द्वन्द्वो को उतने समय के लिये उपेक्ष्य दृष्टि से देखते है। यद्यपि यह ज्ञान पदार्थों को समझने के लिये आवश्यक है और चू कि ऐसा पदार्थ केवल कल्पना मात्र है, अत वास्तविक नही। विज्ञान की यह आधार भूत भूल रही है कि वह ऐसे काल्पनिक पदार्थो को सत्य मानता रहा है। कुछ अश मे यह स्वाभाविक है क्यो कि ठीक एक ही स्थिति मे कभी भी कुछ भी दुबारा नही हुआ करता। जब तक हम कुछ चीजो को अपने से ओझल न कर दे तब तक विज्ञान का व्यावहारिक उद्देश्य सफल नही हो सकता। परन्तु भूल इस बात की होती है कि इसे वास्तविक मान लिया जाता है। यौन विज्ञान यह मानता है कि सभी घटनाये एव पदार्थ निरन्तर गतिमान् है और बदल रहे है। प्रकृति किसी भी एक क्षण मे दृश्यमान वह स्थिति है जो उस क्षण मे एक सामञ्जस्य कायम करने से पैदा हुई है। उपनिषदो मे बार बार जगत् के लिये सत् और असत् शब्द का प्रयोग मिलता है जिसका अनुवाद सर्वज्ञ शकर कार्य और कारण करते है। वस्तुत प्रत्येक क्षण मे प्रत्येक पदार्थ एक साथ ही कार्य भी है और कारण भी। चू कि सारे पदार्थ हर क्षण बदलते है अत विगत क्षण की दृष्टि से वे कार्य है और अनागत क्षण की दृष्टि से कारण है। दादा के जीवित रहते एक ही व्यक्ति एक साथ ही बाप और बेटा दोनो हुआ करता है। अत किसी दृष्टि से कोई पदार्थ है और किसी दृष्टि से नही है। यह अन्तर्विरोध ही विश्व को आत्मचालित एव आत्म-प्रगति की ओर ले जाता है। इस सिद्धान्त का प्रतिपादन आधुनिक काल मे विकृत रूप मे हेगेल ने किया एव उसका अनुकरण और भी अधिक विशृङ्खलित रूप मे मार्क्स और फ्रॉयड ने। इस विचार को शुद्ध रूप से कपिल महर्षि ने और पूर्ण रूप से आगमो ने किया है।

यह तो अनुभव सिद्ध ही है कि विश्व मे प्रत्येक वस्तु के दो कोण (poles) होते है और एक मध्य की शून्यावस्था। ज्ञान मे ज्ञाता और ज्ञेय दो कोण हो गये एव स्वय ज्ञान मध्यबिन्दु। इसी प्रकार कर्ता, करण और क्रिया आदि सभी त्रिपुटियो मे समझ लेना चाहिये। उद्योगीकरण द्वारा एक ओर उद्योगपतियो मे धनाधिक्य की तरह ही दूसरी ओर धनन्यूनता अवश्यभावी है और इससे सघर्ष भी स्वाभाविक है। यह मार्क्स का विश्लेषण यथार्थ है। परन्तु जैसे ही दण्डे का एक कोण नीचे और दूसरा कोण ऊपर होता है वैसे ही गति होने लगती है तथा वह गति अपनी शक्तियो को केन्द्र की ओर प्रवहित करती है और नव-सामञ्जस्य कायम करती है। इस बात को मार्क्स न समझ सका। इतना ही नही यदि उसने वैज्ञानिक बनने के दावे को छोडकर विज्ञान के प्रथम सिद्धान्त को भी समझने का प्रयास किया होता तो उसे पता लगता कि यह विश्लेषण या तो अन्य स्थलो मे औद्योगीकरण न करने का सन्देश होता, जैसा गाधी ने समझा, अथवा अन्य किसी आर्थिक दृष्टि को प्रस्तुत करता, जिसमे जिन देशो मे औद्योगीकरण नही हुआ है वहा सघर्ष की स्थिति न आवे। परन्तु ईसाई मजहब के प्रभाव मे होने के कारण वह पूर्व-निश्चित भाग्यवाद (Predestination) के अन्ध विश्वास को न छोड पाया, यद्यपि गॉड (God) की जगह उसने ऐतिहासिक आवश्यकता (Historical necessity) को दे दी। वेदान्त वह दृष्टि देता है जो इस सघर्ष को बचा सके क्यो कि वह अन्तर्द्वन्द्व के मध्य-बिन्दु को पकड पाता है।

मार्क्स की तरह ही फ्रॉयड ने मानस जगत् मे अधश्चेतना (Id) और ऊर्ध्वचेतना (Super - ego) के सघर्ष को पाया एव ईसाई मजहब के प्रभाव से उसने भी मानव को इस सघर्ष से बचने का कोई उपाय नही बताया। यदि मध्यबिन्दु चेतना को उसने पकड लिया होता तो वह इस गलती से बच जाता। सक्षेप मे कह सकते है कि

अन्तर्द्वन्द्वो का दुरुपयोग या उनके सामने अपने को नि शक्त अनुभव करना पाश्चात्त्य मनीषियो की देन रही है एव उन अन्तर्द्वन्द्वो को समाप्त कर मध्यबिन्दु का विकास शैव सिद्धान्त के मनीषियो की।

अन्तर्द्वन्द्व ही यह बतलाता है कि ये दोनो ही स्वय किसी से उत्पन्न है। जिसमे यह दोनों है उसके ही यह दोनो विकार है। मध्यबिन्दु के न होने पर कोण (Poles) असम्भव है। चुम्बक के पासे को देखने पर उसमे उत्तर और दक्षिण दो कोण मिलते है। यदि उसको बीच से काट दो तो उन प्रत्येक पासखण्डो मे पुन दो ही कोण हो जाते है चाहे जितने भी टुकडे करते जाओ सबमे दो कोण ही मिलेगे। इससे सिद्ध होता है कि कोई कण न उत्तरी कोण है न दक्षिणी। मध्य की अपेक्षा से ही वे दो कोण बन जाते है। वेदान्त की भाषा मे मध्य से ही कोण कल्पित है। अत कोण रूपी योनि स्वय कारण नही। आत्मभावात् के द्वारा यह और दूसरे खण्डन भी यहाँ समझ लेने चाहिये।

७ कुछ लोग जीव के कर्मफल भोग के लिये ही सृष्टि बनी है, ऐसा मानते है। परन्तु जीव के लिये सृष्टि तब बने जब पहले वह कर्म करे और विना सृष्टि के कर्म कैसे करेगा ? अत यह पक्ष भी असगत है। वस्तुत जडो की स्वत प्रवृत्ति की असम्भवता ही चेतन पुरुष की कारणता को उपस्थापित करती है। इसलिये अन्य मनीषीगण यहाँ पुरुष का अर्थ ईश्वर कर देते है। ईश्वर को जगत् का कारण मानने पर वह सापेक्ष्य सृष्टि करता है या निरपेक्ष ? एव कार्य-करण सघात के साथ करता है या उनके विना ? सापेक्ष्य होकर करने मे न वह ईश्वर ही रह जायेगा और न कारण। कार्य करण सघात वाला मानने से उसके कार्य-करण सघात को उसने बनाया या किसी दूसरे ने ? दूसरे ने बनाया तो वही ईश्वर हो जायेगा और स्वय बनाया तो उसे बनाने के लिये कार्य-करण सघात कहाँ से लाया ? अत ईश्वर की कारणता भी अविचारजन्य ही है।

कुछ लोग पुरुष का अर्थ मन करते हैं। बौद्ध भी सृष्टि को मन -

कल्पित ही मानते हैं। मन स्वत कार्य होने से और सृष्टि का अन्त पाती होने से उसको कारण मानना नो बाल-बुद्धि का काम है।

८ उपर्युक्त प्रकार से विचार करने पर ब्रह्म के पर्याय रूप से यह सब असभव है।

९ प्रत्येक की कारणता के खण्डन से सयोग की कारणता स्वय असिद्ध हो जाती है। सयोग होने मात्र से नवीन शक्ति का आधान नही हुआ करता। इतना ही नही, सयोग स्वतन्त्र नही होता। अत इनका सयोग जिसकी परतन्त्रता से होगा उसी को कारण मानना होगा। किञ्च सयुक्त पदार्थ जड हुआ करते है। अत स्वत प्रवृत्ति के अभाव से उनके द्वारा प्रवृत्ति करने वाला तत्त्व ही वास्तविक कारण होगा।

१० उपर्युक्त सभी कारण जड हैं एव जड से चेतन की उत्पत्ति असम्भव है। अत चेतन आत्मा के इस जगत् मे रहते हुए किसी भी जड अथवा जडसमूहो को कारण मानना अनर्थक है। किञ्च समग्र समस्या और प्रश्न चेतन मे ही उठते है अत चेतन उन सबसे पूर्व है। पूर्व की अपेक्षा पर को कारण मानना सर्ववादियों को अस्वीकृत है। जो जड अपनी सिद्धि विना चेतन के नही कर सकता वह चेतन को कैसे उत्पन्न करेगा। अनुभव भी यही कहता है कि भोग्य भोक्ता के लिये होता है। मकान रहने वाले के लिये और भोजन खाने वाले के लिये होता है। आज की विडम्बना ही यह है कि समाजवादी भोक्ता को गौण मान कर केवल भोग्यजात को ही प्रधानता देते हैं। भोग्य भोक्ता के परतन्त्र होता है। यद्यपि पूँजीवादी ऊपर से भोक्ता को प्रधानता देते देखे जाते है परन्तु हृदय से वे भी यन्त्र और भोग्य पदार्थों का अभिवर्धन (Mechanisation and high standard of Living) ही चाहते है। अत सनातन धर्म की दृष्टि से पूँजीवादी और समाजवादी एक ही थैली के चट्टे बट्टे हैं। सनातन धर्म भोग्य-वादी नही भोक्ता वादी है। अतः सुख-दुःख के अनुभव को वह पदार्थों

की कमी बेशी की अपेक्षा ज्यादा महत्त्व देता है। 'गरीबी हटाओ' की जगह 'सुखी करो' का नारा उसे अधिक प्रिय है। इसीलिये सनातन धर्म का नेता न सोवियत सघ के जनरलिस्मो स्टालिन की तरह फौजी होता ह, न कोसाइजिन की तरह अर्थज्ञ, वरन् ब्राह्मण बादरायण होता है। सनातन धर्म के शासन मे सबसे ज्यादा ध्यान और व्यय उस शिक्षा पर किया जायगा जिससे भोक्ता सुखी बन सके।

११ जो चेतनको कारण मानते है वह भी यह देखते है कि यदि वह स्वतन्त्र कारण होता तो कभी भी अपने लिये दु ख का अनुभव न होने देता। इतना ही नही जब वह विना सहयोग और सामग्री के एक झोपडा भी नही बना सकता तो यह विश्व क्या बनायेगा ? जब स्वय अपने लिये ही इच्छा करते हुए भी सुख नही पाता और इच्छा न करत हुए भी दु ख पाता है ता उसकी व्यवस्था सारे जगत् मे सुख दु ख के लिये तो स्वत निराकृत हो जाती है। सारे चेतनो के मिलकर सृष्टि करने की योग्यता तो मक्खियो के चमडे से नगाडा बनाने की तरह ह। समग्र सृष्टि, स्थिति, लय के नियमो का बनाने वाला वह जीव कैसे हो सकता है जो स्वय ही उन नियमो के अधीन हैं ? एव अनादि काल से उन नियमो का पता लगाने पर भी आज तक एक भी नियम के बारे मे नि सदिग्ध नही हो सकता। अधिदैव, अधिभूत, अधिलोक, अधिज्योतिष इत्यादि भेदभिन्न जगत् का मन के द्वारा चिन्तन भी इसके लिये असम्भव है, इनकी सृष्टि कहा से करेगा।

(३)

इस प्रकार ब्रह्म शब्द के अनेक अर्थों मे से कोई भी उपर्युक्त प्रश्नो का समाधान करने वाला जब सिद्ध नही हुआ तो ऋषियो का यह निर्णय हुआ कि प्रत्यक्ष तथा अनुमान प्रमाण इस विषय मे असमर्थ है। वस्तुत परब्रह्म के विषय मे अन्य प्रमाणो की असम्भवता ही समग्र विचार का अन्तिम फल है। तर्काप्रति-

ष्ठानात् के द्वारा बादरायण **नैषा तर्केण मतिरापनेया** के द्वारा यमराज और **अतर्क्यैश्वर्यै** के द्वारा पुष्पदन्तादि आचार्य इसका पुन पुन प्रतिपादन करते है। चूंकि ये वैदिक ऋषि वेदका श्रवण कर चुके थे और अब मनन भी कर लिया, अत उन्हे निदिध्यासन करने के लिये श्वेताश्वर महर्षि ने आदेश दिया।

ते ध्यानयोगानुगताः अपश्यन् देवात्मशक्तिं स्वगुणैः निगूढाम्।
यः कारणानि निखिलानि तानि कालात्मयुक्तानि अधितिष्ठति एकः॥

ते = उन ऋषियो ने
ध्यानयोगानुगता = चित्त एकाग्रता[1] के द्वारा अन्तर्मुख होकर
स्वगुणै = अपने विशेषणों[2] से
निगूढाम् = छिपी हुई[3]
देवात्मशक्तिं = परमात्मा की शक्ति को[4]
अपश्यन् = समझा[5]

य = जो (परमात्मा)
एक = एक[6] होते हुए भी
कालात्मयुक्तानि = काल से लेकर आत्मा तक[7]
निखिलानि = सभी
तानि = इन
कारणानि = कारणो को
अधितिष्ठति = अपने मे अधिष्ठित[8] करता है।

१ यद्यपि योग और भक्तिमार्ग ध्यान के भिन्न २ अर्थ करता है तथापि वस्तुत धात्वर्थ से ध्यान का अर्थ चिन्तन ही होता है। परन्तु यह चिन्तन इतना तीव्र हो जाना चाहिये कि विचार्य विषय से भिन्न कुछ भी प्रविष्ट न हो सके। यह प्रसिद्ध है कि चाहे वैज्ञानिक हो चाहे कलाकार या दार्शनिक, जितनी एकाग्रचित्तता से अपने विषय मे जितना अधिक एकाग्र होकर सोच सकेगा उतना ही रहस्य का उद्घाटन कर सकेगा। ऋषियो ने जगत् के मूल कारण के विषय मे श्रुतियो के आधार पर वाचनिक विचार को छोडकर, वह विषय अति गम्भीर है

इसलिये भक्तिपूर्ण हृदय से एकाग्र होकर विचार किया। इससे उनका दिङ्मोह नष्ट हो गया, क्योंकि विषय की गम्भीरता के कारण और बाहर जाने वाले इन्द्रियादिक प्रमाणो की अविषयता निश्चित हो चुकी था अत स्वभाव से ही बहिमुर्खता नष्ट होकर वे अन्तर्मुखी हो गये।

उपर्युक्त मीमासा से उनको इतना तो निश्चय हो चुका था कि जगत् जिससे भी उत्पन्न है वह इसका न कारण हो सकता है, न अकारण, न दोनो मिलकर, न दोनो से रहित। इसी प्रकार न वह अद्वितीय परमात्मा निमित्त कारण हो सकता है, न उपादान, न दोनो, न दोनो भावों से रहित। शिव जब इन सब चीजो से युक्त होकर कल्पित किया जाता है तो कोई न कोई उपाधि स्वीकारनी पडती ह जो वास्तविक नही हो सकती। चिन्तन की गम्भीरता मे जब यह सब औपाधिक विचार हट जाते है तभी शिव का वास्तविक रूप प्रकट होता है।

२ पञ्च महाभूत कारण रूप से एव दृश्य जगत् कार्यरूप से विशेषण है। सर्वज्ञ, अल्पज्ञ, सर्वशक्ति, अल्पशक्ति आदि भी विशेषण है। अथवा काल, स्वभाव आदि भी उसी के विशेषण है। पुराणो मे ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र, लक्ष्मी, सरस्वती, दुर्गा आदि नामो से उसके विशेषणो को बतलाया है। विचार दृष्टि से भोक्ता, भोग्य, भोग, ज्ञाता, ज्ञान, ज्ञेय इत्यादि उसीके विशेषण है। इन्हे समष्टि-व्यष्टि उभय रूप से समझना चाहिये।

इन्हे अपने विशेषण इसलिये कहा कि यह सहज और स्वाभाविक होने से औपाधिक और सकारण नही है। श्वेताश्वतर की भाषा मे तो इन्हे ज्ञान, बल और क्रिया कहा गया ह।

३ जिस प्रकार सेवार जल मे उत्पन्न होकर, जल मे ही स्थित रहकर खुद जल को ही ढाकती है अथवा जग लोहे से उत्पन्न होकर, लोहे मे ही स्थित रहकर, लोहे को ही ढाकती है उसी प्रकार माया

से ही उत्पन्न माया मे ही स्थित गुण माया को ही ढाकते है। गुणो से रहित केवल माया का अनुभव असम्भव है। वस्तुतस्तु ब्रह्म मे पदार्थो की प्रतीति के अनुभव की व्यवस्था करने के लिये उस मे किसी ऐसी शक्ति की कल्पना करनी पडती है जो अत्यन्त असम्भव जगत्-प्रतीति की सम्भावना कर दे। इसीलिये 'अघटित घटना पटीयसी' जगत्-प्रतीति की अन्यथा अनुपपत्ति रूप अर्थापत्ति प्रमाण से सिद्धि माननी पडती है। जिस प्रकार रस्सी मे माला, साप बैल का मूत, भूछिद्र आदि की अन्यथा अनुपपत्ति से रस्सी मे इन चीजो के बनने की शक्ति की कल्पना करनी पडती है। परन्तु इन चीजो के विना केवल रस्सी देखने पर इस शक्ति का कभी दर्शन नही हो सकता। अथवा सोने से सब गहने (Ornamental designs) बनते है इससे सोने मे इन सब गहनो के बनने की शक्ति माननी पडती है। परन्तु सोने को कितना भी ध्यान से देखने पर यह शक्ति दिखाई नही देती। इसी प्रकार अपने ही गुणो से यह आच्छादित होकर गुणो द्वारा अनुमेय भी हो ही जाती है।

४ इसमे देव, आत्मा और शक्ति इन तीन का प्रयोग करके यह ध्वनित किया गया है कि भक्त जिसे देव अर्थात् ईश्वर कहते है, ज्ञानी उसे ही आत्मा जानते है, तथा योगी और कर्मी उसी को शक्ति शब्द से कहते है। इस दृष्टि से धर्म का भगवान्, दर्शन का तत्त्व और सृष्टि-चिन्तक या वैज्ञानिको की शक्ति (Energy) एक ही तत्त्व हो जाते है। इन तीनो तत्त्वो की एकता को जानना ही ब्रह्म को जानना है। इसीलिये यह अल्प बुद्धि वालो के लिये अगम्य है।

मनोविज्ञान की दृष्टि से अन्तर्मुख होने पर अपने अन्दर दिमाग, दिल, और मर्जी इन तीन चीजो का अनुभव होता है। देव शब्द से दिमाग (Intellect), आत्म शब्द से मर्जी (Will), और शक्ति शब्द से दिल (Emotion) को बताकर उनकी एकता के प्रतिपादन से इन तीनो की एकता को बताना ही यहा इष्ट है। अथवा देव-

शक्ति और आत्मशक्ति के द्वारा ईश्वर की ज्ञान एव क्रिया मे स्वतन्त्रता और जीव की इच्छा मे स्वतन्त्रता, इस प्रकार दोनो शक्तियो का प्रतिपादन इष्ट है। अथवा देवशक्ति से आवरणशक्ति-प्रधान माया और आत्मशक्ति से विक्षेपशक्ति-प्रधान माया को बतलाया गया है। आवरण के समय देव की प्रधानता रहती है एव विक्षेप के समय जीव की। इसी को आगमो मे माया और अविद्या शब्द से भी कहा गया है।

द्युधातु से बना हुआ देव शब्द प्रकाश स्वभाव वाली अखण्ड चित् सत्ता का वाचक है। उस अखण्ड चित् से अभिन्न होने के कारण जो उसकी आत्मभूत शक्ति है अर्थात् उसका स्वभाव है वह देवात्मशक्ति है। तात्पर्य है कि असग उदासीन चित् अविकारी होने के कारण वास्तविक कारण नही हो सकता अत अवास्तविक कारणता का अध्यास उसमे स्वभाव से होता है। यह अभेदाध्यास नियम से उसके परतन्त्र है। अत शक्ति शब्द का वाच्य है। इस शक्ति को स्वरूप और स्फुरण प्रदान करने वाला अधिष्ठान ब्रह्म ह। चू कि यह परमात्मा की अपनी सामर्थ्य है अत इसको देव की आत्मशक्ति कहा गया। देव से ज्ञान और आत्मा से इच्छा तथा शक्ति से क्रिया, यह भी प्रतिपादित है, क्योकि ब्रह्म का यही तीन स्वरूप है। ज्ञान-प्रधान होकर वह चित् होता है और जीवरूप को धारण करता है, यद्यपि शेष दोनो भी उसमे निहित है। इसी प्रकार आनन्द मे इच्छारूप की प्रधानता है और जगत् के द्रव्यो मे क्रिया या सत् रूप की।

प्राय साख्यवादी शिव की शक्ति या माया को साख्य शास्त्र मे कल्पित प्रकृति से अभिन्न मानते है। श्वेताश्वतर और कठ की शब्दावली मे उनको अनेक उद्धरण मिलते है। परन्तु स्मरण रखना चाहिये कि यहा देवशक्ति न कह कर देवात्मशक्ति कहा गया है जिसका तात्पर्य है कि वह उस महेश्वर की आत्मभूत एव अस्वतत्र

अर्थात् अपृथग्भूत शक्ति कही गई है, जब कि साख्यकी प्रकृति ऐसी नही है ।

देवात्मशक्ति का अर्थ देवात्म रूप से अर्थात् ईश्वर रूप से विद्यमान शक्ति भी हो सकता है ।

यातीतागोचरा वाचां मनसाश्चाविशेषणा ।

ज्ञानध्यानपरिच्छेद्या तां वन्दे देवतां पराम् ॥

इत्यादि के द्वारा जगत् की उत्पत्ति, स्थिति और लय की कारण भूत देवता को ही शक्ति कहा गया है । तात्पर्य है कि ब्रह्म ही ध्यान का विषय होने पर मायी रूप से ईश्वर कहा जाता है । एव इसी रूप से सारे नियमनो का कार्य करता है ।

अथवा देव अर्थात् ईश्वर, आत्मा अर्थात् जीव एव शक्ति अर्थात् अविद्या और उसका कार्य जगत्, तीनो जिसके व्यक्त रूप हैं वही ब्रह्म है । अथवा देव से अधिदैव जगत्, आत्मा से अध्यात्म जगत् और शक्ति से अधिभूत जगत् का ग्रहण करके इन तीनो जगत् की एकता का प्रतिपादन किया है । सक्षेप मे व्यष्टि, समष्टि, जड-चेतन जगत् की एकता के ज्ञान से ब्रह्म ज्ञान बतलाया ।

बाह्य पदार्थो का प्रकाशक होने से जीव ही जाग्रत् अवस्था मे देव, अन्तर्भूत जगत् का निर्माता होने से स्वप्न मे आत्मा, एव इन दोनो भावो को अपने मे लीन करके केवल शक्ति भाव मे स्थित रहने स सुषुप्ति मे शक्ति कहा जाता है । इस दृष्टि से जोव की कारणता के ज्ञान के बाद उसी मे जगत् की कारणता का निर्देश **अयमात्मा ब्रह्म** इत्यादि वेद वाक्य कर देते हैं । इस प्रकार हम देखते है देवात्मशक्ति एक गूढ रहस्यवादी शब्द है । अगले दो मत्रो मे इसका कुछ विस्तार, किया गया है । वस्तुतस्तु इसके आगे को सारी उपनिषद् इसी शब्द को समझाने मे गतार्थ ह । **इष्ट हि विदुषां लोके समास-व्यासधारणाम्** का न्याय यहा लगा लेना चाहिये ।

५ परमात्मा का ज्ञान न तो किसी भी इन्द्रिय से हो सकता है और न अन्त करण से ही। लेकिन जैसे सुषुप्ति का ज्ञान न इन्द्रिय न अन्त करण, से होता है फिर भी उस अनुभव की छाप जाग्रत् मे आ जाती है, इसी प्रकार परमात्म-ज्ञान की छाप भी प्रारब्ध द्वारा प्रतीति काल मे आ जाती है। इस छाप को ही यहा समझ शब्द से कहा गया है। नव निरुक्त (philology) के अनुसार स्पृश् धातु के रूप का ही पश्य होता है। विज्ञान की दृष्टि से भी छूने वाली त्वक् का ही रूपान्तर चक्षुरिन्द्रिय है। इस अर्थ का लेने से यह समझने का भाव और छूने का भाव एक होकर वास्तविकता को प्रकट कर देते है। मानस विज्ञान न भी यह सिद्ध कर दिया है कि दृष्टि और स्पर्श के द्वारा जितना परस्पर मे भाव दान किया जाता है उतना और किसी इन्द्रिय से नही। अति विश्लेपण (transcendental analysis) मे रौजर्स और बर्न ने सहलाना (Stroke) को सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण जीवन निर्माण-कर्त्री शक्ति माना है और सभो व्यवहारो को इसी के माप दण्ड (Stroke value) से नापा है। भारनोय सस्कृति मे बडो के पैर छूना एव छोटो के सिर और पीठ को सहलाना तथा योरुपीय सस्कृति मे कर-पीडन (handshake) एव दोनो ही सस्कृतियो मे बराबरी वाले से गले मिलना इसी का व्यावहारिक रूप है। ब्रह्म दर्शन वस्तुत एक विशेष प्रकार का स्पर्श ही है। इसमे ब्रह्म के गुण-धर्म जीव के गुण-धर्मो को समाप्त प्राय कर देते है। गीता मे स्पष्ट ही ब्रह्मसस्पर्श कहा गया है।

यद्यपि 'समझा' मे भूतकाल लगता है पर यह नही समझना चाहिये कि भूतकाल मे ही समझा गया और अब नही समझा जा सकता। वेद मे काल की विवक्षा न होने से इस प्रकार के ध्यान योग से हमेशा अनुभव मे आ जाता है यही तात्पर्य है।

६ **एकमेवाद्वितीयम्** इत्यादि श्रुतियो स यहाँ सजातीय, विजातीय एव स्वगत भेदो से रहित एकता अवगन्तव्य है। तात्पर्य है कि

वस्तुत भेद शून्य होने पर भी वह अनेक रूपो मे प्रतीत होता है। एव इस प्रतोति के लिये उसे किसी दूसरे सहायक कारण की आवश्यकता नही है। वह सच्चिदानन्द सभी को स्वरूप स्फुरण और आनन्द प्रदान करते हुए सब रूपो को धारण करता हुआ दीखने पर भी अद्वितीय ही बना रहता है। जिस प्रकार चीनी खिलौने और मकान को स्वरूप श्वेतता और मधुरता प्रदान करते हुए भी एक चीनी ही बनी रहती है।

७ पूर्व मन्त्र मे बताये काल, स्वभाव और चेतन आत्मा तभी कारण बनते है जब पहले शिव से सत्ता, स्फुरत्ता प्राप्त कर लेव। वेदज्ञ अथवा विचारक की दृष्ट शक्ति का आश्रय और विषय बना हुआ ब्रह्म शब्द ही काल स लेकर चेतन पर्यन्त रूप से कारण बना हुआ प्रतीत होता है। काल और आत्मा कहने से प्रत्याहार के द्वारा मध्य के सभी सग्रह हो जाते है। युक्त से इनका सग्रह या जिस जिस वादी को उसके अविद्वान् उपदेशक ने जिस जिस को युक्ति स कारण सिद्ध करके बता दिया वह वह वादी मूर्खता से उसी को कारण मान लेता है। वस्तुत उन सभी रूपो मे एकमात्र चित्सत्ता ही कारण हुई हुई भान होती है। **'गुणा इति गुणविद तत्त्वानीति च तद्विद प्राणा इति प्राणविदा भूतानीति च तद्विद लोका इति लोकविदो देवा इति च तद्विद वेदा इति वेदविदो यज्ञा इति च तद्विदः मूर्त इति मूर्तविदो अमूर्त इति त द्विद काल इति कालविदो दिश इति च तद्विद चित्तमिति चित्तविदो धर्माधर्मौ च तद्विद पञ्चविंशक इत्येके षड्विंश इति चापरे,** आदि के द्वारा गुण, तत्त्व, प्राण, भूत, विषय, देवता, वेद, यज्ञ, चक्रादिधारी मूर्ति, अमूर्ति, तथा शून्य, काल, दिक् (Space), मन, पुण्य, पाप, पचीस और छब्बीस सेश्वर और निरीश्वरो के तत्त्व, इत्यादि और भी अनेक सृष्टि-कारणो की कल्पनाओ को बताकर भगवान् गौडपादाचार्य अन्त मे कहते है—

'स्वप्नमाये यथा दृष्टे गन्धर्वनगर यथा ।
तथा विश्वमिद दृष्टं वेदान्तेषु विचक्षणै ।।

जिस प्रकार स्वप्न इन्द्रजाल अथवा गन्धर्वनगर देखने मे आता है उसी प्रकार वेदान्तनिपुण पुरुषो को यह विश्व लगता है । दूसरो को यह क्यो नही लगना ? इसका कारण बताया **य भाव दर्शयेत् यस्य तं भावं स तु पश्यति** जिस पदार्थ को तत्त्व रूप से उसके गुरु ने दिखा दिया वह उसी पदार्थ को तत्त्व समझ लेते है । वस्तुत उस पदार्थ मे भी कारणता रूप से ब्रह्म विद्यमान है ही । युक्ति से सिद्ध होने के कारण ही उसे युक्त कह दिया । जब दूसरी युक्तियो मे उस पदार्थ का खण्डन किया जाता है तब वह उस दूसरे पदार्थ को सत्य मानकर पकड लेता है । चू कि वह भी अन्य युक्तिया से खण्डित किया जा सकता है और तर्क सदा अनिश्चित है अत सभी हेतुवादो का सहारा छोडकर अन्तर्मुखी होकर आत्मा मे ही ब्रह्म का दर्शन करना चाहिये यह श्रुति का तात्पय है, क्योकि इन सभी कारणो और हेतुओं का आविर्भाव, स्थिति, और लय वही होता है ।

युक्त का अर्थ सयुक्त भी लिया जा सकता है । तब तात्पर्य होगा कि काल स्वभाव आदि गुणो के द्वारा मिलकर उस आत्मशक्ति को ढाक लिया जाता है जो इन गुणो के द्वारा ही प्रकट हो रही है । ये सारे के सारे इकट्ठे ही युगपत् उसकी उपाधि है । अत इन सब कारणो का आपस मे विरोध न होकर सामञ्जस्य है और ये सभी एक से ही मिथ्या हैं ।

८ अधिष्ठान के दो अर्थ होते है । नियमन करने वाले को भी अधिष्ठान कहते है और भ्रान्तिस्थल मे सप का अधिष्ठान रज्जु कहलाता है । ईश्वर रूप से नियमन करने वाला होने से परमात्मा अधिष्ठान कहलाता है । वस्तुत सृष्टि का अभाव होने के कारण वह इस कल्पित सृष्टिका वास्तविक अधिष्ठान है । वस्तुत विचार करने पर कोई भी कारण-कार्य भाव आदि ठहरते नही है । अत ये कारणत्वादि की कल्पनायें कुछ मान्यताओं को लेकर बाहर प्रतीत होती हैं और पुन उन

मान्यताओ के दूर हो जाने पर पुन अपने मे लीन होकर स्वायत्त हो जाती है। अत्यन्त विचार के बाद भगवान् गौडपादाचार्य का निर्णय है–

तस्मान्न जायते चित्तं चित्तदृश्य न जायते।

तस्य पश्यन्ति ये जातिं खे वै पश्यन्ति ते पदम्॥

न कोई प्रतोति उत्पन्न होती है और न किसी प्रतीति का विषय ही उत्पन्न होता है। जो उनकी उत्पत्ति को देखना चाहता है वह आकाश मे पक्षियो के पद-चिन्ह ढूँढता है, क्योकि अनुत्पन्न को उत्पन्न मानता है।

४

इस प्रकार जो दर्शन उन्होने किया उस देवता का अब ऋषि रहस्यमय वर्णन करते हैं —

तं एकनेमिं त्रिवृतं षोडशान्तं शतार्धारं विंशति प्रत्यराभिः।

अष्टकैः षड्भिः विश्वरूपैकपाशं त्रिमार्गभेदं द्विनिमित्तैकमोहम्॥

त = उस प्रसिद्ध
एकनेमि = एकनेमि[1] (Rim) वाले,
त्रिवृत = तीन हाल[2] (Tyre) वाले,
षोडशान्तं = सोलह पीठ[3] (Blocks) वाले,
शतार्धार = पचास ताडियो[4] (Spokes) वाल,
विंशतिप्रत्यराभि = बीस सहायक ताडियो वाले,[5]
षडभि. = छै
अष्टकै = (आठ आठ के) अटको (दातो) वाले,[6]
विश्वरूपैकपाशं = अनेक रूप और एक फासी (Chain) वाले,[7]
त्रिमार्गभेदं = तीन भिन्न रास्तो[8] पर चलने वाले,
द्विनिमित्तैकमोहम् = दो कारणो वाले, और एक मोह[9] रूपी नाभि वाले (free wheel) को
(अपश्यन्) = देखा

१ जिस प्रकार से नाभि से गति प्रारम्भ होकर चक्के के बाहर के घेरे पर समाप्त होती है उसी प्रकार इस विश्व का यावत् विस्तार ज्ञाता और ज्ञेय के सम्बन्ध मे समाप्त होता है। यह ज्ञाता और ज्ञेय का सम्बन्ध ही नेमि है। यहाँ कालिक सम्बन्ध का निवेश तो इष्ट ही है। अर्थात् जिस क्षण से अवच्छिन्न पदार्थ है उसी क्षण से अवच्छिन्न ज्ञाता भी है। इस ज्ञान मे ज्ञाता का भी पर्यवसान है और ज्ञेय का भी। दोनो परस्पर मे एक होकर अवसित हो जाते है। ज्ञाता पुनः अन्य काल से अवच्छिन्न अन्य पदार्थो की ओर बह जाता है और ज्ञेय अन्य काल से अवच्छिन्न अन्य ज्ञाताओ की ओर। इस प्रकार के ज्ञानो का समूह नेमि कहा जाता है। सृष्टि के आदि क्षण से अन्तिम क्षण पर्यन्त नेमि का निरन्तर प्रवाह चलता रहता है। अत इसको व्यक्त माया कह सकते है।

२ जिस प्रकार रथ के पहिये के ऊपर लोहे की अथवा साइकिल के चक्के के ऊपर रबड का टायर चढाया जाता है जिससे नेमि सडक के टक्कर से बचती है उसी प्रकार व्यक्त माया की नेमि एव देवयानादि तीन मार्गो के बीच मे तीन प्रकार की हाल चढाई जाती है। ज्ञान, इच्छा, क्रिया ही तीन हाल हैं। प्रत्येक ज्ञाता और प्रत्येक ज्ञेय का सम्बन्ध जिस प्रतीति को उत्पन्न करता है वह प्रतीति प्रधान रूप से ज्ञान रूप होती है या इच्छा रूप या क्रिया रूप। परन्तु स्मरण रखना चाहिये कि तीनो विद्यमान अवश्य रहते है चाहे प्रवृत्ति रूप से, निवृत्ति रूप से अथवा उदासीन रूप से। प्रायश ज्ञान के उत्थान मे उदासीनता प्रधान रहती है और इच्छा एव क्रिया मे प्रवृत्ति एव निवृत्ति प्रधान रहती है। इन तीनो के विना यह चक्र आसानी से नहीं च। सकता। सक्षेप मे कह सकते है कि यही इस नेमि की गति को तीव्र भी करते हैं और अधिक देर तक नेमि को जीवित भी रखते हैं।

३ 'स एष संवत्सर प्रजापति षोडशकल तस्य रात्रय एव

पञ्चदश कला ध्रुवैवा अस्य षोडशी कला' इत्यादि यजुर्वेद मे कही हुई सवत्सर अर्थात् काल रूप प्रजापति की पन्द्रह तिथिया और सोलहवी अमावास्या ही सोलह कलाये है। आध्यात्मिक रूप से **'यो वैस सवत्सर प्रजापति षोडशकलोऽयमेव सोऽयमेववित् पुरुष तस्य वित्तमेवपञ्चदश कला। आत्मैवास्य षोडशी कला'** इत्यादि के द्वारा यजुर्वेदोक्त सावत्सर रूप जीवात्मा का स्त्री, पशु, धन आदि पन्द्रह कलायेएव स्वय जीव सोलहवी कला है। ये दोनो ही सावत्सर से अभिन्न हैं अत सोलह पीठ काल के ही भेद समझने चाहिये। काल के पीठो से ही सारे ज्ञान निर्मित होते है एव काल के चलने से वे सब चलते है। काल ही इन ज्ञानो का और पचास ताडियो का सम्बन्ध स्थापित करता है अर्थात् नाभि की गति को ताडियो से ग्रहण कर बाह्य जगत् के अनुभवो मे परिणत कर देता है।

४ यजुर्वेद मे प्रोक्त पञ्चाग्नि विद्या की उपासना और उपासक के पञ्च कोश ही पाच भागो द्वारा विभाजित होकर पचास ताडिया है जो नाभि से गति को काल के प्रति देते है। इनके द्वारा ही काल का निर्माण होता है क्योकि ये ही भोग्य और भोक्ता को समीप लाते है। प्रथम है स्वर्ग की लोकाग्नि जिसमे सूर्य ही समिधा है, किरणे ही धु आ, दिन लपट, दिशाये अगारा और बीच की अवान्तर दिशाये नैऋत्य आदि चिन्गारिया ये पाच खण्ड है। इस अग्नि मे देवता अर्थात् यजमान की इन्द्रिया श्रद्धा की आहुति देती हैं जिससे राजा सोम प्रकट होते है। बादल ही दूसरी अग्नि है जिसका सावत्सर ही समिधा है, बादल धु आ बिजली लपट बज्र (कडकडाहट) अ गारे है एव फौहार चिन्गारिया। इसमे सोम राजा की आहुती दी जाती है जिससे वृष्टि उत्पन्न होती है। तीसरी अग्नि यह मानव लोक है जिसकी पृथ्वी ही समिधा, आग धु आ, रात लपट, चन्द्रमा अ गार एव नक्षत्र चिन्गारिया है। इस अग्नि मे वृष्टि की आहुति दी जाती है जिससे अन्न उत्पन्न होता है। चतुर्थ पुरु-

षाग्नि है जिमका खला मुह समिधा, प्राण धुवा, वाणी लपट आखे अगारे, कान चिन्गारिया है । इस अग्निमे अन्न की आहुति दी जाती है जिसमे शुक्र उत्पन्न होता है । पञ्चम स्त्री रूपी अग्नि है जिसका उपस्थ ही समिधा, रोय धुआ, योनि लपट, मैथुन अगारा, तथा आनन्द चिन्गारी है । इसमे शुक्र की आहुति दी जाती है जिससे पुरुष उत्पन्न होता है । इस प्रकार पचीस पञ्चाग्नि विद्या के खण्ड हुए ।

यह पुरुष पुन पाच कोशो का है और प्रत्येक पाच कोशो के पाच खड है । पहले कोश अन्न रस मय है । गले से सिर तक पहला खड, दाहिना बाजू दूसरा, बाया बाजू तीसरा, कमर से गले तक चौथा आत्म खण्ड एव कमर से नीचे का पूछ वाला पाचवा खण्ड है । इसके भीतर प्राणमय काश है, जिसमे प्राण सिर है, व्यान दाहिना बाजू, अपान बाया बाजू, आकाश चौथा आत्म खण्ड और पृथ्वी पाचवा पूछ खण्ड । इसमे पुन मनोमय कोश है जिसमे यजुर्वेद सिर, ऋग्वेद दाहिना बाजू, सामवेद बाया बाजू, आदेश देने वाला ब्राह्मण भाग आत्म खण्ड एव अथर्ववेद पूछ वाला पाचवा खण्ड । इसमे विज्ञान-मय कोश है जिसका श्रद्धा सिर, ऋत दाहिना बाजू, सत्य बाया बाजू, योग आत्म खण्ड, एव मह (हिरण्यगर्भ) पूछ वाला पाचवा खण्ड है । इसमे आनन्दमय कोश है जिसका इष्ट वस्तु दर्शन रूपी प्रिय सिर है, इष्ट वस्तु का प्राप्ति रूप मोद दाहिना बाजू है, इष्ट वस्तु का भाग बाया बाजू, आनन्द आत्म-खण्ड और ब्रह्म पूछ रूपी पाचवा खण्ड है । इस प्रकार इन पचास ताडियो के द्वारा ही यह नेमि चलती है ।

५ जिस प्रकार सहायक ताडिया ताडियो की गति मे मदद देती है उसी प्रकार अधिलोक, अधिज्यौतिष, अधिविद्य, अधिप्रजा और अध्यात्म इन पॉच के चार चार भेद यद्यपि सृष्टि चक्र को चलाने मे कोई गति की तीव्रता नही लाते पर इनको पुष्ट करते है । अधिलोक लोकाग्नि

को, अधिज्यौतिष पर्जन्याग्नि को, अधिविद्य मानव को और अधिप्रजा प्रजननाग्नि को, एव अध्यात्म पुरुष को पुष्ट करता है । इसी को यजुर्वेद मे महासहिता कहा है । अधिलोक मे पृथ्वी ही पूव रूप (नीचे का रूप) है, द्यु उत्तर रूप (ऊपर का रूप), आकाश सन्धि, और वायु सन्धान अर्थात् दोनो को मिलाने वाला सम्बन्ध रूप है । यह चार अधिलोक के खण्ड चार सहायक ताडिया हुइ । इसी प्रकार अधिज्यौतिष मे अग्नि पूर्वरूप, सूर्य उत्तररूप, जल सन्धि और बिजली सधान है । अधिविद्य मे आचार्य पूर्वरूप, शिष्य उत्तररूप, विद्या सधि और प्रवचन ही सन्धान है । अधिप्रज मे माता पूवरूप, पिता उत्तररूप, बच्चे सन्धि, प्रजनन सन्धान है । अध्यात्म मे नीचे की ठोडी पूर्वरूप, ऊपर की ठोडी अर्थात् मुख के ऊपर की हड्डी जिससे ऊपर के दाँत हिलते है उत्तररूप, वाक् सन्धि और जीभ सन्धान है । इस प्रकार इन बीस के कारण ही पूर्वोक्त पचास अरे मजबूत बने रहते है और जल्दी जजरित नही होते ।

६ पाश (फासी Chain) के द्वारा किसी भी चक्र को चलाने पर उसमे छोटे-छोटे अटको या दाँतो की जरूरत होती है जिससे वह चक्र आगे की तरफ तो चले परन्तु पाश को पीछे घुमाने पर भी चक्र आगे ही चलता रहे, पीछे की ओर कभी न जाय । यह तो सबको प्रत्यक्ष ही है कि ससार चक्र आगे ही चलता है और कभी भी पीछे की ओर नही जाता । काल की एक ही दिशा (Direction) माननी पडेगा । यदि घटनाओ मे विपरीत दिशा मे प्रत्यावर्तन हो भी जाय तो भी वह एक बार आगे चला हुआ इस उपाधि से प्रत्यावर्तित होने के कारण वास्तविक दृष्टि से दुहराना नही हो सकता । जिस प्रकार एक बार प्रधान मन्त्री बनकर सामान्य व्यक्ति बन जाने पर भी पहले वाला सामान्य व्यक्ति न बनकर भूतपूर्व प्रधान मन्त्रा वाला सामान्य व्यक्ति बनता है । ये छै अटके वाणी के है । हमारी स्मृति चाहे दिमाग मे और चाहे पुस्तको मे शब्द रूप मे ही रहती है । इस

शब्दरूपी स्मृति के कारण ही काल की गति एकतरफी ही दिशा हो सकती है। जैसे घडी के काटे पुन पुन उन्ही स्थितियो मे आने पर भी हमारी गत दिनो की स्मृतियो के कारण ही पुनरावृत्ति का भ्रम नही होने देती। इन शब्दो को बनाने वाले स्थानभेद से किये हुए छै अष्टक है जो पाणिनीय सिद्धान्त मे और सस्कृत एव तन्मूलक भाषाओ मे आज भी उसी रूप मे विद्यमान है। अ क ख ग घ ङ ह एव विसर्ग प्रथम अष्टक है जिसका स्थान कण्ठ है। इ च छ ज झ ञ य और श द्वितीय अष्टक है जिसका स्थान तालु है। ऋ ट ठ ड ढ ण र और ष तृतीय अष्टक है जिसका स्थान मूर्धा है। लृ त थ द ध न ल और स चतुर्थ अष्टक है जिसका स्थान दाँत है। उ प फ ब भ म और ≍(उपध्मानीय) ये पाचवा अष्टक है। इसका स्थान होठ है। स्वरो के ह्रस्व दीर्घ, प्लुत और उदात्त, अनुदात्त, स्वरित तथा सानुनासिक अननुनासिक आठ भेद ही छठा अष्टक है। इसका स्थान हृदय है।

७. इन दातो को चलाने वाली जजीर अनेक रूप वाली है अर्थात् अनन्त पदार्थो के अनन्त सस्कारो द्वारा शब्द याद आते रहते है। जैसे जजीर मे अनेक छेद (Groove) होते है और उनमे से कुछ ही किसी एक काल मे दाँतो मे फसे होते है पर क्रम से सभी छिद्र कभी न कभी दातो मे फसते ही हैं। इसी प्रकार अनन्त स्मृतिया कभी न कभी ज्ञान मे आती ही है। यह सस्कार ही अनन्त कामनाओ का कारण है। यह जजीर काम ही है और सस्कार इसके छेद।

८ देवयान वैदिक उपासनायुक्त कर्म से, पितृयान उपासना रहित वैदिक कर्म से, एव अधोयान दोनो से रहित होने पर प्राप्त होता है। देवयान द्वारा ब्रह्मलोक मे जाकर अक्षय सुख को प्राप्त करता है। पितृयान के द्वारा स्वर्गलोक को जाकर अतिदीर्घ काल तक सुख भोगता है। अधोयान के द्वारा पशु-पक्षी मानवादि योनियो मे जल्दी जल्दी पैदा होते और मरते रहता है।

प्राय: चक्र की दो गतिया देखने मे आती हैं, एक जमीन मे सामने

की दिशा मे और दूसरी ऊपर नीचे की दिशा मे। यद्यपि सामान्यत आगे जाने के लिये ही चक्र का उपयोग किया जाता है पर यदि दो सौ मील व्यास के चक्र की कल्पना करे तो स्पष्ट हो जायेगा कि ऊपर जाने के लिये भी उस चक्र का उपयोग किया जा सकता है। जैसे चर्खा मे या रहट मे। कभी कभी अक्ष (Axil) के ढीला होने पर इक्के या मोटर के चक्को की अगल बगल की गति भी देखी जा सकती है। यद्यपि इसका उपयोग देखने मे नही आता लेकिन यदि दो सौ मील का व्यास अगल बगल जायेगा तो कई मीलो का रास्ता अगल बगल मे जाने वाले भी उस पर चढ कर पार कर सकेंगे। जिस प्रकार यहाँ एक ही चक्र एक साथ ही तीन प्रकार के रास्तो पर चलते हुए तीन प्रकार की गतियो से तीनो प्रकार के पथिको को स्वेष्ट दिशाओ मे पहुँचा देता है उसी प्रकार से ब्रह्म चक्र भी युगपत् ही सभी प्रकार के मार्गो पर चलते हुए भिन्न भिन्न पथिकों को अभीष्ट स्थानो पर पहुँचाता रहता है।

६ यह सारी गति कराने वाला मूल केन्द्र मोह अर्थात् अज्ञान है जो आवरण और विक्षेप दो निमित्तो वाला होकर यह सारी गति कराता है। यद्यपि यह चक्र निरन्तर चलता रहता है और इसमे सभी कुछ बदलता रहता है पर अज्ञान स्वय अचल, अव्यय हुआ हुआ स्थिर बना रहता है। ज्ञान से इसका नाश होनें पर यह सारा ही चक्र गायब हो जाता है।

इस प्रकार सारी ही श्रुतियो का सार रूप ब्रह्म-चक्र का दर्शन करके ऋषियो का अन्त करण कारणादि जिज्ञासाओ से निवृत्त हो गया। लगता है कि यह ब्रह्म चक्र ही परवर्ती तन्त्र के यन्त्रो का मूल है। इसके ध्यान करने से अनन्त जन्मो की वासनायें क्षीण हो जाती है।

५

ऋषियो ने जिस प्रकार चक्र का दर्शन किया उसी प्रकार गुह्य प्रवाह का भी दर्शन किया। इसका वर्णन करते हैं—

पञ्चस्रोतोम्बुं पञ्चयोन्युग्रवक्रां पञ्चप्राणोर्मिं पञ्चबुद्ध्यादि मूलां।
पञ्चावर्तां पञ्चदुःखौघवेगां पञ्चाशद्भेदां पञ्चपर्वाम् अधीमः।

पञ्चस्रोतोम्बु =पाच स्रोतो वाले जल को[१],
पञ्चयोन्युग्रवक्रा =पाच कारणो से उत्पन्न[२] भयकर मुख वाले को,
पञ्चप्राणोर्मिं =पाच प्राणरूपी लहर वाले को[३],
पञ्चबुद्ध्यादिंमूलां =पाच बुद्धि के[४] आदि कारण को,
पञ्चावर्तां =पाच भवर वाले को[५],
पञ्चदुःखौघवेगां =पाच दु.खो के तीव्र प्रवाह को[६],
पञ्चाशद्भेदां =पचास भेद वाल को[७],
पञ्चपर्वाम् =पाच जोड वाले को[८]
अधीम =हम स्मरण करते है।

१ यजुर्वेद की तैत्तिरीय शाखा मे **पाङ्क्तम् वा इद सर्वम्** कह कर सभी चीजो की पञ्चरूपता का जो प्रतिपादन किया हैं वही यहा पर विस्तार से किया जा रहा है। सद्योजात, वामदेव,अघोर, तत्पुरुष और ईशान ये पाच ही सारी सृष्टि के स्रोत है। हृदय रूपी गुहा मे स्थित शिव रूपी लिग के जो पाच सुशिर या मुख कहे गये है वे ही समष्टि मे यह पञ्च मूर्तिया हैं। चू कि व्यष्टि और समष्टि दोनो इसी से निकलती हैं अत यही दोनो के स्रोत हुए। जैसे स्रोत से जल निरन्तर बहता रहता है वैसे ही सृष्टि प्रवाह भी नित्य है।

२. इस प्रत्येक मुख की जो एक एक शक्ति हुई मही (क्रिया), ज्ञान (काली), इच्छा (गौरी), सृष्टि-स्थिति-लय (रमा), और माया (तिरोधान आविर्भाव) वही योनिया है जिनके द्वारा पञ्चब्रह्म सृष्टि को उत्पन्न करते है। योनि के द्वारा यह बताया कि विना ब्रह्मयोग के न ये शक्तिया कुछ करने मे समर्थ है और न इनके विना पञ्च ब्रह्म ही कुछ

कार्य कर सकते है। इसी लिये बृहज्जाबाल मे कहा है तदित्थं शिव-शक्तिभ्यां नाव्याप्तमिह किंचन शिव और शक्ति के द्वारा जो व्याप्त न हो ऐसा अनुभव मे आने वाले पदार्थों मे कोई भी नही है।

जगत् मे यद्यपि स्वत कुता या सौम्यता कुछ भी नही है, परन्तु सोम (शिव-शक्ति सामरस्य) से एकता करने वाला जोवन सौम्य हो जाता है, एव दोनो में भेददर्शन करने से उग्र हो जाता है। इस भेद-दर्शन का कारण कामना है। इसी लिये कहा हैं–

'अतएव हि कामाग्निर् अधस्तात् शक्तिरूर्ध्वगा।
यावदा दहनश्चोर्ध्वम् अधस्तात् पावनं भवेत् ॥
अग्नेरूर्ध्वं भवत्येषा यावत् सौम्यं परामृतम्।

इस प्रकार सामान्य मनुष्यो को कामनाये कराकर कठोर क्रियाओ मे प्रवृत्ति कराने वाली होने से इसे उग्र कहा है। साधक को भी शक्ति को ऊर्ध्वगामी करने के लिये अनेक उग्र प्रयत्नो का सहारा लेना पडता है इसलिये इसे उग्र कहा जा सकता है।

३ शिव-शक्ति से उत्पन्न क्रमश पृथिवी, जल, अग्नि, वायु और आकाश एव निवृत्ति, प्रतिष्ठा, विद्या, शान्ति और शान्त्यतीता अवस्थाएँ ही इस सृष्टि-प्रवाह के सरक्षण करने वाले होने से प्राण है। एव पूर्व शिव-शक्ति के मानो बाह्य प्रकटन या लहरे है। जिस प्रकार लहरो से ही जलराशि प्रकट होती हैं, पूर्ण शान्तावस्था मे नही, उसी प्रकार इन महाभूत और अवस्थाओ से ही ब्रह्म प्रवाह का प्राकट्य है। जैसे लहर जल को ढाँकती है वैसे ही इनके द्वारा शिव ढाक दिया जाता है।

४ मन, बुद्धि, चित्त, अहकार और सामान्य चेतना, इनमे ही सारे ज्ञान विद्यमान रहते हैं, उत्पन्न होते है, और अन्त मे लीन हो जाते हैं। अतः यही पाच ज्ञानो के आदि कारण हैं। काम के पाच बाणो को भी समग्र कामो के प्रति ज्ञान को कारणता होने से यहा समझ लेना चाहिये।

५ ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, और पञ्चम निषाद, इन योनियों मे जीव उसी प्रकार घूमता रहता हैं जैसे भौरे मे पडा कीडागोल गोल वही घूमता रहता हैं । अथवा देव, पितृ, दानव, मानव एव प्रेत भेद से पाच योनियो का ग्रहण किया जा सकता है ।

देवा गन्धर्वा मनुष्या पितरो असुरास्तेषां सर्वभूताना माता मेदिनी पृथिवी महती मही सावित्री गायत्री जगती ऊर्वी । (तै आ १० प्रपा०)

६ रूप, रस, गन्ध, शब्द, स्पर्श यह पाच दु खो का प्रवाह एक के बाद एक निरन्तर तेजी से आता ही रहना है । चू कि इनसे निरन्तर दु ख ही होता हैं । अत- इन्हे दु ख रूप कहा । यद्यपि किसी किसी रूपादि के प्रामिकाल मे सुखाभासता प्रतीत होती हैं, तथापि आदि और अन्तवाला होने से एव इन्द्रिय और मन को थकाने वाला होने से वस्तुत दु खरूप ही है ।

७ पाच कर्मेन्द्रिया, पाच उनके विषय और पाच उनके देवता, पाच ज्ञानेन्द्रिया, दस प्राण, दस उनके विषय और दस उन े देवता, इन पचास भेदो से यह ब्रह्म-प्रवाह भिन्न २ धाराओ मे बटा प्रतीत होता है । तात्पर्य है कि जब एक इन्द्रिय या प्राण एक कार्य करता है उस समय वह एक प्रवाह प्रतीत होता है और इन भिन्न भिन्न इन्द्रियो के द्वारा यह प्रवाह अलग अलग समूहो मे बटा रहता है ।

८ ईश्वर, अन्तर्यामी, सूत्रात्मा, हिरण्यगर्भ और विराट् इन्हो मे सबका जोड होने से इन्हे पॉच पर्व कहा जाता है । पुराणो की भाषा मे इन्ही का नाम पञ्चदेव भी है ।

६

यद्यपि ऋषियो ने अपने अनुभव मे आयी हुई जिस देवात्मशक्ति का स्वरूप से वर्णन किया वह ध्यान के द्वारा सप्रपञ्च और निष्प्रपञ्च दोनो ज्ञानो को उत्पन्न कर देती हैं, तथापि वहा सृष्टि चालक या प्रवा-हक रूप से ईश्वर एव चलित चक्र रूप से या बहती हुई नदी रूप से जीव जगत् का वर्णन होने से साधारण बुद्धि के मानव मे द्वैतदृष्टि

बनी रह जा सकती है। अत अब भगवती श्रुति स्वमुख से ही, जीव-ईश्वर की एकता का प्रतिपादन करने के लिये क्या कारण है, इसके जवाब को चौथे और पाचवे मन्त्र द्वारा दे दिया गया, ऐसा मानकर, कहा से और क्यो उत्पन्न हुए, इसका जवाब देने मे प्रवृत्त होती है —

सर्वाजीवे सर्वसंस्थे बृहन्ते तस्मिन् हंसः भ्राम्यते ब्रह्मचक्रे। पृथक् आत्मानं प्रेरितारं च मत्वा जुष्टः ततः तेन अमृतत्वम् एति ॥

हंस =जीव[1]	**बृहन्ते** =बडे[7]
आत्मान =अपने आपको	**ब्रह्मचक्रे** =ब्रह्मचक्र मे
च =और	**भ्राम्यते** =घुमाये[8] जाते है।
प्रेरितार =प्रेरक परमात्मा को[2]	**तत** =तदनन्तर[9] (वैराग्य-एव ज्ञान साधना करके)
पृथक् =अलग अलग	
मत्वा =मान कर[3]	**तेन** =उससे (ईश्वर से)[10]
तस्मिन्[4] =इस ऊपर कहे हुए	
सर्वाजीवे =(जिसमे सारे जाव होवे) ससार[5]	**जुष्ट** =अभिन्न होकर[11]
	अमृतत्व =मोक्ष को[12]
सर्वसस्थे =(जिसमे सब लय होते है) प्रलय[6] के	**एति** =पाते है[13]।

१ हन् धातु का अर्थ जाना होता है। अत जो देवयानादि मे जाता रहना है उसको हस कहा जाता है, जो जीव ह। हन् धातु का दूसरा अथ मारना या नष्ट करना भी होता है। जाग्रत् के स्थूल कार्य-कारणो का नष्ट कर स्वप्न मे जाता है, वहां क वासनामय सूक्ष्म कार्य-कारण सघात को नष्ट कर सुषुप्ति मे एव प्रारब्ध कर्म के समाप्त होने पर वर्तमान कार्य-कारण सघात को नष्ट कर अविद्या-कामकम के वश मे दूसरे शरीर को जाता है, तथा प्रलय

काल मे सभी कामकर्मों को नष्ट कर मायाविशिष्ट ब्रह्म मे जाता है, एव अन्त मे ज्ञान के द्वारा अज्ञान को भी नष्ट कर अखण्ड सच्चिदानन्द ब्रह्म रूप को जाता है। इस प्रकार हनन करने वाला होने से भी इसे हस कहा जाता है। विचार दृष्टि से तो प्रतिक्षण घट-पटादि पदार्थों की जडता को नष्ट कर उन्हे ज्ञानवाला बनाने के साथ ही साथ अपनी तूला विद्या को भी नष्ट करता रहता है। अनुभवियो का तो कहना है कि मन आदि मे अध्यास के द्वारा यह आत्मा की चेतनता को भी मारता है और मन आदि की जडता को भी मारता है।

'आधारे लिंगनाभौ प्रकटितहृदये तालुमूले ललाटे
द्वे पत्रे षोडशारे द्विदशदशदले द्वादशार्धे चतुष्के।
बासान्ते बालमध्ये डफकठसहिते कण्ठदेशे स्वराणां
हं सं तत्त्वार्थयुक्तं सकलदलगत वर्णरूपं नमामि ॥

इत्यादि के द्वारा कहा हुआ जीवका इन वर्ण और चक्रो मे वासनाधीन होकर नित्य भ्रमण करने के कारण भी इसे हस कहा गया है। अथवा—

गुदलिंगान्तरे चक्र आधारं तु चतुर्दलम् ॥
परम सहजस्तद्वत् आनन्दो वीरपूर्वक।
योगानन्दश्च तस्य स्यात् ईशानादिदले फलम् ॥
स्वाधिष्ठानं लिंगमूले षट्पत्र चक्रमस्य तु।
पूर्वादिषु दलेष्वाहु फलान्येतान्यनुक्रमात् ॥
प्रश्रय क्रूरता गर्वनाशो मूर्च्छा ततः परम्।
अवज्ञास्यादविश्वासो जीवस्य चरतो ध्रुवम् ॥
नाभौ दशदलं चक्र मणिपूरकसञ्ज्ञकम्।
सुषुप्तिरत्र तृष्णास्यादीर्ष्या पिशुनता तथा॥
लज्जा भयं घृणा मोह कुधियोऽथ विषादिता।
हृदयेऽनाहतं चक्र दलैर्द्वादशभिर्युतम् ॥

लौल्य प्रणाश कपट वितर्कोऽप्यनुतापिता ।
आशा प्रकाशश्चिन्ता च समीहा समता तत ॥
क्रमेण दम्भो वैकल्य विवेको हुँकृतिस्तथा ।
कण्ठेऽस्ति भारतीस्थानं विशुद्धि षोडशच्छदम् ॥
कृपाक्षमार्जवं धैर्यं वैराग्य च धृतिस्तथा ।
शिवता हास्यरोमाचध्यान सुस्थिरता तथा ॥
गाम्भीर्यमुद्यम सत्त्वमौदार्य च शिवाग्रता ।
इति पूर्वादिपत्रस्थे फलान्यात्मनि षोडश ॥
भ्रूमध्ये द्विदलं चक्र तत्त्वमर्थौ यत स्थितौ ।

इत्यादि दलो मे कर्मफलो के उदय होने पर वासना से वायु-प्रेरित जीव अपने स्वरूप को नष्ट करते हुए भावो मे जाता रहता है । इन ससार चक्रो मे घूमने के कारण इसको हस कहा जाता है । अन्त मे इन सभी चक्रो को छोडकर सहस्रार मे स्थित शिव मे लीन हो जाता है ।

वस्तुत हस से तात्पर्य एक ऐसे यात्री से है जो अपने स्थान को छोडकर पिजडे मे बन्द हो गया है और पख फडफडा कर भी उड नही पा रहा है । यह पिजडा कोई बाहर से ढक्कन वाला पिजडा नही है वरन् एक ऐसा डडा है जो निरन्तर घूम रहा है जिसका घूमना भी यात्री के बैठने के साथ ही प्रारम्भ हुआ है। उसमे गिर न पडू इस भावना से वह पैर बदलता रहता है और इसी से गति आती रहती है। अचेतन मन से ऊर्ध्व चेतना की ओर ही यह यात्रा है। चेतन मन को यह हस ही अपने प्रतिबिम्ब द्वारा घुमाता रहता है और नष्ट न हो जाऊ इस भय से छोडता नही है ।

२ कुछ दर्शनशास्त्र से अनभिज्ञ लोगो ने इस पक्ति का चतुर्थ पक्ति से अन्वय करके अपने आपको परमेश्वर से भिन्न मान के उसकी सेवा करने से मोक्ष की प्राप्ति होती है, ऐसा अर्थ लगाने का प्रयत्न किया है । चू कि अपने से ईश्वर को भिन्न तो बालक, ग्वाले और

स्त्रियाँ भी समझती हैं, अत यह श्रुतिवाक्य अनुवादक होकर अप्रमाण हो जायेगा। इसलिये इसका पूर्वेण अन्वय करना ही समीचीन है। सम्भवत अत्यधिक नास्तिक व्यक्ति ईश्वर को मानते ही नही तदपेक्षया ईश्वर को अपने स भिन्न मानकर उसके भय से अधर्म से बचते हुए उसकी भक्ति करना अधिक अच्छा है, यह समझ कर ही ऐसा भ्रान्त अर्थ किया गया होगा। जब तक इस ब्रह्म-चक्र के चलाने वाले एव प्रेरक ईश्वर को 'मै खुद ही हूँ' इस प्रकार से नही समझ लिया जाता तब तक इस चक्र से कोई भी छुडा नही सकता।

अथवा ससार रूप जो सोपाधिक आत्मा है जिसके यह शरीर मन आदि सब अग है उसकी अपेक्षा इन सब से भिन्न प्रियतम प्रत्यगात्मा रूप अधिष्ठान रूप से ससार-चक्र का प्रवर्तक शिव मै ही हूँ ऐसा ज्ञान यहा इष्ट है।

अथवा यह देह मनादि ही आत्मा शब्द से कहे गये है। इनमे से प्रत्येक और सघात से भिन्न प्रेरिता साक्षी अर्थात् ईश्वर है। वह साक्षी ही मेरा स्वरूप है। इस प्रकार का ज्ञान मोक्ष का कारण है।

अथवा महाकाशस्थानीय परमात्मा से घटाकाशस्थानीय आत्मा भिन्न है, ऐसा समझना भ्रम का कारण है। क्योकि जो अन्य देवता की उपासना यह मानकर करता है कि वह अन्य है और मै अन्य हूँ वह बार बार मरता है, यह श्रुति का उद्घोष है। तात्पर्य है कि कार्य कारण उपाधि से रहित सच्चिदानन्द ब्रह्म ही मै हू इस प्रकार का ज्ञान कर्तव्य है। परमात्मा का ज्ञान आत्मा से अतिरिक्त और कहीं नही हो सकता है।

३ यद्यपि प्रतीति काल मे भी प्रतिबिम्ब बिम्ब से भिन्न नही होता, केवल मान भर सकता ह कि 'मैं भिन्न हू', अथवा नशे काल मे भी ब्राह्मण शूद्र हो नही सकता वरन् केवल मान लेता है कि मै शूद्र हू। अथवा भिन्नात्मराग (Schizophrenia) मे मनुष्य अपने को नेपोलियन मान भर सकता है हो नही जाता। इसी प्रकार

जीवेश्वर भेद दर्शन-काल मे भी जीव ईश्वर से भिन्न हो नही जाता। अन्विष्ट स्यात् प्रमातैव पाप्मदोषादिवर्जित इत्यादि कारिका इसमे प्रमाण है।

४ अस्मिन् इत्यपि पाठान्तरः। अर्थाभेदेऽपि शंकरानन्द-विज्ञान भगवत् नारायणादिकृतटीकायामनुपलब्धत्वादुपेक्षितम्।

५ आजीव अर्थात् सब प्रकार का जीवन जहा हो उसे सर्वाजीव कहते है। जीवन के हेतु कार्य करण सघात रूप भोगायतन ही होते है। जिस प्रकार चादी का जीवन सीप या बाघ का जीवन जादूगर अथवा स्वप्न का जीवन आत्मा होता है उसी प्रकार सभी चेतन-अचेतनो का सच्चिदानन्द जीवन है। वही उन्हे सत्ता, ज्ञान और आनन्द वाला दिखलाता है।

६ सब जिसमे सस्थित अर्थात् स्थित या लीन हो जाय वह सर्वसास्था हुआ। जैसे सृष्टि-काल मे परमात्मा सर्वाजीव है, वेसे ही प्रलय काल मे सर्वसस्थ। सुषुप्तिमे भी सभी इन्द्रिया उसी मे लीन हो जाती है इसलिये भी उसे सर्वसस्थ कहा जाता है।

७ माया-शवल ब्रह्म-चक्र मे अनन्त कोटि ब्रह्माण्ड एक अश मात्र मे स्थित है। जिसमे अनन्त ब्रह्मा विष्णु चक्र काटते रहते है। पुराणो मे बताया है कि ब्रह्मा और विष्णु भी इस ब्रह्म-चक्र अर्थात् शिव लिग का आदि अन्त नही जान सकते। इसके एक अश मे जब सृष्टिया होती है तभी दूसरे अश मे प्रलय होता रहता है। आज तो वैज्ञानिक भी यह मानने लगे है कि किसी नीहारिका मे नक्षत्र-भ्रमण स विद्युतीय चुम्बक (Electio magnetic waves) के द्वारा नवीन परमाणुओ की सृष्टि होती रहती है, तो किसी अन्य नक्षत्र मे अणु स्फुटन के द्वारा द्रव्य नष्ट होता रहता है। एक तरफ तो दिक् का अन्त नजर नही आता और दूसरी तरफ मानव देह के खरबवें हिस्से वाले कोशा का (Cell) भी अन्त समझ मे नही आता। ऐसे इस ब्रह्म-चक्र को बडा कहना ठीक ही है।

८ अनात्मरूप शरीर मनादि में आत्मा की एकता के भान से उन अनात्माओ के घूमने से आत्मा के घूमने की भ्रान्ति हो जाती है। जैसे अपनी रेल के स्थिर रहने पर भी पडौसी रेल के चलने से अपनी ही रेल चलने की भ्रान्ति हो जाती है। इसी प्रकार सुर, नर, तिर्यगादि शरीरो के धर्माधर्म कुम्हार के द्वारा अविद्या-वासनादि दण्डो से बनने पर आत्मा अपने को उन योनियो मे गया हुआ मान लेता हैं। वास्तविकता तो यह है कि अद्वितीय सुख सच्चिन्मात्र स्वरूपात्मा अपने ही अविद्या रूपी अन्धकार से अपने को ढाककर गमनागमन उत्क्रान्त्यादि का कारण रूप प्राण की सृष्टि कर लेता है, एव उस उपाधि को अपने ऊपर तादात्म्याध्यास से चढाकर धर्म-अधर्म करने की सामर्थ्य पा लेता है। फिर इस पुण्य-पापादि के द्वारा सुख-दु खादि भोगने के लिये भिन्न भिन्न योनियो मे भ्रमण करता है। परन्तु यह भ्रमण वास्तविक न होकर भ्रम से है, यह भ्राम्यते पद से स्पष्ट है। चिदानन्दैकरस अद्वैत शिव तत्त्व मे अज्ञान रूपी वायु-चक्र से ब्रह्म-चक्र का विलास चलता रहता है। यही बन्धन भी है और बन्धन का कारण भी।

९ नाना योनियो मे भ्रमण का कारण बताकर अब उससे छूटने का उपाय बताते है। अनेक कल्पो तक ससार के भोग कर लेने से वे नीरस हो जाते हैं तब मनुष्य इनसे अन्वय-व्यतिरेक न्याय के द्वारा दृश्यत्व, व्यभिचारित्व परिच्छिन्नत्व आदि हेतुओ से अपने आप को भिन्न समझने लगता है। तब इनसे छूटने के लिये साधनो को ढूढता है और करता है। काकतालीय न्याय से अथवा ईश्वरानुग्रह से किसी तत्त्वनिष्ठ श्री परमहस का सग मिल जाता है। एव वह वेदो के परम रहस्य का उपदेश करता है कि तुम ससारी नही वरन् शिव हो। इस श्रवण से ज्ञान उत्पन्न हो जाता है। परन्तु यदि श्रद्धा की कमी से सशय उत्पन्न हो जाता है तो उसको युक्ति से ज्ञान की दृढता के लिये पुन यत्न करना पडता है। इसी प्रकार वासनाओ के कारण

यदि शिवभाव मे स्थित नही रह पाता तो निदिध्यासन करना पडता है। जो पूर्ण श्रद्धा वाला शिवयोगी गुरु मे ही अपनी सब वासनाओ को एकाग्र कर लता है वह तो साक्षात् ही शिवरूप हो जाता है। एव अविद्या के निवृत्त हो जाने से निरतिशय आनन्द मे स्थित हो जाता है। अत 'तदनन्तर' का तात्पर्य ज्ञानानन्तर अर्थात् साक्षात्कार के अनन्तर समझना चाहिये।

१० यहा आत्मा से भिन्न ईश्वर न समझकर साक्षी रूपी ईश्वर ही समझना चाहिये। ईश्वर, गुरु और आत्मा का अभेद ही शास्त्र-तात्पर्य है।

११ ब्रह्मसूत्रो मे अहग्रहोपासना ही प्रधान मानी गई है। प्रतीकोपासना तो अत्यन्त तुच्छ फल वाली है। अत यदि वासनावशात् चित्त विक्षिप्त हो तो **शान्त शिवमद्वैतमानन्दाद्वितीयब्रह्मास्मि** इस प्रकार का बार बार अनुसन्धान करे। यही शुद्ध बह्म की सावा है। जैसे पैर इत्यादि दबाने की सेवा से शरीरगत कष्ट दूर होता है वैसे ही इस सेवा से ब्रह्म का परोक्षता, द्वितीयता आदि दोष दूर होता है। यही वास्तविक सेवा है। अपने व्यवहारो मे भी **ब्रह्मैवेद सर्वम्** इत्यादि श्रुतियो के अनुसार सबको अपने से अभिन्न मानकर परम प्रीति करने पर ईश्वर प्रसन्न हो जाता है। जुषि प्रीतिसेवनयोः धातु इन दोनो अर्थो को बताता है। आनन्द का आविर्भाव ही ईश्वर की प्रसन्नता है।

१२ **विमुक्तश्च विमुच्यते** की श्रुति के अनुसार यद्यपि ज्ञान क्षण मे ही मुक्ति हो जाती है तथापि प्रारब्धक्षय पर्यन्त जगत् प्रतीति एव तीव्र भोग काल मे किञ्चित् काल स्थायी सत्यत्व अनुभूति भी अविद्यालेश के कारण हो जाती है। प्रारब्ध की प्रतीति का समाप्त हो जाना ही अविद्यालेश का नष्ट हो जाना है। यह चाहे प्रारब्धक्षय से हो चाहे ऐक्यानुसन्धान की दृढता से। यही यहा मोक्ष शब्द से कहा गया है। अपरोक्ष साक्षात्कार का यही चरम परिपाक है। चूकि

इसके बाद भेद दर्शन ही नही रह जाता अत प्राणो की उत्क्रान्ति भी नही हो सकती।

१३ यहा नवीन प्राप्ति न समझ कर प्राप्त की ही प्राप्ति समझनी चाहिये। अथवा एति माने जान जाता है।

७

चौथे और पाचवे मत्र मे सप्रपञ्च ब्रह्म अर्थात् मायाविशिष्ट चेतन का प्रतिपादन किया गया। जिसकी उपासना करता है वही बन जाता है, यह उपासना-शास्त्र का रहस्य है। सप्रपञ्च ब्रह्म से अभिन्न होने पर एव उसी को अपने आत्म-स्वरूप से जानने पर प्रपञ्च कैसे निवृत्त हो सकता है? प्रपञ्च के न हटने पर मोक्ष तो वन्ध्या-पुत्र हो जायेगा। अत जिससे अभिन्न होकर मोक्ष की प्राप्ति होती है उस निष्प्रपञ्च ब्रह्म को प्रतिपादन करते हुए मोक्ष की सिद्धि करते हुए सप्रपञ्च भी उसी मे कल्पित होने से दोनो की वास्तविक एकता का प्रतिपादन करके ईश्वरोपासना सवादिभ्रम है, यह बताना इष्ट है। भ्रम दो तरह के होते है। जहा भ्रम से इष्ट फल की प्राप्ति हो जाय उसे सवादिभ्रम कहते है। जैसे गोदावरी के जल को गगाजल समझकर छिडकने से पवित्रता आ जाती है अथवा विटामिनैट समझकर विमग्रैन खाने से शरीर मे विटामिन की कमी दूर हो जाती है। यहा भ्रम तो है ही क्यो कि जो गगाजल या विटामिनैट नहीहै उसे गगा या विटामिन समझा गया परन्तु शुद्धि या विटामिन रूपी जो फल इष्ट था वह प्राप्त हो गया। दूसरा भ्रम विसवादोभ्रम है। सीप को चादी समझ कर उसके पास जाने से चादी की प्राप्ति नही होती, अत यह विसवादी भ्रम है। मायाविशिष्ट ब्रह्म की ब्रह्म समझ कर उपासना ब्रह्मरूपी फल दे देती है, अत यह सवादी भ्रम है। इसी का प्रतिपादन करने के लिये अब इस मत्र को प्रारभ करते हैं—

उद्गीतम् एतत् परमम् तु ब्रह्म तस्मिन् त्रयं सुप्रतिष्ठा अक्षरं च। अत्र अन्तरम् ब्रह्मविदः विदित्वा लीनाः ब्रह्मणि तत्पराः योनिमुक्ताः ॥

तु =दूसरी ओर[1]	**अक्षर** =अक्षर[10] हैं।
एतत् =यह[2]	**अत्र** =इस (ब्रह्म) मे
परम ब्रह्म=परम[3]ब्रह्म	**तत्पराः** =मुस्तैद[11]
उद्गीतम्[4] =उत्तम (या सार) कह कर गाया गया है[5]।	**ब्रह्मविद** =ब्रह्म वेत्ता[12]
	अन्तर =भेद[13]
तस्मिन् =उसमे[6]	**विदित्वा** =जान कर[14]
त्रय =तीनो[7]	**ब्रह्मणि** =ब्रह्म मे
सुप्रतिष्ठा[8] =अच्छी तरह से स्थित[9] है।	**लीनाः** =लय हुए[15]
	योनिमुक्ता =योनि से मुक्त[16]
च =और (वह)	**(भवन्ति)**=(हो जाते है)।

१ उपर्युक्त प्रकार से ब्रह्म के प्रतिपादन के बाद अब कार्य-कारण निर्मुक्त ब्रह्म का प्रतिपादन करते है। तात्पर्य है कि उपोद्घात मे आई हुई शका मोक्षाभाव को उपपन्न कर देती यदि ब्रह्म सप्रपञ्च ही होता। प्राचीनो ने तो यहा तु का अर्थ च किया है। एव सप्रपञ्च ब्रह्म के और निष्प्रपञ्च ब्रह्म के प्रतिपादन मे सम्बन्ध माना है, जो ठीक ही है।

२ जिसका प्रकरण चला हुआ है वह ब्रह्म ही है अत सप्रपञ्च-निष्प्रपञ्च भेद को नजरअन्दाज करके यहा समझना चाहिये। अथवा उद्गीत को विषय करके यहा एतत् कहा गया। तब तो तु का अर्थ ही कर लेना पडेगा।

३ प्रपञ्च धर्म से अस्पृष्ट होने से ही उसे परम कहा गया। ब्रह्म मे किसी भी ससार के धर्मो का लवलेश भी नही है। यह सोपाधिक रूप वाले जीव को प्रीतिकर है इस लिये भी उसका परम हैं।

४ उद्गीथमित्यपि पाठान्तर । तस्मिन् पक्षेऽपि प्रणववाचकत्वादेष एवार्थ । **अग्निमीले पुरोहितम्** इत्युपक्रम्य ऋग्वेदे, **समुद्रो बन्धु**रित्युकारेण यजुर्वेदे समापनात्, **ज्योतिरुत्तमम्** इति मकारे सामवेद समापनात् प्रत्याहाररूपेण वेदत्रयस्य ओ इति रूपम् सिद्धम्।

५ सभी वेदो मे ब्रह्म का कार्य-कारण रूप समग्र जगत् से उत् अर्थात् ऊर्ध्व या अधिक (Transcendental) कह कर प्रतिपादन किया गया है। अथवा वेदो के शीर्ष भाग (उत्) वेदान्तो मे ब्रह्म का ही गान है। साध्य और साधन दोनो से ब्रह्म ऊर्ध्व ही रहता है, अर्थात् न वह साध्य है न साधन, वरन् नित्य सिद्ध ही है। सभी कार्य कारणो का वह सार रूप से उद्धृत (उत्) किया हुआ तत्त्व हैं। **अन्यदेव तत् विदितादथो अविदितादधि, ततो यदुत्तरतर, अन्यत्र धर्मात् अन्यत्र अधर्मात्, न सन् न चासन् शिव एव केवल** इत्यादि श्रुतिया इसमे प्रमाण है।

६ यद्यपि प्रपञ्चोद्धृत ब्रह्म की प्राप्ति से मोक्ष तो सिद्ध हो गया परन्तु प्रपञ्च के ब्रह्म से भिन्न होने पर ब्रह्म सद्वितीय हो गया। अर्थात् ब्रह्म और प्रपञ्च दो तत्त्व सिद्ध हो गये । यह एक प्रकार का साख्यवाद ही है। वेद पुन पुन अद्वितीयता का प्रतिपादन करता है। अत. प्रपञ्च का और ब्रह्म का सम्बन्ध बताना इष्ट है । अधिकरण कारक से यहा ब्रह्म मे जगत् को स्थित बताया जिससे दोनो मे भेद को हटा दिया । जैसे मेज पर किताब है तो मेज अपनी स्थिति मे स्वतन्त्र है और किताब मेज के परतत्र । जब तक किताब मेज पर रहेगी मेज के चलने से या हिलने से अवश्य चलेगी या हिलेगी। परन्तु किताब के चलने से या हिलने से मेज न चलेगी या न हिलेगी। अत यहा मेज स्वतत्र है और किताब परतत्र। इसी प्रकार ब्रह्म मे जगत् है का तात्पर्य यही हुआ कि जगत् ब्रह्म के परतत्र है और ब्रह्म जगत् से स्वतत्र। यदि सप्रपञ्च ब्रह्म या ईश्वर इष्ट हो तो वह जगत् का शासक है। और यदि निष्प्रपञ्च इष्ट हो तो उसकी सत्ता से जगत् सत्तान्वित होने के कारण ब्रह्म के परतत्र है । **वाचारम्भणं**

विकारो नामधेयम् इत्यादि श्रुतियो से जगत् की असत्यता सिद्ध है। फिर भी यह सत्य लगता है तो ब्रह्म की सत्ता को अपने मे लेकर के ही लगता है।

किञ्च ब्रह्म चेतनरूप होने से अपनी सिद्धि के लिये जगत् की अपेक्षा नही रखता जैसे चेतन जीव सुषुप्ति मे विना कार्य-करण सघात के भी स्वत सिद्ध है। परन्तु जड कार्य करण सघात विना चेतन के सिद्ध नही हो सकता। इसी प्रकार प्रपञ्च की सिद्धि ब्रह्म के अधीन होने पर भी ब्रह्म की अपनी निष्प्रपञ्चता सिद्ध ही है। विना किसी रुकावट के बढना अर्थ वाले ब्रह्म शब्द का देश-काल-वस्तु परिच्छेद शून्यता मे ही अर्थ लग सकता है। मिथ्या प्रपञ्च अविद्या दशा मे ब्रह्म को ईश्वर बना देता है और ज्ञान होने पर उस कल्पित प्रपञ्च की कल्पित ही निवृत्ति होकर निष्प्रपञ्च ब्रह्म स्वयमेव प्रकाशित होता है।

७ विश्व मे सभी कुछ तीन टुकडो मे आता है जिसे वेदान्तो मे त्रिपुटी कहा गया है। ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय, कर्ता, क्रिया और कर्म, जन्म, स्थिति और नाश, ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र, जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति, काली, लक्ष्मी, सरस्वती, विश्व, तैजस, प्राज्ञ, विराट्, हिरण्यगर्भ, ईश्वर, भूर्भुव स्व (तीन लोक), सत्त्व, रज, तम, आदि सभी त्रिपुटिया निष्कल, असग, निर्मल, अनन्त, सुख सविन्मात्र ब्रह्म मे रस्सी मे सर्प की तरह अविद्या से कल्पित होकर मौजूद रहती है। सक्षेप मे भोक्ता, भोग्य, एव प्रेरणा करने वाला अर्थात् जीव, जगत् और ईश्वर ही यह प्रपञ्च है। ये तीनो ही अविद्या से ब्रह्म मे प्रतीत होते है।

तत्तु समन्वयात् न्याय से सभी वेद ब्रह्म मे ही अधिष्ठित है, अर्थात् ब्रह्म के प्रतिपादन मे ही गतार्थ है। अत तीनो वेद भी यहा त्रय शब्द से लिये जा सकते है।

८ स्वप्रतिष्ठेति शकरानन्दा पठन्ति। तत्पक्षे स्वस्मिन् = आत्मनि आश्रयत्वेन विषयत्वेन च प्रतिष्ठा यस्या अविद्याया सा स्वप्रतिष्ठा

स्वस्मिन् कल्पितस्य चेतनाचेतनात्मकस्य स्वरूपप्रदत्वात् प्रतिष्ठा स्वप्रतिष्ठा परब्रह्मेत्यर्थ ।

९ जिस प्रकार रस्सी मे साप दृढता से प्रतिष्ठित होता है, उसी प्रकार ब्रह्म मे जगत् अचल प्रतिष्ठा वाला है। यद्यपि जाग्रत् स्वप्नादि अवस्थाओ मे या पृथ्वी आकाशादि भूतो मे अथवा विष्णु, क्षेत्रज्ञ, इन्द्र आदि देवताओ मे भी जगत् कुछ काल के लिये प्रतिष्ठित होता है पर न तो वे स्वय अचल है और न जगत् ही उनमे सदा रहता है। अत वे जगत् की अचल प्रतिष्ठा नही है। ब्रह्म स्वय अचल है एव जगत् भी उसमे सदा प्रतिष्ठित है इसलिये ब्रह्म ही जगत् की अचल प्रतिष्ठा है।

किञ्च ब्रह्म अविद्या के द्वारा जगत् का आश्रय और विषय दोनो है अत जगत् ब्रह्म मे भली प्रकार प्रतिष्ठित है। यह परब्रह्म के सर्वथा अधीन है। इस लिये भी ब्रह्म की प्रतिष्ठा से प्रतिष्ठा वाला है।

१० विकारात्मक प्रपञ्च का आश्रय होने से ब्रह्म परिणामी एव परिणामी होने से दही की तरह अनित्य हो जावेगा। इस शका को दूर करने के लिये उसे अक्षर कहा गया। प्रपञ्च का आश्रय होने पर भी उसका क्षरण नही होता है। इसके पहले आये हुए 'और' का अर्थ 'ही' कर लेना चाहिये। अर्थात् विकार मायिक होने से उसका आश्रय होने पर भी ब्रह्म अविनाशी कूटस्थ ही बना रहता है। इसी लिये ब्रह्म की सर्वात्मकता होने पर भी प्रपञ्च की मिथ्यारूपता के कारण ब्रह्म की प्रपञ्च से भिन्नता तथा असंसर्गता के ज्ञान से पूर्णानन्द ब्रह्म को अपना स्वरूप जानने वाले का मोक्षरूप परम पुरुषार्थ सिद्ध हो जाता है। चूँकि इस ब्रह्म और आत्मा की एकता के ज्ञान के विना जगत् ब्रह्म से च्युत नही होता इस लिये भी ब्रह्म को अक्षर कहा गया है। कही कही श्रुतियो मे अव्यक्त या माया को भी अक्षर कहा है क्यो कि सारे ही ब्रह्म-स्वरूप मे वह व्याप्त रहता है। इस दृष्टि से अक्षर और त्रय उस ब्रह्म मे अध्यस्त है, ऐसा अर्थ कर

लेना चाहिये। न केवल जगत् से अतिरिक्त आत्मा है न केवल जगत् आत्मा से अतिरिक्त, यह भाव है। सारे क्षर को जो व्याप्त करे (अश्नुते) उसे अक्षर कहते हे।

अक्षर का अर्थ ओकार भी होता है। **सुप्रतिष्ठाक्षर** को एक पद मानने पर वेद त्रय ओकार मे प्रतिष्ठित हे और वह ओकार ब्रह्म मे वैसे ही प्रतिष्ठित हे जैसे बाकी त्रिपुटिया प्रतिष्ठित है। इसके अलग ग्रहण करने का तात्पर्य है कि 'यह ब्रह्म का प्रियतम नाम है' 'ओ यही ब्रह्म है' 'प्रणव ही ईश्वर है' 'ओकार ही पर और अपर दोनो ब्रह्म है' इत्यादि श्रुति वाक्यो से वैय्याकरणो का तरह आकार मे ब्रह्म भ्रान्ति अथवा ओकार ब्रह्म का वाचक है ऐसी भ्रान्ति न हो जाय।

११ अन्नमय से आनन्दमय पर्यन्त व्यष्टि देह मे और विराट् से अव्यक्त पर्यन्त समष्टि देह मे पूर्व पूर्व उपाधि का विलय करके अन्त मे भूख इत्यादि से अछूत एव वाणी से अगोचर ब्रह्म मे अपने आप को समाहित करना ही यह मुस्तैदी है। ब्रह्म के साथ एक चित्त हुए हुए 'हम ही ब्रह्म है' ऐसा निरन्तर ज्ञान ब्रह्म मे एकाग्रता के द्वारा प्राप्त होता हे।

१२ यहा ब्रह्म के विषय मे वेदार्थ ज्ञान को जानने वालों से तात्पर्य है।

१३ ब्रह्मा से चीटी पर्यन्त स्थित ससार-चक्र मे सत् चित् सुख अपरोक्ष स्वभाव वाले आत्मा को प्रपञ्च से आधार और आधेय रूप से भिन्न जानना ही यहा इष्ट है। वस्तुत चिद्घन की जीव-जगत्रूप से एक होकर प्रतीति होती है। जब विचार पूर्वक मूज से इषीका की तरह इसको अलग करके प्रपञ्च की असत्यता को जान लिया जाता है तो मोक्ष सिद्धि हो जाती है।

अथवा यहा **'अत्र आन्तर'** ऐसा छेद कर लेना चाहिये। तब तात्पर्य होगा कि आधार और आधेय रूप कार्य और कारण दोनो का यही वास्तविक आन्तर अर्थात् सच्चा रूप है। कार्य और कारण

दोनो मे सत्ता रूप से यही अन्दर मे बना रहता है ।

१४ विश्वादि के उपसहार के द्वारा अह ब्रह्म इस प्रकार के साक्षात्कार को ही यहा जानना कहा गया है । वेद के शक्तार्थ अर्थात् बाहरी अर्थ को पहले जान कर फिर उसका लक्ष्यार्थ या तात्पर्य समझा जाता है । तभी देह इन्द्रियादि मे आत्माभिमान छोड कर सत् चित सुख का नित्य अपरोक्षानुभव होता है ।

१५ यद्यपि अविद्या काल मे भी जीव ब्रह्म रूप ही है, तथापि आवरण और विक्षेप से अपने को भिन्न समझता है । आवरण तीन प्रकार का है । ब्रह्म नही है, ब्रह्म को मै नही जानता हूँ, ब्रह्म आनन्द रूप नही है । वेद पढने से 'ब्रह्म नही है' यह आवरण दूर हो जाता है । न्याय शास्त्र भी ईश्वर की सिद्धि से इस आवरण को बहुत कुछ दूर करता है । परन्तु तर्क अप्रतिष्ठित होने से निश्चय कराने मे असमर्थ है । वेदान्त पढने से 'मै ब्रह्म हूँ' इस ज्ञान के द्वारा 'मै ब्रह्म को नही जानता' यह आवरण भी दूर हो जाता है । ब्रह्म मे वृत्तिके सर्वथा लीन होने पर 'मैं ब्रह्म आनन्द रूप नही हूँ' यह तीसरा आवरण नष्ट होता है । इसी को यहा लय होना कहा गया है । ये तीनो आवरण शास्त्रो मे असत्त्वापादक आवरण, अभानापादक आवरण, एव अनानन्दापादक आवरण कहे जाते है ।

१६ योनि अर्थात् चौरासी लाख योनिया । इनसे मुक्ति अर्थात् देव-दानवादि किसी भी जगह न जाकर गर्भ जन्म जरा मरण ससार भय से रहित हो जाना । वस्तुतस्तु आवरण की निवृत्ति होने पर भी सस्कार-वशात् प्रारब्धानुरोध से जो जगत्की प्रतीति होती है उसके प्रति अविद्या लेश को कारण माना जाता है । यही आवरण नाश पर भी विक्षेप शक्ति का बच जाना है (देखिये नोट सख्या १५ ऊपर), जो जीवन्मुक्ति की और ईश्वर की सिद्धि करती है । ब्रह्मवेत्ता के द्वारा दृष्ट जो आत्म-शक्ति वही अविद्यालेश योनि कही गई है । जब इस अविद्यालेश से भी मुक्त हो जाता है तब योनिमुक्त कहा जाता है । एव ऐसे ब्रह्म-

निष्ठ को ब्रह्मविद् वरिष्ठ कहा जाता है। उसे ब्रह्म के सिवाय, व्यवधान करने वाली माया के सर्वथा निवृत्त हो जाने के कारण और कोई अनुभूति नही रह जाती। तन्त्रो मे निवृत्ति, प्रतिष्ठा, विद्या, शान्ति, और शान्त्यतीता अवस्थाओ से परे उसे बतलाया है। उद्गीत से ब्रह्मातिरिक्त अन्य पदार्थो से निवृत्ति की अवस्था, सुप्रतिष्ठा से प्रतिष्ठा की अवस्था, तत्परा से विद्या की अवस्था, विदित्वा से शान्ति की अवस्था, लीना से शान्त्यतीतावस्था, एव योनिमुक्ता से स्वरूप स्थिति का प्रतिपादन है। अथवा वासिष्ठ सिद्धान्त से उद्गीत मे शुभेच्छा या श्रवणावस्था बताई, त्रय से मननावस्था और तत्परा से निदिध्यासनावस्था बताकर तीन साधक भूमिकाओ का निरूपण किया। पुन ब्रह्मविद से चतुर्थ ज्ञानी की भूमिका को बताया। विदित्वा, लीना और योनिमुक्ता से उत्तरोत्तर ज्ञान की दृढताओ वाली पञ्चम, षष्ठ, सप्तम भूमिकाओ को बता दिया।

८

अद्वितीय परमात्मा मे जीव और ईश्वर का कोई विभाग न होने पर भी व्यवहार दशा मे जीव और ईश्वर का भेद समझना आवश्यक है। अत इन दोनो के औपाधिक रूपो का वर्णन करते है। किञ्च अखण्ड परमात्मा को स्वीकार करने पर जब जीव और ईश्वर मे कोई भेद रह ही नही गया तो जैसा जीव वैसा ही ईश्वर, तो जीव का ब्रह्म मे पूर्वोक्त श्लोक मे जो लीन होना लिखा है, वह असगत हो जायेगा। अत अवस्थात्रय रूप से व्यष्टि और समष्टि सभी आत्मा मे अध्यस्त है। इस प्रकार मोक्ष के स्वरूप का वर्णन कर के, जीव रूपी कार्य एव ईश्वर रूपी कारण का कारण कार्य रूप से भेद, और तन्निमित्तक जीव का ससारीपना और ईश्वर का असमारोपना प्रतिपादन करने हुए, ईश्वर के आत्मरूप से अनुभूत होने पर ही मोक्ष होता है, इसका प्रतिपादन करते हैं।

संयुक्तम् एतत् क्षरम् अक्षरम् च व्यक्ताव्यक्तं भरते विश्वम् ईशः। अनीशः च आत्मा बुध्यते भोक्तृभावात् ज्ञात्वा देव मुच्यते सर्वपाशैः ॥

ईश =ईश्वर[1]
एतत =इस
क्षरम् =विनाशी[2],
अक्षरम् =अविनाशी[3],
च =और
व्यक्ताव्यक्तम् =कार्य[4] और कारण[5] रूप
विश्वं =सारे विश्व को
सयुक्तम् =इकट्ठे ही[6]
भरते[7] =भरण[8] करता है,
च=और
अनीश. =ईश्वर-विमुख[9]
आत्मा =जीव[10]
भोक्तृभावात् =(अपने को) भोक्ता मानकर
बुध्यते[11] =जानता है।
देव =(फिर) ईश्वर को
ज्ञात्वा =जानकर[12]
सर्वपाशै =सभी फासियो से[13]
मुच्यते =छूट जाता है।

१ वेदान्त शास्त्रो मे ईश्वर और ब्रह्म वस्तुत अविद्या और विद्या की दृष्टि से एक तत्त्व का ही नाम है। साधक की दृष्टि से कर्मफल दाता या प्रेम की दृष्टि से देखे जाने पर वह ईश्वर कहा जाता है और विचार की दृष्टि से देखे जाने पर ब्रह्म कहा जाता है। अज्ञाननाश के पूर्व तक ब्रह्म ईश्वर रूप से ही अनुभव मे आता है और अज्ञान नष्ट हाने पर ईश्वर ही ब्रह्म रूप से प्रतीत होता है। जिस प्रकार सूर्य का प्रतिबिम्ब घडे के पानी मे पडता है। अत प्रतिबिम्ब की दृष्टि से सूर्य को बिम्ब कहा जाता है। अर्थात् जब तक प्रतिबिम्ब है सूय बिम्बत्व-विशिष्ट ही रहेगा। बिम्ब रूपी सूर्य अपनी गतिसे प्रतिबिम्ब का नियामक है अत उसका ईश्वर है। जल के सूख जाने पर प्रतिबिम्ब बिम्ब मे लीन हो जाता है और प्रतिबिम्ब रूप से नष्ट हो जाता है। अब प्रतिबिम्ब के अभाव मे सूर्य का बिम्ब विशेषण भी नष्ट हो जाता है और वह प्रतिबिम्ब का नियामक भी नही रहता। सूय

की जगह ब्रह्म है, और ईश्वर की जगह बिम्ब-विशेषण युक्त पूर्य और प्रतिबिम्ब की जगह जीव। यद्यपि प्रतिबिम्ब-काल मे और प्रात-बिम्ब के समाप्त होने पर सूर्य मे वस्तुत कोई भेद नही आता, तथापि प्रतिबिम्ब से निरूपित या प्रतिबिम्ब के प्रतियोगी रूप से उसमे बिम्ब धर्म की कल्पना हो जाती है। इस कल्पना का कराने वाला प्रतिबिम्ब स्वय कल्पित है यह स्मरण रखना चाहिये। इसी प्रकार यद्यपि जीव स्थिति काल मे ब्रह्म मे वास्तविक ईश्वरत्व नही आता पर जीव द्वारा उसमे कल्पित ईश्वरता तो आ ही जाती है। जीव स्वय कल्पित है ही। जब तक जीव है तब तक ब्रह्म इश्वर ही है। जीव भाव के नष्ट हो जाने पर ब्रह्म मे ईश्वरत्व कल्पना नष्ट हो जाने पर केवल ब्रह्म ही रह जाता ह।

२ ससार मे कार्य रूप से जो भी अनुभव मे आता है वह शिवशक्ति-सयोग से क्षरित हुआ है अर्थात् झरा है, इसलिये उसे क्षर कहते है। चू कि वह उत्पन्न हुआ है इसलिये उसका विनाश भी अवश्यभावी है। जब तक जीवात्मा रूप से शिव चित् रूप से जिस विषय मे क्षरण करता रहता ह और सद् रूप ईश्वर जीव मे उस नाम रूप का क्षरण करता रहता है तभी तक वह विपय रहता है। जीव रूप से केवल ज्ञान का क्षरण होना है और ईश्वर से सभी अनन्त नाम रूपो का। इस क्षरण काल मात्र मे स्थिर रहने के कारण उसे क्षर कहा जाता है। इस प्रकार क्षर का भरण या धारण करने वाला ईश्वर बनता है। स्थूल देह को भी क्षर कहा गया है क्यो कि वह जल्दी-जल्दी बदलता रहना है। इस शरीर को ईश्वर जीवात्मा को कम और भोग करने के लिये देता है। इसकी विनाशिता तो स्पष्ट ही है।

३ शिव की शक्ति जो अव्यक्त, अविद्या, माया आदि नामो से कही जाती है वही यहाँ अक्षर शब्द से कही गइ है। उसका कभी भी क्षरण नही होता, महाप्रलय मे भी वह स्थिर रहती है। वस्तु-तस्तु वह ब्रह्म का स्वभाव होने से नित्य ही है। इसीलिये ईश्वर को

माया बन्धन नही कराती। अथवा अक्षर से सूक्ष्म शरीर भी लिया जा सकता है। क्योकि महाप्रलय पर्यन्त अनेक योनियो मे भ्रमण करने पर भी वह अविनाशी हो बना रहता है।

४ यद्यपि क्षर और व्यक्त प्राय एक ही अर्थ वाले है परन्तु प्रथम दल स्वरूप बताने के लिये है एव द्वितीय दल प्रतीति बताने के लिये। जो भी अनुभव मे आता है वह किसी न किसी का विकार ही होता है, एव किसी न किसी अवयव से ही सघटित होता है। अत अभिव्यक्त नाम रूप की अवस्था को प्राप्त हुआ गेहूँ, दूध, गुलाब, पत्नी, आदि पदार्थ ही यहा इष्ट है। बुद्धि के द्वारा ग्राह्य स्त्रीत्व, भोग्यत्व आदि जातियो को अथवा सोना, लोहा आदि द्रव्यो को या लाल, पीला आदि गुणो को यहा नही लेना है। जैसा जो पदार्थ ग्रहण होता है वैसा ही उसे समझना चाहिये। अथवा व्यक्त से स्थूल अर्थात् पञ्चीकृत महाभूत समझने चाहिये।

५ जो बुद्धिग्राह्य है अत अनभिव्यक्त नाम रूप बीजावस्था। जैसे सोना, जो बुद्धि ग्राह्य है एव, सोने के सभी कार्यो मे अभिव्यक्त होने पर भी उन सब की बीजावस्था वाला ही है। इसी प्रकार लाल, स्त्रीत्व आदि भी बुद्धिग्राह्य होने से यहा इष्ट है। स्वय अविद्या भी स्वरूप से अव्यक्त ही है। अथवा अपञ्चीकृत पञ्चमहाभूतो का यहा इन्द्रियातीत होने से ग्रहण है। इसी प्रकार पुण्य पाप परमाणु आदि का भी ग्रहण यहा इष्ट है। वस्तुतस्तु द्वितीय मत्र मे कहे हुए सभी पदार्थ यहा सग्रहीत हैं।

६ ईश्वर इन सब विरोधी तत्त्वो को एक साथ ही अपने मे धारण करता है, एव उनका पुष्ट भी करता है। वस्तुन इन विरुद्ध धर्मो के एकसाथ रहने से ही उनकी असत्यता सिद्ध हो जाती है। रस्सी मे सर्प, जलधारा, दण्ड आदि विरोधी पदार्थ इसी लिये रह पाते हैं कि वे मिथ्या हैं। ईश्वर के अश-भेदो मे ब्रह्माण्ड भेदो की कल्पना तो ईश्वर को अशी अर्थात् अवयवी सिद्ध करके नष्ट होने

वाला सिद्ध कर देगी । अत प्रत्यक्ष दृष्ट विनाशी पदार्थो को सत्य सिद्ध करने के लिये वेद सिद्ध अविनाशी ईश्वर को विनाशी बनाना सर्वथा असगत है।

७ हरत इति पाठ उपसहरति इति व्याख्येयम्, इति दीपिका। भवते प्राप्नोति भू प्राप्तावात्मनेपदी वेति ।

८ परमेश्वर जीवो के कर्म का फल देने के लिये सच्चिदानन्दैकरस होने पर भी अज्ञान के द्वारा जीवो के सामने गेहूँ, चावलादि अत्यन्त परिच्छिन्न रूपो मे दिखता है । इसी प्रकार प्राणिमात्र का भोजनादि व्यवहार चलाने वाला वही है । एक गेहूँ के बीज से हजार बीजो की उत्पत्ति इत्यादि नियम भी इसी बात का समर्थन करते है । जीव मे आनन्द एव पदार्थो मे सत्ता भी वही बनता है।

९ जब तक जीव परमेश्वर का हृदय मे अधिवास नही करता तब तक ईश्वर विमुख हुआ हुआ स्वय भी सामर्थ्य रहित बना रहता है। यही इसकी परतत्रता है और ईश्वर से भेद है। इस काल मे इसमे सोलह वृत्तिया रहती है जो इसके बन्धन का कारण है ।

रागद्वेषौ कामक्रोधौ लोभो मोहो मदस्तथा ।
मात्सर्यमीर्ष्यासूया च दम्भो दर्पस्त्वह कृति ॥
इच्छा भक्तिश्च श्रद्धा च वृत्तय षोडश स्मृता ।

स्त्री-विषयक चित्तवृत्ति राग है। नुकसान करने वाले का नुकसान करने की इच्छा द्वेष है । मकान, खेत,सोना, चादी, रुपया आदि प्राप्त करने की इच्छा काम है । इस प्राप्ति मे विघ्न करने वाले के प्रति क्रोध होता है। अपने द्वारा कमाये हुए मे से सत्पात्र को न दू, यह बुद्धि लोभ है। ऐश्वर्य के घमण्ड से पाप-पुण्य का विना विचार किये फूले हुए रहना मोह है। खद के पास धन है अत क्या नही किया जा सकता यह भावना मद है। अपने समान सम्पत्ति वाले मनुष्य को सहन न कर सकना मात्सर्य कहा जाता है । यह दु ख उसे न आकर मुझे क्यो आया ऐसा विचार ईर्ष्या है । यह सुख मुझे है उसको भी

क्यो हो गया यह भावना असूया है । इस धर्म से मेरी प्रख्याति हो जाय ऐसी मन की वृत्ति दम्भ है । मेरे समान कोई भी नही है यह निश्चय दर्प है । अपनी कही, सोची, देखी, की, पढी, आदि सब बातो मे ठीक ही है, ऐसा आग्रह अहकार है । जिसके बिना कार्य-करण सघात न रह सके ऐसा अवर्जनीय खाना, हगना आदि कर्म करने की वृत्ति इच्छा है । गुरु, महात्मा, सज्जन पुरुष, ईश्वर आदि मे अत्यन्त प्रेम भक्ति है । वेद वाक्यो मे एव ब्रह्मनिष्ठ सद्गुरु के उपदेश मे अत्यन्त विश्वास श्रद्धा है । इन सोलह के कारण ही मनुष्य अनीश बना रहता है ।

वस्तुत चित्तवृत्ति के विचार का प्रयोजन सब जीवो के बन्ध मोक्ष का चित्तवृत्ति के अधीन होने से ही है । चित्त के सिवाय और कोई भी न बन्धन का कारण है न मोक्ष का । स्वभाव से निर्मल मन का अशुद्ध भाव से युक्त होना बन्ध है, एव शुद्ध रूप से अवस्थिति मोक्ष के प्रति हेतु है । स्वरूपानन्द मे तो चित्तवृत्ति का सर्वथा अभाव है । प्रथम तेरह वृत्तिया अशुद्ध और हेय है अत बन्धन का कारण है । ये बिना प्रयत्न के भी बार बार आकर मनुष्य को पाप मे प्रवृत्त कराती है । एव इन्हे दूर हटाना भी अत्यन्त कठिन है । इनके पीछे चलने वाले की तो अधोगति निश्चित है । चौदहवी इच्छा के द्वारा भूख प्यास की निवृत्ति, मूत्रादि का त्याग, सर्दी गर्मी का बचाव, आदि वे कर्म होने है जो शरीर-धारण के लिये आवश्यक है । इन्हे न करने से केवल दु ख ही प्राप्त होता है और करने से केवल सुख ही प्राप्त होता है । इनका आत्यन्तिक त्याग असम्भव है । केवल भोग रूप होने से ये कर्म न स्वर्ग देते है न नरक । परन्तु इन कर्मो से धृत देह को यदि उपर्युक्त तेरह अशुद्ध वृत्तियो के अधीन चलाया जाता है तो ये दुर्गति के सहकारी कारण बन जाते है । एव अन्तिम दो जो शुद्ध है, अर्थात् भक्ति श्रद्धा के अधीन बनाया जाता है तो सद्-गति या मोक्ष के हेतु बन जाते है । जाग्रत् स्वप्न मे रागादि है तो

कर्म भी है। सुषुप्ति, मूर्च्छा, समाधि, निरायासता (Relaxing) आदि अवस्थाओ मे रागादि नही होने से कर्म भी नही है। इस अन्वय व्यतिरेक के द्वारा रागादि की कर्म हेतुता सिद्ध है।

यह रागादि अभिमान से आते है। जबतक किसी स्त्री को मै स्त्री हूँ, ऐसा अभिमान नही होगा तब तक स्त्री-निमित्तक रागादि नही आयेगे। एव पति सेवा, गृह रक्षा, पकाना आदि कर्म मे प्रवृत्ति भी नही होगी। इसी प्रकार मै पुरुष हू' इस अभिमान के बाद ही राग आकर विवाह, कमाना आदि कर्मो मे प्रवृत्ति आती है। इदानी काल मे अमेरिका इत्यादि देशो मे स्त्रियो मे हम भी पुरुष के समान है की भावना से शनै शनै कमाना आदि पुरुष धर्मो को प्रवृत्ति आती जा रही है। इसी प्रकार भारत मे पुरुषो मे 'स्त्रियाँ और हम एक समान है' इस भावना से पकाना, स्त्री की तीमारदारी करना, तथा वस्त्र आदि मे एव प्रायश नजाकत आदि मे स्त्रियो की तरह प्रवृत्ति हाती जा रही है। इसी प्रकार सभी प्राणियो का अपनी अपनी जाति मे, एव मानवो का वर्णाश्रमादि मे, अभिमान ही उनमे राग उत्पन्न करके प्रवृत्ति कराता है। अत अभिमान ही रागादि का कारण है।

मोक्ष की इच्छा वाला जाति, वर्ण, आश्रम, उमर, अवस्था, सम्पत्ति, कुल आदि के अभिमानो का परित्याग करे। इनके छोडने पर बन्धन नष्ट हो जाता है और पुन ईश भाव की प्राप्ति हो जाती है। प्रश्न हो सकता है कि यह अभिमान कसे आता है ? अभिमान अविवेक से आता है। सभी जीवो का शरीर से भेद होने पर भी अविवेक के कारण ही शरीर मे मै ब्राह्मण, सन्यासी, पुरुष हूँ आदि अभिमान हो जाता है। ये सारे धर्म शरीर मे ही रहते है। यदि शरीर से भिन्न जीव मे रहते तो जन्मान्तर मे ब्राह्मण शरीर मे जाने पर भी क्षत्रिय जीव अपने को क्षत्रिय ही समझता। कोई कह सकता है कि जनेऊ से ब्राह्मणत्व का एव गेरू कपडे से सन्यासित्व का अभिमान आता है। परन्तु बनिये के भी जनेऊ और उदासियो के भी गैरिक वस्त्र देखा

जाता है। लेकिन उन मे ब्राह्मणत्व और सन्यासित्व का अभिमान नही है। सभी के अवयव एक रूप होने मे स्त्री पुरुष की तरह अवयव-विशेष के अवलम्बन मे भी ब्राह्मणत्व सन्यासित्व आदि की सिद्धि नही हो सकती। यदि कहा जाय कि विशिष्ट माता पिता से जन्य अवयव सस्थान को लेकर इस अभिमान को माना जाय तो उनसे बाल, नख, दात, पेशाब, टट्टी आदि अवयवो मे भी ब्राह्मणत्व का व्यवहार करना पडेगा। अत अविवेक से अतिरिक्त ब्राह्मणादि अभिमान के प्रति और कुछ कारण नही है। जिस प्रकार लोक मे अनेक वस्तु समूह को मेला, सभा, सेना, इत्यादि रूप से अविवेक मात्र से व्यवहृत किया जाता है। उसी प्रकार अनिर्वचनीय मायामय देहेन्द्रियादि सघात का लोक व्यवहार मात्र से पुरुष, ब्राह्मण, नपुसक, पौराणिक, शास्त्रीय, वैष्णव, सेवक, प्राधानिक, राजा, मन्त्री, सान्यासी, गुरु, शिष्य इत्यादि व्यवहार है। इस प्रकार का विचार न करके जिस आत्मा का किसी भी काल मे नाम-रूप-व्यवहार नही है, उसे इन व्यवहारो वाला मान लेना ही अविवेक है।

इस अविवेक का कारण अज्ञान है। मुझे अपना पता नही, इस प्रकार की प्रतीति सभी को होती है। क्यो कि शरीर व्यतिरिक्त आत्मा को कोई नही जानता। यद्यपि पौराणिक, स्मार्त, वष्णव आदि शरीर को अनात्मा समझकर इससे भिन्न आत्मा को मानते है परन्तु वे भी सूक्ष्म देह से इसे भिन्न न मानने के कारण कर्ता, भोक्ता, परिच्छिन्न, एव देहान्तर मे जाने वाला मानते है। यह अज्ञान अनिर्वचनीय है एव अज्ञान होने के कारण ज्ञान मे नष्ट हो जाता है।

१० मैं इस अनुभव मे जिसे जाना जाता है।

११ **बध्यते इत्यपि पाठ**। तस्मिन् पक्षे मिथ्याभूतबुद्ध्यात्मकभोक्तात्मैक्यानुभवेन बन्धनम् अनुभवतीत्यर्थ। भोक्तृभावोऽत्र कर्तृभावस्योपलक्षणार्थम्। कर्ताभोक्ताहमस्मीति प्रतीत्या आत्मानीश एवेत्यर्थ।

शकरानन्द-नारायण-विज्ञानभगवदादि प्राचीनाचार्यैरुपेक्षितत्वात् नादरणीयोऽय पाठ ।

१२ स्वय प्रकाश ईश्वर को लक्षणा से अपरोक्ष त्व पदार्थ से अभिन्न जानना ही जानना है । तात्पर्य है कि अनीश जीव ही भोक्ता भाव से जब तक अनुभव करता है तब तक परमात्मा को नही जानता। और जब भोक्ताभाव को छोड देता है तब जानता है। विज्ञान-क्रिया-शक्ति वाला, अहकार भोक्ता, बुद्धि, इच्छा, प्रयत्न, सुख दु खादि का कर्ता बनता है। एव अहकार से तादात्म्याध्यास करके भोक्ता-भाव के कारण ही उसके धर्म कर्तृत्व, भोक्तृत्व, सुख दु खादियो को अपना धर्म स्वीकार कर लेता है। एव सुखी दु खी, कर्ता-भोक्ता मै हू, इस प्रकार से जानता है। फिर अनेक जन्मो मे अनुष्ठित नित्य नैमित्तिक कर्मो के पुण्य समूहो का उदय होने पर पाप नष्ट हो जाने से अन्त करण शुद्ध हो जाता है। शुद्धान्त करण वाला ईश्वरोपासना की दृष्टि से सब कर्मानुष्ठान की इच्छा करता है । ईश्वराराधन की बुद्धि से अनुष्ठित कर्मों से उत्पन्न पुण्य समूह उसमे ईश्वर ध्यान की इच्छा को उत्पन्न करते हैं। इस ध्यान योग के महान् फल स्वरूप सर्व कर्म सन्यास लेकर श्रौत परमहस धर्म के अनुष्ठान की इच्छा उत्पन्न होती है। इस परमहस सन्यास के पुण्य से शमदमादि पालन करने की इच्छा उत्पन्न होती है। शमदमादि के अनुष्ठान से उत्पन्न पुण्य समूहो से श्रवण की इच्छा उत्पन्न होती है । इस प्रकार अनेक जन्मो मे अनुष्ठित अनेक प्रकार की पुण्य परम्परा से निर्मल अधिकारी को तत्त्वदर्शी परम कारुणिक गुरु की प्राप्ति होती है। उसकी सेवा करके उसके अनुग्रह से तत्त्वमस्यादि महावाक्यो का श्रवण करने पर अपरोक्ष ज्ञान उत्पन्न होकर समूल अज्ञान नष्ट हो जाता है।

१३ अविद्या-काम-कर्म ही वे फासिया है जो बन्धन का हेतु है। **पाश्यत इति पाश** फासने वाली को फासी कहते हैं। अत कार्य-कारण

उनके धर्म रूपी सारा ससार ही फासी है। इस फासी के चिन्मात्र मे अध्यस्त होने से चिन्मात्र ज्ञान से आत्यन्तिक निवृत्ति हो जाती है। एव फासी भी चिन्मात्र मे ही लीन हो जाती है।

९

ज्ञाज्ञौ द्वौ अजौ ईशनीशौ अजा हि एका भोक्तृभोगार्थयुक्ता। अनन्तः च आत्मा विश्वरूपः हि अकर्ता त्रयम् यदा विन्दते ब्रह्मम् एतत् ॥

ईशनीशौ[1] = ईश्वर और अनीश्वर[2],	**आत्मा** = आत्मा
ज्ञाज्ञौ = ज्ञानी और अज्ञानी[3]	**विश्वरूप** = सब रूपवाला[11],
द्वौ = दोनो[4]	**अनन्त** = अनन्त[9] (और)
अजौ = जन्म रहित[5] है।	**अकर्ता** = अकर्ता (है)[12]
हि = प्रसिद्ध है कि[6]	**हि** = एव
एका = एक[7]	**यदा** = जब
अजा = जन्म रहित	**एतत्**[14] = इन
भोक्तृभोगार्थयुक्ता[8] = भोक्ता और भोग सामग्री वाली है[9]।	**त्रयं** = तीनो को[15]
च = और[10]	**ब्रह्म** = ब्रह्मरूप[16]
	विन्दते = जान लेता है (तब मुक्त है)।

१ **ईशनीशावित्यत्र ह्रस्वत्व छान्दसम्।**

२ बिम्बस्थानीय परमात्मा नियन्ता और स्वतत्र होने से ईश्वर है और जीव प्रतिबिम्ब स्थानीय होने से नियम्य, परतत्र, होकर अनीश्वर है।

३ ज्ञ अर्थात् अविद्यालेश मे भी अछून चैतन्य सर्वज्ञ ईश्वर, एव अविद्या के आश्रय वाला किञ्चिज्ज्ञ कर्ता भोक्ता जीव अज्ञ है।

४. उपाधि से यहा दो पने की प्राप्ति है, स्वरूप से नही। तात्पर्य

है कि चेतन भी एक है और अज्ञान भी एक, फिर जीवो मे भेद एव जीवो का ईश्वर से भेद जीव का कल्मष और ईश्वर का कल्मष-निर्मुक्तत्व, आदि विरुद्ध धर्म व्यवहार कैसे बनेगा, इसको बताने के लिये उपाधि रूप अज्ञान से कल्पित भ्रान्ति के भेद से सारे भेदा की व्यवस्था को बनाना है। जिस प्रकार बिम्ब-प्रतिबिम्बादि सब व्यवहारो से रहित सूर्य मे दर्पण से सम्बन्ध न होने पर भो कल्पित सम्बन्धकृत भेद से बिम्ब प्रतिबिम्ब आदि व्यवहार तथा हिलना डुलना, परिच्छिन्नतादि धर्मों से रहित प्रतिबिम्ब मे इन धर्मो की काल्पनिक प्राप्ति आदि विरुद्ध व्यवहार देखने मे आते है, उसी प्रकार यहा भी समझना चाहिये।

५ औपाधिक भेद भी अनादि सिद्ध ही है। अर्थात् विना किसी कारण के ही है। वस्तुतस्तु सामान्यतः कार्य-कारण भाव से आविष्ट अन्त करणो के लिये ऐसा कहा जाता है। पारमार्थिक दृष्टि से तो

अजः कल्पितसवृत्त्या परमार्थेन नाप्यज।
परतन्त्राभिनिष्पत्त्या सवृत्त्या जायते तु स॥

चूकि प्रत्येक कार्य के प्रति कारण की कल्पना होती है अत जगत् का कारण ईश्वर को माना गया एव सृष्टि वैचित्र्य का कारण जीव को माना गया। अविद्या रूपी कल्पित उपाधि से इन दोनो की वैसे ही प्रतीति हो गई जैसे नशे रूपी उपाधि से मैं ब्राह्मण नही चाण्डाल हूँ, इस प्रकार ब्राह्मण और चाण्डाल दोनो की प्रतीति हो जाती है। अत यहा जीव, ईश्वर, अविद्या तीनो को रूपकालकार से अज कह दिया गया क्यो कि तीनो परस्पर सापेक्ष्य हैं। वास्तविक अज तो आत्मा ही है। वेदान्तनिष्णात तो ऐसा मानते हैं कि आत्मा की अजता भी केवल कल्पित व्यवहार की सगति बैठाने के लिये है। स्वकीय दृष्टि मे तो वह भी अज नही है। चूकि दूसरे परिणामवादी शास्त्र आत्मा से जगत् की उत्पत्ति और व्यावहारिक जीव का जन्म भी स्वीकार करते हैं, उसके निषेध के लिये आत्मा को

अज कहा, ठीक इसी प्रकार से जीव, अविद्या और ईश्वर मे वास्तविक अजता न होने पर भी कई स्वयूथो अविद्या से ईश्वर और जीव की प्रतीति मान कर जीव और ईश्वर को उत्पन्न होने वाला मान लेते है उनका मूलोच्छेद करने के लिये यहा अज शब्द का प्रयोग है।

६ सभी आस्तिक दर्शन अविद्या का ही मूल कारण मानते है। अविद्या स्वय अविद्या होने से ही किसी अन्य कारण की अपेक्षा अपनी सिद्धि मे नही करती। अत्यन्त मूढ व्यक्ति भी किसी दूसरे व्यक्ति के 'मै नही जानता' ऐसा मानने पर 'क्यो नही जानते' ऐसा प्रश्न नही करता है। **न चोद्नीयं मायाया तस्याश्चोद्यैकरूपता।** माया के विषय मे कोई भी प्रश्न नही किया जा सकता क्यो कि वह स्वय ही प्रश्न रूप है। अत सवत्रादि सम्मत होने से ही यह प्रसिद्ध है।

७ वेदान्त सिद्धान्त मे तम, स्वधा, माया, आदि शब्दो से जिसे वेद मे कहा है, उसी को अविद्या, अव्यक्त आदि शब्दो से प्रतिपादित किया है। यद्यपि सामान्य बुद्धि के लोगो को वेदान्त शास्त्र मे प्रवेश कराने के लिये कही कही ईश्वर को उपाधि माया और जीव को उपाधि अविद्या, ऐसा कह दिया गया है, परन्तु यह भेद मूल भूत सूत्र, भाष्य, वार्तिक, पञ्चपादी आदि कही पर भी स्वीकार नही किया गया है। यहाँ भगवती श्रुति स्वय अपने मुख से ही उसे एक बता रही है। आचार्य विद्यारण्य स्वामी ने यद्यपि कही कही माया और अविद्या को दो बताया है। पर उन्होने स्पष्ट कर दिया है कि शुद्ध सत्त्व प्रधानाश अज्ञान ही माया शब्द से कहा गया है एव रज और तम अश प्रधान से अविद्या कही गई है। सांख्य के प्रकृतिवाद की वेदान्त से सगति बैठा कर निकृष्ट अधिकारी के लिये ऐसी कल्पना अपेक्षित होने पर भी इसकी वास्तविकता उन्हे स्वीकृत नही है। **सत्त्वशुद्ध्यविशुद्धिभ्यां मायाऽविद्ये च ते मते** की तरह ही **मायया कल्पितावेतौ** के द्वारा माया की एकता का भी प्रतिपादन किया है। अन्त मे तो

मायाख्याया कामधेनोर्वत्सौ जीवेश्वरावुभौ कह कर एक माया निमित्तक ही जीव और ईश्वर दोनो को बतलाया है ।

आजकल कुछ दर्शन एव सम्प्रदाय से अनभिज्ञ लोगो ने माया और अविद्या दोनो को अलग अलग रूप से जीव का बन्धन करने वाली माना है । इसलिये वे मानते है कि माया के बन्धन को निवृत्ति भक्ति से होगी तथा अविद्या की ज्ञान से । इस प्रकार वे ज्ञान और भक्ति के समुच्चय का प्रतिपादन करते है और भक्ति का अर्थ 'मैं शिव ही सब रूप हूँ' ऐसी अनन्य भक्ति न मान करके अन्य भक्ति को मानते है । श्रुति रूप चक्षु से हीन होने के कारण वे यह नही समझ पाते कि द्वैत और अद्वैत का एक ही अन्त करण मे रहना असम्भव है । और अन्य दृष्टि से देवतोपासन का फल मृत्यु की प्राप्ति बताया गया है । स्वकपोल कल्पमा से वे किले मे जेल मे बन्द व्यक्ति का दृष्टान्त देकर कहते है कि जैसे किले का दरवाजा खुलने पर भी कैदी बाहर नही निकल सकता, एव जेल का दरवाजा खुलने पर भी किले से बाहर नही निकल सकता । वैसे ही केवल ज्ञान से और केवल भक्ति से मुक्ति नही मिलती । जेल के दरवाजे को वे अविद्या मानते है और किले के दरवाजे को माया । इस कल्पना मे न केवल श्रुति का विरोध है वरन् ईश्वर को नित्य बद्ध बनाकर जीव से भी निकृष्ट कर दिया गया है । चूंकि माया रूपी उपाधि ईश्वर की नित्य रहेगी अत उसमे जितनी भी उत्कृष्टता कही जाय मोक्ष की सभावना कभी नही बनेगी । यदि इस माया को कल्पित भी मान लिया जाय तो इसका कल्पक जीव है या ईश्वर । ईश्वर को मानने पर वह अविद्या-तिमिराच्छन्न हो जायेगा और जीव को मानने पर जीव मे दो अविद्याओ को मानने का व्यर्थ गौरव स्वीकार करना पडेगा । किञ्च दोनो ही अविद्या होने से ज्ञान से ही निवृत्ति हो सकेगी और वेदान्त दुर्ग मे चोर दरवाजे से भक्ति को घुसाने का उनका प्रयास भी व्यर्थ

सिद्ध हो जायेगा। **ज्ञानादेव तु कैवल्य** मे 'एव' पद की तरह ही प्रकृत मत्र का एका पद इस प्रकार की अन्ध मान्यताओ का मुखमर्दन करने के लिये पर्याप्त है। ऐसा प्रतीत होता है कि वैष्णव, ईसाई और मुसलमानो के भक्ति मार्ग से प्रभावित होकर जनता के भाव प्रधान अविचारी लोगो के प्रवाह मे अपने विचार से फिसल कर इस प्रकार का प्रयास किया जाता है। तात्पर्य है कि विविध विक्षेप वाली होने पर भी वस्तुत वह भेदशून्या है। सुषुप्ति और प्रलय मे उपाधि का अभाव होने से **सता सोम्य तदा सम्पन्नो भवति** इत्यादि श्रुति के आधार पर जीवेश्वर का भेद नही रह जाता। प्रतिबिम्ब-स्थानीय जीव की दर्पण-स्थानीय प्रकृति भोगादि धर्मो को प्राप्त कराने वाली होने से स्वय मुख्य भोगादि धर्म वाली हो यह तो स्वाभाविक ही है। सूर्य को चञ्चल दिखाने वाला दर्पण स्वय चञ्चल है इसमे सन्देह ही क्या हो सकता है। अत कार्य की तरह कारण भी ब्रह्म मे एक होकर के अध्यस्त होने से इसे एक कहा गया। एक का मुख्य अर्थ श्रुतियो मे ब्रह्म ही होता है। अत ब्रह्म ही अज्ञान से माया रूप प्रतीत हो रहा था और अब माया ज्ञान से ब्रह्म रूप प्रतीत होने लगी। तात्पर्य है कि यहा श्रुति माया निवृत्ति को ब्रह्म रूप ही मानती है, अनिवर्चनीय या पञ्चम प्रकार नही।

८ **भोक्तृभोग्यार्थयुक्तेति पाठभेदः।**

९ भोक्ता अर्थात् ससरण करने वाला जीव, जो स्वरूप से आनन्दघन होने पर भी अपने आपको अनानन्द रूप समझते हुए आनन्द की प्राप्ति के लिये प्रयत्न करके कर्ता और उसके प्राप्त होने पर भोक्ता मानता है। भोग अर्थात् सुख दु ख। सुख दु ख के साधनो को भी भोग कह दिया जाता है। भोक्तृ-भोग्यादि भेदो को भोग ही सिद्ध करता है। अर्थात् भोग होने पर भी उस के एक अश को भोक्ता और दूसरे को भोग्य माना जाता है। भोक्तृ-भोग्यादि भेदो के लिये जो हमेशा युक्ता अर्थात् उद्यम वाली होवे वह भोक्तृभोगार्थयुक्ता (भोक्ता के भोग

के लिये प्रयत्नशील) कही जायेगी। तात्पर्य है कि अद्वैत निर्मल स्वय प्रकाश सुख रूप परमात्मा मे भेद व्यवहार प्रतीत हो रहा है। इस व्यवहार की सिद्धि के लिये माया की कल्पना की जाती है। यह सूर्य के हिलने के व्यावहारिक प्रतीति की सूर्य की स्थिरता के साथ एकार्थता सिद्ध करने के लिये मुख्य चलनादि धर्म वाले जल की तरह सिद्ध होती है। वस्तुतस्तु यह चिदात्मा मे अध्यस्त हे।

अथवा भोक्त्रा अर्थात् जीव से एव भोगेन अर्थात् विषयानुभव से एव अर्थै माने विषयो से जो युक्ता, अर्थात् सम्बद्ध हो। इसके द्वारा यह बतलाया कि यद्यपि सर्वज्ञ असर्वज्ञ, देही अदेही आदि भेदो की एक ब्रह्म मे जो कि स्वय कूटस्थ अपरिणामी है, सिद्धि हो सके तभी उसकी अद्वितीयता अक्षुण्ण रह सकेगी। ब्रह्म स्वत कारण बन नही सकता, और ब्रह्म से भिन्न कोई वस्तु वेदान्ती मानता नही। इस प्रकार की शका का उत्तर देने के लिये, एव व्यवहार सिद्ध प्रपञ्च को उपपन्न करने के लिये श्रुति कहती है कि जन्म रहित भोक्ता भोग इत्यादि सब को प्रसव करने वाली माया के कारण यह बन जाता है। इसका विकार प्रप्रञ्च है एव यही देवात्मशक्ति है। इसी के साथ होने के कारण ब्रह्म भी मायी परमेश्वर हुआ हुआ इसकी निकटता से वैसे ही विकार वाला दीखता है जैसे देह से रसोई बनाते हुए वेद-वेत्ता ब्राह्मण रसोइये की तरह दीखता है। अत जीवेश्वरादि सभी लौकिक वैदिक भेदो का व्यवहार वेदान्त विरुद्ध नही होता। चू कि शक्ति और शिव का भेद नही है अत द्वैतवाद भी प्राप्त नही होता। अनिर्वचनीय माया शक्ति रूप होने से ब्रह्म मे सद्वितीयता भी नहीं लाती।

१० भेद प्रपञ्च का वर्णन करके अब निर्मल, निष्कल, शान्त, शिव-तत्त्व का वर्णन करते है।

११ विश्व इसका ही रूप है। जैसे चादी सीप का ही रूप है।

यह अभिन्न निमित्तोपादान अर्थात् अधिष्ठान कारण है। सब का अधिष्ठान होने से ही सब रूपो वाला कहा जाता है।

१२ देश-काल या वस्तु से इसका अन्त अर्थात् परिच्छेद नही आता। अर्थात् इन परिच्छेदो से रहित है। यद्यपि माया की उपाधि से देश-काल वस्तु माया के कारण इसमे कल्पित होती है पर यह अविकारी होने से अनन्त बना रहता है। जैसे घट उपाधि सम्पर्क से भेदादि विरुद्ध धर्मो की कल्पना आकाश मे होने पर भी आकाश शुद्ध ही बना रहता है, इसी प्रकार ससार कलिल मे पडा हुआ दीखने पर भी आत्मा असग ही बना रहता है।

१३ कर्तृत्व-भोक्तृत्वादि सभी ससार धर्मो से रहित समझना चाहिये। जिस प्रकार जगत् रूप से उसमे सान्तत्व की प्राप्ति का निषेध करने के लिय अनन्त पद का प्रयोग है वैसे ही जीव भाव से कर्ता-भोक्ता की प्राप्ति होने पर उसका निषेध करने के लिये अकर्ता पद है। किञ्च जिस शिव के ज्ञान-मात्र से अनादि काल से आया हुआ कर्तृत्व नष्ट हो जाता है वह स्वय अकर्ता हो इसमे सन्देह ही क्या है। अथवा जैसे आकाश मे सभी क्रियाये होने पर भी आकाश निष्क्रिय रहता है वैसा ही यहा समझ लेना चाहिये।

१४ नारायणे तु ब्रह्म ह्येतत् इति पाठ। स तु छन्दोभगभिया त्यक्त।

१५ दोनो अज और एक अजा यह तीन ही प्रकरण के अनुरोध से ग्राह्य है। भोक्ता-भोग-भोग्य रूप त्रिपुटियो का सग्रह यहा प्रकरण के विरोध से बनता नही और न जीव, ईश्वर और शुद्ध ब्रह्म को ही मानना सगत है। बिम्ब-स्थानीय परमेश्वर प्रतिबिम्ब-स्थानीय जीव और दर्पण-स्थानीय माया की एकता ही सम्यक् ज्ञानावस्था मे प्रतीत होती है। इस ज्ञान के प्रति अनन्त, विश्वरूप और अकर्ता का ज्ञान कारण पडता है। तात्पर्य है कि चू कि वह अनन्त-विश्वरूप और अकर्ता है अतएव जीव माया और ईश्वर एक है।

१९ ब्रह्म को प्रत्यगात्म रूप से एक करना ही यहा इष्ट है। एक प्रत्यगात्मा रूप ब्रह्म ही यथार्थ रूप से अज्ञात हुआ हुआ तीन रूपो से प्रतीत होना है, वस्तुत तो एक ही बना रहता है। मायात्मक होने से अधिष्ठानभूत ब्रह्म से ये तीनो अलग नही वरन् ब्रह्म ही हैं जो सारे विकल्पो मे रहित एव कर्तृत्वादि सकल ससार धर्मों से रहित है। मोतियाबिन्द मे चन्द्रमा के एक बने रहने पर भी जैसे दो या तीन चन्द्रमा दीखते हैं एव मोतियाबिन्द के दूर हो जाने पर पुन एक ही चन्द्रमा बना रहता है वैसा ही यहा समझना चाहिये।

ब्रह्मम् मे अन्तिम मकार **ब्रह्ममेतु मां, मधुमेतु मां,** इत्यादि मत्रो की तरह प्रातिशाख्य-सिद्ध समझना चाहिये।

१०

क्षरं प्रधानम् अमृताक्षरं हरः क्षरात्मानौ ईशते देवः एकः। तस्य अभिध्यानात् योजनात् तत्त्वभावात् भूयः च अन्ते विश्वमायानिवृत्तिः।

प्रधानं = प्रकृति[१]
क्षर = विनाशी (और)
अमृताक्षर = अविद्या विशिष्ट चिदाभास अविनाशी[२]
(अस्ति) = (है)।
एक. = एक[३]
हर = हर[४]
देव = महादेव[५]
क्षरात्मानौ[६] = प्रकृति और जीवात्मा दोनो को
ईशते = शासित[७] करते है।
तस्य = उनके
अभिध्यानात् = सर्वत्र ध्यान[८] करने से,
योजनात् = एक हो जाने से[९]
च = और
तत्त्वभावात् = तत् और त्व की एकता मे स्थिर हो जाने से[१०]
भूय = फिर द्वैत की निवृत्ति से[११]
अन्ते = प्रारब्ध के समाप्त हो जाने पर[१२]
विश्वमायानिवृत्तिः = सभी प्रकार की माया निवृत्त[१३] हो जाती है।

१ प्रकृति से यहा परिदृश्यमान जगत् लेना चाहिये जिसे गीता मे **क्षर सर्वाणि भूतानि** के द्वारा कहा है । ससार के सभी पदार्थ स्पष्ट ही नष्ट होते हुए देखे जाते हैं। सुषुप्ति, प्रलय मे भी उनका अभाव सिद्ध है।

२ सभी पदार्थो के बदलने पर भी, यहा तक कि शरीर मनादि के बदलने पर भी जन्म से मृत्यु तक चिदाभास एक जैसा बना रहता है। जन्म-जन्मान्तरो मे देश-कालादि सारे सम्बन्ध बदल जाने पर भी यह अविनाशी ही बना रहता है। यहा तक कि ज्ञान होने पर भी इसका केवल आभासत्व नष्ट हो जाता है, चित् तत्त्व तो फिर भी बना ही रहता है। अत इसकी अविनाशिता सिद्ध ही है। वेदान्त सम्प्रदायाचार्यो ने इसीलिये महावाक्यो मे मुख्य समानाधिकरण स्वीकार किया है। यहा अक्षर को उद्देश्य करके अमृत का विधान होने से उद्देश्य-विधेय गमकत्व समास समझना चाहिये । **कूटस्थोऽक्षर उच्यते** मे श्रीकृष्ण ने भी चिदाभास को अक्षर ही कहा है।

३ सर्वव्यापी परमात्म तत्त्व ही यहा इष्ट है।

४ यह शिव का प्रसिद्ध नाम है। अविद्या आदि क्लेशो का हरण करने वाला होने से इसे हर कहा है। कर्म के परतन्त्र न होने मे अन्य देवताओ की तरह यह कर्माधीन होकर पापो का नाश या इष्ट पदार्थो का दान न करके भक्तो के प्रेम से उनका पाप-ताप, रोग शोक हर लेता है इसलिये भी उसे हर कहा जाता है।

इस प्रकार जीव-प्रकृति का विभाग दिखा कर अब ईश्वर का उन दोनो से वैलक्षण्य बताते हैं। साख्यो के प्रकृतिवाद मे या मीमासको के कर्मवाद मे अथवा नैयायिको के निमित्तेश्वर वाद मे अथवा योगियो के पुरुष विशेष ईश्वर वाद मे परमेश्वर की हर सज्ञा नही हो सकती।

५ स्वप्रकाश होने से उसे महादेव कहा गया। इसी को गीता मे **परमात्मेत्युदाहृतः** कहा है। चैतन्य बल शक्ति ही वस्तुत सर्वत्र स्वप्रकाश रूप होती है।

६ क्षरात्मना विशत इति वा पाठ । क्षरात्मना क्षरात्मरूपेण विशति सत्र भवति इत्यर्थ । अस्मिन् पाठे यो लोकत्रयमाविश्येति गीता सगततरा भवति ।

७ जब तक मनुष्य शिव-प्रेम से शून्य होता है, तब तक नियमो के द्वारा शासन करते है। जब शिव मे प्रेम हो जाता है तब औढर-दानी बनकर प्रेम से शासन करते है और मुमुक्षा उत्पन्न होने पर निरुपाधिक चिन्मात्र रूप से आत्म-स्वरूप को प्रकट करके अधिष्ठान रूप से शासन करते है। प्रकृति का तो सदा ही स्वरूपस्फुरणप्रद बन कर शासन करते है। यह बात दूसरी है कि किसी काल मे इसका प्रलय करके शासन करते है तो किसी काल मे सृष्टि करके। इस प्रकार सच्चिदानन्द रूप ऐश्वर्य से वह जड चेतन सबको व्याप्त करके शासन करते है।

८ शिवोऽह के द्वारा अपनी आत्मा मे और 'शिव सर्व' के द्वारा सभी भोग्य पदार्थो मे शिव दर्शन ही अभिध्यान पद का अर्थ है। ध्यान अर्थात् चिन्तन या स्मरण। तात्पर्य है कि देवता, मनुष्य, पशु आदि भेदो मे एव कपडा, दरवाजा आदि भेदो मे शिव ही उनको स्वरूप प्रदान करने वाला कारण है, एव वही उनमे आनन्द प्रदान करने वाला कारण है, तथा स्फुरणता देकर साक्षी रूप से प्रवृत्त करने वाला कारण है। इस प्रकार का चिन्तन ही प्रथम कर्तव्य है।

ईश्वर ही जीव और जगत् उपाधि से प्रतीत हो रहा है, ऐसा विशिष्ट चिन्तन भी यहा लिया जा सकता है। अर्थात् उपासना के लिये ज्ञ, अज्ञ आदि भेद शून्य चित् सुख पर ध्यान के लिये उपाधि को रख के भी अभिध्यान किया जा सकता है। अथवा अह वृत्ति का साक्षी शिव है, इस प्रकार का चिन्तन करना चाहिये।

९ जब अभिध्यान करते करते ध्याता और ध्येय का भेद मिट जाय, एव अनात्म माया को प्रतीति सर्वथा निवृत्त हो जाय, उस समय की सायुज्य प्राप्ति ही योजना है। इसमे चिदाभका ास आभास

मिट करके चित् ही प्रधान रह जाता है। कुछ लोग तो इसको सबीज समाधि मानते हैं।

१० वेदान्त वाक्यो के श्रवण से द्वैत भ्रम एव अविद्या से तिरोहित निरतिशय आनन्द का अवतरण ऐसा हो जाय कि व्यवधान करने वाला द्वैत भ्रम और मूलाविद्या दोनो ही ज्ञानाग्नि से जल कर तत् और त्व पदार्थ की एकता स्वरूप यथार्थत 'शिव ही मैं हूँ' ऐसा भाव तत्त्व भाव है।

११ अनात्मा अधिष्ठान रूप से ब्रह्म है और आत्मा मुख्य रूप से ब्रह्म है, इस प्रकार के बुद्धिभेद रूपी द्वैत के निवृत्त हो जाने पर। इसका उपाय दृश्यत्वादि हेतुओ से पुन पुन द्वैत का ज्ञान बाध योग्यता लक्षण मिथ्यात्व का प्रसाधन करने से एव आत्मा का अद्वैत भाव निर्णय करने के द्वारा द्वैत सम्पर्क की व्यावहारिक कल्पना की निवृत्ति पुन पुन अभिध्यानादि करने से ही होती है।

१२ अज्ञान विश्व मे पारमार्थिक, व्यावहारिक, और प्रातिभासिक तीन प्रकार की सत्ता का ज्ञान कराता है। अविद्यालेश जबतक जीवन्मुक्त मे है तब तक प्रातिभासिक ज्ञान होता रहता है। अविद्या लेश के निवृत हो जाने पर प्रातिभासिकत्व भी निवृत्त हो जाता है। वही अवस्था इष्ट है। यह भोग समाप्ति होने पर भी हो सकता है अथवा प्रबल योग के द्वारा मन्द-प्रारब्ध का उन्मूलन करके अथवा अनेक काय-व्यूहो का निर्माण करके शीघ्र भोग समाप्त करके।

१३ स्वात्मज्ञान की निष्पत्ति होते ही ज्ञानोदय वेला मे सुख-दुःख-मोहात्मक अशेष प्रपञ्च निवृत्त हो जाता है। अथवा विश्व, अर्थात् विपरीत प्रतीति, और माया अर्थात् उसका कारण, इनकी किसी भी रूप मे उपलब्धि न होना निवृत्ति है। सस्कार मात्र रूप से अवशिष्ट अविद्या ब्रह्मवेत्ता के देहयात्रादि व्यवहार के लिये पर्याप्त

होती है। ब्रह्म और अपरोक्ष की एकता को आच्छादन करने वाली अविद्यान्धकृति पहले नष्ट होती है तब अर्थ क्रिया कारिता रूपी अविद्या नष्ट होती है जिससे आकाश इत्यादि द्वैतभ्रमकी कल्पना कराने वाली माया नष्ट हो जाती है। तब द्वैत-प्रतिभास मात्र निर्वाहक माया लेश अप्रतिबद्ध शक्ति विद्या से निवृत्त हो जाती है। इस क्रम से विद्वान् की सारी माया निवृत्त हो जाती है।

११

जीव, ईश्वर और प्रकृतियो की अनादिता एव उनके सम्पर्क से सवज्ञत्वादि की व्यवस्था बतायी। फिर सम्यक् ज्ञान से सारे विकल्पो से रहित सच्चिदानन्द निर्मलाद्वैत का प्रतिपादन हो गया। सभी आकाशादि विवर्त रूप से माया मे रहते हैं अत उसे प्रधान कह दिया। अनादि पदार्थ का नाश कैसे होगा, इस शका को हटाने के लिये प्रकृति को विनाशी बताकर सत् से भिन्न निरूपित किया। तब अनादि जीव और ईश्वर भी कही अनित्य न हो जाय इसलिये उनको अविनाशी बताया। जीव और ईश्वर स्वरूप से एक होने पर भी उपाधि से भिन्न भिन्न है। जीव असग होने से प्राण वियोग लक्षण वाले मृत्यु से युक्त नही होता अत अमृत हैं। साक्षी रूप होने से उसका स्वरूप-नाश भी नही है अत अक्षर है। फिर भी सग दोष से इन दोषो वाला अपने को मानता है। बनियो के बीच मे रहने वाला व्यापारी ब्राह्मण अपने सभी आचार-विचार मे बनिये जैसा बनता ही देखा जाता है। परन्तु शिव कभी भी इन सगो से दूषित नही होता। अद्वितीय होने से स्वरूप द्वारा नित्य ही द्वैत समूह का सहारक हैं। परन्तु सम्यक् ज्ञान रूपी वृत्ति पर चढकर के ही चित् के प्रतिभास मात्र शरीर वाले जीव की मूलाविद्या का हरण करता है। इस हरण करने के प्रकार को अब स्पष्ट करते हैं —

ज्ञात्वा देवं सर्वपाशापहानिः क्षीणैः क्लेशैः जन्ममृत्यु-प्रहाणिः। तस्य अभिध्यानात् तृतीयं देहभेदे विश्वैश्वर्यं केवलः आप्तकामः॥

देवं = स्वयं प्रकाश देव को
ज्ञात्वा = अनुभव करके
सर्वपाशापहानि = सारे पाश[1] नष्ट हो जाते है,
क्लेशैः = क्लेशो के[2]
क्षीणैः = नष्ट हो जाने पर
जन्ममृत्युप्रहाणि[3] = जन्म मृत्यु[4] नष्ट हो जाते है।
तस्य = उसका
अभिध्यानात् = सर्वत्र ध्यान करने से
देहभेदे = शरीर की प्रतीति के समाप्ति होने पर[5]
केवल = केवलीभाव[6] को प्राप्त हुआ हुआ
आप्तकाम = पूर्ण काम[7]
तृतीयं = तीसरे[8]
विश्वैश्वर्यम् = समग्र ऐश्वर्य को
(आप्नोति) = (प्राप्त कर लेता है।)

१ अविद्या एवं उसके सभी कार्य यहा पाश शब्द से लिये गये हैं। यहा पुत्र, सम्पत्ति आदि बाह्य पाश और अहन्ता ममता आदि अन्त पाश दोनो का ग्रहण है। सर्वात्म रूप से शिव को जान कर सवत्र सम बुद्धि वाला बनना ही पाशो की अपहानि अर्थात् परित्याग है। शिव सर्व रूप है इसलिये मै भी शिव रूप हूँ। यजुर्वेद मे उत्तम, मध्यम और अधम रूप से वर्णित सभी पाशो को यहा ग्रहण कर लेना चाहिये।

उदुत्तमं वरुण पाशम् अस्मत् अव अधमम् विमध्यमं श्रथाय अर्थात् हे श्रेष्ठ वरण करने के योग्य परमेश्वर हमारे तीनो पाशो को ऊपर, बीच, और कमर के नीचे से हटाओ। यहा माया की आवरण, विक्षेप और प्रातिभासिक शक्तियो को ही बाधने वाली होने से ही पाश कहा है।

२ राग-द्वेष, पुण्य-पाप, आदि क्लेश कहे जाते है । इनके नष्ट होने का क्रम इस प्रकार है । शिवज्ञान से अविद्या का नाश, अविद्या नाश से उससे उत्पन्न होने वाले राग-द्वेष का नाश, राग-द्वेष के नष्ट होने पर उससे उत्पन्न विहित और प्रतिषिद्ध क्रियाओ का नाश, इन क्रियाओ के नष्ट होने से उनसे उत्पन्न पुण्य-पाप रूपी अपूर्व का नाश, अपूव के नष्ट होने से उससे उत्पन्न हाने वाले भावी शरीर और उन शरीरो के निमित्त से होने वाले सुख दुख का नाश, इस प्रकार सम्यक् ज्ञान के सभी क्लेश नष्ट हो जाते है। वस्तुन आत्मा सदा ही अकर्ता है। परन्तु मिथ्या कर्तापने के मोह से क्लेशो को प्राप्त करता है । अविद्या निवृत्ति से कल्पित कर्ताभाव की निवृत्ति होकर उस कर्तृत्व भाव मूलक जितने कर्म थे वे भी जल जाते है। एव, सम्यक् ज्ञान के पूव इस जन्म मे, और इस जन्म स पूर्व अनुष्ठित सभी कर्मों के नष्ट हो जाने से सभी क्लेश निवृत्त हो जाते है।

योग सूत्रो के अनुरोध से यहा अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष, अभिनिवेश, इन पञ्च क्लेशो का भी ग्रहण किया जा सकता है।

३. जन्ममृत्युप्रहानिरिति शकरानन्दपाठ ।

४ जन्म-मरण के ग्रहण से इनके बीच मे आने वाले सभी विकारो का ग्रहण कर लेना चाहिये । सम्यक् ज्ञान से बीज सहित ससार दुख का नाश हो जाता ह, यह तात्पर्य है ।

५ उत्तम अधिकारी की तो श्रवण से कारण सहित अज्ञान की निवृत्ति हो जाती है । एव केवल लेशाविद्या की स्थिति प्रारब्ध कर्म के कारण रह जाती है। परन्तु मध्यमाधिकारी का अज्ञान श्रवण मात्र से समाप्त नही होता। अत इस शरीर के निवृत्त हो जाने पर भी देवयान से जाकर ब्रह्म सायुज्य की प्राप्ति रूपी द्वितीय स्थिति, एव अव्याकृन परमाकाश आकार से ईश्वर भाव मे स्थिति होकर समग्र ऐश्वर्य रूपी तृतीय स्थिति होती है । उसके बाद आत्मज्ञान की दृढता होकर वह भी निर्विशेष ब्रह्म मे लीन हो जाता है।

अथवा ज्ञानी की तो सीधे ही स्वरूपस्थिति हो जाती है परन्तु ध्यानी की सहसा निराकार मे बुद्धि स्थिर नही हो पाती अत सविशेष ब्रह्म विषयक होने से देह-भेद की अपेक्षा रखती है। यहा दहरोपासना, ओकारोपासना आदि उपासनाओ से तात्पर्य है।

६ अविद्या लेश से भी अछूत को यहा केवल कहा गया है।

७ आनन्द स्वभाव अपरोक्ष आत्मस्वरूप होने से समग्र कामनाये जिसकी पूर्ण हो गई है वही पूर्णकाम कहा जाता है। जिसकी कामना की जाती है उसे काम कहते है। वस्तुत आनन्द ही सबके द्वारा काम्य होने से एक मात्र काम है। यह आनन्द स्वरूप से प्राप्त हो जाने पर और दु ख रूप अविद्या के निवृत्त हो जाने पर पूर्णकामता स्वय सिद्ध है। स्वय आनन्द रूप होने से वही दूसरो की कामना का विषय बना हुआ रहता है।

८ केवल कर्म से धूमादि मार्ग के द्वारा एक गति हुई। उपासना के द्वारा ब्रह्मलोक दूसरी गति हुई। इन दोनो का ऐश्वर्य परतत्र ऐश्वर्य है। अभिध्यान से कोमल ब्रह्म ज्ञानी की ईश्वर रूप से स्थिति तीसरी गति हुई। यह स्वतत्र होने से विश्वैश्वर्य है।

दृढ आत्मबोध से मार्ग-निरपेक्ष मोक्ष रूपी ऐश्वर्य का आविर्भाव गति-हीन होने से यहा विवक्षित नही है। इस पक्ष मे यह सब कुछ शिव है इस अनुभव के फल स्वरूप शत्रु-मित्रादि अविद्या का नाश पहला है। मैं शिव हू, इस प्रकार आत्मा और ब्रह्म के तादात्म्य सम्बन्ध ज्ञान से उसके विपरीत अहकारादि अज्ञान का नाश दूसरा है। प्रारब्ध कर्म के क्षीण हो जाने पर सस्कारो की भी आत्म भाव से स्थिति हो जाना तृतीय भाव है। इस तृतीय भाव को ही अन्त सुख, अन्तराराम, आत्मक्रीड, आत्मरति, आत्ममिथुन आदि शब्दो से श्रुतियों मे बतलाया है।

९ विश्वम् यत्र ऐश्वर्यं यस्य त विश्वैश्वर्यम्।

१२

एतत् ज्ञेयं नित्यम् एव आत्मसंस्थम् न अतः परं वेदितव्यं हि किञ्चित् । भोक्ता भोग्यं प्रेरितारं च मत्वा सर्वं प्रोक्तं त्रिविधं ब्रह्मम् एतत् ॥

एतत् = इस[1]	**न** = नही है ।
आत्मसस्थम् = आत्मा मे सस्थित[2] को	**भोक्ता**[8] = जीव
एव = ही[3]	**भोग्यं** = भोग्य ससार को[9]
नित्य = नित्य नियम[4] से	**च** = और
ज्ञेय[5] = अनुभव करना चाहिये,	**प्रेरितार** = प्रेरक ईश्वर को[10]
हि = क्यो कि[6]	**ब्रह्म** = ब्रह्म रूप
अत = इससे	**मत्वा** = समझकर[11] (फिर)
पर = परे[7]	**एतत्** = इन[12]
किञ्चित् = कुछ भी	**सर्व** = सब
वेदितव्य = अनुभव करने के योग्य	**त्रिविध** = तीन प्रकारो को[13]
	प्रोक्तम् = कहा हुआ (ब्रह्मात्म रूप जाने)।

१ आत्म तत्त्व हो अज्ञात होने से सभी प्रमाणो द्वारा जाना जाता है। निरतिशय पुरुषार्थ रूप होने से यही उपनिषदो द्वारा भी जाना जाता है। चू कि आत्मा से भिन्न कुछ भी अज्ञात हो यह सभव नही है, अत सारा अनात्म-जगत् न तो प्रत्यक्षादि प्रमाणो का विषय है और न अपुरुषार्थ रूप होन से वेद द्वारा ही प्रनिपाद्य है। तात्पर्य है कि शब्द वही प्रमाण होता है **आम्नायस्य क्रियार्थत्वात्** जहाँ किसी न किसी प्रयोजन वाली क्रिया या ज्ञान को बताये। अत विश्व के पदार्थ दु ख रूप होने से श्रुतिप्रतिपाद्य नही हो सकते। इसी प्रकार जो पदार्थ अपनी सत्ता सिद्ध करने के लिये चैतन्य रूप आत्मा की अपेक्षा रखते है, वे चैतन्य से भिन्न सत्ता वाले अर्थात अज्ञात कैसे हो

सकते है। अत. ऊपर कहे हुये आत्म तत्त्व को छोडकर और कुछ कभी भी ज्ञान का विपय हो ही नही सकता। पारिभाषिक भाषा मे कहै तो घटज्ञान का विषय घटाकार से आवृत आत्मा ही है। यह बात दूसरी है कि यहाँ परिच्छिन्न आवरण का भग है और ब्रह्मज्ञान मे अपरिच्छिन्न आवरण का भग। परिच्छिन्न और अपरिच्छिन्न आवरण को भग करके जाना ब्रह्म को ही जा रहा है।

२ शिव का ज्ञान आत्मा मे ही होता है किसी आत्म-भिन्न बाह्य पदाथ मे नहीं होता। इसीलिये कहा है—

आत्मस्थ तीर्थमुत्सृज्य बहिस्तीर्थादि यो व्रजेत्।
करस्थं स महारत्नं त्यक्त्वा काच विमार्गति ॥

आत्मा मे स्थित परम तीर्थ को छोडकर जो बाहर तीर्थो मे भटकता है वह उस मूढ की तरह है जो हीरे को फेक कर कॉच को ढूढता है। आत्मा मे वतमान का अर्थ आत्म रूप से विद्यमान समझना चाहिये। अथवा आत्म अर्थात् बुद्धि। बुद्धि मे ही वेदान्त वाक्यो द्वारा यह प्रत्यगात्मा रूप से भली प्रकार स्थित होता है। यद्यपि अज्ञान काल मे भी बुद्धि मे मै रूप से विद्यमान है परन्तु सम्यक् अर्थात् शुद्ध रूप से नही। वेदान्त वाक्यो के द्वारा यह बुद्धि मे शुद्ध रूप से भान होता है।

३ वैराग्य द्वारा आत्म-भिन्न पदार्थो के ज्ञान के लिये 'ही' शब्द है। सारे प्रमाणो के द्वारा अर्थात् प्रत्यक्ष आदि प्रमाणो से भी उपाधि को छोडकर उपहित आत्मा को ही पकडने का अभ्यास साधक करे। जब वस्त्र को देखे तो वस्त्र के द्वारा वस्त्रनिष्ठ सत् चिद् रूप ब्रह्म का ही ग्रहण करे। अर्थात् वस्त्र के नाम रूप का बाध करके ब्रह्म ही अविद्या विलास के द्वारा परिच्छिन्न होकर नाम रूप को धारण किये हुये वस्त्र रूप से प्रतीत होता है। इसी प्रकार ब्रह्म ही परिच्छिन्न अन्त करण नाम रूप को धारण कर वस्त्र का ज्ञाता हुआ प्रतीत हो रहा है। इस प्रकार ब्रह्म को 'ही' देखे।

४ श्री परमहंसों के लिये जब तक नींद न आ जाय और जब तक जगत्-प्रतीति समूल नष्ट न हो जाय तब तक एक मात्र इसी नियम का विधान है कि ब्रह्मानुभव करते रहें। अन्य बाह्य आचार एवं क्रिया-कलापों से अपनी दृष्टि को अवरुद्ध न होने दें। जब तक यह ब्रह्मदृष्टि न बने तब तक सभी समय प्रयत्न पूर्वक वेदान्त ग्रन्थों के श्रवण मनन में लगे रह कर तदुपयोगी शम-दमादि का अभ्यास करते रहें। इसके अतिरिक्त और कोई कर्तव्य करने और बताने वाले स्वयं भ्रान्त होकर दूसरों को भी भ्रान्त करते हैं।

५ **ज्ञातव्यं ज्ञानार्हम् इति वा।** ज्ञानाय विधिरसंगता। प्रमाण-प्रमेययोः सन्निकर्षे ज्ञानस्यानिच्छन्नपि ह्यवश्यभावित्वात्। तस्मात् प्रमाणपरिग्रहे यत्नः कार्यः प्रमेयस्य आत्मसंस्थत्वात्।

६ जैसे आत्मा ज्ञातव्य है वैसे ही कुछ अन्य भी ज्ञातव्य हो सकता है, ऐसी शंका का निवारण करने के लिये यह हेतु है।

७ ब्रह्म से अधिक और कुछ भी आनन्द दायक न होने से यही सब से परे है। ब्रह्म-ज्ञान के बाद और कुछ ज्ञान संभव भी नहीं है। यथार्थ ज्ञान का लक्षण ही है कि न जानी हुई और जिसका बाध न हो ऐसी चीज को जानना। ब्रह्म ज्ञान से सर्व विज्ञान हो जाने के कारण कोई चीज नहीं जानी हुई नहीं रह जाती। एवं ब्रह्मातिरिक्त सब ज्ञानों का बाध भी हो जाता है। अतः वस्तुतः आत्मतत्त्व से भिन्न और कुछ हैं ही नहीं जो जानने के योग्य हो। दृश्य और दृक् भिन्न हैं इस प्रकार के प्रमाण ज्ञान से प्रतियोगी रूप से भी दृश्य की ज्ञेयता स्वीकार नहीं करनी चाहिये। क्योंकि दृश्य और द्रष्टा का भेद ज्ञान किसी भी प्रत्यक्षादि प्रमाणों से उत्पन्न न होने के कारण उसमें प्रमाणवेद्यता कैसे आ सकती है। अतः जड को किसी भी प्रकार से विद्या या अविद्या दोनों कालों में ज्ञेयता प्राप्त नहीं हो सकती। अतः ब्रह्म से भिन्न और कुछ भी ज्ञान के योग्य नहीं है। अतः अनात्म वस्तु

का जड और दुःख रूप से हेय होने के कारण, चञ्चल रूप से मिथ्या होने के कारण, तथा ज्ञान का अविषय होने के कारण आत्मा ही एक मात्र ज्ञेय है।

८. **द्वितीयाया प्रथमात्वेन व्यत्ययो छान्दस इति केचित्** । भोक्तार भोग्य प्रेरितार च मत्वा अत पर न हि किञ्चित् वेदितव्यमस्ति इत्यन्वय ।तेषा मते सर्व त्रिविध प्रोक्त नात पर प्रवचनीयमस्ति इति शेष । **वस्तुतस्तु वाक्यशेषत्वस्वीकारे प्रमाणाभावत्वात् नैतच्छोभनम्** ।

९ यह कार्य उपाधि को बताने के लिये है। वस्तुतस्तु उपर्युक्त भोक्ता शब्द सा आभास उपलक्षित चेतन (साक्षी) को लेना चाहिये, क्या कि बुद्धयादि सभी उपाधिया कार्योपाधिया ही है।

१० इससे कारणोपाधि का ग्रहण है। अवस्था त्रय का विचार करने पर जाग्रत् स्वप्न रूपी कार्योपाधि का साक्षी और सुषुप्ति रूपी कारणोपाधि का साक्षी एक ही सिद्ध होता है।

११ व्यष्टि समष्टि आदि सभी भेद अविद्या मे है। ऐसा मनन के द्वारा निश्चय करके।

१२ इस प्रकार कार्य और कारण उपाधिवाला इन दोनो उपाधियो से उपहित मै साक्षी।

१३ यहा सभी त्रिपुटियो का ग्रहण है। जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति, विश्व, तैजस्, प्राज्ञ, अ, उ, म, अन्तर्यामी, सूत्रात्मा, विराट्, सत् चित्, आनन्द, चिदाभास, साक्षी, कूटस्थ, शान्त, घोर, मूढ, घोर, घोरतर, अघोर, आदि वेदान्त शास्त्रो मे कहे हुए सभी त्रिको का यहा ग्रहण है। स्थाणु-पुरुष न्याय से ही वेदान्तो मे इन्हे ब्रह्म-रूप कहा है। अत. परवर्ती त्रिक दर्शनाचार्यो के चिद्विलासवाद का यहा प्रवेश नही है।

१३

निरतिशय आनन्द का कारण विद्यमान होने पर भी क्यो नही स्फुट होता ?

वह्नेः यथा योनिगतस्य मूर्तिः न दृश्यते न एव च लिङ्ग-नाशः । सः भूयः एव इन्धनयोनिगृह्यः तत् वा उभयं वै प्रणवेन देहे ॥

यथा=जैसे
योनिगतस्य=कारण रूप लकडी मे घुसी हुई[1]
वह्ने =आग की
मूर्तिः =शकल[2]
न=नही
दृश्यते=दीखती
च=और
लिङ्गनाश[3]=(उसका) बीज नष्ट[4]
न=नही
एव=ही (हुआ है),
स =(क्यो कि) वह (आग)
भूय =फिर से[5]
इन्धनयोनिगृह्य[10]=ईधन रूप कारण से[6] (आख से ग्रहण की)
एव=ही (जाती है) ।
तत्=उस
वा[7]=तरह
देहे=बुद्धि रूप सूक्ष्म शरीर मे[8]
प्रणवेन=ओकार से
उभय=दोनो प्रकारो का (ब्रह्म)[9]
वै=निश्चय रूप से
(गृह्यते)=(ग्रहण अर्थात् अनुभव किया जा सकता है ।)

१ यद्यपि लकडी के घिसने से ही आग प्रकट होती है, तथापि लकडी को देखने से आग दिखाई नही देती। दियासलाई मे भी सलाई के ऊपर का मसाला और डिब्बी के ऊपर का मसाला एक ही होता है। उनमे आग दिखाई नही देती। परन्तु घिसने पर आग प्रकट हो जाती है, इससे सिद्ध होता है कि रगडने से पहले भी बीज

रूप से आग मौजूद थी। यदि वहा अग्नि न होती और प्रकट हो जाती तो पानी के घिसने से भी आग का प्राकट्य हो जाता। अत मनुष्य सूखी पीपल इत्यादि की लकडी अथवा दियासलाई इत्यादि का ही घिसता है, चाहे जिस चीज को नही। यदि कहा जाय कि वहा अग्नि छिपी हुई नही है परन्तु घिसने पर उसमे अग्नि पैदा करने की शक्ति है तो भी शक्ति सम्बन्ध से वहा आग को मानना ही पडेगा। प्रलयादि मे कारण मात्र रूप से काय की सिद्धि सैकडो श्रुतियो के द्वारा प्रतिपादित है।

२ जलाने और रोशनी करने की क्षमता को ही अग्नि की शकल कहा जाता है।

३ विमत काष्ठ वह्निमत् उपायलब्धवह्नित्वात् महानसवत्।

४ यद्यपि आग सर्वव्यापक है फिर भी अन्य पदार्थो मे स्वत विना कही अन्यत्र से अग्नि लाये प्रकट नही की जा सकती। अरणि, दियासलाई, स्फुरातु (Phosphorus) आदि मे उसको स्वत प्रकट किया जा सकता है, इसी लिये वहा बीज माना गया। इसी प्रकार आत्मा सर्वव्यापक होने पर भी बुद्धि मे ही प्रकट होती है। यह बात दूसरी है कि प्रबल दावाग्नि रूप से प्रकट अग्नि जिस प्रकार सभी पदार्थो को अग्नि रूप बना देती है उसी प्रकार बुद्धि मे प्रबल दृढतर ज्ञान उत्पन्न होने पर सभी चराचर जगत् ब्रह्मरूप बन जाता है। सामान्यत अरणि इत्यादि मे लकडी विद्यमान अग्नि को भी तिरस्कृत करके रखती है अत उसकी प्रतीति नही होती। इसी प्रकार सामान्य बुद्धि मे कार्य-करण सघात के धर्म चेतन तत्त्व को तिरस्कृत करके रखते हैं। अत परमात्मा की प्रतीति नही होती।

५ लकडी मे दबी हुई बीजावस्था मे विद्यमान अग्नि ही 'फिरसे' प्रकट होती है, नयी अग्नि कही से आती नही। यद्यपि आँख या त्वचा से अग्नि का ग्रहण नही हो सकता पर बार बार घर्षण रूपी उपाय

से वह प्रकट होती है। यह बार वार उपाय करना भी 'फिरने' से ग्रहण कर लेना चाहिये।

६ जैसे पहले तिरस्कृत अग्नि धूम, उष्णादि लिङ्गो से प्रतीत होकर फिर चिन्गारी इत्यादि का प्रकट रूप लेती है उसी प्रकार पहले उपाधिवाले रूपो मे साक्षी इत्यादि रूपो मे प्रकट होकर अन्त में अपरोक्ष आनन्द घन रूप से प्रतीत होती है।

७ तद्वोभयम् इत्यत्र तद्वा उभय इतिच्छेदे इवार्थो वाशब्द । तद्व उभय इतिच्छेदे वस्य वदित्यर्थ । तद्वत् उभयम् इत्यभिप्रायस्तु न भिद्यते। **नारायणेन तु तद्वोभयम् इति पाठ स्वीकृत ।**

८ शरीर मे हृदय कमल के मध्य ही ध्यान करने से आत्मा की उपलब्धि होती है। यही बुद्धि का सामान्यत निवास स्थल है। परमात्मा परम प्रेम स्वरूप है । जब सामान्य प्रेम का अनुभव भी हृदय मे ही होता है तो परम प्रेम का अनुभव तो यहा होना ही है। समष्टि व्यष्टि रूप सभी कार्य-कारणो मे निरतिशय आनन्द रूप हृदय मे ही बीज रूप से छिपा हुआ बैठा है। ओकार परमात्मा का प्रियतम नाम है। अत उसको हृदय मे लाने पर और बार बार ध्यान रूपी मथन करने से शिव का वास्तविक स्वरूप अभिव्यक्त हो जाता है। यह विद्वानो का अनुभव ही सिद्ध करता है कि जलाये जाने योग्य माया और उसके कार्य से तिरस्कृत होने पर भी चिन्सुख शिव वहा विद्यमान है। आत्मा मे साक्षित्व, नित्यत्व, प्रेमास्पदत्वादि चिह्न तो धुये इत्यादि की तरह सम्यक् ज्ञान से पहले हो खिल जाते है। अन्त मे ब्रह्मात्मैकत्व ज्ञान से माया के जल जाने पर इस कार्य-करण सघात मे ही शिव तत्त्व की अभिव्यक्ति हो जाती है, जिसका ताप अमानित्वादि रूप से सबको मिलता है। इस प्रकार निरतिशय आनन्द का कारण होने पर भी क्यो नही स्फुट होता, यह बता दिया।

९ ओकार को श्रुतियों मे पर और अपर दोनो की प्राप्ति का साधन बताया है। ध्यान के द्वारा अपर ब्रह्म अर्थात् माया-शबल ब्रह्म की प्राप्ति और अकार, उकार, मकार, के विचार से शुद्ध ब्रह्म की प्राप्ति। इस विषय मे प्रश्न, माण्डूक्य, छान्दोग्य आदि उपनिषदे द्रष्टव्य है।

१० इन्धनं योनिरस्येति इन्धनयोनि। इन्धनयोनिश्च असौ गृह्यश्चेति यावत्।

१४

ब्रह्म-ज्ञान से मोक्ष होता है यह बताया गया। अब उस ब्रह्म-ज्ञान की प्राप्ति के उपाय का परिचय देते है —

स्वदेहम् अरणिम् कृत्वा प्रणवम् च उत्तरारणिम्।
ध्याननिर्मथनाभ्यासात् देवं पश्येत् निगूढवत्॥

स्वदेहम्=अपने शरीर को[१]
अरणिम्=नीचे की अरणि बना कर
च=और
प्रणवम्=ओकार को
उत्तरारणिम्=ऊपर की अरणि
कृत्वा=बनाकर
ध्याननिर्मथनाभ्यासात्=ध्यान रूपी निरन्तर घुमाने के अभ्याससे[२]
निगूढवत्=अत्यन्त छिपे हुए[३]
देवं=परमात्म देव को[४]
पश्येत्=देखे[५]।

१ यहा देह से उपलक्षित हृदय कमल को ही समझना चाहिये। अथवा षट्चक्रो को क्रम से भेदन करके ऊपर ले जाना पडता है। अत देह शब्द से सभी चक्रो का ग्रहण कर लेना चाहिये। ज्ञान से पहले शिव के तिरस्कार का प्रधान कारण देह ही है। इसलिये अविद्या काल मे देह की प्रधानता स्पष्ट है। साधन काल मे साधन देह मे ही सभव है। एव ज्ञान भी देह मे ही प्रकट होता है। इस

प्रकार देह को अरणि की तरह परम पवित्र मानना चाहिये। जैसे सूखी अरणि मे ही अग्नि प्रकट होती है वैसे ही पूर्ण स्वस्थ प्रसन्न एव शान्त देह मे ही ज्ञानोत्पत्ति सभव है। **देहो देवालय प्रोक्त** इत्यादि स्मृतिया भी इसमे प्रमाण है। शरीर को अधरारणि इस लिये कहा कि अग्नि प्रकट होने पर उत्तरारणि हट जाती है एव अवरारणि मे ही रूई इत्यादि के द्वारा हवा इत्यादि करके अग्नि को तेज किया जाता है। इसी प्रकार ज्ञानाग्नि के प्रकट हो जाने पर ओकार की आवश्यकना नही रह जाती परन्तु हृदय मे उस अग्नि का सवर्धन प्रयत्न पूर्वक करना पडता है, जिसके प्रधान साधन **अद्वेष्टा सर्वभूतानाम्** इत्यादि बताये गये हैं। इस प्रकार आत्मा की अभिव्यक्ति का स्थान अधरारणि देह है एव अभिव्यक्ति का उत्कृष्ट अन्तरग साधन प्रणव का निदिध्यासन है। इसीलिये उसे उत्तरारणि कहेंगे।

प्रणव-चिन्तन का आधार होने से भी इसे अधरारणि कहा गया है। तात्पर्य है कि जो देह अध्यात्म तत्त्व का आच्छादक है उसे हो उसके प्रकट करने का आधार ओकार बना देता है।

२ यहा वाच्य रूप से प्रणव का ध्यान परब्रह्म की प्राप्ति का साधन है, एव आलम्बन रूप से अपर ब्रह्म का। ओकार को ज्ञान के कारण रूप से स्वीकार करना ही निदिध्यासन का आधार है। बार बार इसको प्रेम पूर्वक हृदय मे लाना ही निर्मथन है। जब तक साक्षात्कार न हो जाय तब तक करते रहना ही अभ्यास है।

३ जैसे बाप द्वारा सञ्चित महानिधि गडी होने के कारण अज्ञात रहकर अपनी होने पर भी सुख नही देती, परन्तु किसी कारुणिक के बता देने पर दीर्घ व घोर दारिद्र्य को नष्ट कर देती है वैसे ही वेद द्वारा प्रदत्त आत्मज्ञान सारे दुखो को नष्ट कर देता है। वेद के बताने पर अपना ही गुह्य आत्मतत्त्व मिलकर अनन्त सुख की प्राप्ति करा देता है।

४ द्योतन स्वभाव वाले स्वय प्रकाश आत्मरूप अथवा ध्यान द्वारा ज्योति रूप को।

५. अपरोक्ष साक्षात्कार करना चाहिये।

१५

ध्यान की विशेषता को बतलाने वाले अनेक दृष्टान्तो से यह बताते है कि मौजूद होने पर भी छिपी हुई चीज को प्रकट करने के समझ म न आने लायक एव उपदेशमात्र से प्राप्त उपायो द्वारा प्रकटन होता है —

तिलेषु तैलं दधिनि इव सर्पिः आपः स्रोतःसु अरणीषु च अग्निः। एवम् आत्मा आत्मनि गृह्यते असौ सत्येन एनं तपसा यः अनुपश्यति ॥

तिलेषु=तिलो मे	**आत्मनि**=बुद्धि मे
तैलम्=तेल,[1]	**असौ**=यह[५]
दधिनि=दही मे	**आत्मा**=आत्मा (है)।
सर्पिः=घी,[२]	**य**=जो
स्रोतःसु=स्रोतो मे	**एनं**=इस (आत्मा) को
आपः=जल,[३]	**सत्येन**=सत्य रूपी साधन (व)
च=और	**तपसा**=तप रूपी साधन से[७]
अरणीषु=अरणियो मे	**अनुपश्यति**=देखता है[८]
अग्नि=आग की[४]	(**तेन**)=(उसके द्वारा ही)
इव=तरह	**गृह्यते**=साक्षात्कार किया जाता है।
एवम्=इसी प्रकार	

१ शिव दर्शन प्रत्यगात्म रूप से ही होता है, परोक्ष रूप से या तटस्थ रूप से नही होता इसमे यह दृष्टान्त है। तिलो को घानी मे पेर कर उनमे व्याप्त, पर खली से तिरस्कृत किये हुए, तेल का प्रत्यक्ष

दर्शन होता है। यह पेरने की क्रिया किसी भी तर्क से नही समझी जा सकती केवल गुरु परम्परा से ही प्राप्त होती है। इसी प्रकार आत्म विषयक साधन मे भी समझना चाहिये। किञ्च जिस प्रकार तिलो को भार से दबाकर पेरा जाता है उसी प्रकार धर्म के भार से कार्य करण सघात को दबाकर आसुरी प्रवृत्तिया रूपी खली को दूर कर आत्मा का दैवभाव प्रकट हो जाता है। ब्रह्म का सत् रूप यहा प्रकट होकर असत्त्वापादक आवरण भग हो जाता है। आसुरी प्रकृति वालो को शिव है, यही दृढ निश्चय नही हो पाता। असत्वापादक आवरण की निवृत्ति का उपाय धर्म ही है, यह केवल उपदेश से जाना जा सकता है तर्क के द्वारा नही।

२ दही को मथने से उत्पन्न मक्खन की तरह योग से मूलाधार से सहस्रार पर्यन्त योगाभ्यास से जो ओज या शक्ति विशेष उत्पन्न होती है उसको लेना चाहिये। जैसे मक्खन ऊपर चला जाता है वैसे ही ओज शक्ति ऊपर चली जाती है जिससे मनुष्य ऊर्ध्वलिङ्ग बन जाता है। इस प्रकार यहा योगाभ्यास इष्ट है। इससे ब्रह्म की चिद्-रूपता का ज्ञान होकर अचित्त्वापादक आवरण निवृत्त हो जाता है। जैसे मक्खन को आग पर गरम करने से सुगन्धि रूप से घी प्रकट हो जाता है वैसे ही यहा योगी जब वेदान्त विचार रूपी अग्नि से अपनी ओजस् शक्ति को गरम करता है तभी परम पुरुषार्थ रूप से 'मै ब्रह्म हूँ' इस प्रकार से निर्गुण ब्रह्म अभिव्यक्त होता है। मक्खन सगुण ब्रह्म की जगह पर है एव घी निर्गुण ब्रह्म की जगह पर। सम्भवत· इसी लिये सगुण ब्रह्म रूप श्रीकृष्ण को मक्खन चढाया जाता है, एव निर्गुण ब्रह्म रूप केदार को घी चढाया जाता है।

३ पहाडो मे पत्थर को फोड कर स्रोत मे से स्वतः पानी निकलता है। इसी प्रकार शिव कभी कभी हमारे पत्थर जैसे कठोर हृदयो को फोड कर भी सहज करुणा से प्रकट हो जाते हैं, एव

ससार ताप को उपशान्त कर देते है। इस प्रकार यहा अनुग्रह भक्ति का ग्रहण किया जा सकता है। परन्तु जैसे स्रोत के पास जाने वाले को ही यह जल मिलता है उसी प्रकार सब उपायो को छोड कर शिव का अवलम्बन करने वाले को ही इसकी प्राप्ति होती है।

अथवा जिस प्रकार निष्कारण ही स्रोतो से जल निकलता है उसी प्रकार जीवन्मुक्त महापुरुष जो शिव रूप है उनके हृदय से एव देहादि सघात से शिव-करुणा का प्रवाह निरन्तर बहता रहता है। जो प्रेम पूर्वक उनके पास जाकर उनकी सेवा करते है उनके ससार-ताप शान्त हो जाते है।

अथवा सूखी नदी या जमीन मे खोदने पर जल मिलता है जो ताप को शान्त करता है। इसी प्रकार भक्ति के द्वारा अन्य सारे सासारिक प्रेमो एव कामनाओ को खोद करके अलग करने से परमात्म प्रेम प्रकट हो जाता है। आत्मा की परम प्रेमास्पदीयता का अनुभव होने से 'मैं ही चिदानन्द रूप हू' के निरन्तर अनुभव से अनानन्दापादक आवरण दूर हो जाता है। इस प्रकार शिव भक्ति से आनन्द भाव प्रकट होता है। लेकिन यहा द्वैत भक्ति न समझकर अद्वैत भक्ति समझनी चाहिये।

४ उपर्युक्त तीनो दृष्टान्तो मे तेल, घी और जल अपने आवरण को सर्वथा नष्ट नही करते। क्या इसी प्रकार आत्मा भी अनात्मा को नष्ट नही करता। इसका जवाब देने के लिये यह अन्तिम दृष्टान्त है। अरणि मे जो आग पैदा होती है वह अपने आच्छादक हिस्से को जलाती हुई ही पैदा होती है। अर्थात् आच्छादक अश का नष्ट होना और अग्नि का पैदा होना युगपत् होता है। इसी प्रकार वेदान्त श्रवण के द्वारा जो ज्ञानाग्नि उत्पन्न होती है वह माया के किसी अश को जलाते हुए ही उत्पन्न होती है। अनात्मा का नाश और आत्मा का आविर्भाव युगपत् ही होता है। जैसे अरणियो मे एक

बार उत्पन्न हुई आग धीरे धीरे सारी अरणि को जलाने मे समर्थ होती है एव दूसरी लकडी को भी सम्पर्क मे आने से जला देती है उसी प्रकार हृदय मे उत्पन्न हुई ज्ञानाग्नि धीरे धीरे दृढतर होते हुए अविद्या और उसके समग्र कार्यो को नष्ट कर देती है तथा अन्य साधको के अज्ञान को भी नष्ट करने मे समर्थ होती है । इस प्रकार ज्ञान की पूर्णता सान्तापादक आवरण को भग करके आत्मा की अनन्त रूपता का आविर्भाव कर देती है ।

५ 'मै' इस बुद्धि का साक्षी ।

६ सत्य वचन या **सत्यं भूतहितं प्रोक्त** इस व्यासोक्ति मे सब प्राणियो का हितकारी शब्द अर्थात् वेद के बार बार श्रवण करने से अथवा सत्य शब्द से उपलक्षित यमो के अभ्यास से । वस्तुतस्तु सत्य शब्द का मुख्यार्थ ब्रह्म होने से बार बार ब्रह्माकार वृत्ति ही यहा ग्राह्य है ।

७ स्वधर्म को पालन करते हुए जो कष्ट उठाने पडते हैं वह तप कहा जाता है । मन और इन्द्रियो की एकाग्रता ही तप कही जाती है । कुछ लोग कृच्छ्र चान्द्रायणादि को भी तप कहते हैं । वस्तुतस्तु अनात्म पदार्थों का ज्ञान से बाध रूपी जलाना ही वास्तविक तप यहा ग्राह्य है ।

८ ब्रह्म वस्तुत किसी भी ज्ञान का विषय नही हो सकता । अत तत् त्व पदार्थ के शोधन का अनुसरण करके कार्य-करण उपाधि मे ब्रह्म ही अपने आप को उपहित रूपसे जानता है । इस प्रकार प्रमेय ब्रह्म और ज्ञाता ब्रह्म मे कोई भेद नही है । ब्रह्म स्वय को स्वय के द्वारा ही जानता है । **ब्रह्म वा इदमग्र आसीत् तद् आत्मानम् एव अवेत्** इत्यादि यजुर्वेद इसमे प्रमाण है ।

१६

शिव को सावन साध्य-सावकादि सबका मूल बतलाते है —

सर्व-व्यापिनम् आत्मानं क्षीरैः सर्पिः इव अर्पितम् ।
आत्म-विद्या-तपोमूलं तद् ब्रह्म उपनिषत् परम् ॥
तद् ब्रह्म उपनिषत् परम् इति ॥

क्षीरे=दूध मे
सर्पि=घी की
इव=तरह
अर्पितम्=एक हुआ हुआ ।[१]
सर्वव्यापिनम्=सर्वव्यापी[२]
आत्मान=आत्मा[३]
आत्मविद्यातपोमूलम्=आत्म-ज्ञान और तपस्या के मूल[४]
तद्= उस[५]
परम्[६]=परम[७]
उपनिषद्=उपनिषद्[८]
ब्रह्म=ब्रह्म को (जानो)।
तद्ब्रह्मोपनिषत्परम् इति ।[९]

१. जैसे दूध मे घी ऐसा एक होकर रहता है कि अलग प्रतीत नही होता उसी प्रकार ब्रह्म की सत्ता जगत् से एव चित्ता शरीर और मन से ऐसी एक होकर रहती है कि अलग प्रतीत नही होती । किञ्च जिस प्रकार उपाय विशेष से दूध से घी निकल आता है उसी प्रकार जगत् और जीव मे से ब्रह्म ज्ञान उत्पन्न होता है । जैसे घी दूध का सार है वैसे ही ब्रह्म जीव और जगत् का सार है । दूध के कण कण मे जैसे घी है वैसे ही जीव और जगत् के कण कण मे ब्रह्म है । दूध का आत्मा घी ही है । अत सार रूप घी के निकल जाने से दूध की कोई कीमत नही रह जाती । उसी तरह ब्रह्म से भिन्न हुआ जगत् मिथ्या रह जाता है ।

२. आकाशादि समस्त भौतिक, विष्णु इन्द्रादि समस्त दैवी प्रपञ्च, निरुपचरित रूप से यहा सग्राह्य है । ब्रह्म इन सबका व्यापक है अर्थात् इन सबसे बडा है । यद्यपि इसकी उपलब्धि देहेन्द्रियादि

सघात मे होने से यह सन्देह हो सकता है कि यह केवल अध्यात्म मे व्याप्त है परन्तु सव व्यापी शब्द का प्रयोग करके इस शका कुश का उखाड डाला ह ।

३ 'मै' इस ज्ञान का साक्षी स्वय प्रकाश चिद्रूप ही अन्तर और बहि जगत् का आत्मा अर्थात् स्वरूप हूँ। इस साक्षी के विना सभी कुछ स्वरूप रहित अर्थात् शून्य हो जायेगा। यही जैसे घी दूध को अर्थवान् बनाता है, वैसे सब पदार्थों को अर्थक्रियाकारी बनाता है।

४ शिव ही आत्म विद्या का मूल है। **ज्ञानमिच्छेत् महेश्वरात्, ईशान सर्वविद्याना** इत्यादि इसमे प्रमाण है। समग्र विद्याओ का प्रारम्भ परमेश्वर ही करते है। एव दक्षिणामूर्ति रूप से आत्म ज्ञान की परम्परा का भी वही प्रारम्भ करते है। इसी प्रकार वेद विद्या का प्रारम्भ करके विचार रूपी तपस्या का भी मूल वही है। **तपसा ब्रह्म विजिज्ञासस्व** इत्यादि यजुर्वेद की श्रुतिया इस मे प्रमाण है।

आत्मा को सगुण ब्रह्म मानने से सगुण ब्रह्म ही सारी सगुण विद्याओ का विषय होकर के मूल है। एव मन को उसी मे एकाग्र किया जाता है। इसलिये तप का भी वही मूल ह। वर्णाश्रमाचार का भी वही प्रवर्तक होने से मूल है। इस पक्ष मे प्रवृत्ति धर्मों को विद्या और निवृत्ति धर्मो को तप समझना चाहिये।

ज्ञान का तो आश्रय और विषय दोनो ही ब्रह्म ह। श्रवण मननादि का भी वही विषय है। बाध का भी अधिष्ठान रूप से वही मूल है इस प्रकार आत्मविद्या तपो मूल शिव है यह सुस्पष्ट है।

अथवा आत्मविद्या और तप जिसके मूल अर्थात् प्रकट करने वाले है वह ब्रह्म ह। अर्थात् इनके विना सर्वव्यापक होने पर भी ब्रह्म प्रकट नही हाता।

५ सत्यज्ञानादि लक्षण वाला सर्वत्र प्रसिद्ध होने से 'वह' कहा जाता है। तत् शब्द ब्रह्म के अर्थ मे प्रसिद्ध भी है। सर्वनाम के द्वारा उसकी अद्वितीयता को भी प्रकट किया गया हे।

६ **पदम् इत्यपि पाठ** ।

७ निरतिशय आनन्द रूप से आविर्भूत होने के कारण उसको परम कहा गया।

८. जिसमे कल्याण बैठा हो उसे उपनिषद् कहते है। **उपनिषण्णम् अस्या श्रेय इति** यह तैत्तिरीय भाष्य इसमे प्रमाण है। अथवा जो ससार बन्धन को शिथिल करे, ज्ञान की तरफ गति करावे, एव ससार का आत्यन्तिक नाश करावे, वह उपनिषद् है। यह षद्लृ धातु के तीनो अर्थो से सिद्ध होता है। सगुण ब्रह्म पक्ष मे भी यह तीनो अर्थ सगत हो जाते हैं। अथवा उप अर्थात् समीप, आत्मा के सबसे अधिक समीप (निषण्णम्) बैठी हुई अविद्या ही है। परन्तु उससे भी समीप जो अपना स्वरूप है उसका ज्ञान कराने के कारण इसे उपनिषद् कहा गया। स्वरूप से अधिक समीप तो और कुछ हो ही नही सकता। एव स्वरूप ही वास्तविक एकान्त होने से शिवात्मैक्य का ज्ञान रहस्य कहा जाय यह ठीक ही है। रहस्य भी उपनिषद् का एक अर्थ होता है।

इस प्रकार उपनिषद का अर्थ ब्रह्मज्ञान सिद्ध होता है। ब्रह्म-ज्ञान ब्रह्मरूप ही होता है यह पहले बता आये है। लोक मे जो उपनिषद् कर के प्रसिद्ध हैं वे ग्रन्थ राशि तो ब्रह्म ज्ञान के साधन होने से साधन और साध्य की एकता मान कर उपनिषद् कहे जाते है।

'उपनिषत् पदं' पाठान्तर मे तो उपनिषद् अर्थात् ब्रह्मज्ञान का पद अर्थात् विषय ब्रह्म है यह अर्थ सुस्पष्ट ही है।

६ यद्यपि इस प्रकार की द्विरुक्ति शास्त्र समाप्ति मे हुआ करती है फिर भी इस प्रथमाध्याय के अन्त मे द्विरुक्ति यह सूचन करने के लिये है कि प्रथम अध्याय सूत्र है एव आगे के पाच अध्याय वार्तिक है। अनक कारणवादों को उपस्थित करके उनके निरसन के द्वारा परमात्म तत्त्व को बुद्धि के पार बता कर आत्म शक्ति के निरूपण

से प्रारम्भ करके ध्यान के लिये ब्रह्म चक्र और ब्रह्म प्रवाह का वर्णन एव जीव, माया, जगत्, ईश्वर के भेदो का वर्णन करते हुए उन सब को ब्रह्म से अभिन्न बता कर भेददर्शन से ससार एव अभेद दर्शन से मोक्ष की प्राप्ति बताते हुए प्रणव के द्वारा साधन निरूपण कर सत्य और तप की अगरूपता बतलाते हुए ब्रह्म का स्वरूप निर्धारण प्रथम अध्याय मे करके सक्षेप मे समग्र ज्ञातव्य विषयो का निरूपण यहा कर दिया गया। इससे अधिक उत्तम अधिकारो के लिये और कुछ आवश्यक नही है। अवशिष्ट पञ्चाध्यायी मध्यम अधिकारी को कुछ अधिक योग, ध्यान, सगुण ब्रह्म माया, विश्वरूप आदि का वर्णन करके सम्प्रदाय परम्परा बतलाना है। अत अग्रिम पञ्चाध्यायी वार्तिक-स्थानीय है।

इति प्रथमोऽध्यायः

———

अथ द्वितीयोऽध्यायः

प्रथम अध्याय मे बताये हुए ध्यान योग का निरूपण करने के लिये यह अध्याय प्रारम्भ होता है। बहिर्मुख व्यक्ति को ब्रह्म ज्ञान और प्रणवध्यानादि वैसे ही व्यर्थ हो जाते है जैसे हाथी का नहलाना। क्योकि जैसे हाथी नहाकर बाहर निकलते ही पुन अपने ऊपर धूल फैंक लेता है उसी प्रकार वेदान्त श्रवणादि करके ऐसे लोग पुन अपने को कामनाओ से ग्रस्त कर लेते है। अत उसके अपेक्षित साधनो का विधान करना सर्व प्रथम आवश्यक होने से उसी को प्रारभ करते है :—

१

युञ्जानः प्रथमं मनः तत्त्वाय सविता धियः।
अग्नेः ज्योतिः निचाय्य पृथिव्या अधि आभरत् ॥

सविता=उत्पन्न करने वाले ने[१]
प्रथम=पहले[२]
मनः=मन[३] (और)
धिय=बुद्धि को[४]
तत्त्वाय=परमात्मा के लिये[५]
युञ्जान=जोतते हुए,[६]
अग्ने=अग्नि की[७]
ज्योति[८]=ज्योतिका
निचाय्य=निश्चय करके[९]
पृथिव्या=सारे ससार का[१०]
अधि=पूरी तरह से
आभरत्[११]=भरण पोषण किया[१२]।

१ सू धातु का अर्थ पैदा करना है। साधक चूकि आत्मज्ञान को मानो अपने हृदय रूपी गर्भ से निकाल कर बाहर प्रकट कर देता है इस लिये उसे सविता कहा जाता है। सविता का सूर्य अर्थ प्रसिद्ध ह। जैसे सूर्य अन्धकार को नष्ट करता है वैसे ही साधक अज्ञान को नष्ट करता है। जैसे सूर्य स्वय गतिहीन होने पर भी भूभ्रमण होने

के कारण उदयास्त वाला दीखता है एव जो भू-भाग सामने आता है वहा के अन्धकार को नष्ट करता है, इसी प्रकार प्रत्यगात्म रूप साधक स्वरूप से गतिहीन होने पर भी मन की साधनाओ मे भावना करता हुआ प्रतीत होता है। मन की जो भी वृत्ति उसके सामने आजाती है उसका वह प्रकाश कर देता है।

सविता का दूसरा अर्थ जगत् को उत्पन्न करने वाला परमेश्वर भी लिया जा सकता है। शिवाद्वय सिद्धान्त मे ईश्वर और जीव का भेद स्वीकृत न होने के कारण **ब्रह्मैव ससरति मुच्यते च** इस न्याय से परमेश्वर ही बद्ध, साधक, मुमुक्षु और मुक्त रूप से प्रतीत होता है। ईश्वर ही समग्र साधना करा रहा है इस प्रकार की भावना अह कार को दूर रखती है। अत यहा सविता से अन्तर्यामी रूप परमेश्वर का ग्रहण भी ठीक ही है।

अधिदैव सूर्य ही हम चाक्षुष-प्रधान प्राणियो के लिये नियामक है अत अन्तर्यामी के लिये सविता पद का प्रयोग इस दृष्टि से भी ठीक ही है। वैसे यहा सविता का मतलब जगत्-प्रसविता भी लिया जा सकता है। एव काण्व सहिता मे तथा महाब्राह्मण मे इसका अर्थ प्रजापति भी लिया गया है। उस पक्ष मे इस मन्त्र से सृष्टि प्रक्रिया का प्रतिपादन है। वह भी यहा सग्राह्य है। वस्तुतस्तु अध्यात्म-साधक, अधिदैव सूर्य, अन्तर्यामी, प्रजापति, एव महेश्वर सबकी एकता प्रतिपादन करने वाला सविता शब्द यहां महावाक्यो की तरह जगत्-जीवेश्वर भेदो को निवृत्त करने के लिये है।

२ यहाँ प्रथम शब्द प्रधान अर्थ मे भी है अर्थात् यह मुख्य साधन है यह अभिप्राय है। चित्तशुद्धि के अनन्तर ईश्वर की ओर रुझान होने के बाद यह पहला साधन है। इसके विना अन्य साधन निष्फल हैं। जिसकी निवृत्ति-साधना मे प्रवृत्ति हो वह इन साधनो को सबसे पहले करे क्यो कि यही मुख्य आधार शिला है।

३ मनन करना मन का काम है। अर्थात् तर्क मीमासादि के द्वारा अपने मन को शुद्ध करना चाहिये। तभी मन मनन के योग्य बनता है। जो मनन करने मे असमर्थ है वह वेदान्त का तात्पर्य ग्रहण नही कर सकता। एव कराया हुआ श्रवण भी व्यर्थ हो जाता है। मनन सहकृत श्रवण ही अप्रतिबद्ध आत्म-ज्ञान का कारण सर्वज्ञ शकर एव सुरेश्वर ने स्वीकार किया है।

अथवा **मनसो मनः** के द्वारा कहा हुआ मन का भी मन अर्थात् मन साक्षी यहा ग्राह्य है। इस मन साक्षी को न समझने से नपुसक का बाझ से विवाह होकर पुत्र प्राप्ति की तरह सम्बन्ध हो जाता है। वस्तुत यही आत्मा की काय-करण सघात की प्रवृत्ति कराने का मूल केन्द्र है जो ज्ञान, क्रिया, इच्छा सभी को स्फुट करता है। इसी को अन्तःकरण भी कहते है।

अत्यन्त मस्त हाथी की तरह इन्द्रिय और प्राणो का नियन्त्रण मन के अकुश के विना व्यर्थ हो जाता है। यद्यपि योग-शास्त्रो मे प्रत्याहार के द्वारा इन्द्रिय एव प्राणायाम के द्वारा प्राण निरोध का प्रतिपादन है परन्तु वे जड समाधि के साधन होने पर भी ज्ञान-मार्ग मे नितान्त व्यर्थ है। वस्तुत सारे अनर्थो का मूल मन ही है अत मन के नियन्त्रण का अर्थात् परमात्म-ध्यान मे लगाने का साधन यहा बतलाया। मुख्य रूप से मनन के द्वारा तत्त्वमस्यादि महावाक्यो का तात्पर्य निर्णय करके असभावना दोष का निराकरण करना ही मन को परमात्मा के लिये जोतना है। गौण रूप से ओकार या अह के आलम्बन मे मायाविशिष्ट चेतन का ध्यान भी मन को ईश्वर मे लगाना है। अत्यन्त नौसिखिये के लिये तो उपनिषदो का श्रवण ही मन को ईश्वर मे लगाना है।

प्रजापति समष्टि रूप लिङ्गशरीर का निर्माण करता है अर्थात् समष्टि रूप लिङ्ग को व्यवहार के लिये जोतता है, यह भी तात्पर्य है।

यहा मन का अर्थ समष्टि मन या आद्य मन लेना चाहिये। अथवा महेश्वर प्रत्येक प्राणी को तत् तत् सस्कारो द्वारा मन मे प्रेरणा देकर कर्म मे प्रयुक्त करता है। अधिदैव सविता अपने मन की सिद्धि क लिये सकल्प-विकल्प का कर्ता बनकर समष्टि भाव से मनोरूप हिरण्य-गर्भ जगत् कल्पक को उत्पन्न करता है। **मनो वै सविता** इत्यादि श्रुति इसमे प्रमाण है।

अथवा समाधि के अभ्यास को प्रारम्भ करने के पहले अर्थात् षट्चक्र भेदन के पूव हृदय कमल मे अध्यात्मादि भेद भिन्न प्रपञ्च-प्रसव गुण युक्त शक्ति सहित शिव का आधान पहले सिद्ध कर लेना चाहिये। **हृत्पुण्डरीक विरज** इत्यादि श्रुतिया इसमे प्रमाण है। ज्ञान मे प्रवृत्त साधक का मन इससे इह लोक और परलोक के समग्र विषयो से हट जाता है एव हृदय मे आनन्द का अनुभव करने लगता है। इससे आगे का साधना सुकर हो जाती है।

४ निदिध्यासन के लिये बुद्धि को परमात्मा मे लगा कर विपरीत भावना की निवृत्ति करना ही बुद्धि को तत्त्व मे लगाना है। श्रद्धा, ऋत, सत्य, योग यही बुद्धि के साधन है। इनके द्वारा बुद्धि शुद्ध होने पर ही विज्ञान के योग्य बनती है। यही बुद्धि को तत्त्व मे लगाना है। जो विज्ञान करने मे असमर्थ है उसको मनन द्वारा नि सशय ज्ञान होने पर भी विपरोत भावना रूपी प्रतिबन्धक से ब्रह्म-निष्ठा प्राप्त नही होती। निदिध्यासन-सहकृत श्रवण ही आत्म-ज्ञान को अप्रतिबद्ध करता है। यद्यपि भगवान् वार्तिक-कारो ने निदिध्यासन को विज्ञान से अभिन्न माना है तथापि उन्होने भी प्रकरणान्तर मे ध्यान को सहकारी कारण स्वीकृत कर लिया है। जो लोग श्रवण के बाद ज्ञानानन्तर ध्यान को आवश्यक मानना चाहते हैं उनका मुख-मर्दन करने के लिये ही भगवान् वार्तिककारो ने वार्तिकामृत मे निदिध्यासन और विज्ञान को एकार्थक प्रतिपादित किया है। ज्ञान

के अनन्तर ध्यानादि की आवश्यकता तो किसी भी केवलाद्वैती को स्वीकृत नही हो सकती । प्रकृत श्रुति मे तो स्पष्ट ही मनन निदिध्यासन के बाद निचाय्य के द्वारा श्रवण कहा गया है ।

बुद्धि मे यहा अहकार का भी ग्रहण है । अर्थात् अहकार के साक्षी रूप से तत्त्व को समझना चाहिये । मनके सस्कारो का प्रवर्तन अन्तर्यामी अहकार के माध्यम से ही करते है । अत इस केन्द्र का नियन्त्रण होने पर सभी प्रवृत्तियो का नियन्त्रण सहज हो जाता है ।

अह के द्वारा ही इच्छा शक्ति का प्रवाह होता है । अत इच्छाओ के प्रवाह को सभी लोग अपना ही प्रवाह मानते है । सभी साधनाओ मे इच्छा का नियन्त्रण प्रधान है । भक्ति का तो मूल ही ईश्वर को अपना सब कुछ अर्पण करना रूपी इच्छा त्याग ही स्वरूप है ।

मन पर बुद्धि का नियन्त्रण ही बुद्धि को मन से जोडना है । **प्राणा वै धिय** इस यजुर्वेद की श्रुति के आधार पर मन को प्राणो से चलने वाले साऽह जप के साथ लगा देना भी यहा ग्राह्य है। अथवा जिस प्रकार मन की वृतियो का साक्षी माना है उसी प्रकार प्राण के आवागमन का ज्ञान दृष्टि से देखते रहना भी बुद्धि-शुद्धि का एक साधन है । सहस्रार बुद्धि का कार्य-स्थान है । अत सहस्रार मे हृदय देश से मन को उठाकर स्थित करना मन और बुद्धि को जोत देना है । कुछ योगी तो सहस्रार मे शिव-चालन को भी यहा ग्रहण कर लेते है ।

प्रजापति रूप से सविता का ग्रहण करने पर बुद्धि से प्राण अर्थात् कर्मेन्द्रियो की एकता को लेकर समष्टि लिङ्ग दह से कर्मेन्द्रियो की उत्पत्ति को बताया ।

वस्तुतस्तु मन के विक्षेप का कारण जो आसुर वृत्तिया, उनसे हटा कर सात्त्विक वृत्तियो को स्थिर करना इष्ट है ।

५ तत् अर्थात् ईश्वर एव ईश्वर से उपलक्षित चेतन तथा त्व माने जीव और उससे उपलक्षित चेतन, इन दोनो की चेतन रूप

एकता ही तत्त्व का वास्तविक अर्थ है। जिस प्रकार बिम्ब-प्रतिबिम्ब भाव को छोड देने पर ही वास्तविक सूर्य का ज्ञान होता है उसी प्रकार जीव-ईश्वर भाव का परित्याग करने पर ही ब्रह्म-रूप मे स्थिति होती है। यह आत्मा की यथार्थता का अपरोक्ष ही समग्र साधनाओ का उद्देश्य शिव है।

परमेश्वर बुद्धि और मन की सृष्टि के अनन्तर पञ्चतत्त्व अर्थात् आकाश, वायु, तेज, जल और पृथ्वी की सृष्टि करता हे। तात्पर्य है कि पहले समष्टि मन और बुद्धि की सृष्टि इस विराट् रूप को उत्पन्न करने के उद्देश्य से ही की गई। कुछ विचारको के अनुसार तो तत् का अर्थ मन लेकर **तस्य भावस्तत्त्व तस्मै** अर्थात् मन को सृष्टि सकल्प-विकल्प करने के लिये हो की, क्यो कि सकल्प विकल्प ही मन का भाव है।

६ जिस प्रकार गाडी चलाने के लिये दो बैल जोतने पडते हैं इसी प्रकार साधना के लिये मन और बुद्धि दोनो को जोतना आवश्यक है। मनन और निदिध्यासन ही जब श्रवण रूपी गाडी मे जोते जाते है तब तत्त्वनिष्ठा की प्राप्ति होती है।

धात्वर्थ यहा योग अर्थात् समाधि को भी बतलाता है अर्थात् जब साधनो के द्वारा कुण्डलिनी को उठाकर मूलाधार से सहस्रार मे चढा दिया जाता है तभी स्वरूप स्थिति सभव होती है। यहा अन्तर्निहित णिजन्त भी माना जा सकता है। अर्थात् युञ्जान का अर्थ योजयन् हो जायेगा। तात्पर्य है कि जब हम परमेश्वर से प्रेम करते है वह हमारे मन और बुद्धि को जोडकर परमात्मा मे लगा देता है। पातञ्जल सूत्रो मे **ईश्वरप्रणिधानाद्वा** कह कर प्रपत्ति योग का ही प्रतिपादन है।

प्रजापति विराट् की सृष्टि करके कर्म मे अर्थात् जीवो के कर्मफल भोग के अनुसार उन्हे जोड देता है यह भी यहा तात्पर्य है।

७ अग्नि अर्थात् अग्रेसर याने सबसे आगे चलने वाला। **धावतः अन्यान् अत्येति** इत्यादि यजुर्वेद इसमे प्रमाण है। ब्रह्म की ज्योति, अर्थात् ब्रह्म-ज्ञान, उसका निश्चय श्रवण से ही होता है। अत सब ज्ञानो को आगे चलकर के देने वाला वेद अग्नि पद का वाच्य है। वेदो की वास्तविक ज्योति महावाक्य है। षड्विध लिङ्ग तात्पर्य से उनका जीव ब्रह्मैक्य मे निश्चय करना ही श्रवण है। अत यहा वेद-श्रवण भी सग्राह्य है। अग्नि का तात्पर्य शिव भी होता ह। **रुद्रो वै अग्नि** इत्यादि श्रुति इसमे प्रमाण है। उनकी ज्योति अर्थात् शक्ति समग्र वेदो का शक्तिविशिष्ट शिव मे अर्थात् सोपाधिक ब्रह्म मे अन्वय करके निश्चय करना भी यहा समझ लेना चाहिये। अथवा शिव की ज्योति अर्थात् स्वय प्रकाश रूप चिन्मात्र। सर्व जगत् मे सन् चित् रूप से उसको अन्वित देखना भी यहा बताया गया। अथवा अग्नि से यहा सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र, विद्युत् आदि सभी अग्नियो की उपलक्षणा कर लेनी चाहिये। अर्थात् सभी प्रकाशो मे उसका ही प्रकाश है यह निश्चय कर्तव्य है। **ज्योतिषां ज्योति** इत्यादि यजुर्वेद इसमे प्रमाण है। अग्नि से पञ्चमहाभूत भी उपलक्षित हो सकते है। सभी महाभूत उसी के प्रकाश से प्रकाशित होते है ऐसा निश्चय करना चाहिये। **पृथ्वी च म अग्निश्च मे द्यौश्च मे वरुणश्च मे** आदि यजुर्वेद इसमे प्रमाण है। परमेश्वर ही इन सब नाम रूपो को धारण करके हमारे सामने प्रकट न होता तो इन सबमे सत्ता और प्रियता की अनुवृत्ति कैसे होती।

प्रजापति की सृष्टि-प्रक्रिया मे तो अग्नि अर्थात् अपने अन्दर स्थित सर्व-ज्ञान रूपी अग्नि का निश्चय करके ही सृष्टि की गई एव इसी लिये ज्ञान ही सब सृष्टि के पदार्थो मे स्फुट होता रहता है। इस दृष्टि से साधक के लिये अग्नि रूपी अपनी अन्तरात्मा को सर्वशक्तिमान् समझकर वह शक्ति ही मन को मनन की शक्ति देती है, इन्द्रियो को,

प्राणो को अपने २ कर्म की शक्ति देती है, इत्यादि निश्चय करके यह सभी कुछ अपने ही तेज से तेज वाला है ऐसा निश्चय करना चाहिये।

नौसिखिये साधक के लिये तो दीपादि की ज्योति जलाकर उसे ही परमात्मा का प्रतीक मानकर साधन प्रारम्भ करना चाहिये। वैराग्य रूपी तेल से एव भक्ति रूपी बत्ती से वेदज्ञान रूपी पात्र मे ईश्वर-ध्यान रूपी दीपक जला करके हृदय मे भी इस ज्योति का ध्यान किया जा सकता है।

अथवा **आग्नेय कृष्णग्रीव** इत्यादि यजुर्वेद-सिद्ध नीलकण्ठ महादेव का भी ध्यान यहा इष्ट है। **नीलकण्ठ प्रशान्त** इत्यादि वेद इसमे प्रमाण है। नौसिखिये के लिये यह ध्यान बाह्य ही हो सकता है।

वस्तुत मन और धी से युक्त हुआ यह निश्चय ही, अर्थात् मनन निदिध्यासन सहकृत् श्रवण ही ज्ञान के प्रति साक्षात् कारण है। इसी लिये प्रथम दो को तत्त्व के लिये बताकर यहा साक्षात् ही अग्नि की ज्योति को बता दिया। जैसे लोक मे अग्नि लकडी मे विद्यमान होने पर भी ज्योति रूप से प्रकट होने पर ही अन्धकार का नाश एव सर्दी को दूर कर सकती है उसी प्रकार हृदय मे शिव रहते हुए भी श्रवण के द्वारा उत्पन्न ज्ञान से ही अविद्यान्धकार और ससार रोग को नष्ट कर सकते है। जसे दीप, बत्ती, तेल इत्यादि सभी अप्रकाश जाति के है पर अपने से भिन्न प्रकाश जाति को उत्पन्न करते है उसी प्रकार मन आदि सभी जड जाति के होते हुए भी चेतन प्रकाश को उत्पन्न करते है। इसी विलक्षणता के कारण अग्नि शब्द को वेदो मे प्राय परब्रह्म परमात्मा का प्रतीक शब्द रूप मे और ध्येय रूप मे भी माना है।

८ **शकरानन्दस्तु अग्नि ज्योतिरिति पठति**। तत्र तु अग्निरूपेण ज्योतिरूपेण च ब्रह्म एव इति निश्चेतव्यम्। अग्निरिति सोपाधिक ब्रह्म ज्योतिरिति निरुपाधिकम्। **द्विविधो हि ब्रह्मणो** रूपमित्यादि भाष्यप्रतिपादितत्वात्।

९ प्रमाणगत सशय की निवृत्ति ही यहा इष्ट है सत्यतत्त्व मे प्रत्यक्ष, अनुमान आदि प्रमाणो की प्रवृत्ति की असभवता, वेद प्रमाण की सगतता, वेदजन्य ज्ञानसे अज्ञात और अबाधित होने से प्रमा का उदय, ब्रह्म ज्ञान मात्र मे अज्ञान का नाश, वेद की आप्तता, वेदेतर प्रमाणो की अनाप्तता वेदो का तात्पर्य जीव ब्रह्म की एकता को छोड कर अन्यत्र कही भी होने की असभवता, आदि आदि प्रमाण विषयक सदेहा की निवृत्ति ही प्रमाणगत असभावना की निवृत्ति है।

१० पृथिवी से तात्पर्य यह पार्थिव देह है। जब मनन-निदिध्यासन सहकृत् श्रवण से ज्ञान हो जाता है तब जीवन्मुक्ति की प्राप्ति से यह देह भी कृत कृत्य हो जाता है एव इसके सभी अवयव और व्यवहारो मे आत्म ज्ञान की झलक बनी रहती है। जीवन्मुक्त ही पृथिवी मे परमात्मा का दिव्य तेज भरता रहता है। ऐसा शिवयोगी श्री परमहस साक्षात् चलता फिरता नारायण है ऐसा स्मृतियो मे प्रतिपादित है। अत यहा बताया कि ऐसे ज्ञानियो ने इस ज्ञान के विस्तार को सारे ससार मे प्रतिष्ठित कर दिया। वेद-ज्ञान का तात्पर्य परमहस सारे विश्व मे प्रतिष्ठित करे यह विधि भी यहा प्राप्त हो जाती है। **असंख्याता सहस्राणि ये रुद्रा अधिभूम्याम्** इत्यादि यजुर्वेद क्रम मे प्रमाण है। **सर्वभूतहिते रता** आदि स्मृति वाक्य भी इसी बात को बताते है। आत्म ज्ञान के अतिरिक्त और कोई भी चीज सार प्राणियो के कल्याण की हो, यह सभव नही।

अथवा इस पञ्चभूत के कार्य-करण सघात मे रहते हुए भी वह इससे अधि अर्थात् अस्पृष्ट ही रहता है। असग रहते हुए ही आ,

अर्थात् अच्छी तरह से, इसमे बुद्धि के द्वारा तत् पदार्थ रूप अग्नि ज्योति का प्रत्यक् रूप से अभिव्यञ्जन करता रहता है। तात्पर्य है कि उसका प्रत्येक कार्य ईश्वर की प्रेरणा से प्रेरित होकर ही होता है, यश मान आदि के प्रति प्रीति और अपयश अपमान आदि के प्रति द्वेष उसको नही होता है।

प्रजापति की सृष्टि-प्रक्रिया मे समष्टि मन को व्यष्टि मन रूप से सारी प्रजाओ मे रख दिया गया। अर्थात् प्रत्येक मन मे प्रतिबिम्ब के द्वारा उसने व्यष्टि रूप ले लिया। यहा पृथिव्यै अर्थात् प्रजा को विस्तीर्ण करने के लिये, यह तात्पर्य है। अथवा ब्रह्माण्ड गोलक रूप से स्थूल, और विराट् शब्द के द्वारा कही गई तथा सूक्ष्म रूप से सूत्रात्म-शब्द से कही गई पृथिवी का यहा ग्रहण है। तात्पर्य है कि परमेश्वर मे मन लगाने के लिये वह सविता देवता ईश्वर सूत्रात्मा और विराट् रूप से हमारे पार्थिव देह पर अनुग्रह करके अग्न्यादि समग्र रूपो को इस प्रकार प्रवृत्त करे कि हमारे वाणी आदि सर्व कार्य-करण सघात उसकी कृपा से समाधि को प्राप्त करें।

११ आहरति लेट् तिप् इतश्च लोप परस्मैपदेषु शब् गुण हृग्रहो-र्भश्छन्दसि।

१२ अधि अर्थात् इस जगत् से अधिक याने अव्याकृत। उसको भी आ अर्थात् अच्छी तरह से धारण और पोषण परमात्मा करता है। यहा भूतकाल का प्रयोग विवक्षित नही है।

अथवा जिस प्रकार इस आद्य अधिकारी ने पृथिव्यादि सब भूतो मे अपने आपको विस्तृत हुआ हुआ देखा वैसे ही आधुनिक अधिकारी भी ज्ञान की परिपाकावस्था मे अपने को सर्व रूप से अनुभव करता है। जब तक यह अनुभव न हो जाय तब तक कृतकृत्यता नही समझनी चाहिये। साख्य प्रक्रिया से प्रभावित होकर कई बार जीव साक्षी मे ही अटक जाता है। अत जीव और ईश्वर चैतन्य का अभेदानुभव अवश्य कर्तव्य है यही श्रुति का तात्पर्य है।

२

पूर्व मन्त्र मे जिसे विधिरूप से बतलाया उसी के अनुष्ठान की शक्ति को प्राप्त करने के लिये प्रार्थना करते है—

युक्तेन मनसा वयं देवस्य सवितुः सवे सुवर्गेयाय शक्त्या ।

वय = हम[1]	**युक्तेन** = योग युक्त[3]
सवितु = परमेश्वर	**मनसा** = मनसे
देवस्य = महादेव के	**शक्त्या** = पूर्ण सामर्थ्य के साथ[4]
सवे = सृष्टि रूपी सामूहिक यज्ञ मे[2]	**सुवर्गेयाय**[5] = कल्याण के लिये[6]
	(प्रभवाम) = (प्रयत्न कर सके) ।

१ जिन्होने शिव से मन को जोडकर दैव-शक्ति का अपने मे आधान करके दृढता प्राप्त कर ली है ऐसे साधक सघ से यहा तात्पर्य है। अथवा मत्रद्रष्टा ऋषि आत्मा की एकता को जानते हुए भी देह-भेदो से व्यवहार के लिये जीव भेदो को सिद्धवत् मान कर यह प्रार्थना कर रहे है। अथवा एक ही देह मे मन, बुद्धि, अहकार, इन्द्रिया शरीर, आदि अनेक सघातो को अपने से अभिन्न मानकर यह प्राथना है। वस्तुतस्तु अपने सभी शिष्यभक्त एव प्राणिमात्र के अन्त करण मे अनेक रूपो को देखकर ऋषि की तरफ से यह प्रार्थना है।

२ सविता अर्थात् सर्व प्राणियो का उत्पन्न करने वाला, उसके सव मे अर्थात् प्रसव मे यानी उत्पत्ति रूपी यज्ञ मे यह सृष्टि-चक्र एक यज्ञ है, जिसमे **एतावद् रूप यज्ञस्य यद्देवैर्ब्रह्मणा कृतम्** इत्यादि यजुर्वेद के प्रमाण से इन्द्रियो द्वारा आत्मा की बलि दी जाती है। इस यज्ञ मे सोम अर्थात् ब्रह्म-ज्ञान को चुवाया जाता है, अत इसे सोम-सव या केवल सव कहा गया। जब हम इस उद्देश्य से प्रवृत्त होते है तो यज्ञ मे शामिल माने जाते है। एव जब इससे बहिर्भूत हो जाते है तो शोक-मोह मे पडकर **शूद्रो यज्ञे अनवक्लृप्तः** के अनुसार यज्ञ के अयोग्य हो जाते है। यह यज्ञ प्रवृत्ति और निवृति के मार्गों से चलाकर

अन्त मे शिव मे स्थित कर देता है। चूकि इस प्रकार का जीवन-यापन करने को ही परमेश्वर ने अनुज्ञा दी है इसलिये इसमे लग जाना ही परमेश्वर की अनुज्ञा मे रहना है। सव का अर्थ अनुज्ञा भी होता ही है।

शतपथ ब्राह्मण मे तो इस मत्र की सृष्टिपरक व्याख्या है। हम युक्तेन मनसा अर्थात् कर्म मे दत्तचित्त होकर सविता देव के हिरण्य-गर्भ रूप से बनाये हुए प्रसव मे, अर्थात् ब्रह्माण्ड मे, इस शरीर मे स्थित है।

३ परमात्मा से मन का योजन ही योग युक्त होना है। परमेश्वर के प्रसाद से हमारी प्रत्यगात्मा रूपी शिव मे एकात्मता हो जाय यह तात्पर्य है। शिव प्रसाद से ही शमदमादि सम्पन्न साधक हो पाता है।

पूर्व मत्र के अनुरोध से यहा मन और बुद्धि का योग समीचीन-तर प्रतीत होता है।

४ यद्यपि प्रत्येक मनुष्य मे आत्मज्ञान की शक्ति निहित है एव अनेक लोग आत्म-ज्ञान की ओर प्रवृत्ति करने पर भी इसी लिये ज्ञान मे समर्थ नही हो पाते कि वे अपनी समग्र शक्ति का प्रयोग ज्ञान-साधना मे नही करते। बहुत से तो यह सोचकर कि श्रवण मनन से अतिरिक्त कोई साधन होगा अनेक व्यर्थ के पन्थो और पचडो मे पड जाते है। इस प्रकार जो शक्ति श्रवण मनन मे लगाते वह बिखर जाती है। कुछ अन्य तो ससार के धन्धो मे सन्यासी होकर भी ससार के उपकार के नाम पर लगकर पथ-भ्रष्ट हो जाते है। अन्य प्रमाद के कारण केवल दिन ही बिताते जाते है। जिस व्यक्ति को बन्धन सिर पर रखे हुए धधकते हुए अगारो की तरह असह्य प्रतीत नही होता वह समग्र-शक्ति से ब्रह्म की तरफ नही लग सकता। ऐसा शक्तिसग्रह महादेव की कृपा से ही हो सकता है। इसलिये यहा अपनी समग्र शक्ति को एकत्रित करने की प्रार्थना है।

प्राचीनो ने तो शक्त्या का अर्थ यथा-शक्ति किया है। अर्थात् हम अपनी शक्ति भर ज्ञान-साधन श्रवणादि कर्म करते रहै, अथवा परमेश्वर-कृपा से प्राप्त बल के द्वारा ही हम ज्ञानसाधना कर सकते है इसलिये परमेश्वर हमको ऐसा बल देवे।

शतपथ ब्राह्मण मे परमात्मा ने हमे शक्ति अर्थात् कार्य करण सघात की सामर्थ्य इसीलिये दी है कि हम स्वर्ग के लिये कर्म करते रहे। विभक्ति व्यत्यय करके कुछ आचार्यो ने 'शक्ति के लिये' ऐसा सम्प्रदान माना है। अर्थात् हम उस शक्ति के लिये प्रार्थना करते है जो हमे ब्रह्मज्ञान प्राप्त करने मे समर्थ करे। वस्तुत प्रथम अध्याय मे प्रतिपादित आत्मशक्ति ही यहा इष्ट है। तात्पर्य हे कि जिस आत्म-शक्ति ने जगत् प्रवर्तन किया है वह स्वय ही अपने आप को पुन हटा कर हमे निरतिशय आनन्द का अनुभव करने दे। इस दृष्टि से जिस प्रकार जगत् के विषय दृश्यमान शक्ति कार्य है उसी प्रकार शिवयोगी श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ गुरु भी उसी शक्ति का परिदृश्यमान कार्य है। उन विषयो के लिये किया हुआ कर्म और प्रेम चिन्तन एव ध्यान तथा निश्चय बन्धन को बढाता है एव गुरु के प्रति किया हुआ वही सब मोक्ष देता है। अत वे परमेश्वर हमे गुरु रूप शक्ति को प्राप्ति के लिये अथवा गुरु रूप शक्ति से युक्त होने के लिये वरदान दे।

५. **स्वर्गेयाय इति दीपिकापाठ**। स्वर्गिभिर् ईयाय गमनाय प्रार्थ्यते इति स्वर्गेयाय। अथवा स्व = स्वर्लोकवासिभि गीयते इति स्वर्गेय मोक्ष तस्मै। माध्यन्दिनानामपि अयमेव पाठ। स्वर्गनिमित्ताय कर्मणे इति यावत्। **यथैतेन कर्मणा स्वर्ग लोकम् ईयात्** इति शतपथश्रुते।

६ सु अर्थात् श्रेष्ठ वर्ग अर्थात् समूह। शुभ कर्म भक्ति, साधन-चतुष्टय, श्रवण, और ज्ञान सुवर्ग है। इसको प्राप्त कराने की यहा प्राथना है। अथवा स्वर्ग अर्थात् निरतिशय सुख उसकी प्राप्ति के समग्र हेतुओ के लिये हमारे मे सामर्थ्य आवे। अविद्या निवृत्ति ही

दु खो के कारण की निवृत्ति है। यह स्वर्ग के लोगो को भी इष्ट है। अथवा स्वर्ग मे देवता रहते है, अत दवी गुण सम्पन्नो के द्वारा जो ज्ञेय अर्थात् प्रशसित होवे वह वेद यहा इष्ट है अर्थात् हम वेदाध्ययन करै। परमात्मा को भी स्वर्ग कहा है। स्वर्ग शब्द का वाच्य सुख है एव परमात्मा ही वस्तुत सुख रूप है उससे भिन्न पदार्थ तो केवल उसके आभास मात्र से ही सुख-रूप प्रतीत होते है।

इस प्रकार इस मत्र का तात्पर्य हुवा कि परमात्मा के अनुग्रह से उसकी आज्ञा से प्रवृत्त इस विश्व यज्ञ मे हम एकाग्र मन से निरतिशय आनन्द को प्रकट करने वाले शम-दम युक्त श्रवणादि मे पूर्ण शक्ति से प्रयत्न करे। अथवा **देवस्य सवितु शक्त्या युक्तेन मनसा** ऐसा अन्वय करके उस देव की ज्ञान उत्पन्न करने वाली शक्ति अर्थात् कुण्डलिनी से युक्त होकर मन से साधन मे लगे।

३

मुमुक्षु और ज्ञानियो पर अनुग्रह करना परमेश्वर का स्वभाव है —

युक्त्वाय मनसा देवान् स्वर्यतः धिया दिवम्।
बृहत् ज्योतिः करिष्यतः सविता प्रसुवाति तान्॥

सविता = परमेश्वर[1]
तान् = उन
स्वर्यंत[2] = आनन्द के इच्छुक,[3]
मनसा = मन (और)
धिया = बुद्धि के द्वारा
दिवं = स्वय प्रकाश[4]
बृहत् = ब्रह्म[5]
ज्योति = ज्ञान[6]
करिष्यत[7] = करने की इच्छा वाले[8]
देवान् = देवताओ को[9]
युक्त्वाय = निर्विकल्प समाधि के लिये[10]
प्रसुवाति = प्रसव करता है[11]।

१ यहा अन्तर्यामी से भी तात्पर्य हो सकता है। क्योकि अन्तर्यामी रूप से ही वह सभी प्राणियो को सदा ही ब्रह्म की तरफ प्रवृत्त करता

है। विद्या से अविद्या मे जीव ही अपने आपको उत्पन्न करता है ऐसा मान कर यहा जीव को भी ग्रहण किया जा सकता है। **मनो वै सविता** इत्यादि यजुर्वेद की श्रुति इसमे प्रमाण है।

२ **सुवर्यंत इति पाठभेद** । सुव स्वर्ग पूर्णानन्दब्रह्म यत ब्रह्मज्ञानात् । **क्वचित् पाठे स्वरिति यत् पृथक् पद** तस्मिन् पक्षे स्वः आत्मा तदुद्दिश्य यन्त इति व्याख्येयम् ।

३ स्व· माने स्वर्ग को जाते हुए अर्थात् जो निरतिशय सुख को जाने के रास्ते पर आरूढ हो गये है। स्वर्यंत मे यहा द्वितीया बहुवचन है। देव का अर्थ इन्द्रिया मानने पर जो मन आदि इन्द्रिया शब्दादि विषयो को छोड कर स्व अर्थात् शिव रूप प्रत्यगात्मा की तरफ जाने वाली बन गई। वस्तुत इन्द्रिया पहले तो स्वर्यंत अर्थात् स्वर्ग लोक के सुखो तक जाने की अभिलाषा करती रहती है। इन्द्रियो की लालसा का कोई अन्त ही नही है। यह इन्द्रियो का 'सव' अर्थात् प्रथम जन्म है। फिर ब्रह्म-निष्ठो के सग से वही मन-इन्द्रिया वैराग्यवती होकर स्वर्यंत अर्थात् आत्मा की ओर जाने वाली बन जाती है। यह उनका प्रसव अर्थात् दूसरा जन्म है। प्र अर्थात् प्रकर्ष माने श्रेष्ठ। विषयाभिलाषा वालो की इन्द्रियो को वह परमेश्वर उनकी कामना पूर्ण करने के लिये वहिर्मुखी बनाता है। इसमे **पराञ्चि खानि** इत्यादि यजुर्वेद की श्रुतिया प्रमाण है। शिवाभिमुखी लोगो की इन्द्रियो की अन्तर्मुखता श्रेष्ठ इसलिये है कि वह कार्य सहित माया का विनाश कर जन्म प्रतीतियो का सकारण नाश कर देती है। ये सभी विशेषण देवान् को ही विशेष्य करते है।

४ शुद्ध मन और बुद्धि के द्वारा प्रत्यगात्मा की ब्रह्मरूपता, जो इनकी अशुद्धि के कारण छिपी हुई थी, प्रकट हो जाती है। यद्यपि ब्रह्म स्वय-प्रकाश है तथापि मन और बुद्धि के प्रयत्नो से ही मानो उसका आवरण भग करके उसको प्रकाशवान् करने की इच्छा साधक करता है।

कुछ लोग तो दिव से द्योतन करने वाले विषय समूह का ग्रहण करते है। उनका तात्पर्य है कि सविता मन और बुद्धि के द्वारा देवो को अर्थात् इन्द्रियो को स्व अर्थात् वैषयिक सुख की ओर यत अर्थात् लगाते हुए दिव अर्थात् विषय समूह को बृहत् अर्थात् अधिक ज्योति अर्थात् प्रकाश रूप करिष्यत अर्थात् करते हुए प्रसुवाति अर्थात् उत्पन्न करता है। उन इन्द्रियो को हम पूर्व मत्र मे कही हुई सविता देव की शक्तियो से युक्त होकर मोक्ष के लिये लगा सके। तात्पर्य है कि सुख के लिये जाती हुई इन्द्रिया यद्यपि विषयो को प्रकाशित करती है एव विषय वासना को बृहत् बृहत्तर करती है तथापि हम उसे परमात्म शक्ति का ही विकास समझकर मन के द्वारा, यह सब सविता ही है, इस प्रकार युक्त कर सके। इसके फलस्वरूप इन्द्रिया फिर विषयमुख नही हो पायेगी। इस प्रकार मन के करने मे हेतु रूप से मत्र का चतुर्थ पाद लगा लेना चाहिये। चू कि सविता ही उनका प्रसव करने वाला है। यहा सविता के प्रसव मे प्रकर्ष अभिन्न निमित्तोपादान कारणत्वेन है। इसीलिये इन सब चीजो का जब हम सविता रूप से ग्रहण कर लेते है तब इन्द्रियो की उनमे हेयोपादेय बुद्धि नष्ट हो जाती हैं।

५ जीवेश्वर जगत् भाव रहित निर्मल ब्रह्म, अथवा शक्ति विशिष्ट शिव दोनो ही अर्थ इष्ट है।

६ यद्यपि ब्रह्म स्वय ज्ञान स्वरूप होने से उसका ज्ञान होना असभव है तथापि यहा अविद्या-नाश से ऐसा उपचार सभव है। जिस प्रकार बिजली के जलते हुए लटटू के ऊपर यदि काला घडा रखा हुआ हो तो कहा जा सकता है कि मै इस घडे को फोडकर इस कमरे मे प्रकाश करता चाहता हूँ। यहा यद्यपि घडा फूटने से प्रकाश नही हुवा है वरन् बिजली के प्रकाश से ही प्रकाश हुवा है तथापि घडे के फूटने से ही उसका अनुभव हुवा है इस लिये ऐसा कथन सभव हैं।

तात्पर्य है कि एकाग्र गुण युक्त मन से प्रत्यगात्मा को युक्त्वाय अर्थात् एक करके स्वय प्रकाश अद्वितीय चैतन्य प्रकाश को बुद्धि से आविष्कार करते हुए, अर्थात् प्रत्यगात्मपरायण मन बुद्धि से **अह ब्रह्मास्मि** इस ज्ञान से ब्रह्म को प्रत्यगात्मा मे अवतरित करते हुए, परमेश्वर **प्रसुवाति** अर्थात् अनुजानाति, अनुज्ञा देता है, अर्थात् अनुग्रह करके ज्ञान देता है। इस पक्ष मे तान् अर्थात् प्रयत्न करते हुए मुमुक्षुओ को एव देवान् अर्थात् इन्द्र, विष्णु, यम आदि देवताओ को भी वही प्रसन्न होके ब्रह्म ज्ञान देता है जिससे वे कृतकृत्य हो जाते है।

७ **अत्र द्वितीया बहुवचनम्**। विषयजातम् प्रति प्रौढ कुर्वंत ज्ञान वेत्यर्थ ।

८ माध्यन्दिन सहिता मे **युक्त्वाय सविता देवान्** इस प्रकार पाठ है। शातपथ श्रुति के अनुरोध से वहा भी सविता का अर्थ मन ही है। तात्पर्य है कि सविता अर्थात् मन, स्वर्ग को जाती हुई देवान् अर्थात् वाणी इत्यादि इन्द्रियो को धिया अर्थात् कर्म-प्रवृत्ताक बुद्धि से युक्त्वाय अर्थात् जोडकर (**क्त्वो यगिति सूत्रेण यगागमः**) कर्म के द्वारा सूर्य-ज्योति बढाते हुए उसके लिये बृहत् ज्योति· अर्थात् अग्निका कर्म निष्पत्ति के लिये सस्कार करते हुए उनको मनका अधि-ष्ठाता परमात्मा प्रसुवाति अर्थात् प्रवृत्त करता है। आदित्य मण्डलको शातपथी श्रुति ने वेद रसमय बतलाया है अत वदिक कर्मो से सूय का वर्धन स्पष्ट हैं। षूञ् प्रेरणे से लेट् मे आट् करके प्रसुवाति बना लेना चाहिये। मन की शक्ति से ही वागादि इन्द्रियो की प्रवृत्ति होती है यह प्रत्यक्ष सिद्ध है। **असौ वा आदित्यो बृहज्ज्योति, एषो अग्नि। एत वै ते संस्करिष्यन्तो भवन्ति** यह शातपथ श्रुति यहा स्मर्तव्य है।

सविता से प्रसूत ही कर्म किये गये यह तात्पर्य है।

९ विषयो को प्रकाशित करने से इन्द्रियो को देव कहा गया। देव अर्थात् प्रकाश स्वरूप। यही यहा मुख्य अर्थ है। यह कृष्ण यजुर्वेद के श्वेताश्वतर शाखा की ब्रह्म-प्रतिपादक उपनिषद् भाग की श्रुति होने से देव का अर्थ यद्यपि कर्म-प्रतिपादक भाग मे ब्रह्मादि भी बन जाता है और यहा भी सगत हो ही जाता है तथापि उस अर्थ का गौणत्व ही समझना चाहिये।

१० जो साधक मनन निदिध्यासन सहकृत श्रवण के द्वारा आत्मा-ज्ञान करते है उनका सारा साधन इस परमात्म-भाव से युक्त होने के लिये ही है। अथवा **युक्त्वा अय** योग सिद्धि कराकर ब्रह्म मे ले जाओ, यह भाव है। यहा उभयत्र अन्तर्हितणिजन्त समझना चाहिये। अथवा **युक्त्वा आय** अ अर्थात् परमेश्वर, उसके लिये सब साधनो को जोडकर वह परमात्मा हमै अनुग्रहीत करे। शतपथ श्रुति मे तो इस मत्र के व्याख्यान मे योजयित्वा ही अर्थ किया है। वस्तुतस्तु प्रातिशाख्यो के अनुसार युक्त्वा अर्थात् जोडकर अर्थ मे ही युक्त्वाय का वैदिक प्रयोग है।

११ पहले परमेश्वर ही हमको अविद्या मे उत्पन्न करता है और पुन. उसकी भक्ति करने से विद्या मे उत्पन्न करके हमे द्विज बनाता है। अत ऋषियो की प्रार्थना है कि हमारे कार्यकरण सघात को विषयो से निवृत्त करके वे आत्माभिमुख होकर आत्म-ज्ञान ही करे, ऐसी अनुज्ञा या आज्ञा सविता अन्तर्यामी रूप से देवे। पुनः पुन प्रार्थना से आत्म ज्ञान को शिव कृपा के बिना अलभ्य बताया जा रहा है।

४

ज्ञान और ध्यान को देनेवाले परमेश्वर की पूर्वजो ने भी स्तुति की थी अत सभी मुमुक्षुओ को उसकी पुन २ अधिकाधिक स्तुति करते ही रहना चाहिये, इसका प्रतिपादन करते है —

युञ्जते मनः उत युञ्जते धियः विप्राः विप्रस्य बृहतः विपश्चितः। वि होत्रा दधे वयुनावित् एकः इत् मही देवस्य सवितुः परिष्टुतिः ॥

विप्रा = वेद वेत्ता[१]	**विप्रस्य** = विशेष रूप से व्याप्त[८]
मन = मन को	**बृहत** = महान्[९]
युञ्जते = योग मे लगाते है[२]	**विपश्चितः** = बुद्धिमान्[१०]
उत = और	**सवितु** = सविता
धिय = बुद्धि को[३]	**देवस्य** = देव की
युञ्जते = योग मे लगाने है।	**इत्** = ही[११]
एक = एक (अद्वितीय)[४]	**मही** = विस्तृत[१२] (एव)
वयुनावित् = सर्वज्ञ ने[५]	**परिष्टुतिः** = भली प्रकार से स्तुति
होत्रा[६] = होताओ के द्वारा[७]	**विदधे** = की[१३]।

१ यद्यपि इस ससार मे धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष चार पुरुषार्थ माने गये है परन्तु इनमे भी धर्म और अर्थ साधन रूप से पुरुषार्थ है, काम और मोक्ष साध्य रूप से। अपने से भिन्न किसी शोभनाध्यास वाले पदार्थ को प्राप्त करना काम है और स्वय अपनी ही आनन्द रूपता को जानना मोक्ष है। सापेक्ष होने से ही काम सातिशय या अपर पुरुषार्थ है, एव मोक्ष निरतिशय अथवा परम पुरुषार्थ है। स्वरूप होने से ही मोक्ष नित्य है और केवल स्वरूप-ज्ञान से सिद्ध हो जाता हैं, परन्तु काम अनित्य है और किसी न किसी क्रिया के द्वारा

प्राप्त होता है। यह ज्ञान अध्यारोप और अपवाद के साधन से ही होता है। **अध्यारोपापवादाभ्यां ज्ञातव्यस्तत्त्वनिर्णय** । अध्यारोपित की निवृत्ति से ही अधिष्ठान के ज्ञान का उदय हो सकता है।

सीप मे चादी, रस्सी मे साप, स्थाणु मे पुरुष इत्यादि की तरह निष्प्रपञ्च, निर्मल, शिव मे मल रूप प्रपञ्च को देखना ही अध्यारोप है। शिव के अज्ञान से ही यह अध्यारोप होता है। इस अज्ञान को ही अविद्या, तम, मोह, प्रधान, माया, प्रकृति, अव्यक्त, इत्यादि अनेक नामो से कहा गया है। इसी को पुराणो मे प्रलय, एव वसिष्ठ महर्षि ने महासुषुप्ति कहा है। इस अज्ञान मे अपनी अपनी कर्मवासनाओ क साथ अनन्त कोटि जीव वैसे ही रहते है जैस सोने के कण पिण्ड मे रहते है। उद्भूत होने के पहले जैसे कणो मे चाञ्चल्य आ जाता है वैसे ही सृष्टि के पूर्व लीनावस्था से शक्तचभिमुखता आजाती है। यह अनुभव सभी पुरुषो को सुषुप्ति और सुषुप्ति से जाग्रत मे आने के काल मे होता है। जीव-कर्म-परिपाक के कारण यह अज्ञान पुन तीन प्रकार से प्रतीत होता है। ज्ञान क्रिया का विशुद्धावस्था, इच्छा की विशुद्धावस्था, इच्छा की विशुद्धावस्था पर ज्ञान क्रिया की अशुद्धावस्था, एव तीनो की अविशुद्धावस्था। कुछ लोग प्रथम को माया, द्वितीय को अविद्या और तृतीय को तामस कहते है। अज्ञान की इस प्रथम अवस्था से विशिष्ट शिव का नाम ईश्वर है, एव यह बिम्ब रूप है। इसी को अन्तर्यामी रूप से सभी अनुभव करते है। यहा ब्रह्म चैतन्य परिपूर्ण प्रतीत होता है। द्वितीय-अवस्था विशिष्ट शिव को जीव कहते है। एव तृतीय को जगत् उपादान अथवा महाभूत कहते है। मकडी की तरह अज्ञान प्रधान हुआ हुआ ब्रह्म उपादान कारण है, और स्वरूप से प्रधान हुआ हुआ निमित्त कारण। जैसे जाल का मकडी अभिन्न निमित्तोपादान कारण है, परन्तु मकडी का जीवात्मा निमित्त कारण है और शरीर उपादान कारण, वैसे ही यहा समझना

चाहिये। इस प्रकार से जिसने वेदो के अध्यारोप एव उसके भेद ईश्वर, जीव, जगत् तथा अपवाद शिव को समझ लिया है वही वास्तविक वेदवेत्ता है। वह काम रूपी अपर पुरुषार्थ का सर्वथा त्याग करके केवल परम पुरुषार्थ मे लग जाता है।

२ तत्त्वज्ञान के लिये मन का निरोध स्वतत्र या सहायक प्राण-निरोध से किया जा सकता है। योगी दो प्रकार का होता है- युञ्जान और युक्त। प्रथम मत्र मे युञ्जान अर्थात् अपरिपक्व योगी को जो अभी मित-योगी है एव भेद दृष्टि से चल रहा है, बताया गया। अब युक्त योगी को बताया जा रहा है जो परिपक्व और अमित होने के कारण बाह्य दर्शन से रहित स्वात्म मात्र मे निष्ठा वाला निष्पन्न अद्वैतानुभव है। इसी लिये युञ्जान पवन को रोककर मूलाधार के योनि मे स्थित तेज को ज्वाला रूप से तीव्र करके वायु के प्रयोग से भरकर के, पैर से ऊपर तक उत्तरोत्तर भूत-पञ्चक को प्रकट करके जीतते हुए लीन करता जाता है। फिर इस अग्नि से हृदय देश की अग्नि को प्रदीप्त करके भूतापसहार के द्वारा तत्त्वो को द्वादशान्त मे स्थित कर देता है। इसी को सोम-सव अथवा योग-यज्ञ का प्रथम सोपान माना है। इसके द्वारा युक्त योग के अधिकार की प्राप्ति होती है जिसके द्वारा मन आत्मदर्शन मे समर्थ होता है।

३ योग मार्ग को प्रसव करने वाला होने से भी सविता कहा गया है। अर्थात् सविता योगोपदेश के द्वारा योग मार्ग मे प्रेरित करता है जिसके द्वारा ब्रह्मलोक मे जाकर आत्म ज्ञान सहज ही प्राप्त हो जाता है।

बुद्धि के कारण होने से ज्ञान-करणो को भी बुद्धि कहा जाता है। उसका भी यहा सग्रह है।

४ सजातीय, विजातीय, स्वगत भेदो से रहित अद्वितीय शिव। अथवा सविता ही यहा 'एक' पद का वाच्य है। वही जगद्गुरु है।

जीव रूप से वही साधक है, अन्तर्यामी रूप से वही प्रवर्तक है, ईश्वर रूप से प्रापक है, एव ब्रह्म रूप से प्राप्य है। जीव रूप से कर्मो को करके फल का प्रसव करता है। एव कर्म त्याग करके मोक्ष का प्रसव करता है। यहा तात्पर्य इन सभी भेदो से रहित उस अधिष्ठान तत्त्व से है जो इन सब रूपो मे प्रकट है।

५ वयुना अर्थात् ज्ञान। अत वयुनावित् अर्थात् प्रज्ञावित् अथवा सर्व ज्ञानो का साक्षीभूत। प्रत्येक के हृदय मे सभी भावो के अभिप्राय को वह जानता है। यदि इसे साधक रूप से समझा जाय तो एक अर्थात् कोई, इत् अर्थात् ही, वयुना (वयुनानि) यम से निर्विकल्प समाधि पयन्त अष्टाग योग का ज्ञान, होत्रा अर्थात् आचार्य से प्राप्त कर, विदधे अर्थात् करता है। निघट्ठ के अनुसार वयुना बुद्धि का नाम है। नब वयुनावित् का अर्थ होगा सारी बुद्धि-वृत्तियो का साक्षी अर्थात् अन्तर्यामी।

६ होत्रा पदच्छेदम् इच्छन्ति केचित्। होतार इति स्थाने आर्ष होत्रा स्वीकर्तव्यम् भवेत्।

७ परमात्मा ही सभी इन्द्रिया, अन्त करण, प्राण, एव देह सघात के द्वारा साधना और स्तुति करवाता है। जैसे यजमान होताओ के द्वारा यज्ञ निष्पन्न करके यज्ञ-फल-भागी बनता है उसी प्रकार परमात्मा इन कार्य करण सघातो के द्वारा ज्ञान-यज्ञ निष्पन्न करके ज्ञान-फल-भागी अर्थात् मुक्त बनता है। **ब्रह्मैव ससरति मुच्यते च** मुख्य सिद्धान्त है। अथवा जीव रूप से इन्ही करणो के द्वारा वह कर्म-फल-भागी बनकर बद्ध हुआ था और अब मुक्त होता है। तात्पर्य यही है कि जैसे कर्म होता करते है और अभिमान मात्र से यजमान फल भोगता है वैसे ही कर्म अनात्म पदार्थ करते है एव अभिमान मात्र से आत्मा फल भोगता है।

निघट्ठ मे तो होतृ को ऋत्विगो का नाम माना है जो कर्म मे

बैठते है। तब तात्पर्य होगा कि इन इन्द्रियादि ऋत्विगो के द्वारा निर्वर्त्य अन्त करण के निर्मलता की कारण रूप सारी क्रियाओ को परमात्मा ने किया। **अग्नि वैं होता** इस शातपथ श्रुति के आधार पर होत्रा अर्थात् सुषुम्ना मे प्रदीप्त अग्नि के द्वारा परमात्मा ने योग की सिद्धि का विधान किया। होत्रा का अर्थ क्रिया भी सभव है। अर्थात् उसने कर्म योग के द्वारा सिद्धि का विधान किया। इसमे **इम विवस्वते योग** इत्यादि स्मृति प्रमाण है।

८ विपूवक प्रा पूरणे से निष्पन्न यह विप्र शब्द देश, काल, वस्तु सब प्रकार से पूर्ण परमात्मा को विषय करता है। अथवा विप्र अर्थात् ब्राह्मण जाति का कारण होने से उसे विप्र कहा गया। **अथ ब्राह्मण** इत्यादि यजुर्वेद इसमे प्रमाण है। अथवा वेदपाठी को विप्र कहा जाता है, अत विप्र का कारण वेद और वेद का कारण ब्रह्म होने से यहा लक्षित-लक्षणा समझ लेनी चाहिये। शास्त्रो मे सूर्य को भी विप्र कहा है। वह अपनी किरणो से जगत् को भर देता है यह तो स्पष्ट ही है। अत कर्म-काण्ड के अनुसार तो विप्र लोग मन-बुद्धि को वेदोक्त कम मे प्रवृत्त करते है। एव विप्रस्य अर्थात् सूर्य या यज्ञ पुरुष का जिनसे सम्बन्ध हो ऐसे कर्मो को वयुनावित् (वयुनवित् दीर्घत्व छान्दस) ज्ञानी या धनी ऋत्विजो के द्वारा कर्मो को करते हैं। ये कर्म ही मन के अभिमानी सविता की स्तुति है। **धिया हि एतया मनुष्यायुष्युषन्ति। यज्ञो वै बृहन्विपश्चित् होत्रा प्रकामो अघेन इव गाथाभि यज्ञं तन्वते** इत्यादि शतपथ इसमे प्रमाण है।

९ निरतिशय महान् अर्थात् ब्रह्म। उसे महान् इसलिये कहा कि उसके द्वारा प्रवृत्त बन्धन और मोक्ष शास्त्र आज भी ब्राह्मणो द्वारा सेवित है एव उसी के सम्बन्ध से योग सभव है। योग के लिये सूर्य नाडी एव कुण्डलिनी का विद्युत् तत्त्व परम आवश्यक है यह स्पष्ट ही है।

१० ज्ञान-स्वभाव होने के कारण ही परमात्मा को बुद्धिमान् कहा है अथवा बुद्धि मे प्रतिबिम्बित होने से उसे बुद्धिमान् कहा है। अथवा विपश्चित् का अर्थ पण्डित समझना चाहिये। पण्डा अर्थात् आत्माकार वृत्ति जिसको विषय करके रहती है वह पण्डित है। स्वय प्रकाश चिदेकरूप होने से ही विपश्चितो मे उसके कारण ही विपश्चितता आती है तो वह विपश्चित् है, यह तो कैमुतिकन्याय से ही सिद्ध है। अथवा सर्वज्ञ होने से भी उसे विपश्चित् कहा गया है।

११ इसका अर्थ उस परमात्मा से भिन्न सभी सत्ताओ को निवृत करने मे है। जीव ईश्वरादि भेदो मे भिन्न प्रतीत होने पर भी वस्तुत वह परिवर्तित होता नही। वह अद्वितीय परमात्मा ही पहले क्रियाओ का विधान करता है एव फिर ज्ञान का विधान करता है। वह सवज्ञ अद्वितीय परमेश्वर ही जीव रूप से ज्ञान-प्राप्त्यर्थ कर्म करता है एव ज्ञानानन्तर सर्व-कर्म-सन्यास करता है। उस स्थावर-जगमात्मक प्रकाश स्वरूप परमात्मा को छोडकर और कोई स्तुति के योग्य नही है।

इत् का अथ इत्थ (इस प्रकार से) भी होता है। अर्थात् कर्म-योग मार्ग को प्रकाशित करने वाले की यही स्तुति है कि इन मार्गो से चला जाय। चू कि प्रत्येक प्राणी शुभ कर्म के द्वारा शुभ फल को पाकर या अशुभ कर्म के द्वारा अशुभ फल को पाकर उसकी ही महत्ता को प्रतिपादित करता है अतः यह सब उसको ही परिष्टुति है। श्री सायण ने तो यहा इत् को अनर्थक निपात ही बताया है।

इत् का सम्बन्ध वयुनावित् के साथ करके इस प्रकार ज्ञान वाले स्वाध्याय ज्ञान यज्ञ शील विप्र लोग, वह विप्र बृहत् विपश्चित् सविता देव है, इस प्रकार की स्तुति करते है एव इस स्तुति मे ही मन को लगाते है। अर्थात् परमात्मा ने यह विधान किया है कि जो विप्र मन को विषयो से उपसहृत करके बुद्धि को आत्म-ज्ञान मे लगाते है उन्हे इस प्रकार स्तुति करनी चाहिये।

१२ सारा ही वेद विस्तृत रूप से उसकी ही स्तुति करता है यह बताना इष्ट है। अर्थात् ज्ञान-यज्ञ मे लगने वाले लोग सारी ही श्रुतियो को **तत्त्वमसि** मे ही गतार्थ स्वीकृत करते है। एव इस प्रकार केवल शिव की महिमा का वर्णन करना ही वेद का एकमात्र उद्देश्य है।

१३ शिव ने सबको विधारित किया, या सबके लिये विधान किया। एव इस मार्ग से चलकर ऋषियो ने उसको पाया। इस प्रकार भूत कालीन प्रयोग से शिष्य को दिलासा देते है कि जैसे उन्होने पाया वैसे ही परमेश्वर की स्तुति के द्वारा तुम भी पा सकते हो। अथवा यहा काल विवक्षित नही है।

५

जैसे पूर्व ऋषियो ने ब्रह्म का साक्षात्कार किया वैसे ही मै भी प्रत्यगात्मा रूप से जीव शिवकी एकता पाप्त करता हूँ —

युजे वां ब्रह्म पूर्व्यम् नमोभिः वि श्लोकः एतु पथ्या इव सूरेः।
शृण्वन्तु विश्वे अमृतस्य पुत्राः आ ये धामानि दिव्यानि तस्थुः॥

वा = तुम दोनो[1] (शिव-पार्वती)को (तथा)
पूर्व्यम् = उनसे भी पहले होने वाले
ब्रह्म = ब्रह्म को
नमोभि = प्रणामो के द्वारा[3]
युजे[4] = मिलता हूँ[5]।
सूरे[6] = ब्रह्म वेत्ताओ के[7]
पथ्या[8] = मार्ग से[9]
इव = (चलने) की तरह[10]
श्लोक = कीर्ति[11]
वि[11] = विविध प्रकार से
एतु = आवे[13]
अमृतस्य = परमात्मा के[14]
ये = जो
विश्वे = सारे
पुत्रा = पुत्र[15]
दिव्यानि = दिव्य
धामानि = लोको को[16]
आ = अधि
तस्थुः = स्थित कर गये[17]
शृण्वन्तु[18] = (वे) सुने[19]।

१ यह युष्मत् का द्वितीया द्विवचन है। अपने सामने विद्यमान

के लिये युष्मत् का प्रयोग होता है। यहा साधक कह रहा है कि मेरे पूर्ण ध्यान के फल स्वरूप देव और उनकी आत्मशक्ति साक्षात् सामने प्रकट है एव दहराकाश मे मैं उनसे अभिन्न हो रहा हूँ। द्विवचन का प्रयोग करके यद्यपि लगता है मानो शिव और शक्ति अलग अलग है परन्तु वस्तुत उनकी एकता मे ही तात्पर्य है। साधन-क्रम मे पहले इस विशिष्ट रूप का साक्षात् होने के बाद ही निर्गुण तत्त्व का साक्षात् होता है। वस्तुत सुषुम्ना की अग्नि और कुण्डलिनी शक्ति स्वरूप से एक होने पर भी दो की तरह प्रतीत होती है। जब इन दोनो को एक कर लिया जाता है तभी इनकी गति होती है। अथवा प्राण और मूलाधार की अग्नि यहा ग्राह्य हैं। इन दोनो को पहले एक करने पर साक्षी तत्त्व का साक्षात्कार होता है।

प्रकरण के अनुरोध से मन और बुद्धि का भी ग्रहण हो सकता है। तब अर्थ होगा तुम दोनो को (मन-बुद्धि को) ब्रह्म से मिलाता हूँ। अर्थात् ब्रह्मानुसधान मे लगाता हूँ। अथवा तुम दोनो के सम्बन्ध वाले ब्रह्म अर्थात् वेदार्थ को ब्रह्मप्राप्ति के साधन रूप से ब्रह्म मे ही मिलाता हूँ अर्थात् समन्वित करता हूँ। अथवा तुम दोनो इन्द्रियो के अनुग्राहक हो एव इन्द्रियो से प्रकाश्य पदार्थो के द्वारा सत् रूप से पहले से विद्यमान ब्रह्म प्रकाशित हो जाता है उसमे चित्त को समाहित करता हूँ।

वाक्यशेष के अनुरोध से यहा वाणी और मन को भी लिया जा सकता है। अर्थात् वाणी के द्वारा नमस्कार रूपी स्तुति से एव मन के नमस्कार अर्थात् एकाग्ररूपी स्तुति से ब्रह्म को मिलाता हूँ।

शतपथ मे तो ब्रह्म का अर्थ प्राण और पूर्व्य का अर्थ अन्न किया है। **प्राणा वै ब्रह्म पूर्व्यम् अन्नम्**। ब्रह्म और पूर्व्य दोनो सम्बोधन है अर्थात् हे प्राण! हे अन्न! तुम दोनो को नम शब्द से उपलक्षित आहुतियो से युक्त करता हू। प्राण-शक्ति या इन्द्रियो के द्वारा अन्न

की आहुति दी जाती है अत कर्ता और कर्म भाव से प्राण और अन्न आहुति मे युक्त होते है।

२ **सदेव सोम्येदमग्र आसीत्** इत्यादि श्रुतियो के अनुसार शक्ति-शिव के प्रभिन्न होने स पूर्व शिव-शक्ति-सामरस्य रूपी अद्वैत चिदानन्द रस त्रिविध परिच्छेद शून्य ब्रह्म विद्यमान है। मन, बुद्धि, वाणी, प्राण, अन्न, आदि से पूर्व तो वह है ही। अनादि सिद्ध होने से भी इसे पूर्व्य कहा गया है। अथवा पूर्वै कृतम् अर्थात् हिरण्यगर्भ रूप सवितादि द्वारा साक्षात् किया होने से उसे पूर्व्य कहा गया है।

वा को बहुवचन के लिये मानकर समग्र युष्मत् प्रपञ्च का कारण होने से भी ब्रह्म को पूर्व्य अर्थात् चिरन्तन कहा जा सकता है। सारी पूव कल्पनाओ के भी पूर्व मे चेतन विद्यमान रहता है इसलिये उसकी पूर्वता सब प्रकार से सिद्ध है।

३ चित्त का प्रणिधान ही यहा वास्तविक नमन है। अथवा अधिकारानुसार कर्मोपासना भी नमन ही है। नमन का मुख्य अर्थ त्याग होने से सर्वसन्यास भी यहा सग्राह्य है। विनय रूप अहकार का त्याग एव तद् अनुरूप वाणी, देहादि की प्रवृत्ति तो नमन का प्रसिद्ध अर्थ है ही। यहा बहुवचन से सब प्रकार के नमनो का सग्रह भी है एव जब तक ज्ञान की दृढता न हो जाय तब तक बार बार करते रहने के लिये भी है।

४ **युञ्जे इति वा पाठान्तिर** ।

५ यहा तादात्म्य रूपी मिलना ही इष्ट है। प्रत्यगात्मा और परमात्मा की अद्वैत रूप से अनुभूति ही योग है। हार्दाकाश मे प्रत्यगात्मा विद्यमान है। वहा शिव-पार्वती को ध्यान से स्थित करना योग है। अथवा निष्कल ब्रह्म का प्रत्यगात्मा से अभेद चिन्तन रूपी तादात्म्य योग यहा समझना चाहिये। कुछ लोग तो युजे का योजयामि ऐसा अर्थ करके मन प्राण को या मन-बुद्धि को ब्रह्म मे जोडता हूँ

अर्थात् मनन निदिध्यासन के द्वारा लगाता हूँ ऐसा अर्थ करते है।

६ **सुरे इति वा पाठ** ।

७ यहा ब्रह्म का अर्थ वेद, कर्म, योग और ज्ञान सभी क्रम से स्वीकार करने चाहिये।

८ **पथि इत्यपि छिद्यते** ।

९ सन्मार्ग के द्वारा।

१०. जैसे स्ववर्णाश्रम-कर्मानुष्ठानो से परमात्मा की कीर्ति होती है वैसे ही कर्म से अनभिज्ञ लोग नमस्कारो के द्वारा उसकी कीर्ति करते हैं। तात्पर्य है कि परमात्मा के नमन के द्वारा वह सब फल प्राप्त हो जाता है जो कर्म करने से होता है। अथवा जैसे कर्मियो को कर्म से कीर्ति आती है वैसे ही भक्तो को परमात्मा के नमन से भी आ जाती हैं।

११ **श्लोको यशसि** इस कोश के अनुसार श्लोक का अर्थ यश है। तात्पर्य हुआ कि इस प्रकार शिव-पार्वती एव ब्रह्म का प्रत्यगात्मा रूप मे तादात्म्य अनुभव करने वाले मेरी या अन्य साधको की कीर्ति विविध प्रकार से सुनने मे आवे। अथवा विविध प्रकार की कीर्तिया ब्रह्म की करते हुए ब्रह्म को विविध कीर्तिमान् बनाते हैं एव उस विविध कीतिमान् ब्रह्म को पाते है। अथवा मुझ मुमुक्षु के द्वारा किया हुआ श्लोक अर्थात् स्तुति ईश्वर को ही उद्देश्य करके होवे। मेरी स्तुति ईश्वर को पहुँच जाय यह भाव है। अथवा श्लोक अर्थात् कीर्तितव्य परमात्मा भिन्न भिन्न प्रकार से कीर्तन के योग्य है।

वाक्य शेष से इसका सम्बन्ध करने पर तो सूरे अर्थात् विज्ञानियो की, पथ्या अर्थात् भिन्न भिन्न मार्गो मे इव अर्थात् जैसे, श्लोक अर्थात् कीर्ति, सुनने मे आती है वैसे ही मेरी भी **अमृतस्य विश्वे पुत्रा** अर्थात् दिव्यधाम मे रहने वाले ब्रह्मा के पुत्रो को सुनने मे आवे।

१२ **नमोभिर्विश्लोकायन्ति पथ्येव इति पठन्ति केचित्।**

१३ शतपथ मे तो देव और मनुष्य दोनो मे यजमान की कीर्ति होवे ऐसा अर्थ किया है। मेरे मन मे परमात्म विषयक स्तुति आवे, अथवा परमात्मा को मेरी स्तुति पहुँचे, या चारो तरफ मुझ ब्रह्म-वेत्ता की कीर्ति सुनने मे आये, ये सभी तात्पर्य है। ब्रह्म और ब्रह्म-वेत्ता का अभेद होने से ब्रह्म की स्तुति ब्रह्म-वेत्ता की हो स्तुति है।

१४ मरणशून्य होने से ब्रह्म को ही अमृत कहा गया। अथवा ब्रह्म ज्ञानी को अमर कर देने वाला होने से इसे अमृत कहा। **प्रजापतिर्वा अमृत** इस शतपथ वाक्य से तो प्रजापति सविता ही अमृत है। सोमरस को भी अमृत कहा गया है। शरीर की इन्द्रिया इत्यादि उसी से जीवन प्राप्त करने के कारण उसके पुत्र हो गये। वो जहा जहा स्थित है वे उसके दिव्य धाम है। वे सभी इसी दिव्य कीर्ति का श्रवण करे यह तात्पर्य है।

१५ ब्रह्म या प्रजापति से उत्पन्न सारा जगत् या देवताओ का यहा सग्रह है। बाह्यान्त करण भी इष्ट है।

१६ अमरावती, वैकुण्ठ, गोलोक आदि मे स्थित देव समुदाय या मेरुदण्ड के चक्र मे स्थित देवता विशेष।

१७ स्वधर्मानुष्ठान से उन धामो मे स्थित होने वाले, अथवा योग द्वारा इन स्थितियो का अनुभव करने वाले। ज्ञान से इन भावो को अपने हृदय मे अनुभव करके इन देवताओ से तादात्म्य भाव की प्राप्ति ही वास्तविक अधिष्ठान बन जाना है।

१८ **शृण्वन्ति इति पठन्ति केचित्।**

१९ दूसरो के द्वारा की हुई ब्रह्म की स्तुति को अपने कानो से पिये। अथवा मेरी इस प्रार्थना को सुनें। भाव है कि मेरी इस स्तुति को सुनकर दिव्य धामो मे रहने वाले देव गण एव इन्द्रिया विघ्न रहित बनाकर मुझे भी सिद्धि प्राप्त करने दे।

प्रति दिन इन पाच मत्रो का जप करके योग और ज्ञान मे प्रवृत्त होने वाले को शीघ्र सिद्धि प्राप्त होती है। एव सूर्य-देवताक स्तुति होने से सूर्य की कृपा से सूर्य मण्डल को भेदकर ब्रह्मनिष्ठ बन जाता है। भूचक्र भी सूय मण्डल ही है। अत जीवन्मुक्ति और विदेह मुक्ति दोनो की प्राप्ति के लिये ये प्रार्थनाये लाभदायक है।

६

तृतीय मत्र मे आत्म ज्ञान की तरफ ले जाने वाले पुनर्जन्म का प्रतिपादन किया। इसी का श्लेष से पुन प्रतिपादन करते है। किञ्च उत्तमाधिकारी के मोक्ष साधन की प्रणाली का वर्णन करके जिसमे वैराग्य, भक्ति, एव विचार की सामर्थ्य नही है उस मध्यमाधिकारी के आत्मज्ञान की सिद्धि के लिये अगले कुछ मत्र साधना का निर्देश करेगे। इस मत्र मे उन सभी साधनो का सक्षेप से वर्णन करते हुए श्लेषालकार से योग करने के योग्य शरीर की उत्पत्ति का प्रकार भी बतलायेगे —

अग्निः यत्र अभि मथ्यते वायुः यत्र अधि रुध्यते।
सोमः यत्र अति रिच्यते तत्र सञ्जायते मनः॥

यत्र = जहा[1]
अग्नि = अग्नि को[2]
अभि = भली प्रकार
मथ्यते = मथा जाता है,[3]
यत्र = जहा
वायु = वायु को[4]
अधि = ऊपर
रुध्यते = रोका जाता है,

यत्र = जहा
सोम = सोम[5]
अति = ज्यादा
रिच्यते = बहता है
तत्र = वहा
मन = मन
सञ्जायते = आत्मज्ञान के योग्य उत्पन्न होता है[6]।

१ यहा यत्र मे जिस देश, काल और निमित्त मे, इन तीनो भावो

का सग्रह कर लेना चाहिये । वस्तुत यहा गर्भ के दृष्टान्त से ही मन की उत्पत्ति को समझाया जा रहा है । अग्नि अर्थात् पुरुष का तेजाश गर्भ के योग्य देश, काल और निमित्त को पाकर मन्थन के द्वारा ही प्रकट होता है । फिर वायु के द्वारा ऊपर ले जाया जाकर रुद्ध कर दिया जाता है तभी उसमे अकुर फूट सकता है । उसके बाद सोम अर्थात् स्त्री का शोणिताश जब पूरी तरह से बह करके गर्भ का उपचय करता है तभी गर्भ सुस्थिर होता है । इस प्रकार पुष्ट किया हुवा देह ही मन के सम्यक् प्रकार से काय करने का स्थल होता है । अत कहा जा सकता है कि वहा मन भली प्रकार पैदा होता है । इन तीनो हिस्सो मे कही भी अपूर्णता रह जाने पर मन सशक्त नही बन पाता । शक्तिहीन मन इह लोक और परलोक दोनो के लिये व्यर्थ होता है । वस्तुत समष्टि रूप ब्रह्म-शक्ति ही गर्भात्मक सघात मे मन रूप से चलन-वलनादि के रूप मे पैदा होती है ।

वस्तुत योगिनी भू की प्रक्रिया का यहा सक्षेप मे वर्णन है । चित्त मे एकाग्रता पूर्वक ब्रह्मानुसधान करते हुए सभी इन्द्रियो की निरुद्धावस्था मे अग्नि और सोम से उत्पन्न काय-करण सघात स्वभावत योगयोग्य होता है । कुछ विचारक तो अग्नि अर्थात् सूर्य नाडी मे उत्पन्न तेज और सोम अर्थात् चन्द्र नाडी मे उत्पन्न तेज का कुम्भक द्वारा सुषुम्ना मे निरुद्धावस्था मे प्रसृत कार्य करण सघात को ही पर्याप्त मानते है ।

कुण्डलिनी मे सूर्य और चन्द्र दोनो नाडियो को पूरी तरह से जय करके जब केवल कुम्भक के द्वारा सुषुम्ना मे अन्त करण को प्रवेश कराया जाता है तभी योग सभव होता है । नाडी शोधन, महान्यास, आदि के द्वारा सूर्य और चन्द्र नाडी का जय होता है । इस मत्र का अग्रिम मत्र गर्भाधान सस्कार मे इसीलिये विधान किया गया है । ऋग्वेद मे गर्भाधान सस्कार के लिये **आसिञ्चतु प्रजापतिर्धाता गर्भं**

दधातु ते के द्वारा यही बताया है कि सबको उत्पन्न करने वाला प्रजापति ही हम जीवो की उपाधि के द्वारा सिञ्चन करता है।

शास्त्रो मे गर्भाधान सस्कार के लिये विशिष्ट देश कालो का इसी लिये विधान किया गया है कि योग योग्य दैवी सम्पत्ति वाले देह की उत्पत्ति होवे।

२ वेदो मे अग्नि ज्ञान और कर्म का प्रतीक है। देवताओ का मुख होने से सारी आहुतिया इसी मे दी जाती है अत कर्म की प्रतीकता स्पष्ट ही है। अज्ञान को नष्ट करने वाला होने से इसकी ज्ञान-प्रतीकता भी स्पष्ट है। यद्यपि प्रतीकवाद का आजकल के लोग कृत्रिम पूजन (fetishism) से भिन्न नही समझते परन्तु दोनो मे आधारभूत भेद है। प्रतीकवाद उन्नत सस्कृति मे अनेक विचारो को थोडे मे प्रकट करने का साधन है। झडा, शब्द, आदि इसी प्रकार के प्रतीक है। कृत्रिमवाद मे पेड, नदी, या किसी मूर्ति विशेष को खुद ही विशिष्ट शक्तियो वाला देव रूप से कल्पित कर लिया जाता है। यह गुह्य अलौकिक शक्ति मानव तर्क से परे मानी जाती है। यद्यपि धार्मिक कृत्रिमवाद का ही अधिकतर मखौल उडाया गया है परन्तु सामाजिक सम्बन्ध, आर्थिक सम्बन्ध, राजनैतिक विचार, इत्यादि भी कृत्रिम पूजा के साधन बन जाते है। धर्म निरपेक्षता, प्रजातत्र समाजवाद आदि आजकल के कृत्रिम पूज्य है। इनकी हानिया प्रत्यक्ष-सिद्ध होने पर भी इनमे एक गुह्य दिव्य श्रेष्ठता मानी जाती है जिसकी समालोचना इस सम्प्रदाय के लोग सहन नही कर सकते। 'This I call the fetishism' इत्यादि के द्वारा मार्क्स ने भी इसको कृत्रिम पूजा माना है। यह बात दूसरी है कि उसकी शिष्य परम्परा ने स्वय मार्क्स और उसके विचारो को ही (fetish) या कृत्रिम बना दिया हो। वस्तुत अच्छा, उचित, न्याय, आदि विचार किसी सन्दर्भ विशेष मे ही सार्थक होते है। जब तक समाज मे मनुष्य की वास्तविक परि-

स्थितियो का अर्थ समझकर उन परिस्थितियो मे आवश्यकता और लाभ के अनुकूल समाज के भिन्न वर्गो का उन्चतर दिशा मे गमन करने के उपाय प्रतिपादित न किये जाय तब तक ये सब विचार अर्थ शून्य होते है। स्थितिस्थापकना (statusquo) को कायम रखने के लिये इनका प्रयोग एक प्रकार का कृत्रिम पूजन ही है। वेदान्त की दृष्टि स आचार सामाजिक प्रगति, एव वैयक्तिक प्रगति को सयुक्त करने का प्रकार है। समाज की प्रगति का अधिनायकवाद (dicta torship) से घनिष्ठ सम्बन्ध है। चाहे वह समाज हिटलर का राष्ट्र हो, मुसोलिनी का उच्च वर्ग हो, या लेनिन का सरमाया (proletar-rate) हो वस्तुत यहा समाज का प्रत्येक मानव इसी एक मानव का अग बन जाता है चाहे वह मानव जीवित हो या मृत हो। दूसरी तरफ व्यक्तिवाद की पूर्णता समाज को जगली बना देती है चाहे वह जगल अफ्रीका मे हाथी और गैडे हो या शिकागो मे गुण्डे व अर्थ कामुक। वेदान्त सवादी होने के कारण इन दोनो वाद-प्रतिवादो का परित्याग करता है। अत न व्यक्ति को ही वह एक कृत्रिम पूज्य पदार्थ मान लेता है और न समाज को। वह तो दोनो का ऐसा सयोग चाहता है जिसमे समाज के अप्रबुद्ध वग को प्रबुद्ध होने का मौका मिले और प्रबुद्ध वर्ग अपने प्रबोध क्षेत्र का परिष्कृत विस्तार करे। अज्ञान मे पडे लोगो को कुछ रोटी और कपडो के टुकडे डाल कर उनकी मानवता को समाप्त करना उससे भी बडा अत्याचार है जिसमे उन अज्ञानियों को मानवता के नाम पर रोटी कपडा न देकर केवल मानव बनाये रखने का प्रयत्न किया जा रहा है। दैहिक आवश्यकताओ की अपेक्षा बौद्धिक आवश्यकताये अधिक जरूरी है यह तो पाश्चात्य देशो के मानस रोगो की व्यथा को देखकर कोई भी विचार-शील समझ सकता है। पूरबियो का यह प्रयास कि इसकी बुद्धि को ही हटा दिया जाय जिसके कारण मानसिक तनाव पैदा होते है, न

केवल अमानवता वादी है वरन् समग्र प्रगतियो का विरोधी भी है। अत वेदान्त की आचार सहिता का आधार है सभी प्रकार से प्रबोध का विकास। भौतिक प्रबोध से आर्थिक एव अन्य जीवन की कठिनाइयो को प्रबुद्ध समाज स्वय ही दूर कर देगा। एव बुद्धि के अन्य क्षेत्रो का विकास न केवल मानसिक तनावो को दूर करेगा वरन् द्वन्द्वातीत बनाकर स्थितप्रज्ञ बनायेगा। वेदान्त इस लिये गरीब और अमीर (haves and have nots) को प्रतिद्वन्द्वी बनाकर मानवो मे सघर्ष उत्पन्न नही करता वरन् ज्ञान और अज्ञान का सघर्ष स्वीकार करता है। चेतन होने के कारण यद्यपि प्राणी-मात्र ज्ञान की कोटि मे है परन्तु व्यावहारिक आचार शास्त्र मे मानव को ही यहा ग्रहण करते है। चू कि कोई भी मानव पूर्ण रूप से न अज्ञानी है न अज्ञान को चाहता है इसलिये सारे मानव समाज को मिलकर अपनी अपनी सामर्थ्य के अनुसार अज्ञान को नष्ट करना है। पूर्ण-प्रज्ञा को प्राप्त किये परमहस एव प्रज्ञातिशय वाले ब्राह्मण चू कि अज्ञान नाश के लिये हमेशा लगे रहते है अत वे समाज के आचार-विधायक है। अत मनुष्य के अज्ञान एव अज्ञान प्रयुक्त पिछडापना, चाहे वह आर्थिक हो या सामाजिक, को नष्ट करते हुए जिस समाज मे ज्ञान का प्रकाश सब प्राणियो मे उत्तरोत्तर परिवृद्ध होता रहे, ऐसे समाज का निर्माण ही उद्देश्य है। धर्म निरपेक्षता, प्रजातत्र, समाजवाद आदि नारो को गुह्य शक्ति समन्वित मानकर मत्र की तरह जप करना या पूजा करना नही। अग्नि चू कि अन्धकार को दूर करती है अत हम अग्नि के प्रकाश मे ही कर्म करे एव अग्नि की तरह ही प्रत्येक कार्य के स्वरूप को पहले समझे तब करे, एव उस ज्ञान का विस्तार करे।

३. अरणियो से मथकर ही अग्नि प्रकट होती है। ज्ञान तभी प्रकट होता है जब दो चीजो मे सघर्ष होता है। विश्व का प्रत्येक पदार्थ एक चुनौती है। जब हम समझने के लिये अपने अन्त करण

ग्रौर उस पदार्थ का सघर्ष करते है तब पदार्थ का गहरा ज्ञान होता है। इसी प्रकार दो विचारको के वादी प्रतिवादी रूप से किसी विषय पर चिन्तन करने से नवीन ज्ञान उत्पन्न होता है। गुरु और शिष्य के व्यवहार मे भी दो दिमागो के सघर्ष से दोनो ही लाभान्वित होते है। यदि गुरु पयत्न करे कि शिष्य समझे और शिष्य प्रयत्न करे कि गुरु को समझे तो दोनो ही लाभान्वित होते है। यजुर्वेद ने इसी लिये गुरु को उत्तरारणि और शिष्य को अधरारणि कहा है। जितना यह मथन गहरा होगा उतना ही ज्ञान प्रकट होगा। कर्म भी वस्तुत पदार्थो के साथ कर्मेन्द्रियो का मथन ही है। आज के विज्ञान मे इसे वैज्ञानिक सत्यो का (theoretical science) का व्यवहार दर्शन (practical demonstration) कहते हे। जो ज्ञान कर्म मे खरा न उतरे वह ज्ञान वास्तविक नही हो सकता। वेदो का सारा कर्म काण्ड जीव शिवऐक्य का व्यवहार दर्शन ही है। मध्यकाल मे ज्ञान और कर्म का विच्छेद हो जाने से ही कर्म प्राण शून्य हो गया और ज्ञान अर्थ-शून्य, प्रत ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रिय दोनो का प्रत्येक पदार्थ को चुनौती मानकर मथन करना ही वास्तविक ज्ञानोत्पत्ति लिये आवश्यक है।

देह दृष्टि से भी तेज के घनीभूत होने पर ही उसमे ओजस्विता आती है। यह घनीभवन चाहे रक्त के मथन से हो अथवा नाडी सस्थान के।

४ यह प्राण योग को बतलाता है। पहले मूलाधार मे योनि-पीठ पर मूल बीज से जब अग्नि को क्षुब्ध कर लिया जाता है तभी उसे वायु के द्वारा सुषुम्ना मार्ग से ऊपर उठाकर नीचे आने से अवरुद्ध कर दिया जाता है। बिसतन्तु की तरह यह अग्नि शिखा जब कलार्क मे स्थित चन्द्रमण्डल (सोम) को पहुँच जाता है तब द्वादशान्त मे ध्यान का अतिरेक होता है। यहा से ही सुषुम्ना मे मूलाधार तक अमृत का अभिषेक होता है जिससे मन ध्येय-प्रवण बन जाता है।

वायु का रेचक, पूरक और कुम्भक के द्वारा ही सामान्यत रोध किया जाता है। परन्तु साधको का अनुभव है कि इसके द्वारा कुछ काल पर्यन्त प्राण का निरोध होने पर भी प्राण पर अधिकार स्थापित नही होता। आधुनिक योगियो मे दीर्घजीविता की कमी इसका सबसे बडा प्रमाण है। प्राण-निरोध ही पूर्ण नही तो मन-निरोध की बात तो उठती ही नही। अत यहा इस प्रकार का वायु-निरोध इष्ट नही। प्राण पर नियन्त्रण करने वाले अनासक्ति, प्रत्यासक्ति, उपासक्ति, आसक्ति, आदि तत्रोक्त प्राणायामो का ग्रहण है। इनसे जो वायु पर अधिकार आता है वह वज्रोली, सहजोली, अमरोली आदि अवस्थाओ को पार कर निर्विकल्प मे स्थित करा देता है। रहस्य यह है कि सामान्य प्राणायाम वायु द्वारा सृष्ट अग्नि तत्त्व को बढाता है। अर्थात् वायु निम्नोन्मुखी होती है। सिद्ध प्राणायाम वायु को अपने कारण आकाश की तरफ प्रवृत्त करता है जिससे वायु क्षीण होती है। अगले मन्त्रो मे **क्षीणे प्राणे** के द्वारा इसे स्पष्ट करेगे। इसीलिये दीर्घायु और रोग नाशक ही नही चित्त को सर्वथा सूक्ष्म बनाकर **ॐ खं ब्रह्म** के द्वारा बताई हुई यजुर्वेदोक्त उपासना का अधिकारी साधक बन जाता है।

अधि अर्थात् अधिक यानी सब रूप से रुध्यते अर्थात् रुक जाता है यानी नष्ट हो जाता है। शका हो सकती है कि फिर आकाश रूप से स्थिति हो जायेगी। उसका जवाब सोम के अतिरेक के द्वारा श्रुति स्वय ही दे देती है। अर्थात् आकाश के बाद शक्ति-विशिष्ट शिव की प्राप्ति मे लगना चाहिये। वस्तुत अग्नि के द्वारा पृथ्वी और जल सहित अग्नि अर्थात् दृश्य जगत् का विजय का मार्ग अभिमथन बताया एव वायु के द्वारा वायु और आकाश रूपी अदृश्य जगत् की विजय अधिरोध के द्वारा बताई। अदृश्य जगत् का ही अग सूक्ष्म देह है। वैसे जिस प्रकार अग्न्याधान मे अग्नि का मथन है वैसे ही प्रवर्ग्यादि मे सविता

के द्वारा प्रेरित शब्दो की अभिव्यक्ति ही अधिरोध कही जाती है। प्रवर्ग्य विद्या प्राणायाम का मूल है यह तो सभी जानते है।

५ ऋग्वेद मे पूरा का पूरा नवम मण्डल सोम की महत्ता का प्रतिपादन करने के लिये है। उमा सहित महेश्वर ही सोम पद के वाच्य है। उनके ऊपर से बह कर आने वाला रस सोम रस कहा जाता है। आज भी शिव लिङ्ग के ऊपर से अभिषेक के द्वारा आये हुए रसो को अमृत कहते है। पाच पदार्थो का रस प्राने पर पञ्चामृत कहते है। हिमालय के उच्चतम शृ गो मे प्राप्त लता भी इसीलिये सोम कही जाती है। सहस्रार स्थित लिंग पर से बहने वाला स्राव भी सोम कहा जाता है। ये सभी सोम तेज को बढाते है, अत उत्तेजक हैं। दशा पवित्रो से शुद्ध किया हुवा वल्लीविशेष का रस भी इसी प्रकार तेज का अभिवर्धक है। परमेश्वर प्रेम मे भी एक प्रकार की उत्तेजक मादकता होती है। अत भक्ति को भी सोम कहा गया है। माया और मायाविशिष्ट चेतन, इनको जय करके ब्रह्म-स्वरूप मे स्थित होना ही नाम का वास्तविक अतिरेक है। वस्तुत इस प्रेम की प्राप्ति ही नारद के शब्दो मे दुलभ, अगम्य और अमोघ है। अन्य साधन यदि इसको उत्पन्न कर पाये तो सफल है अन्यथा निष्फल। इस उपनिषद् के अन्त मे भी **यस्य देवे परा भक्ति** के द्वारा इसी बात को बतायेंगे।

अग्नि से धनात्मक पुरुषतत्त्व, एव वायु से ऋणात्मक प्रकृति-तत्त्व का ग्रहण करने पर श्रुति भौतिक,उज्जीवक (elan vital) एव मानस शक्तियो की उत्पत्ति का वैज्ञानिक प्रकार भी बता रही है। धनाणुओ का मथन करके ऋणाणुओ का अवरोध करने पर ही नव शक्ति की सृष्टि होती है जो पदार्थ मे परिणत की जा सकती है।

६ योग युक्त मन यद्यपि पहले उत्पन्न हो चुका है तथापि वह देहादि सघात से एक होकर उत्पन्न हुआ था। अब ब्रह्म रूप से एक

होकर वह उत्पन्न होता है अथवा मन से मे जीव को भी लिया जा सकता है। वह जीव उसी जन्म मे या जन्मान्तर मे ब्रह्म रूप से उत्पन्न होता है। इस प्रकार क्रम मुक्ति का भी यहा सग्रह है। वस्तुत सारा जीवन मन के दृष्टि कोण का ही परिणाम है। अत आचूलमूल दृष्टिकोण का परिवर्तन नया जन्म कहा जाता है। सन्यास को भी नया जन्म ही माना है।

७

पूर्वोक्त प्रक्रिया ही स्पष्ट करते है —

सवित्रा प्रसवेन जुषेत ब्रह्म पूर्व्यम्।
तत्र योनिम् कृणवसे न हि ते पूर्तम् अक्षिपत्।

प्रसवेन =प्रसव करने वाले[1]
सवित्रा[2] =सवितासे[3]
पूर्व्यम् =पहले होने वाले[4]
ब्रह्म =ब्रह्म को
जुषेत[5] =सेवे[6]
हि =चू कि
ते =तेरे लिये
पूर्तम् =(कर्मो का) पूर्ण फल[7]
न =नही
अक्षिपत् =दिया
तत्र =वहा
योनिं =योनि को[8]
कृणवसे =तू करता है।

१ गर्भ दस मास मे पकता है। अर्थात् दस मास मे वागादि वृत्तिया पूर्ण रूप मे पुष्ट हो जाती है। सविता रूपी हिरण्यगर्भ ही इस प्रसव का वास्तविक कर्ता है। पूर्वोक्त मन्त्र मे प्रतिपादित जो सञ्जनन है उसको पूर्व्य अर्थात् अन्न के द्वारा प्रीति पूर्वक यजुर्वेद के शतपथ ब्राह्मण मे बताये हुए पदार्थों के द्वारा तेजस्वी बनकर सयोग करने से ही शुद्ध मन की उत्पत्ति सभव है। य-ज के अभेद से यहा जुषेत का अर्थ जूस निकालना है। **जुषी प्रीतिसेवनयो**' तब योनि को पूर्वजन्म कृत धर्माधर्म के अनुसार ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र,

चाण्डाल, म्लेच्छ रूप मे विकरण करता हे। उसका कारण वह अन्न है जो अदृष्ट के कारण देह मे प्राप्त होकर भी नष्ट नही होता। यदि पूर्ण रूप स योनि को पूत कर दिया जाता तो भविष्य योनिप्राप्ति का माग बन्द हो जाता। चू कि इस प्रकार का क्षिपण नही हुआ अत जन्मान्तरादि की प्राप्ति सभव हो गई। ऋषि प्रार्थना करते है, मेरे शुभाशुभ कम इस प्रकार पूरे हो जाय कि मुझे पुन सन्दशन की यन्त्रणा न मिले।

यद्यपि इस विषय का ज्ञान कुछ लुप्त सा हो गया था परन्तु चेकोस्लॉवाकिया क डाक्टर योनाश (Jonas) एव प्राग के कुमाराध्यक्ष (head of the gynecology clinic) डा० मालकौम (Malkom) ने यह सिद्ध किया है कि सूय एव नक्षत्रो तथा भोजन एव मन स्थिति का प्रभाव प्रजनन पर पडता ही हे। डा० औरेल हुडकोविक (Aurel Hudcovic) जो ब्रॉटिस्लावा कुमाराध्यक्ष है, ने अन्न परिपाव का यहा तक अध्ययन किया है कि बालक के लिग का निर्णय भी देश, काल और भाजन के प्रभाव स किया जा सकता है।

प्रकष स सवन करने के कारण ही परमेश्वर को सविता कहा जाता है। इस दृष्टि से परमात्मा का सेवन किस प्रकार किया जाय इसको हेतुगर्भ विशेषण से श्रुति बतला रही हे। अर्थात परमात्मा ही जगत् का कारण है इस रूप से उसका हृदय मे चिन्तन करे। कैवल्य उपनिषद मे भी 'भूतयोनि' पद से यही कहा गया है। वस्तुतस्तु विचारशीलो के लिये प्रत्येक क्षण मे हो अधिष्ठान ब्रह्म से नाम रूप का प्रसव होता ही रहता है। इस प्रकार उसका वाह्य जगत् मे एव आभ्यन्तर जगत् मे सस्कार प्रसव को जानता है वही सविता का प्रकर्षेण सव समझता है।

२ **सविता पठति नारायण. सहितानुरोधात्।**

३. यहा सविता का अर्थ पूर्व मत्र मे प्रसव किया हुआ मन लेना चाहिये।

४ प्रसव के पूर्व नित्य सिद्ध चिरन्तन प्रपञ्चोपशम शान्त शिव निर्मल भाव से सदा ही है। यही मानव प्रसव के द्वारा एव मानस प्रसव के द्वारा सृष्टि का मूल है जो सविता के द्वारा कारण त्रिकोण मे अग्नि उत्पादन करके सृष्टि-चक्र को भरता रहता है। एव उसी स्थल मे पुन लीन करके स्वरूप मे स्थित रहता है।

५ **नारायणस्तु युषेत इति पठति। युष् वधे इत्यर्थस्तु न सङ्गत।**

६ जिस प्रकार सविता के द्वारा पूर्व्य अर्थात् अन्न का प्रसव होता है उसी प्रकार मन का प्रसव हो। तात्पर्य है कि जो परमेश्वर की प्रार्थना एव अनुज्ञा के विना ध्यान ज्ञान मे प्रवृत्त होता है वह वस्तुत भोग हेतु कर्म मे हो प्रवृत्त होता है अत उसका फल भी सस्य की तरह बारम्बार जन्म मरण देने वाला ही होता है। जिस प्रकार खेत मे डाला हुवा बीज सूर्य के विना नष्ट हो जाता है वैसे ही ऐसा कर्म भी नष्ट हो जाता है। अत निर्गुण निराकार ब्रह्म का साकार सविता रूप से निरतिशय प्रेम पूर्वक सेवन करे। यद्यपि मैं ब्रह्म हूँ, ऐसा जानने वाला मैं और सूर्य मे भेद जानकर उससे प्रेम नही करेगा, परन्तु जो इस मैं को प्रीतिमान बनाने वाला है वह प्रेम का प्रसव करने वाला सविता त्रिविध परिच्छेद शून्य है और वही मेरा वास्तविक आत्मा है, इस प्रकार सेवन करेगा।

अथवा मत्र का पूर्वार्ध ध्यान के प्रकार को बताता है। सवित्रा अर्थात् द्वादशान्त मे स्थित बारह कला वाले सूर्य से सोम मण्डल से सुषुम्ना मे प्रसव किये हुवे अमृत का सेवन करे। यह सेवन ही पूर्व्य ब्रह्म रूप से ध्येय है। पूर्व्यम् अर्थात् मूलाधार मे स्थित, तत्र अर्थात् उस मूलाधार मे, योनि अर्थात् अग्नि मण्डल को, ब्रह्म के उपासना स्थान रूप से सोमस्राव के द्वारा, कृणवसे अर्थात् योग्य बनाते हो या योग्य बनाओ। ते अर्थात् इस प्रकार करने वाले तुझ को कलार्क के द्वारा विलुप्त किये हुए चन्द्र मण्डल से सुषुम्ना मे झरते हुए अमृत

से पूर्त अर्थात् पूरित अर्थात् फलित मूलाधारस्थ ब्रह्म को बाहर नही अक्षिपत् माने फैंक पाया। याने नही दूर कर पाता है। तात्पर्य है कि इस प्रकार ध्यान करने पर ब्रह्म पूर्ण रूप से शीघ्र फल देदेता है।

७ प्राय स्मार्त कर्मों को पूर्त कहते हैं। जिसमे धमशाला कूप निर्माण इत्यादि समाज सेवा के वर्मों का ग्रहण है। यहा पून से सभी कर्मों का उपलक्षण है। विशेष करके पूत का ग्रहण इन कर्मों की प्रत्यक्ष फल सिद्धि से है। प्रत्यक्ष ही धमशाला आदि लागो को सुख पहुचाते है। अत इन कर्मों का फल अवश्यम्भावी ह। यहा शुभ की तरह अशुभ कर्मो का भी ग्रहण कर लेना चाहिये। चूकि जाव रूप सविता क द्वारा इन कर्मों का आक्षेप अर्थात् त्याग नही किया हुआ हाता है इसा लिये वे फल देते है। कालान्तर मे भोग के द्वारा ही इन कर्मो का क्षय होता ह। किन्तु सविता की अनुज्ञा स प्रवृत्त होने पर वह इन कम फलो का प्रक्षेप भोगने के लिये जोव के प्रति नही करता। अत वे कर्म भोग के हेतु नही बनते एव मुक्ति मार्ग सुलभ हो जाता है। यदि सविता रूप से जीव पहले ही कम फल का त्याग कर दे तो भो कर्म फल भोग से बच जाता है चूकि इस जन्म के प्रारब्ध का भोग इसीलिये है कि इन कर्मो का फल त्याग नही किया गया था एव कम फल रूप से सविता इनको हमारे ऊपर फैंक चुका है, अत इनकी निवृत्ति भोग के विना असम्भव है।

८ ब्रह्म मे अपनी कारणता का दर्शन ही उसे अपनी योनि बनाना है। सामान्य पुरुष अपना कारण माता, पिता, कर्म, प्रकृति महाभूत आदियो को समझता है। वैदिक शिव को ही अपना एक मात्र कारण समझता है। यही ब्रह्म को योनि बनाना है। अथवा योनि का अर्थ निष्ठा भी होता है। अत ब्रह्म मे निष्ठा करने से तात्पर्य है। योगावस्था मे मन का स्थान योग-सम्पन्न व्यक्ति का जहा होता है वही उसकी योनि है। योगावस्था मे सोम ही मन का आधान का केन्द्र होता

है। जगत् कारणभूत जीवात्मा की जननी माया रूप योनि की विद्या-वृत्ति ही यहा समझनी चाहिये। जब समग्र वृत्तिया ब्रह्म मे प्रवृत्त हो जाती है तब शुभाशुभ निखिल कर्म नष्ट हो जाते है एव अविद्या का कार्य बहिर्मुखता के द्वारा क्षेपण अर्थात् गमन नही होता। मूलाधार में स्थित योनि केन्द्र का विचार तो यहा इष्ट है ही।

८

इस प्रकार के शरीर मिलने के बाद आत्म-ज्ञान के लिये जिन साधनो को करना चाहिये उसका उपाय मा की तरह अनुकम्पा करके प्राणियो को श्रुति बतलाती है जिससे अति दुष्कर मार्ग भी सुकर हो जावे.—

त्रिः उन्नतम् स्थाप्य समम् शरीरम् हृदि इन्द्रयाणि मनसा सन्निवेश्य। ब्रह्मोडुपेन प्रतरेत विद्वान् स्रोतांसि सर्वाणि भयावहानि॥

विद्वान्=पण्डित[1]
शरीर=शरीर को
त्रि=तीन स्थानो से[2]
उन्नतं=उठा कर[3]
सम=सीध मे[4]
स्थाप्य=स्थित करके[5]
इन्द्रियाणि=इन्द्रियो को[6]
मनसा=मन के सहित[7]
हृदि=हृदय मे[8]
सन्निवेश्य=सन्निविष्ट करके[9]
ब्रह्मोडुपेन=ब्रह्म-रूपी नाव से[10]
भयावहानि=भय प्रद[11]
सर्वाणि=सभी
स्रोतासि=स्रोतो को[12]
प्रतरेत[13]=तर जाय (पार कर जाय)।[14]

१ जिसने शास्त्रो के द्वारा ब्रह्म का ज्ञान प्राप्त कर लिया है ऐसा परोक्ष ज्ञानी अथवा अपरोक्ष अनुभव वाला ऐसा ज्ञानी जिसका विज्ञान विपरीत भावना से प्रतिबद्ध है। कही कही तो तीव्र विक्षेप

की प्राप्ति होने पर शिव योगी श्री परमहस भी इसका प्रयोग करते देखे जाते हैं। अथवा कृष्णयजुर्वेदोक्त विद्या अर्थात् उपासना करने वाला यहा इष्ट है। **य एवं विद्वान् अमृत इह भवति** इत्यादि श्रुतियाँ इसमे प्रमाण है। यद्यपि इन मत्रो से ही पातञ्जल योग का प्रादुर्भाव है तथापि उपासना से अलग प्राणायाम पर अधिक बल एव सिद्धियो का विचार आदि अवैदिकाश उसमे काफी है। ऐतिहासिक दृष्टि से तो कृष्ण यजुर्वेद की काठक, श्वेताश्वतर एव कैवल्य ही कपिल, साख्य एव पातञ्जल योग के प्रधान उपजीवक है। शिव को प्रधानता योग मे स्पष्ट ही है। परन्तु अवैदिकाश के पुष्कल सम्मेलन से पुराण, धर्मशास्त्र आदि मे अतिशय सन्निवेश होने पर भी भगवान् बादरायण एव भगवान् शकर को ब्रह्म-सूत्र और भाष्य मे इनका खण्डन करना पडा। परन्तु सर्वज्ञ भाष्यकार ने यह स्पष्ट कर दिया है कि साख्य की विवेक प्रक्रिया एव योग की ध्यान-प्रक्रिया वैदिक होने से अखण्ड है। अत यहा वैदिक उपासनाओ से अन्वित योग का उपदेश होने से विद्वान् शब्द का प्रयोग है। चू कि इस उपनिषद् के अन्त मे **अथ विद्वान्** आया है, अत ब्रह्म-ज्ञान के लिये लगे हुए ब्रह्मनिष्ठा रूपी योनि को प्राप्त करने वाले साधक का ही यहा मुख्य रूप से ग्रहण है।

२ पेट, कन्धा और स्तन का मध्यभाग, अथवा प्रात, साय और मध्यरात्रि, अथवा चार घटा जगना, फिर चार घटा सोना, फिर चार घटा जगना, फिर चार घटा सोना, इस क्रम से चार चार घटे जगने के जो तीन मध्यकाल आते हैं। कुछ लोगो ने सिर, गर्दन और हृदय इन तीन अगो का ग्रहण किया है। वस्तुतस्तु किसी भी तीन के उन्नत से एक ही आसन बन जाता है। इससे तद्रा इत्यादि नही आती। विवेकी तो श्रवण मनन और निदिध्यासन की उन्नतावस्था इससे ग्रहण करते हैं। अथवा ज्ञान, इच्छा, क्रिया तीनो ही जब उत् अर्थात् ब्रह्म मे नत अर्थात् नम्र हो जाते हैं तब त्रिरुन्नतावस्था मानते

हैं। इडा, पिंगला और सुषुम्ना, अथवा तीनो तत्त्वो का सामरस्य भी उनकी उन्नतावस्था ह। साख्य दृष्टि से जब तीनो गुण एक जैसे उन्नत हो जाते है तब कारणभाव अर्थात् ईश्वर मे स्थिति हो जाती है।

३ यहा उठाने से तात्पर्य शरीर के इन भागो को हवा से भरकर ऊपर की तरफ खीचना है। परन्तु इतना ज्यादा न उठाया जाय कि वायु का कोप हो जाय। इसीलिये योगाभ्यास गुरु के सामने ही करना चाहिये। वायु कम भरने से क्षय इत्यादि रोगों का भय रहता है एवं अधिक भरने से रक्तचाप, हृत्पीडा इत्यादि रोगो का भय रहता हे। ठीक ठीक प्रकार से करने से ऐसा लगता हे मानो शरीर जमीन मे ऊपर उठ रहा हो।

उठा हुआ का तात्पर्य निद्रा, तद्रादि न होकर के चेतना की पूर्ण जागरूकना भी होती है। अथवा जाग्रत के व्यवहार काल मे भी सावधानी पूवक श्रुन मत जीव-ब्रह्मैक्य का अनुसन्धान करते रहना भी इस का तात्पर्य हैं। वस्तुत इन दोनो अर्थो मे व्यवस्थित विकल्प समझना चाहिये। जो उत्तमाधिकारी ज्ञानसाधना मे रत है उसके लिये बाह्य देह के उन्नत करने की आवश्यकता नही है। **नासनादिचिन्ता सम्यक् दर्शने वस्तुतन्त्रत्वाद् विज्ञानस्य** कहकर भगवान् भाष्यकार ने स्पष्ट ही यह बताया है। **आसीनः सभवात्** इत्यादि सूत्रो से आसन की आवश्यकना ध्यानी के लिये भगवान् बादरायण ने बतलाई है। ठीक ठीक प्रकार मे इस आसन को करने के प्रकारो से ही पद्मासनादि योग के सारे आमन गतार्थ हो जाते है। हगरी के डाक्टर लोजानस आदि ने शरीर को भूमि से काफी ऊपर उठाये हुए कई योगियो का परीक्षण करके यह स्वीकार कर लिया है कि आसन विशेषो के प्रयोग से ऊर्ध्वगति सभव है।

४ फुलाने मे अगो मे समता आनी चाहिये। ठोडी से सामने की तरफ, या शिरोर्ध्व से (medula oblangata) लम्ब डालने पर

उनकी सिधाई का पता लग जाता है। दण्ड की तरह टेढापना नही आना चाहिये। सीव के द्वारा यह भी बतलाया कि वायु के प्रकोप होने के पहले अभ्यास समाप्त कर देना चाहिये। ज्ञानी के लिये तो समनाम ब्रह्म का ही है। अर्थात् सभी अनुभवो मे बाधितानुवृत्ति के द्वारा अधिष्ठान ब्रह्म का स्थापन करता ही रहे।

५ स्पन्दन एव गति या चाञ्चल्य का परित्याग इसके द्वारा बतलाया। यह केवलोकुम्भक मे ही सभव है। यद्यपि रेचक और पूरक प्रारम्भ मे कुम्भक सिद्ध करने के लिये आवश्यक है पर साध्य तो केवली कुम्भक ही है। इस अवस्था मे ही गति और स्पन्दन अथवा चाञ्चल्य दोनो निरुद्ध हो जाते है। ज्ञानी की दृष्टि से तो आत्मा की निष्क्रियता का ज्ञान ही स्पन्दन और गति से रहितता है। मुझ शिवात्मा मे सब चीजे वैसे ही उत्पन्न और लय होती है जैसे रस्सी मे साप, अत सारी चञ्चलताओ के बावजूद मै अचल ही हूँ।

६ पातञ्जल इसी को प्रत्याहार कहते है। वेदान्त मे इसे दम कहते है।

७ इसको धारणा कहा जाता है। मन के सकल्प-विकल्प का त्याग या शम ही यहा इष्ट है।

८ यहा हृदय से हृदय-कमल जो पाच छिद्र वाला है ग्राह्य है। ऊपर शरीर मे **शीर्यत इति शरीरम्** के द्वारा बाह्य शरीर मे विनाशिता की प्रतीति कराई गई जिससे उससे आस्था निवृत्त हो जाय। अत ज्ञानी की दृष्टि से शरीर, इन्द्रिय और मन अह द्वारा भास्य होने से बाहर है, विनाशी है और आस्था के योग्य नही है। ज्ञान और कर्म के करण पहले मन रूपी लगाम के वश मे होवे और मन बुद्धि रूपी सारथी के वश मे होवे यह भाव है। इस प्रकार देह का नियन्त्रण एव कर्मेन्द्रियो का नियन्त्रण करने मे ही आसन का उपयोग है। शरीर के स्वस्थ और सुस्थित हो जाने पर इनका व्यापार स्वत

उपरत हो जाता है। प्राण रूपी सर्पिणी का स्वेच्छा प्रचार निवृत्त करने मे प्राणायाम का उपयोग है। प्राण और मन साथ साथ चलते है। प्राण और मन एक ही पदार्थ के दो नाम है। अत प्राण रूपी अकुश से मन के बहिर्गमन मे स्वत कमी आ जाती है। प्रत्याहार इन इन्द्रियो का आन्तरिक नियन्त्रण है, एव सयम अर्थात् धारणा, ध्यान, समाधि के लिये अन्तरङ्ग रूप से उपकारी है। इस प्रकरण मे यम और नियम को इसलिये छोड दिया कि वे ससार मे वैराग्य होने के कारण स्वत सिद्ध हो जाते है। यदि विषय स्मरण रूपी छेड खानी से पुन विषयो मे प्रवृत्ति हो तो दोष-दर्शन रूपी मन की लगाम से खीच कर पुन अपने हृदय मे समभाव से स्थित करे।

हृदय के पञ्चछिद्रो मे एक एक महाभूत और तज्जन्य पञ्चेन्द्रियो का, पञ्चप्राणो का एव पञ्चान्त करणो का प्रवेश पञ्च ब्रह्ममत्रो के द्वारा सामवेद कौथुमी शाखा मे प्रोक्त विधि से गुणोपसहारन्याय से यहा समझ लेना चाहिये। परन्तु यह साधन जानकार गुरु की सन्निधि मे ही करना योग्य है।

६ विष्ट का अर्थ होता है अन्दर घुसाना। वस्तुत. हृदय कमल मे से पञ्च छिद्रो के द्वारा ज्ञान का प्रवाह बाहर आकर पक्व तेज एव निसृत सोम दोनो को निरन्तर क्षरित करता रहता है। वर्तमान मे रूस के कीलियन प्रभाव के द्वारा लिये गये देह से प्रसृत इस प्राणाग्नि का भाचित्र अनेक रहस्यो का प्रकाशन करता है। देहस्थ प्रायः ७०-७२ चक्र, जिनके द्वारा यह स्राव अत्यधिक प्रकट होना है एव जो चीन के एक्यूपङ्चर के स्थला से मिलता जुलता है, का पता वैज्ञानिक लगा चुके है। इस क्षरण की अभिवृद्धि बीमारियो को पैदा करती है। चेतन-शक्ति क्षरण (psycho-kinesis) के चञ्चल भवन से (irregular dissipation) रोगो का अभिवर्धन भी वे सिद्ध कर चुके है। यहा भी बारहवे और तेरहवे मन्त्र मे इन चीजो का वर्णन

विस्तार से आवेगा। यह सतत बाह्य चरण पहले बन्द किया जाय, और फिर बाहर फैले हुवे को पुन अन्दर घुसाया जाय तब इसको विष्ट कहैगे। नि अर्थात् नितरा, अत निविष्ट का अर्थ है प्रमाद और असावधानी से भी उसका निरुद्देश्य बहिर्गमन न हो पाय। स अर्थात् सम्यक्। अत सन्निवेश्य का अर्थ हुआ कि निवेशन ऐसा हो कि उसमे किसी प्रकार का असम्यक् ज्ञान कारण न बने। केवल प्राणायाम, देर तक निद्रा-रहितता, हिम जल का प्रयोग, गुरु दत्त विशेष प्रयोग, भावाधिक्य (emotional uph heaval) निरन्तर जप, औषधि विशेष, चिन्तन गाम्भीर्य, तीक्ष्ण सगीत, आदि से निवेशन तो हो जाना है, परन्तु सम्यक् ज्ञान पूर्वक न होने से, वह स्थायी प्रभाव पैदा नही कर पाना, एव कई बार तो साधक को आगे बढने मे अवरुद्ध भी कर देता हे। यह सवेशन जब पूर्ण हो जाता है तब ज्ञान सुलभ हो जाता है।

कुछ प्राचीनो के मत मे ता यहा णिजन्त प्रयोग मान करके गुरु का इन्द्रिय और मन के साथ शिष्य के इन्द्रिय और मन से एकीकरण करके फिर दोनो युक्त हुए इन्द्रिय और मन के साथ शिष्य क हृदय मे गुरु का प्रवेश माना है। यजुर्वेद के **ते हृदये हृदय दधामि** आदि मत्र इसमे प्रमाण है।

१० यहा ब्रह्म का अर्थ ओकार है। कुछ प्राचीनो ने यहा काकाक्षी न्याय मानकर ब्रह्म अर्थात् वेद एव तत् उपलक्षित श्रवण को सन्निवेशन मे कारण मानकर एव वेद सार रूप से ओकार को नौका मान कर दोनो तरफ सम्बन्ध माना है। वस्तुत यहा सुन्दर रूपका कार है। देश-काल-वस्तु परिच्छेद शून्य सदा ही अविषय होगा। ऐसे अविषय को विषयवत् प्रतीत कराने वाली ब्रह्माकार वृत्ति है। जिस प्रकार आख दर्पण के सम्बन्ध से नित्य अविषय होने पर भी विषयवत् प्रतीत होती है वैसे ही नित्य अविषय ब्रह्म निर्मल अहकार मे विषयवत् प्रतीत होता है। अत ज्ञानी की दृष्टि से ब्रह्म से ब्रह्म-ज्ञान लक्षित है।

उडुप अर्थात् नौका जल को पार करने के कारण रूप लकडियो का दृढ बन्धन के द्वारा समूहीकरण है। जिस प्रकार नही तैरने वाला लोहा ऐसी नाव मे बैठकर तैरने वाला बन जाता है वैसे ही ब्रह्म ज्ञान को समझना चाहिये। प्लुत ओकार के ऊपर मन को बैठाने से मन अतिशीघ्र तैरने लगता है। इसलिये उसका ग्रहण है।

११ प्रेत, तिर्यक्, आदि योनियो मे गिरानेवाली होने से इन्हे भय देने वाली कहा। वस्तुतस्तु देवादि योनिया भी ससार दु ख समुद्र मे डुबानेवाली होने से भयावह ही है। इहलोक, परलोक, सभी किसी काल मे अत्यधिक सुख देने वाले प्रतीत होने पर भी वस्तुत प्रौढी प्रसिद्धिमात्र से उन्हे सुखप्रद माना जाता हे। प्राप्त होने पर तो वे भी दु ख रूप ही रह जाती है। सदा ही किसी देव या राजादि अन्य शरीर मे अथवा अपने मे ही किसी अन्य काल मे, बहिर्मुख इन्द्रियो से सुख की प्राप्ति हुई थी या होगी, ऐसी प्रतीति होने पर भी, अत्यन्त सुख है, अथवा अत्यन्त सुखी हूँ, ऐसी प्रत्यक्ष उपलब्धि किसी को नही होती। क्षयादि जन्य भय, अर्थात् मेरा यह सुख कही नष्ट न हो जाय ऐसी भावना अतिमूढ मे भी रहती है। इसी प्रकार ईर्ष्यादि की अनुवृत्ति भी इस अनुभव की प्रतिबन्धक बनी रहती है। स्व-प्रवृत्ति और स्व-प्रवृत्ति का फल भी प्रायश सन्त्रास रूप होता है। इस प्रकार सभी शरीरो मे वास्तविक सुख न होकर भय ही भय लगा रहता है।

१२ स्वाभाविक अविद्या काम कर्म ही ससार-नदी के स्रोत है। विना इन स्रोतो के बन्द किये सफलता कठिन है। अत इसके द्वारा आवरण भग को कर्तव्य रूप से बताया जा रहा है।

प्राचीनो ने आशा से बने हुए वासना-समूह को यहा स्रोत माना है। अत प्रत्याहार के द्वारा ग्वाले की तरह बल पूर्वक दुर्दान्तसाड-रूपी इन्द्रियो को हृदय-मार्ग मे जिसने गले के द्वारा निरुद्ध कर भी लिया है, अर्थात् मन रूपी दडे को गले से इस प्रकार लटका लिया है

कि इन्द्रिया यथेच्छ नही भाग सकती, तथापि अत्यन्त ताकतवर होने से किसी किसी साधक की इन्द्रिया उस मन को लिये-दिये भी भाग जाती है। यह वासनाओ की प्रबलता से होता है। इसे रोकने के लिये ही धारणा, ध्यान, समाधि रूपी चाबुक का प्रयोग आवश्यक हो जाता है। जिस प्रकार स्रोत से जल बाहर जबरदस्ती बह जाता है वैसे ही यहा इन्द्रियो के द्वारा बहिर्गमन होने के कारण इन्हे स्रोत कहा गया।

स्रोत विक्षेप मात्र को कहते है। एव विक्षेप ही सब अनर्थो का हेतु होता है। अत किसी भी वासना का यदि अवशेष रह गया तो वह विना विक्षेप कराये नही रहेगा। अत सभी विशेषण का प्रयोग करके प्रवृत्ति निवृत्ति किसी भी चीज की वासना अनर्थ का ही कारण हैं, ऐसा कहा गया। ये वासनायें ही जगत्-प्रतीति और देहान्तर का कारण बनती है। स्वेच्छा, परेच्छा और अनिच्छा प्रारब्ध को ज्ञानी भी सौम्य, घोर और घोरतर वासनाओ के अविद्यालेश द्वारा उत्पन्न होने पर ही भोग सकता है।

१३ प्रतरेत् इति केचित् पठन्ति।

१४ इस प्रकार योग्य अधिकार को प्राप्त करके ससार समुद्र को पार कर जाय यह श्रुति का अनुशासन है। योग्यतानुसार यहा, पर और अपर दोनो ब्रह्मो का सग्रह कर लेना चाहिये। केवल तरेत के द्वारा उत्तरण करके सगुण ब्रह्म की प्राप्ति एव प्रतरेत के द्वारा परब्रह्म की प्राप्ति इष्ट है। अथवा यहा क्रममुक्ति और सद्य मुक्ति, अथवा विदेहकैवल्य और जीवन्मुक्ति को बताया गया है। विवेकी तो ऐसा मानते है कि योगियों को भी विक्षेप निवृत्ति होने से तरण की प्राप्ति हो जाती है। परन्तु आवरण निवृत्ति के विना सर्वथा निवृत्त न होने से उसे प्रतरण नही कहा जा सकता। अत अविद्या के आवरण और विक्षेप दोनों रूपो का अप्रतिबद्ध ब्रह्म साक्षात्कार से समाधि की पूर्णता मे प्रतरण करे।

६

प्राणायाम का और प्रत्याहार का विस्तृत वर्णन करते है —

प्राणान् प्रपीडय इह सः युक्तचेष्टः क्षीणे प्राणे नासिकयोः श्वसीत । दुष्टाश्वयुक्तम् इव वाहम् एनं विद्वान् मनः धारयेत अप्रमत्तः ॥

स = वह (अभ्यासी)[१]
युक्तचेष्ट[२] = सीमित चेष्टा (limited effort) करते हुवे[३]
इह = इस शरीर मे[४]
प्राणान् = प्राणो को[५]
प्रपीडय = निरुद्ध करके[६]
प्राणे = प्राणगति के
क्षीणे = अत्यन्त मन्द हो जानेपर[७]
नासिकयो[८] = नासापुटो मे
श्वसीत = श्वास करे[९] ।
अप्रमत्त = प्रमाद रहित[१०]
विद्वान् = ब्रह्म ज्ञानी[११]
दुष्टाश्वयुक्तम् = दुष्ट घोडो से जुडे हुवे[१०]
इव = की तरह
एन = इस (प्रत्यक्ष)
वाहम् = रथ या वाहन रूपी[१२]
मन = मनको[१३]
धारयेत = (बुद्धि मे) धारण करावे ।

१ जिस मध्यमाधिकारी का मन उपर्युक्त प्रकार से वश मे नही आता है वह मन्दाधिकारी यहा इष्ट है। पाप को नष्ट करने वाले साधनो मे प्राणायाम सर्वोत्तम साधन है। यद्यपि अश्वमेधादि कर्मों से भी पाप निवृत्त होते है परन्तु उनसे अन्दर की वासना का प्रक्षालन नही होता। प्राणायाम से यह मनोमल भी धुल जाता है। उसमें भी सर्व प्रथम नाडी-शोधन कर्तव्य है। विना नाडी शोधन के प्राणायाम न केवल असफल होता है वरन् हानिकर भी हो जाता है। दाहिने नाक को बन्द करके बाये से यथाशक्ति वायु को भरे। फिर बाहर निकाले। ऐसा ही दाहिने नाक से भी करे। यह अभ्यास स्थिर होने पर बाये से लेकर दाहिने से छोडे और दाहिने से लेकर बाये से छोडे। पूर्व-

रात्रि, अर्धरात्रि, अन्तिम रात्रि और मध्याह्न कालो मे सवन चतुष्टय का अभ्यास करे। प्रत्येक बार सौ आवृत्ति करे। इस प्रकार वर्ष भर तक अभ्यास करने से नाडी-शोधन हो जाता है। नाडी-शोधन का लक्षण शरीर मे हल्कापना, मुख पर तेज, भूख का बढ जाना, कानो मे नाद का सुनाई देना आदि है। नाडीशुद्धि हो जाने पर अन्त और बहि कुम्भक का अभ्यास करे। कमसे कम ६४ मात्राओ का कुम्भक सिद्ध हो जाने पर प्राणायाम सफल होता है। सबीज और निर्बीज भेद से प्राणायाम दो प्रकार का है। इनमे से जो सरल लगे उसका अभ्यास करे।

२ इह सयुक्तचेष्ट इति पठन्ति केचित्।

३ योग की सिद्धि के लिये बाह्य प्रवृत्तियो को यथाशक्य न्यूनता करना आवश्यक है। जीवन रखने मात्र को एव योग के लिये अत्यावश्यक क्रियाओ को छोडकर अन्य सब क्रियाओ का परित्याग आवश्यक है। इसी प्रकार अतिभोजन, उपवास, जागरण, अत्यधिक सोना ज्यादा घूमना, अथवा बिल्कुल न घूमना आदि दोषो से दूर रहे। यथा सम्भव कम से कम बोले, कम से कम लोगो से मिले, क्योकि इन दोनो मे प्राण-शक्ति का अत्यधिक क्षय होता है।

४ मानव देह मे ही योगादि का अभ्यास सफल होता है। अत. कर्मभूमि रूपी इस क्षेत्र अर्थात् शरीर मे प्राणायाम कर्तव्य है। मानव शरीर मे ही सारे चक्र और ग्रन्थियो का भेदन किया जासकता है। यह तो प्रत्यक्ष सिद्ध ही है कि मनुष्य को छोड कर कोई भी मेरुदण्ड वाला प्राणी सीधी खडी (vertical) रीढ की हड्डी वाला नही है। अन्य सभी प्राणियो का मेरुदण्ड पडा (horizontal) होता है। अत उनमे ऊर्ध्वगमन असम्भव है। देवादि शरीरो मे पार्थिवाश अति न्यून होने के कारण नीची तरफ का खिचाव (downward pull) ही नही है तो ऊर्ध्वगति कैसे की जाय। अतः वहा भी चक्र

और ग्रन्थि-भेदन असम्भव है। किञ्च मानवेतर प्राणियो मे सारे चक्र उद्दीप्त भी नही है। पशु आदियो मे अनाहत और उसके ऊपर के चक्र प्रसुप्त रहते है। एव देवादि योनियो मे अनाहत के नीचे के चक्र प्रसुप्त होते है। अत चक्रजय दोनो मे सभव नही है। इसीलिये मानव देह को प्राप्त कर मोके को हाथ से नही खोना चाहिये। कुम्भक रूपी प्राण निरोध के स्थान रूप से प्रसिद्ध मूलाधारादि आगमोक्त स्थान 'इह' पद का वास्तविक तात्पय है।

५ नव द्वारो से बाहर जाने वाले वायु को अथवा यहा प्राणो से कर्मेन्द्रिय विशिष्ट प्राणो का भी ग्रहण किया जा सकता है क्यो कि आगे दुर्दान्त अश्वरूप से कहा गया वायु रूपी प्राण और कर्मेन्द्रिय रूपी प्राण दोनो ही सगृहीत है। बहुवचन के द्वारा प्राण अपानादि पञ्च प्रधान वायुओ का और कृकलादि गौण प्राणो का भी सग्रह है।

६ कुम्भक के द्वारा प्रकर्ष रूप से प्राणो का उत्पीडन करना ही उसको निरुद्ध करने का उपाय है। योग मे कुशल आत्मज्ञानी गुरु के द्वारा उपदिष्ट मार्ग से ही यह करना चाहिये अन्यथा पीडित प्राण कुपित होकर स्वास्थ्य और मन दोनो को नष्ट कर सकता है। प्राणो का आयाम मन की धारणा के द्वारा कुम्भक करने से होता है एव यह पीडन क्रम से ब्रह्मग्रन्थि, विष्णुग्रन्थि, रुद्रग्रन्थि तीनो जगह करना चाहिये।

७ जैसे डलिया से निकला हुआ सर्प बडा जोशीला होता है परन्तु बीन के अनुसार नाचते-नाचते अत्यन्न थक करके शक्तिहीन हो जाता है उसी प्रकार अनादि काल से कामनाओ से दबा हुआ प्राण अत्यन्त जोशीला होता है पर आयाम कराते कराते अत्यन्त सूक्ष्म हो जाता है। इसके सूक्ष्म हो जाने पर इसके द्वारा नियन्त्रित मन भी अत्यन्त सूक्ष्म हो जाता है। फिर यह प्राण और मन किसी भी इन्द्रियद्वार से यहा तक कि मन के द्वार से भी बाहर नही जाते।

इस प्रकार का सूक्ष्म हुआ प्राण सारे द्वारो से उपरत होने के कारण बिना किसी हिलाव के सीधे दण्डे की तरह शरीर के अन्दर भी चलता है और शरीर के बाहर भी। प्राणो के क्षीण होजाने पर जिस जिस स्थान मे प्राणो का निरोध किया गया है वे स्थान भी ऊर्ध्व-मुखी हो जाते है एव तनु भाव को प्राप्त हो जाते है।

८ नासिकयोच्छ्वसीत इति पठति विज्ञान, नारायणस्तु नासिकयाश्वसीत इति।

९ दोनों नथुनो से धीरे धीरे मन्द हुई वायु को छोडे। मुख से छोडने का निषेध है। प्रारम्भ मे वायु को हृदय कमल मे प्रतिष्ठित करके फिर कई टुकडो मे बाट कर एक एक टुकडे को मन्द गति से प्रश्वास करते हुए छोडे। इसी प्रकार सारी वायु बाहर छोड देने पर कुछ देर उस वायु को बाहर रहने दे। तदनन्तर मन्द गति से ऊपर खीचे। अभ्यास होने के बाद भिन्न भिन्न चक्रो मे वायु का निरोध करके इडा या पिङ्गला के अन्दर वायु को प्रवेश कराके पुन नासिका पुट मे लाकर धीरे से छोडे। यह अभ्यास पक जाने पर प्रसुप्त सर्पिणी को धीरे धीरे टक्कर मार कर सुषुम्ना मे प्रवेश करावे। सुषुम्ना पर अधिकार आना ही प्राणायाम का साध्य हैं।

१० योगी को अपने साधन मे असावधानी करते ही रोगादि की प्राप्ति हो जाती है। और यदि परमात्मा की तरफ वृत्ति को प्रणिहित करके नही रखता तो सिद्धि इत्यादि मे प्रवृत्ति होकर पतन हो जाता है। उच्च कोटि के साधक को भी इन्द्रिय मनादि को जीत लिया है ऐसा समझकर असावधानी नही करनी चाहिये, क्यो कि यह कार्य-करण सघात योग का वैरी होने से कभी भी विश्वास के योग्य नही है। काम-क्रोध-मद एव अज्ञानादि से रहित रहना भी अप्रमादी बनना ही है। अभ्यास के काल मे चक्र, नाडी इत्यादि एव प्राण की गति आदि पर भी पूरा ध्यान देकर करना चाहिये।

११ यहा ऐसा परोक्ष ज्ञानी इष्ट है जिसने अभी समाधि मे पूर्णता प्राप्त नही की है। परन्तु बाह्यान्त करण-निरोध के प्रकार को वायु-निरोध प्रकार के साथ सगत करने का तरीका जान लिया है। अथवा इसको धारणादि युक्त ब्रह्म-ज्ञानी श्रुति ने **भविष्यत् दृष्ट्या** कह दिया है। अर्थात् इस साधन करने वाले का ऐसा बनना अवश्यम्भावी है।

१२ प्रबल किन्तु अशिक्षित घोडो को दुष्ट घोडा कहा जाता है। उनके द्वारा रथ गड्ढे मे गिरादिया जाता है। यद्यपि घोडो की प्रबलता अनिष्ट नही है पर दुर्बल घोडे अशिक्षित होने पर भी बहुत अधिक हानिकारक नही होते। वेदो मे प्राय घोडो को इन्द्रियो का उपमेय बनाया है। अश्वमेधादि प्रकरण मे यह स्पष्ट है। इन्द्रियो की प्रबलता अनेक पौराणिक ऋषियो के चरित्र से प्रकट होती है। अनेक मजहब अन्न की कमी एव समाज से दूर करने की विधियो से अथवा मानस या दैहिक घोर तपस्याओ से इन इन्द्रियो को दुर्बल बनाने मे विश्वास करते है। परन्तु वेदान्ती ऐसा नही मानते। इन्द्रिया प्रबल रहते हुए ही इतनी शिक्षित होजाय कि हमारी प्रगति मे सहायक बने। इन्द्रियो की कमजोरी तो हमे लक्ष्य तक ही नही पहुचने देगी। इसीलिये सभी साधनो मे इन्द्रियो की शुद्धि को प्रधान रखा गया है, दुर्बल बनाने को नही। स्मृतियो मे इसीलिये अन्धे, लूले,लगडे, हिजडे, आदियो को सन्यास का अधिकार नही माना है। जिस प्रकार उदात्त घोडो वाला रथ प्रशस्त होता है उसी प्रकार शिक्षित और प्रबल इन्द्रियो वाला कार्य करण सघात ही ब्रह्म-प्राप्ति के योग्य होता है।

१३ मार्ग के परम पार को लेजाने वाला प्राण रूपी लगाम यहा इष्ट है जो रथ का नियन्त्रण करने मे समर्थ है। कुशल सारथी ही जिस प्रकार लगाम का नियन्त्रण कर सकता है वैसे ही यहा मनन करने मे समर्थ साधक का ग्रहण करना चाहिये।

१४ जहा जहा वायु का निरोध देखे वहा वहा मन को एकाग्र करे। जहा मन है वही वायु है यह तो प्रसिद्ध ही है। तात्पर्य है कि प्राण का धारण अर्थात् स्थिरीकरण करने के बाद उसी ग्रन्थिकेन्द्र या चक्र पर मन को रखना चाहिये। गति मे रथ की प्रधानता होती है और यहा प्राण रथ की जगह पर हे। मन की स्थिरता प्राण की स्थिरता के अधीन ही होती है। अन्यत्र तो मन को स्पष्ट ही इन्द्रिय-रूपी घोडो का लगाम कहा गया है। धारण का तात्पर्य है सारथी रूपी बुद्धि के द्वारा नियन्त्रण करना। धारयेत मे णिजन्त मान कर गुरु शिष्य को इस प्रकार धारणा करावे यह विधि भी यहा लक्षित है।

१०

योगानुष्ठान के योग्य देश को बताते है —

समे शुचौ शर्करा-वह्नि-बालुका-विवर्जिते शब्दजलाश्रयादिभिः।
मनोनुकूले न तु चक्षुपीडने गुहानिवाताश्रयणे प्रयोजयेत्॥

समे = ऊचाई नीचाई से रहित[1]
शुचौ = शुद्ध[2]
शर्करा-वह्नि-बालुका-विवर्जिते = ककड, बालू, आग से रहित[3]
शब्दजलाश्रयादिभि = ध्वनि, पानी, रहने की जगह आदियो से[4]
मनोनुकूले = मन के अनुकूल[5]
तु = पर
चक्षुपीडने[6] = आखो को पीडा देने वाला[7]
न = न (हो) ऐसे
गुहानिवाताश्रयणे[8] = तीव्र वायु रहित गुफा के आश्रय मे[9] (बैठ कर)
प्रयोजयेत् = भली प्रकार योग करे[10]।

१ ऊचे नीचे स्थान मे बैठने पर रीढ की हड्डी सीधी रखना मुश्किल है एव अन्य अवयव-सस्थान भी टेढे मेढे हो जाते है। किञ्च

विषम स्थान मे बैठने पर ध्यान की गभीरता मे साधक गिर भी सकता है ।

२ यहा स्वास्थ्य की दृष्टि से सफाई और वातावरण की दृष्टि से पवित्रता दोनो ही लिये गये है । मन्दिर इत्यादि स्थल स्वभाव से ही शुद्ध होते है । परन्तु आजकल मन्दिरो की सफाई पर ध्यान न देने के कारण, एव अनियमित भीड भडक्के के कारण भी अनुकूल स्थल नही रह गये है । केश हड्डी इत्यादियो से दूषित होने के कारण मुसलमान और बौद्ध इत्यादियो के स्थान तो सर्वथा अपवित्र ही होते है । स्वभाव से पवित्र स्थल न मिलने पर अपने घर या बगीचे के किसी स्थल को जलादि से शुद्ध कर केवल अभ्यास करने के लिये नियत कर देने पर भी काम चल जाता है । अपवित्र स्थल मे अथवा जिस स्थल मे अपवित्र काम किया गया हो मन की निर्मलता असम्भव है ।

३ ककड बालू इत्यादि वाले स्थल मे बैठना अस्थिर भी है और कठिन भी । ककड गड भी सकते है । जहा बालू होगी वहा सूक्ष्म धूल भी होगी जो शरीर पर गिरकर रोम कूपो का रुद्ध करके प्राणो का ह्रास कर देती है । नासिका इत्यादि के द्वारा वह फुफ्फुस को भी खराब कर सकती है । आग पास मे होने पर तापमान की अधिकता और तापभेद दोनो ही योगी को हानिकर है । आग से निकलने वाला धु आ भी अनिष्ट है । चिनगारी भी शरीर या कपडो पर पड सकती है कभी तो असावधानी से आग मे गिर भी सकता है ।

४ जहा ध्यान की जगह होवे वहा पक्षियो का अथवा द्विरेफो का सुन्दर गान होता हो । नदी की कलकल ध्वनि आदि प्राकृतिक ध्वनिया चित्त की एकाग्रता के लिये उपादेय होती है, परन्तु जो ध्वनि जिसके मन को अनुकूल हो वही उसके लिये लाभप्रद होगी अन्यथा लडाई झगडे की ध्वनि से तो व्यग्रता होकर मन को प्रतिकूलता ही

होगी यहा कोमल सगीत वादितृ अथवा वेदादि शब्द समूहो का भी अपने अपने मनके अनुकूल ग्रहण कर लेना चाहिये। परन्तु घोर भयकर शब्द या धडाके से दूर होना चाहिये।

इसी प्रकार मनके अनुकूल ही जलाश्रय होना चाहिये। जल की कमी होने पर वातावरण मे एक प्रकार की शुष्कता आती है जो अभ्यासी के लिये हानिकारक है। हर तरह का जल हर व्यक्ति के लिये अनुकूल नही पडता, इसलिये स्वास्थ्यानुकूल जल भी आवश्यक है। अत्यधिक जल होने पर शीतलता की अधिकता से हानिप्रद हो जाता है। कभी कभी जल के निकट होने से जल मे गिरने का भी भय रहता है।

अथवा आश्रय को अलग पद गिन लेना चाहिये। रहने के लिये जो मडप हो वह मनके अनुकूल होवे, प्रतिकूल मडप मे वृत्ति की चञ्चलता स्वाभाविक है। आदि से **सुराज्ये धार्मिके देशे सुभिक्षे निरुपद्रवे** इत्यादि के द्वारा बताये हुये वातावरण का ग्रहण करना है। अथवा जहा सिंह, सर्प, मगर, मक्खी, मच्छर, मेढक, कुत्ते आदि न होवे।

कुछ लोगो ने अनिष्ट शब्द अनिष्ट जल, अनिष्ट आश्रयादि लेकर के पूर्व समस्त पद के विवर्जिते को यहा लगा लिया है। किसी भी तरह इष्ट शब्द जलादि होने चाहिये और अनिष्ट नही होने चाहिये। सामान्यत प्रथम पद मे हेय पदार्थो को गिना देने के कारण एव समस्त पद के एकदेश से अन्वय करना वाक्यरचना के विरुद्ध होने के कारण प्रकृत पक्ष ही ठीक लगता है। वैसे भी शब्द जलाशयादि के द्वारा मन की अनुकूलता सगत है। न्यायनिर्णयकार ने तो **शब्दजलाशयादिभिः** पाठ को ही स्वीकार किया है। जिसमे यह अर्थ और भी सगत हो जाता है।

५ यद्यपि निर्देश मन की अनुकूलता के लिये किये गये है। पर मन जहा पर रम जाय वह स्थान ही मन को स्वास्थ्यकारी होता है।

इस प्रकार का दर्शनीय स्थान दृष्टार्थक है अदृष्टार्थक नही। परन्तु ऐसा स्थान न मिलने पर योग का अनुष्ठान असम्भव होता है। अत मनोनुकूल स्थान को घूम फिर कर ढूढना चाहिये। और जहा मन मे प्रीति उत्पन्न हो जाय एव लक्षण अनुकूल हो वही अपना प्रयोजन सिद्ध कर लेना चाहिये।

साधक को यह याद रखना चाहिये कि इस विश्व मे कुछ भी सर्व-गुणसम्पन्न और सर्वदोषरहित नही है। अत यथा सम्भव मनके अनुकूल स्थान ढूढ के फिर मन को भी स्थान के अनुकूल बनाना चाहिये।

६ **अत्र चक्षुशब्द अप्रसिद्ध उकारान्त, छान्दसो वा विसर्गलोप।**

७ जहा दृश्य रमणीक होता है वही मन शान्त होता है। सौन्दर्य आत्मा का स्वरूप है। अत सौन्दर्य की अभिव्यक्ति जहा भी प्रकृति मे होगी वहा परमात्मा का विशेष आविर्भाव मानना पडेगा। वैदिक देवताओ मे कोई भी ऐसा नही जो सुन्दर न हो। ध्यान हमेशा सुन्दर विग्रह का ही करना चाहिये। प्रतिवादियो के सामने आने पर भी दृश्य मे प्रतिकूलता का भान हो जाता है। अत ऐसे वातावरण मे नही रहना चाहिये जहा प्रतिकूल लोग रहते हे।

८ **गुहानिवाताश्रयेण दीपिकापाठ।**

६ गुफा का लक्षण कही बताया गया है-**अल्पद्वारम् अरन्ध्रगर्त-पिटकं नात्युच्चनीचायतम्, एव निश्शेषजन्तूज्झितम्।** अत छोटे दरवाजे वाला, बिना छेदवाली गुफा ही लाभप्रद है। ऐसी गुफा न मिलने पर एकान्त तेज हवा से रहित प्रदेश को भी लिया जा सकता है। गुहा का एकान्त अर्थ प्रसिद्ध ही है। हर हालत मे सर्वबाधाशून्य स्थान मे ही आश्रय लेना चाहिये। योग के लिये बनाया हुआ भुहरा भी यहा लिया जा सकता है क्यो कि उस मे भी गर्मी-सर्दी जल्दी घटती बढती नही।

१० चित्त का परमात्मा से एकीकरण ही योग है। सुन्दर स्थान

मिलने के बाद योग को उत्तरोत्तर बढावे अर्थात् उसका प्रकर्ष करे। इस प्रकर्ष करने के लिये योग को नष्ट करने वाली चीजो से दूर रहे।

अत्याहार प्रयासश्च प्रजल्पो नियमग्रह ।
जनसगश्च लौल्य च षड्भिर्योगो विनश्यति ॥

अर्थात् अधिक खाना, अधिक परिश्रम, अधिक बातचीत, नियमो को पकड बैठना, लोगो से प्रेम करना, एव चचलता योग-नाशक है।

उत्साहात् साहसात् धैर्यात् तत्त्वज्ञानात् च निश्चयात् ।
जनसगपरित्यागात् षड्भिर्योगः प्रसिध्यति ॥

इसी प्रकार उत्साह से, साहस से, धर्य से, तत्त्वज्ञान से, गुरुप्रोक्त योग-साधना की सफलता के निश्चय से, एव लोगो के साथ अधिक उठने बैठने को छोडने से, योग शीघ्र सिद्ध होता है।

११

यम नियम आसन प्राणायाम के द्वारा केवली कुम्भक मे पहुच कर के प्राण को जीत लेने पर अगूठे से द्वादशान्त तक मन और प्राण की साथ साथ धारणा का अभ्यास करने से इन्द्रिय वृत्तियो का मनमे प्रत्याहरण हो जाने से, ब्रह्मानुभव के पूव अभ्यासी को जिन पदार्थो के स्फुरण से योग की सिद्धि का पता लगता है उन्हे बताते है —

नीहारधूमार्कानिलानलानाम् खद्योतविद्युत्-स्फटिक-शशीनाम् ।
एतानि रूपाणि पुरःसराणि ब्रह्मणि अभिव्यक्तिकराणि योगे ॥

ब्रह्मणि=ब्रह्म[1]
योगे=योग मे
पुरस्सराणि=पहले आकर[2]
अभिव्यक्तिकराणि=योग को प्रकट करने वाले[3]
एतानि=ये[4] (निम्नलिखित)
नीहारधूमार्कानिलानलानाम्[5] =तुषार[6] (snow) धुवा[7] सूर्य[8] वायु[9] अग्नि[10],
खद्योत-विद्युत्-स्फटिक शशीनाम्[11] =जुगनू,[12] बिजली[13], स्फटिक[14], और चन्द्रमा के[15]
रूपाणि=रूप है।[16]

१ पर या अपर ब्रह्म इस योग का विषय है । अर्थात् जिस योग की सिद्धि होने पर ब्रह्मानुभव या ब्रह्म दर्शन होता हैं । ब्रह्म के विषय मे चित्तवृत्ति का निरोध ही जिस योग का विषय है । यहा साधना की अवस्था से सिद्धि की अवस्था मे प्रवेश का तात्पर्य है । अथवा ब्रह्म के आविष्कार के लिये जो योग किया जाय वह ब्रह्म योग है । यही परम योग की सिद्धि है । स्त्री-पुत्रादि की प्राप्ति, भूत भविष्यादि का ज्ञान, अणिमादि की शक्ति, यश, धन, आदि आने पर भी वे वस्तुत न ब्रह्मयोग है और न इन्हे ब्रह्म के प्रकट होने के पूर्वचिह्न ही समझना चाहिये । ब्रह्मयोग के द्वारा बौद्धो के शून्ययोग, जैनो का दु खाभाव योग, वैष्णवो का वैकुण्ठ गोलोक योग, योगियो का निर्विकल्प योग आदि की निवृत्ति कर अस्पृश्य योग या सहज योग को ही यहा प्रतिपादित किया है,क्यो कि ब्रह्म स्वरूप होने से सहज है एव असग होने से अस्पर्श ।

२ ये अग्रगामी चिह्न है जिनसे पता लगता है कि अब ब्रह्मसिद्धि दूर नही । ये मानो वे हलकारे (pilot-guard-van) है जिनसे राजा के आने का पता लगता है । जैसे प्रभास पाटन मे जाने वाले को समुद्र का घोष सुनने से पता लग जाता है कि अब सोमनाथ महादेव दूर नही , अथवा हाथ फडकने से पता लग जाना है कि प्रिय के दर्शन मे विलम्ब नही । ऐसे ही इन चिह्नो के प्रकट होने से पता लग जाता है कि ब्रह्म साक्षात्कार अब दृष्टि का विषय होना ही चाहता है । यह मानो धूम की तरह वह्नि का पूर्वरूप लिग है । इन लिंगो मे क्रम से आविर्भाव होता है । जैसे जैसे आगे आगे के लिग दर्शन होते जाय, वैसे वैसे सिद्धि सान्निध्य सिद्ध होना है ।

३ व्यक्त का मतलब है जो चीज पहले ही विद्यमान हो परन्तु ढकी हुई हो एव उसका ढक्कन दूर कर दिया जाय । सभी वैज्ञानिक सिद्धान्त भी इसी प्रकार पहले से मौजूद होते है परन्तु अज्ञान से ढके होते है एव जब अज्ञान के आवरण को दूर किया जाता है तब उनके ज्ञान को आविष्कार कहा जाता है । इसी प्रकार ब्रह्म ने

अपनी स्वातन्त्र्य शक्तिसे अपने आपको अविद्या-पर्दे से (stage curtain) ढाक रक्खा है। एव इसके हटने पर जितना जितना हटता है उतना उतना उसका रूप अभिव्यक्त होता जाता है। सूचक होने से ही इनको अभिव्यक्ति करने वाले बताये है। वस्तुतस्तु ये अभिव्यक्ति के द्योतक मात्र है क्यो कि ब्रह्म नित्य अभिव्यक्त है। किञ्च ब्रह्म अखण्ड होने से उसकी अपनी अभिव्यक्ति के होने मे थोडापना असम्भव ह। सकृत् विभात के द्वारा यही कहा जाता है। फिर भी जैसे अज्ञान-जन्य सदश, चिदश, सुखाश आदि की कल्पना है वैसे ही आविद्यिक अविद्यापगम के विषय मे भी अशाश कल्पना सभव है।

४ प्रत्यक्ष अनुभव से सिद्ध।

५ **नीहारधूमार्कानलानिलानाम् इति दीपिका-नारायण-विज्ञानाना पाठ समीचीनतरो भाति।** उपलब्धकोशेषु प्राचीनतनेषु अनुपलब्धत्वात् रामकृष्ण गोपाल भाण्डारकरेण (Dr R G Bhandarkar) दक्षिणापथवर्तिविद्यालयग्रन्थसग्रहालयेन (Poona Deccan college) प्रकाशिते अस्वोकृतत्वाच्च मूलपाठ स्वीकृत अस्माभि। **प्रमाणीभूतानन्दाश्रममुद्रणालयेनापि अस्मत्पाठः स्वीकृत** भाष्य-नाम्ना प्रकाशितटीकामूलत्वेन। **योगपरम्परया क्रियमाणे अर्थे पाठ-क्रमात् अर्थक्रमस्य गरीयस्त्वा स्वीकर्तव्यम्**, निराकर्तव्यश्च विरोध।

६ शिशिर हेमन्त ऋतुओ मे सफेद रग का जो जमा हुवा जल-कण का समूह गिरता है उसे तुषार कहते है। ऐसे समय मे एकाग्र दृष्टि से यदि गिरते हुए इन कणो का देखा जाय तो एक धु धली चद्दर सी दीखती है। ध्यान काल मे जब ऐसा दिखाई दे तब योग का प्रथम सोपान समझना चाहिये। वस्तुत प्राणो के साथ ही चित्त की वृत्ति इसी प्रकार की प्रवृत्ति करती है। अर्थात् दृश्य का अभाव होने पर भी वृत्ति इस प्रकार का आकार धारण कर लेती है। इसके साथ ही विशिष्ट प्रकार का शब्द, स्पर्श, रस और गन्ध का भी अनुभव

होना है । पहले पहल क्षण मात्र के लिये ऐसी प्रतीतिया होती है फिर धीरे धीरे अभ्यास के बढने पर स्थिर हो जाती है। शरीर के अग-विशेषो मे पुलकन जैसा सुखानुभव भी इसके साथ ही होता है। ये सब आगे के अनुभवो मे भी यथा सम्भव समझ लेना चाहिये। इन अनुभवो से हृदय देश पर एक टक्कर या झटका सा लगता है जो कमजोर दिल वाले लोगो के लिये असह्य होता है। अत उन्हे इन अभ्यासो को विना गुरु की सन्निधि के नही करना चाहिये।

७ शुद्ध मावे को जलाने पर जो एक सावला सलोना धुवा निकलता है वही यहा समझना चाहिये। जब धुवा एक सार निकलेगा तब उसमे लच्छे (spiral) की जो प्रतीति होती है उस प्रकार की गति वाला अन्त करण बन जाता है ।

८ सूर्य की पिङ्गल किरण ही यहा लेनी चाहिये।

९ यहा अर्थ क्रम के अनुसार पाठक्रम समझ लेना चाहिये। यद्यपि वायु दिखाई नही देता तथापि उसके द्वारा हिलते हुए पत्ते दिखाई देते है। बाह्य वायु की तरह आन्तर वायु का तीव्र प्रक्षोभ होने से हृदय कमल के पत्ते जोरो से हिलने लगते है। इसी से वायु का नील वर्ण भी स्फुट हो जाता है।

१० लाल रग वाला प्रकाश और दहन मे समर्थ यहा इष्ट है। यही वायु के क्षोभ का कारण होता है।

११ **खद्योतविद्युत्स्फटिकशशिनाम् इति पाठान्तर । खद्योत-विद्युत्स्फटिकाशनिनाम् इति तु न्यायनिर्णयस्वीकृतपाठ ।**

१२ अमावास्या को काली रात्रि को गाढ अन्धकार मे अग्नि कणो की आभावाले प्रतीत होने वाले खेचर जन्तुओ से भरे हुए अन्तरिक्ष को देखने पर काली साडी पर हीरो की बौछार की तरह जो रूप देखने मे आता है उस प्रकार का चित्रित अन्तरिक्ष यहा लक्ष्य है। यह जन्तु एक क्षण भी स्थिर न रहकर परिभ्रमण करता रहता है यह विशेषता भी समझ लेनी चाहिये।

१३ घनघोर बादलो मे लपट की तरह फलने वाली चिरकालतक प्रभा न देने पर भी सूर्य की तरह मेघ मण्डल से आक्रान्त नभस्थल को प्रतीत कराने हुवे आखो को चकाचौध करके मुंदवा देने वाली दीप्ति यहा समझनी चाहिये। इसका दर्शन होने पर प्राय साधक अत्यन्त भयभीत होकर आख खोल देता है और कभी २ तो चिल्ला कर दौड पडता है। परन्तु इसमे सुखानुभव इतना तीव्र होता है कि विश्व के सभी पदार्थ उसको फीके लगने लगते है।

१४ तीव्र चमक वाला श्वेत और स्निग्ध पाषाण खण्ड। इस प्रतीति मे वृत्ति मे इतनी अधिक पारदर्शिता आजाती है कि यदि किसी भी सस्कार का उदय बाहर मे करा दिया जाय तो स्थिर हो जाते है। भूत, भविष्य आदि काल एव सारे देश इसमे प्रतीत हो जाते है। पाश्चात्य सिद्धो मे स्फटिक दर्शन (crystal gazing) का यही मूल है। अत इस काल मे केवल ऐसे लोगो के साथ रहना चाहिये जो परमात्मा के सिवाय और किसी चीज मे रुचि न रखते हो।

१५ यहा शशी का दीर्घ ईकार छान्दस है। शरत् पूर्णिमा के चन्द्रमा से तात्पर्य है। इसका मक्खन जैसा रग (cream colour) होता है एव मण्डल आकार होता है। अब तक के दर्शनो मे गरमी थी, इसमे ठडक होती है। यह स्थिर है एव इस मण्डल के मध्य मे ही इष्ट दर्शन होता है।

१६ यद्यपि यहा चक्षुग्राह्य रूपो का ही वर्णन है तथापि शब्दादि की भी यहा उपलक्षणा कर लेनी चाहिये। यद्यपि प्रवृत्ति मे और भी अनेक सिद्धिया आती है फिर भी उनमे आसक्ति न करते हुए इन सूचक चिह्नो (mile stones) के सहारे जो योगियो के अनुभवो से सिद्ध है एव केवल बुद्धिमात्र से ग्राह्य है, आगे बढते हुए अपने लक्ष्य को प्राप्त कर लेना चाहिये।

१२

इस प्रकार समाधिस्थ की सिद्धियो को बताया अब जो सिद्धिया व्युत्थान अवस्था मे भी प्रकट होती है उस भूत-जय सिद्धि को बतलाते है —

पृथ्व्याप्यतेजोनिलखे समुत्थिते पञ्चात्मके योगगुणे प्रवृत्ते ।
न तस्य रोगः न जरा न मृत्युः प्राप्तस्य योगाग्निमयं शरीरम् ॥

पृथ्व्याप्यतेजोनिलखे[1] = पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश से[2]
समुत्थिते = बने हुए[3]
पञ्चात्मके = पाच कोश वाले शरीर मे[4]
योगगुणे = योग के गुणो के[5]
प्रवृत्ते = प्रवृत्त हो जाने पर[6]
योगाग्निमय = नये योगाग्नि मे बने हुवे[7]
शरीर = शरीर को
प्राप्तस्य = प्राप्त कर लिया है जिसने[8]
तस्य = उसको
रोग. = रोग[9]
न = नही (होता),
जरा = बुढापा[10]
न = नही (आता) (एव)
मृत्यु[10] = मृत्यु[11]
न = नही (आती)

१ **पृथ्व्यप्तेजोनिलखे पठन्ति केचित् ।**

२ आप्य का अर्थ जल अथवा पृथ्वी से जो आप्य है, इस प्रकार कार्य कारण की अनन्यता का ध्वनि करने वाला यह शब्द है। यहा एक एक भूत का क्रम से जय करना सकेतित किया गया है। पैर से जाघ तक, भूमण्डल रूपी पृथ्वी तत्त्व मे ल बीज से चतुर्मुख ब्रह्मा का ध्यान करके निवृत्ति नाम की कला एव उसकी शक्ति का अपनी आत्मा से अभेद दर्शन करते हुए मैं वही हू, ऐसी धारणा के व्यवहार काल मे भी दृढ हो जाने पर इस उपासना के फल स्वरूप पृथ्वी तत्त्व को वश मे कर लेता है। इस प्रकार प्रथमतत्त्व की धारणा के जीत लेने पर अगला अभ्यास प्रारम्भ करे। जानु से पायु तक जल रूप जल मण्डल मे व बीज से विष्णु का ध्यान कर प्रतिष्ठा कला और

उसकी शक्ति मे अहग्रहोपासना करके उस भावना के दृढ हो जाने से जल तत्त्व का विजय करके आगे बढे। पायु से हृदय तक वह्नि-मण्डल रूप तेजस्तत्त्व मे र बीज से रुद्र का ध्यान कर विद्या कला एव उस शक्ति के साथ अपने अभेद का चिन्तन करे। तब अग्नि तत्त्व पर अपना नियन्त्रण पूर्ण हो जाने से तेजो धारणा जीत ली जाती है। उसके बाद वायु तत्त्व को जीतने के लिये मध्य हृदय से भ्रूमध्य तक वायु रूप से वायु मण्डल मे य बीज के द्वारा ईश्वर का ध्यान करके वायु मण्डल शरीर वाली शान्ति कला एव उसकी अभेदोपासना करे। वायु तत्त्व के वशीभूत हो जाने से वायु धारणा का जय हो जाता है। तब आकाश रूप भ्रूमध्य से मूर्धान्त तक आकाश मण्डल मे ह इस प्रकार बीज से सदा शिव का ध्यान करके आकाश मण्डल को एव उसकी शान्त्यतीता कला और उसकी शक्ति को अपने से एक करके आकाश धारणा को जीते। इससे आकाश तत्त्व अपने अधीन हो जाता है। इसके बाद पृथ्वी को जल मे, जल को तेज मे, तेज को वायु मे और वायु को आकाश मे पञ्चीकरण प्रक्रिया से अथवा दक्षिणा-मूर्ति परमहस प्रक्रिया से उपसहृत करे। इससे पाचों का आत्मा के साथ सदा शिव से ऐक्य हो जाता है इसके बाद **सदा शिवोऽह** इस अनुभव के बल से सदा शिव की तरह ही रोग, जरा, मृत्यु, की निवृत्ति रूप ही आत्मानुभव होता है। देहादि के द्वारा दूसरो के अज्ञान से प्रतीयमान रोग जरादि का भान तो वैसा ही है जैसा अन्य अनन्त शरीरो मे उनका भान होता रहता है। व्यवहार काल मे भी ज्ञानी का यह भाव कभी हटता नही। **स एष सप्रसादो अस्मात् शरीरात् समुत्थाय पर ज्योतिरुपसम्पद्य स्वेन रूपेण अभिनिष्पद्यते** इत्यादि सामवेद एव याज्ञवल्क्य इस मे प्रमाण है।

३ सभी शरीर पञ्च भूतो के विकार से ही उत्पन्न होते है। परन्तु ध्यान के द्वारा तत् तत् महाभूतो से प्रयुक्त कार्य योग्यताओ के वश मे कर लेने पर उनसे समुत्थान हो गया अर्थात् उनको छोडकर उनके

पार चले गये इस प्रकार का अतिक्रमण कहना ठीक ही है। इसप्रकार पाञ्चभौतिक शरीर से समुत्थान होने पर ही आत्मा रूपी शरीर मे स्थिति सभव है। जैसा कि पहले ही बता आये है यह सावना उन मन्दाधिकारियो के लिये है जो कि विवेक और विचार के बल से अपने को देह और उसके विकारो मे अलग करके नही समझ पाते। या उन मध्यमाधिकारियो के लिये है जिनको इस अलगाव का ज्ञान होने पर भी प्रारब्ध के तीव्र विक्षेप से पुन इन विकारो मे अहन्ता को अनुवृत्ति हो जाती है। इन सारे ध्यानो का फल शरीर से समुत्थान ही है।

४ यहा शरीरो के पञ्च कोशो के निर्देश के द्वारा यजुर्वेद मे कही हुई उपसक्रमण प्रक्रिया से ब्रह्म प्रतिष्ठा बताई गई है। अर्थात् पञ्चकोशो के मण्डल कला और शक्तियों को क्रम से उत्तरोत्तर तीन से पूर्व पूर्व तीनो को लपेटते हुए बुद्धि मे उन सब का शिव रूपी आत्मा से अभेद चिन्तन रूपी उपासना से कोश-पञ्चको का यथेष्ट विनियोज्यत्व की योग्यता प्राप्त करना रूपी लक्षण इष्ट है। पक्षान्तर मे पञ्चभूतो की एकता रूपी सबीज समाधि का फल रूप से लक्ष्य का स्थिर रूप से अवस्थान हो जाना भी यहा इष्ट है। इस पक्ष मे—

ज्योतिष्मती, स्पर्शवती तथा रसवती परा।
गन्धवत्यपरा प्रोक्ता चतस्रस्तु प्रवृत्तय ॥
आसां योगप्रवृत्तीनां यद्येकापि प्रवर्तते।
प्रवृत्तयोग त प्राहुर्योगिनो योगचिन्तका ॥

इत्यादि योगि वाक्य प्रमाण है। गन्ध वाली पृथ्वी के जय होनेपर मन चाही गन्ध को सू घ सकता है, या दूसरे को सु घा सकता हैं। एव उसकी देह से सुगन्धि का प्रवाह होने लगता है। इसी प्रकार सब तत्त्वो के विषय मे समझ लेना चाहिये। आकाश तत्त्व से तो असगत्व की सिद्धि है। पञ्चात्मक के द्वारा शरीर मात्र ही एक या तीन तत्त्वो का न होकर पञ्चीकृत पञ्च महाभूतो का ही कार्य है यह सिद्ध किया गया।

५ जो योगी नही है उसको उन उन भूत और कोशो के विरोध उपस्थित करने पर दु ख होता है। यही देह विघात है। जब विरोध की सीमा सहन योग्यता की सीमा को पार कर जाती है तब पूर्ण विघात अर्थात् मृत्यु हो जाती है। जब उपर्युक्त भूतो मे धारणा करके उससे तादात्म्य सम्बन्ध हो जाता है, तब वह भूत विरोध करने मे समर्थ नही होता। जैसे अग्नि अग्नि को नही जला सकती और जल जल को गीला नही कर सकता।

वस्तुतस्तु किसी भी प्रकार से यह पाञ्चभौतिक शरीर मै नही हूँ इस दृढ ज्ञान से इस प्राचीन देह का तादात्म्याध्यास छूट जाना ही योग अर्थात् परमात्मा से एकता का अनुभव, एव तत्प्रयुक्त गुण अर्थात् विषयासक्ति का परित्याग ही वास्तविक योग गुण का प्रवृत्त हो जाना है।

६ योगियो मे प्रवृत्ति शब्द विशिष्ट अर्थ मे रूढ है, नाक के अग्रभाग मे, जीभ के अग्रभाग मे, तालु मे, जिह्वा मध्य मे और जिह्वामूल मे मन को एकाग्र करने से उत्पन्न होने वाला दिव्य गन्ध, दिव्य रस, दिव्य रूप, दिव्य स्पर्श, एव दिव्य शब्द का जो ज्ञान, अर्थात् चित्त की जो वृत्ति बनती है उसमे सशय नष्ट हो जाते है एव समाधि के अनुभव का द्वार खुल जाता है। इससे जो योग के अनुष्ठान का उत्साह बढता है उसको भी प्रवृत्ति कहा जाता है। कुछ आचार्यो ने तो चन्द्र, सूर्य, ग्रह, मणि, प्रदीप, इत्यादियो के ध्यानस्थैर्य को भी प्रवृत्ति ही माना है। इस प्रवृत्ति के द्वारा प्राप्त ज्ञानालोक मे सूक्ष्म और व्यवधान वाले दूर मे होने वाले पदार्थ का भी ज्ञान हो जाता है। किञ्च कायव्यूह निर्माण मे सारे चित्तो का प्रयोजक एक अखण्ड चित्त है इसका भी स्पष्ट ज्ञान हो जाता है।

७ योग रूपी तेजोमय देह की प्राप्ति तभी होती है जब पहले पाञ्चभौतिक देह से अहङ्कार बुद्धि हट जाती है। किसी योगी से सुनकर ही ईसाई धर्म ग्रन्थो मे यह लिखा गया है (Until you die and

are reborn again youwill not attain the kingdom of God अर्थात् तुम्हे परमात्मा का राज्य तब तक नही मिलेगा जब तक तुम मर कर फिर से पेदा न होओ। वे लोग इस मृत्यु का अर्थ साधारण मौत समझकर मरने पर स्वर्ग की प्राप्ति मानते है। पर वास्तविक तात्पय पाञ्चकौशिक देह से अलग होकर अध्यास की निवृत्ति द्वारा शिव देह की प्राप्ति ही है। विनाशी शरीर को योगाग्नि मे डालने पर जिस प्रकार सामान्य अग्नि मे डाला सोना शुद्ध हो जाता है वैसे ही शुद्ध होकर दिव्य शरीर की प्राप्ति होती है जिसमे योगाग्नि की प्रचुरता बढती जाती है। शनै शनै योगाग्नि के द्वारा दोष-समूह जलते जाते है एव दिव्य भावो का शिवोऽहभाव दृढतर होता जाता है।

वस्तुत योग ध्यान ही है। अत ध्यानाग्नि ही योगाग्नि है। ध्यान से जैसे जैसे अध्यास बदलते हैं वैसे वैसे प्रतीति मे परिवर्तन होता जाता है। यह ध्यान चाहे स्वत किया जाय अथवा किसी अन्य परिपक्व योगी द्वारा साधक के अन्त करण मे किया जाय, असर एक ही होता है। परन्तु साधक के करने पर उसका अपने त्रिविध शरीर पर नियन्त्रण बढता जाता है, एव आध्यात्मिक उन्नति का सोपान बन जाता है। दूसरे के द्वारा किये जाने पर आत्म शक्ति कमजोर होती जाती है। चित्त मे नवीन अध्यास का पूर्ण रूप से स्थिर हो जाना ही पुनर्जन्म है। जब शिव से योग करके शिवोऽह भाव दृढ होगया तो जीव का शिव रूप से पुनर्जन्म हो गया यही नवीन देह की प्राप्ति है। मास्को मे डाक्टर राइकोव (Raikov) ने अनेक लोगो को अपनी ध्यान शक्ति के द्वारा पुनर्जन्म करवाने के प्रयोग (Artificial reincarnation) किये हैं। एक प्रयोग मे उन्होने किसी को यह दृढ अध्यास करा दिया कि वह उरविनो नामक शहर का रैफल (Raphael) है। यह खीष्टीय सोलहवी शताब्दी के प्रथम भाग का चित्रकार था। जिस लडकी में इन्होंने यह धारणा करवाई थी कि वह

रैफल है उसकी चित्रकला अति उत्कृष्ट कोटि की होने लगी। जब उससे पूछा जाता था कि यह कौन सा साल है तो वह बडे सामान्य ढग से कहती थी १५०५। एव हवाई जहाज इत्यादि की चर्चा चलाने पर बडे जोरो से कहती थी कि इन सब मूर्खता भरी झूठी बातो से मुझे क्यो तग कर रहे हो। काम्सोमोलोस्काया (Komsomolskaya pıavda) प्रवदा १२ नवम्बर १९६६ के सस्करण मे इन चीजो का प्रकाशन किया गया था। बाद मे पता लगा कि जब ऐसे व्यक्ति के हृदय से इस प्रकार की धारणा हटा दी जाती थी, यद्यपि बाद मे उतनी उन्नत चित्रकारी या गणना करने मे असमर्थ होता था, परन्तु पहले से कुछ श्रेष्ठता तो बनी ही रहती थी। यद्यपि इसे कुछ लोग सम्मोहन (Hypnotısm) मानेगे पर राइकोव का कहना है कि मै एक सम्मोहक के नाते यह विश्वास दिलाता हू कि इन लोगो को ऊर्ध्व मानस मे ले जाने मात्र का काम करके छोड देता हूँ, एव उन पर फिर मै किन्ही भी विचारो का आधान नही करता। कुछ लोगो को उसने इस प्रकार की धारणा करवाई है जिन्हे तीन से सत्रह वर्ष तक के समय को भिन्न भिन्न देहो मे प्रतीत करवा कर उसके चित्र भी लिये है। कई मृत आत्माओ का भी इस प्रकार पुनर्जन्म करवाया गया है। प्राय पाया गया है कि सामान्य सम्मोहन मे विद्युत् मस्तिष्क चित्र (Electro encephelograph) मे अ-शक्ति चक्र (Alpha-rest rhythm) अत्यधिक बढ जाती है। परन्तु पुनर्जन्म मे यह बिल्कुल नही होती एव सामान्य जाग्रत् अवस्था की E E G पाई जाती है। सैचेनोव वैद्यशाला (Sechanov Medıcal Instıtute) के स्नायु रोग पत्रिका (Journal of neuıo-pathology) के १९६८ के अक मे एडामेन्को (Adamenko) द्वारा चित्रित मार्ग तरण (Conductıvıty channel) के द्वारा भी इसको सिद्ध किया गया है। कुछ लोगो का तो ख्याल है कि इस प्रकार के प्रयोग

सम्भवत शिक्षा मे रूस मे प्रयुक्त भी होने लगे है। यह सब प्रयोग योगाग्निमय शरीर के उत्पत्ति को व्यावहारिक प्रयोग मे लाने का प्रयास है। फरक केवल इतना है कि वहा अविद्या चक्र मे एक अध्यास की जगह दूसरे अध्यास का स्थापन है जब कि यहा सर्व-अध्यासो को हटा करके वास्तविक अधिष्ठान की प्राप्ति है। वैसे तो गारुडोपासना या सगुणोपासना मे इसका प्रयोग कमकाण्डी लोग करते ही रहे हैं।

८ सिडनी जुरार्ड (Sydney Jourard) ने अपने ट्रान्सैन्डैन्टल सेल्फ (Transcendentel self) मे यह सप्रमाण सिद्ध किया है कि मनुष्य जब अपने आपको छिपाने का प्रयत्न करता है तभी अधिकतर रोग पैदा होते है। Transactional analysis का भी यही सिद्धान्त है कि रोगों का प्रादुर्भाव परिस्थिति जिनमे व्यक्ति भी सम्मिलित है, एव मनुष्य को असामञ्जस्य होता है। इन दोनो चीजो का कारण मनुष्य का रागद्वेष आदि विकारो के द्वारा अभिभूत होकर यथार्थता का परित्याग करना ही है। योगी मे इन विकारो की असम्भावना से रोग असम्भव है। यह बात दूसरी है कि पूर्व सस्कारो के वशीभूत होकर अथवा लोक सग्रह के निमित्त से आभासमात्र रागद्वेष प्रवृत्त हो जावे। परन्तु वे रोग प्रबल न होकर शीघ्र ही शान्त हो जाते है। यहा रोग से तात्पर्य न तो ऐसे रोगो से है जो कीटाणुओ द्वारा अथवा चोट आदि के द्वारा बाह्य कारणो से उत्पन्न होते है और न उनसे है जो प्रारब्ध के कारण जीवन की अनियमि.ताओ से अवश्यभावी है।

९ शरीर को विरूप करने वाली पलितादि लिङ्ग बाली जरा कही जाती है। यद्यपि शरीर के विकार अवश्यम्भावी है तथापि अधिकतर विकार मानसिक तनावो के होते है। यदि किसी आदमी

को गहरी नीद मे देखो तो उसके चेहरे मे वास्तविक स्वाभाविकता होती है। परन्तु उठने के साथ ही मन स्थिति मे परिवर्तन आने से चेहरे पर एक नकाब चढ जाती है। यह नकाब कुछ अशो तक व्यक्ति स्वय चढाता है, कुछ उसके सहयोगी एव कुछ समाज। अच्छी भली सौम्य लडकी को कुछ देर के बाद अस्पताल मे नर्स बने देखने पर यह बात अत्यन्त स्पष्ट हो जाती है। हसने वाला व्यक्ति कक्षा मे अध्यापन करने के समय कठोर मुखाकृति बना लेता है। इसके पीछे एक प्रकार का अनुशिक्षण (Training) होता है कि अमुक प्रकार का शिक्षक या नर्स आदर्श है। आज कल छोकरो मे एक्टर्स के नकल करने की ऐसी ही प्रवृत्ति काफी देखने मे आती है। इस वास्तविक स्वाभाविकता को छिपा कर नकाब पहनने का प्रयास ही मनुष्य को शीघ्र बुड्ढा बना देता है। इस जरा से ही यहा तात्पर्य है।

१० दुःखम् इति दीपिकापाठ।

११ यद्यपि पाञ्चभौतिक देह की मृत्यु अवश्यभावी है पर जैसे शुक्र-शोणितानुक्षण (Zygot) से लेकर निरन्तर परिवर्तन होने पर भी देह का भोतिकत्व अक्षुण्ण है वैसे ही मरने के बाद भी भौतिकत्व अविशिष्ट रहने से भी देह का नाश नही। नित्य होने से आत्मा का भी नाश नही। सामान्यत देह मे आत्म बुद्धि का हट जाना ही मृत्यु है, जिसे योगाग्नि के द्वारा पहले ही छोड दिया गया है। अत मृत्यु असम्भव है। शिव देह मे अभिन्न सम्बन्ध होने से, शिव मे रोग, जरा, मृत्यु का अभाव होने से योगी मे इन भावो का अभाव तो स्पष्ट ही है।

इच्छा के विना उसकी मृत्यु नही होती यह भी यहा तात्पर्य हो सकता है। या अर्थ नाश आदि को अवान्तर मृत्यु कहा गया है जो योगी को नही होती।

१३

योगसिद्धि के सूचक पूर्व भावी लिङ्गो को बताकर सिद्धि काल के लिंगान्तरो को बतलाते है—

लघुत्वम् आरोग्यम् अलोलुपत्वं वर्णप्रसादं स्वर-सौष्ठवं च।
गन्धः शुभः मूत्रपुरीषम् अल्पं योगप्रवृत्तिं प्रथमां वदन्ति॥

लघुत्वम्=हल्कापना[1]
आरोग्यम्=स्वास्थ्य(तन्दुरुस्ती)[2]
अलोलुपत्वम्=विषयो की तरफ लपकने का अभाव[3]
वर्ण-प्रसादम्=देह के रग का निखार[4]
स्वर-सौष्ठवम्=मीठा और गभीर स्वर[5]
शुभ=सुन्दर
गन्ध=सुगन्धि[6]
च=और
अल्पम्=बहुत थोडा
मूत्रपुरीषम्=पेशाब और टट्टी को[7]
प्रथमां=पहली[8]
योग प्रवृत्ति=योग के सिद्ध होने की प्रवृत्तियां
वदन्ति=कहते है।

१ देह और मन मे ज्ञान और क्रिया के प्रति त्वरित प्रवृत्ति का हेतु हल्कापना कहा जाता है। योग-सिद्ध होने पर शरीर की भरकमता मे एव मानसिक तनाव मे भी कमी आती है। परन्तु लघुत्व उस भाव को कहते है जिसके कारण श्रान्ति व क्लान्ति आ जाने पर भी पुन हल्कापना प्रकट हो जाता है।

२ यह वह भाव है जिसके कारण किसी भी कारण से रोग होने पर भी शरीर तुरन्त ठीक होने की शक्ति से सम्पन्न (recapitulating power) होता है।

३ यह वह भाव है जिसके कारण विषय सन्निधि या विषय के साथ रमण करने के काल मे भी लपक इतनी तेज नही हो पाती कि विषय के हटने पर विशेष पीडा का अनुभव हो। उपर्युक्त तीनो गुण

एक भाव विशेष को बतलाते है जो केवल बाहर के देखने से प्रतीत नही होते परन्तु साधक को स्पष्ट अनुभव मे आते है। अग्रिम तीन गुण दूसरो को प्रत्यक्ष होते है।

४ देह की त्वचा के अन्दर अशुद्ध स्रावो से एक ऐसी झिल्ली बन जाती है जो मनुष्य के रग को फीका (Dull) कर देती है। इन निस्रावो (Secretions) का कारण स्नायु एवं चक्रो का असामञ्जस्य है। देह विज्ञान की दृष्टि से इन असामञ्जस्यो के कारण मानस तनाव एव अन्तर्ग्रन्थि (Endocrine glands) मे विकार उत्पन्न हो जाते है। योग के द्वारा पहले तो आया हुआ फीकापन दूर हो जाता है और फिर दीप्ति के प्रवेश से निखार आ जाता है।

५ जिस प्रकार योगी के देह वर्ण से आखो को आनन्द की प्राप्ति होकर प्रसन्नता होती है उसी प्रकार उसके कण्ठ से निकली हुई ध्वनि चाहे सवर्ण हो चाहे अवर्ण कानो को निनदित करते हुए सुख पहुँचाती है।

६ देह से भिन्न भिन्न योगाभ्यास के अनुसार कमल, चम्पक, केतकी आदि की हल्की हल्की गन्ध निकलती रहती है जो नाक को आनन्द देनी है। सामान्यत प्रत्येक प्राणी के देह से भिन्न २ प्रकार की गन्ध निकलती है एवं किन्ही दो व्यक्तियो की गन्ध एक सी नही होती। इसी कारण से पुलिस के कुत्ते चोर को पकड लेते है। योगी के शरीर की गन्ध उसके वस्त्र आदि मे भी प्रस्वेद के द्वारा प्रविष्ट हो जाती है।

७ पिये हुए पदार्थो का स्थविष्ठ भाग बाहर निकलने पर पेशाब कहा जाता है एव खाये हुए पदार्थो का वही भाग टट्टी कही जाती है। आधुनिक देह विज्ञान मे शरीर मे प्रविष्ट पदार्थो की अपचया-वस्था मे रक्त शोधन के द्वारा गुर्दा (Kidney) से बाहर निकले हुए

विषयुक्त निस्राव को मूत्र एव अजीर्ण, खाये हुए अश के निस्राव को टट्टी कहते हैं। टट्टी के विषय मे दोनो मतो मे कोई विशेष भेद नही है। समग्र देह मे प्राय नब्बे प्रतिशत जल होने से देह प्रविष्टाश वाले समग्र पीत-भुक्त पदार्थों को अन्त्रकरो (intestinal villi) के द्वारा पानीय रूपसे ही ग्रहण करने के कारण पिया हुवा हिस्सा मान कर विरोध परिहार कर लेना चाहिये। योग सिद्धि हो जाने पर बहुत ज्यादा खा पी लेने से भी टट्टी और पेशाब बहुत कम होता है। सामान्य पुरुषो का शरीर खाना खाने और खाये पदार्थ को टट्टी बनाने मे ही अपनी अधिकतर शक्ति क्षय कर देता है। योगियो को भुक्तान्न के पूर्णतया जीर्ण करने की सामर्थ्य होने से उनके यह दोनो ही अत्यन्त अल्प मात्रा मे होते है।

८ यह सात प्रकार की आद्य योग सिद्धि है। इन्ही को अन्यत्र योग शास्त्रो मे आरम्भ, घट, परिचय, निष्पत्ति, मध्यग, एव देवसम आदि नामो से कहा गया है।

१४

इस प्रकार योगाभ्यास के द्वारा शुद्धान्त करण वाले को जिन अवान्तर सिद्धियो की प्राप्ति होती है उनको बताकर प्रत्यगात्मा मे प्रेम वाले योग्य अधिकारी को स्वय प्रकाश आत्मेन्दुवदना सिद्धि की प्राप्ति होती है। जिसके सामने ससार के प्राणि मात्र के मन को मोहने वाली धर्मार्थकाम त्रिवर्ग सिद्धि अगनाये अपनी कुरूपता मे हसी और मजाक के द्वारा हेयमुखी होती हुई जमीन फोड के उसमे घुस जाना चाहती है, एव जिस महालावण्यमयी के पाद-पल्लवो का नीराजन अणिमादि सिद्धि वधुए अपने मुकुट-मणिदीपो से करती है, एव जो अकृतात्म मतियो को दर्शन के लिये भी दुर्लभ है उस आद्या मुक्ति सिद्धि राजशेखरा का अब वर्णन किया जाता है .—

यथा एव बिम्बं मृदया उपलिप्तं तेजोमयं भ्राजते तत् सुधान्तं ।
तत् वै आत्मतत्त्वम् प्रसमीक्ष्य देही एकः कृतार्थः भवते वीतशोकः॥

यथा=जैसे
मृदया=मिट्टी से[१]
उपलिप्तम्=लिपा हुआ
बिम्बम्=बिम्ब
एव=ही
तत्=उस (मिट्टी) से
सुधान्तम्=चूना मिलाकर धो लेने के बाद[२]
तेजोमय=तेजस्वी हुआ हुआ[३]
भ्राजते=चमकता है
तत्[४]=वैसे ही[५]
एक=एक (कोई)[६]
देही=जीव[७]
आत्मतत्त्व=आत्म तत्त्व का[८]
प्रसमीक्ष्य=भली प्रकार साक्षात्कार करके[९]
वै=निश्चय रूप से
कृतार्थ=कृतार्थ[१०] (और)
वीतशोकः=शोक रहित[११]
भवते[१२]=हो जाता है।

१ सोना, चादी अथवा काच के ऊपर स्वभाव से धूल पड़ने से मैलापन आजाता है, उसी को यहा कहा जा रहा है। पक्षान्तर मे सामान्य काच की शुद्धि का साधन मिट्टी अर्थात् साफ किया हुआ भस्मादि का लेप है। दार्ष्टान्त मे तो मिट्टी की जगह प्रथमपक्ष मे अविद्या और द्वितीय पक्ष मे अविद्या के साधन कर्म और योग, अथवा बिम्ब से सूर्य या चन्द्र का ग्रहण किया जा सकता है। उस पक्ष मे उडी हुई धूल या बादल के द्वारा आच्छन्न बिम्ब का ग्रहण करना चाहिये। इस पक्ष मे जैसे मैल का बिम्ब के साथ दूर का रिश्ता भी नही है वैसे ही अज्ञान का ब्रह्म के साथ स्पर्श तक का अभाव भी स्पष्ट हो जाता है।

२ इस पकार धोने से पहले लगा हुआ मैल और यह चूना जो स्वयं मैल रूप है वह दोनो ही धुल जाते है। तात्पर्य है कि मैल मैल को काट देता है या चूना जो स्वयं मिट्टी रूप है धूल रूपी मिट्टी को काट देता है। इसो प्रकार विद्या अर्थात् ब्रह्माकार वृत्ति जो स्वय

अविद्या का कार्य है अविद्या को नष्ट कर देती है। अथवा कर्म और योग जो स्वय कर्म रूप है कर्म रूपी मल को नष्ट कर देते हैं। सूर्य चन्द्र पक्ष मे तो सुधान्त का अर्थ सुधौत कर लेना चाहिये अथवा सुधा अर्थात् अमृत अथवा रोहित रूप वह जिस सूर्य या चन्द्र बिम्ब के अत्यन्त समीप है, वह बिम्ब ही सुधान्त कहा गया। तात्पर्य है कि बादल या धूलिपटल से आच्छन्न होने पर वह रोहित या सुधा उसके समीप रहते हुए भी हमारे लिये नही जैसी हो जाती है। एव आवरण के दूर होते ही पुन वैसा ही हो जाता है। इसी पक्ष मे तो अग्नि के द्वारा सोने या चादी के बिम्ब का विमलीकरण ही यहा इष्ट है।

३ यद्यपि मैल लगने के पूर्व भी दर्पणादि प्रचुर तेजवाले होते है फिर भी मैल निकल जाने के बाद पूर्वापेक्षया कुछ और अधिक तेजस्वी प्रतीत होते है। सूर्यादि भी मेल से अस्पृष्ट होने पर भी ज्येष्ठ के धूलि पटल और भाद्रपद्र के मेघपटल के बाद कार्तिकादि मासो मे अधिक तेज वाले प्रतीत होते है। अथवा सुवर्ण आदि स्वरूप से ही तेजोमय है क्योकि तेज के विकार है। यहा मय का अर्थ विकार समझना चाहिये। वस्तुतस्तु सूर्य चन्द्र भी तेज रूप होने से तेजोमय ही है। एव उसका उपलेपन करने वाली मिट्टी के किसी निमित्त से दूर हो जाने पर दीप्त होकर प्रतीत होता है। सूर्यादि बिम्ब मे मिट्टी का लेप तीनो कालो मे नही होता। इसी प्रकार आत्मा मे भी माया का सम्बन्ध तीनो कालो मे नही होता।

४ तद्वत् स तत्त्वम् इति दीपिकाकारः। एक स कृतार्थ इत्यन्वय।

५ यहा मतुप् का लोप समझना चाहिये। तत् अर्थात् तद्वत्।

६ यद्यपि बहुजीव वाद मे एक का तात्पर्य कोई विलक्षण प्रतिभा सम्पन्न समझना चाहिये, तथापि वस्तुत. एकजीववाद ही मानकर 'मै सर्वभेद शून्य ब्रह्म हूँ' इस प्रकार परमात्मा से ऐक्य प्राप्त करने के

कारण एकता इष्ट है। एकत्व अनुभव से जिस निरतिशय आनन्द का हृदय मे आविर्भाव होता है वह अद्वितीयता ही आनन्द स्वभाव रूप से सदा रहकर एक पद का वाच्य है।

७ शरीर के साथ अध्यास करके 'मै अज्ञ हूँ' इस प्रकार अभिमान करने वाला ही देही कहा जाता है। यहा देह से तात्पर्य स्थूल सूक्ष्म कारण तीनो देहो से है। इन तीनो का अर्थात् कार्य कारण का साक्षी ही वस्तुत देही पद का लक्ष्य है। वस्तुत दह धातु से निष्पन्न होने के कारण आध्यात्मिक, आधिभौतिक, आधिदैविक तीनो तापो से अपने आपको दग्ध होने वाला मानने से ही इसे देही कहा गया है। इन तीनो की निवृत्ति ही प्राणिमात्र को इष्ट होने से यहा तुलना की तीव्रता को प्रतीत कराने के लिये देही पद का प्रयोग है।

८ अनन्त एव आनन्द रूप ही अविद्या के द्वारा ढक कर परतत्र बनाता है अत उसकी निवृत्ति ही आत्मवस्तु को मानो पहले से भी अधिक तेजस्वी बना देती है। तत्त्व शब्द का प्रयोग करके त्व पदार्थ भूत अद्वितीय सुख सवित् स्वरूप को तत् पदार्थ भूत निज रूप करके माया एवं मायिक मलो से त्रैकालिक अत्यन्त अछूतपने का बोध ही ध्वनित किया गया।

९ सशय और विप्रतिपत्ति भावना से रहित ही प्र-शब्द का अर्थ है। सम्यक् स्वय प्रकाश मै ही हू, यह उस दर्शन अर्थात् साक्षात्कार का स्वरूप है।

१० कृत याने कर लिया है, अर्थ याने पुरुषार्थ, अत तात्पर्य हुआ कि परम पुरुषार्थ को जिसने सम्पादित कर लिया है वह कृतार्थ कहा जाता है। चू कि इससे आगे और कोई प्राप्तव्य नही है अत वही कृत-कृत्य कहा जाता है।

११ कृत-कृत्य होने के कारण ही दु ख रूपी विकार असम्भव हो जाता है। वस्तुतस्तु यहा शोक अज्ञान का उपलक्षण है। अत

अविद्या से रहित हो जाता है, यह तात्पर्य है। कारण हट जाने पर कार्य ससार का नाश तो अर्थ-सिद्ध है।

१२. छान्दस पदविपर्यय ।

१५

ध्यान और समाधि का फल बतलाकर तत् और त्व पदार्थ शोधन के द्वारा जीव ब्रह्म की एकता के अपरोक्ष का परिचय कराते हैं :—

यदा आत्मतत्त्वेन तु ब्रह्मतत्त्वं दीपोपमेन इह युक्तः प्रपश्येत् ।
अजं ध्रुवम् सर्वतत्त्वैः विशुद्धम् ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः ॥

यदा = जब[1]
इह = इस देह एव ससार मे[2]
दीपोपमेन[3] = दिये की उपमा से[4]
आत्मतत्त्वेन = आत्मतत्त्व से[5]
ब्रह्मतत्त्व = ब्रह्मतत्त्व को[6]
युक्तः = एक हुआ हुआ[7]
प्रपश्येत् = जान लेता है,[8]
तु = तो[9]
सर्वतत्त्वै = सभी (३६) तत्त्वो से
विशुद्धम् = रहित होकर शुद्ध हुआ हुआ[10]
अजं = जन्म रहित[11]
ध्रुवम् = अपरिणामी
देवम् = महादेव को[12]
ज्ञात्वा = अनुभव करके[13]
सर्वपाशै = सारे पाशो से[14]
मुच्यते = मुक्त हो जाता है[15]।

१ जिस काल या अवस्था मे गुरु के समीप जाकर शुश्रूषा इत्यादि करते हुए चित्त की एकाग्रता प्राप्त करके वेदान्त श्रवण किया जाता है उस काल का ही यहा ग्रहण है। ऐसे काल की दुर्लभता बताना भी यहा इष्ट है। **आश्चर्यवत् पश्यति कश्चिदेनम्** आदि यजुर्वेद यहा प्रमाण है।

२ ज्ञान इस देह एव ससार मे ही सम्भव है। दोनो पदो का सग्रह व्यष्टि और समष्टि भावो के प्रतिपादनार्थ है। अध्यात्म विचार के द्वारा प्रत्यगात्मा एव ससार विचार के द्वारा परमात्मा का

वाच्यार्थ समझ मे आता है। वाच्यार्थ के विना लक्ष्यार्थ समझना असम्भव है। जीव का ज्ञान काय-करण सघात के साक्षी-रूप से होता है एव ईश्वर का ज्ञान सृष्टि-सहार-नियमनादि से। स्वप्न मे ईश्वर तत्त्व के अभाव के कारण ज्ञान असभव है। सुषुप्ति मे जीव तत्त्व के अभाव के कारण ज्ञान असभव है। जाग्रत् मे ही जीव और ईश्वर दोनों की स्थिति होने से ज्ञान सभव होता है। अत यहा जाग्रत् काल का ग्रहण है।

३ **सजातीय-प्रकाशेन अप्रकाश्यत्वे सति प्रकाशैकस्वभावेन दीपस्य आत्मनश्च स्वयप्रकाशिता साधिता स्यात्।**

४ हजार सख्या के विद्युत् कन्दुक (1000 kw bulb) मे एक अलाती (Torch) मे कार्य-क्षमता का अत्यन्त भेद होने पर भी स्वरूप से किसी दूसरे से प्रकाश ग्रहण किये विना प्रकाशित होने की सामर्थ्य एक जैसी है। इसी प्रकार जीव और ईश्वर मे भी अनन्त शक्तियो का भेद होने पर भी ज्ञान सामर्थ्य एक जैसी है। अत दीप की उपमा से इसको समझने का सकेत किया गया है। मा से प्रमाण लिया जा सकता है। अत दीपध्यान मे चक्षु ज्योति एव दीप ज्योति की एकता का ध्यान भी यहा सकेतित है। **अग्निर्वर्चो ज्योतिर्वर्च स्वाहा** आदि श्रुति इसमे प्रमाण है।

५ आत्म स्वरूप अर्थात् शोधित त्व पदार्थ से स्थूल सूक्ष्म शरीर से युक्त होकर ही मै का ज्ञान सर्वप्राणि सुलभ है। मै गोरा, मै काना, मै मूर्ख, इत्यादि अनुभवो मे यह स्पष्ट है। विचार करने पर इन विशेषणो की अस्थिरता एव अह की स्थिरता का ज्ञान होता है। जिस प्रकार सुनार को भिन्न भिन्न गहनो की एव पासा, बिस्कुट, गिन्नी आदि की भी शकलो की अस्थिरता का ज्ञान होकर उन सब में अनुस्यूत शुद्ध स्वर्ण का ज्ञान हो जाता है उसी प्रकार यहा भी शुद्ध अह का ज्ञान हो जाता है। तब पता लगता है कि यह शुद्ध अह

नित्य प्रेमास्पद साक्षी अव्यभिचारी सवित् सुख स्वरूप है। एव जैसे दीपक घट, पट आदि प्रकाश्य पदार्थों से भिन्न होता है उसी प्रकार यह अहन्तत्त्व भी अपने द्वारा दृष्ट (प्रकाशित) देह, इन्द्रिय, मन आदि सघात से भिन्न है।

६ ब्रह्म स्वरूप को प्रत्यगात्मा से एक रूप से देखना है। जैसे पढाते समय पुत्र को शिष्य रूप से देखा जाता है। आत्मा का माया-शबल निज स्वरूप ही ब्रह्म शब्द का वाच्य है। अनन्त, स्वतत्र, सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमत्त्व, ही उसका स्वरूप है।

७ कार्य करण सघात मे दहराकाश मे शम-दमादि साधन-सम्पन्न होने पर एकता की सिद्धि ही युक्त होना है। इसका उपाय वेद वाक्य के द्वारा जीव और ईश्वर के प्रतिपादक वाक्यो से उनकी एकता का 'ब्रह्म ही मै हूँ' इस प्रकार का एकत्व का अपरोक्ष करना ही यहा इष्ट है। यद्यपि कुछ लोग यहा युज धातु के द्वारा दो चीजो की एकता मान कर जीव का ईश्वर से एक हो जाना योग मानते हैं परन्तु अनेक श्रुति युक्ति अनुभवो से विरुद्ध जीव-ईश्वर के भेद को मानना अन्धविश्वास मात्र है। वस्तुतस्तु आत्मा मे ही उपाधि भेद से ये दो कल्पनाये हैं एव उपाधि निवृत्त हो जाने से दोनो कल्पनाये निवृत्त हो जाती है। इस निवृत्ति को ही युजिर् समाधौ धातु से बना हुआ युक्त शब्द बताता है। जैसा उपर्युक्त दृष्टान्त मे बतलाया था, पुत्र को पढाते समय शिष्य समझने से उसका पुत्रत्व खण्डित नही होता। परन्तु यदि शिष्य को पुत्र मान लिया जाय तो वह असत्य कल्पना ही रहेगी। ऐसे ही आत्मा को ईश्वर मान कर उपासना की जा सकती है परन्तु आत्मा से भिन्न किसी ईश्वर को मानना असत्य ही रहेगा।

८ यद्यपि वाक्यानुरोध से वर्तमान कालिक अनुवाद किया गया है परन्तु साक्षात श्रुति तो योग्य अधिकारी के प्रति अनुशासन कर रही

है कि 'ज्ञानानन्दरूप' त्रिविध परिच्छेदशून्य ब्रह्म मै ही हूँ, इस प्रकार अपरोक्ष अवगति करे।

९ पक्ष व्यावृत्ति रूप ही यदा का अनुगामी तो शब्द यहाँ समझना चाहिये।

१० पूर्व मन्त्र मे बताई हुई काल्पनिक अशुद्धि की निवृत्ति रूप काल्पनिक शुद्धि ही यहा समझनी चाहिये। सारे भूत और भौतिक पदार्थ एव अविद्या तथा अविद्या के स्वरूप से रहित हुआ हुआ ही शुद्ध स्वरूप कहा जा सकता है। अविद्या एव तत्कार्य से परामृष्टत्व भी आविद्यिक ही है क्योकि जो अविद्या कार्य की कल्पना कराती है वह स्वय अपनी भी कल्पना कराने के कारण अविद्यान्तर की व्यर्थ कल्पना अनावश्यक है। इसीलिये मन्त्रोक्त तु से अवधारण का अर्थ भी सग्रह कर लेना चाहिये।

११ न यह किसी से उत्पन्न होता है और न यह किसी को उत्पन्न करता है। यही वास्तविक जन्म-रहितता है। अज्ञान के कारण जैसे जीव रूप से इसको जन्मने वाला मान लिया जाता है वैसे ही अज्ञान के कारण ईश्वर रूप से जन्म देनेवाला मान लिया जाता है।

१२ जो स्वयप्रकाश होता है उसे ही देव कहते है। एकमात्र शिव ही स्वयप्रकाश है। उसके प्रकाश से ही 'मै' प्रकाशित होता है, 'मै' के द्वारा ही इन्द्रिया, मन और देह क्रमसे प्रकाशित बनते है। अत वही निश्चल कूटस्थ प्रत्यगात्मा से अभिन्न महादेव है।

१३ अजादि लक्षण चिन्मात्र को अपने से अभिन्न होकर समझना।

१४ मायिक, कमज एव आणव पाशो को अथवा अविद्या के आवरण और विक्षेप तथा अह, ममादि अभिमान बन्धन रूपी पाशो का यहा तात्पर्य है। विद्या से जैसे पाशो से छूटा व्यक्ति अपने भाव मे स्थित हो जाता है, वैसे ही द्वैत, जो अविद्या का कार्य है, वह प्रविलीन हो जाता है।

१५ कुछ आचार्यो ने इसे परिचयावस्था मानी है, जिसका लक्षण है—

तृतीयायां ततो भूत्वा सिंहस्येव महाध्वनि ।
महाशून्य तदाभाति सर्वसिद्धिसमाश्रयम् ॥

अर्थात् इस तृतीय अवस्था मे पहुँचने पर सिंह गर्जन के समान घोष होता है जिसमे महाशून्य का भान हो जाता है। यह महाशून्य ही सारी सिद्धियो का स्रोत है। इसका साधन द्वितीयावस्था है जिसे घटावस्था कहते है। इसमे बद्धासन होकर पेटमे वायु को नीचे से भरा जाता है।

द्वितीयायां घटीकृत्य वायुर्भवति मध्यग ।
दृढ़ासनो भवेन् योगी ज्ञानी देवसमस्तदा ॥

१६

जो दिक्कालादि से अनवच्छिन्न परम स्वतंत्र प्रेमास्पद नित्य आत्मा है वही विष्णु से चीटी तक एव महत् से अणु पर्यन्त सबके अन्दर प्रत्यक् रूप से विद्यमान है। इस बात का अतिधन्य वेद हर्ष-निर्भर मनवाला होकर के अनुकम्पा पूर्वक ब्रह्मरूप से अभिन्न हम पुरुषो के प्रति उपदेश करता है :—

एषः ह देवः प्रदिशः नु सर्वाः पूर्वः ह जातः स उ गर्भे अन्तः ।
सः एव जातः सः जनिष्यमाणः प्रत्यक् जनान् तिष्ठति सर्वतोमुखः ॥

एषः[1] = यह[2]
ह=प्रसिद्ध[3]
देवः = महादेव
सर्वाः=सारी
प्रदिशः=दिशाये और अवान्तर दिशाये है[4]।
नु[5]=आश्चर्य है कि[6]
ह = वह प्रसिद्ध (परमात्मा)
पूर्वः = सबसे पहले
जातः = पैदा हुआ (काल पुरुष[7]) है।
उ=और भी
स =वह (महादेव)

गर्भे=हिरण्यगर्भ[८]
अन्त =के अन्दर (विद्यमान् है)।
स=वह
एव=ही (स्थूल सूक्ष्म रूप से)
जात =(जीव रूप से) उत्पन्न हुआ है[९]।
स =वह(महादेव) जो
जनिष्यमाण = आगे भी स्वभावत उत्पन्न होता रहेगा[१०]
सर्वतोमुख=सब तरह से[११]
जनान्[१२]=चेतन अचेतन उत्पन्न हुए पदार्थों को[१३]
प्रत्यक्=प्रत्यगात्मा रूप से[१४] (प्रतीत होता हुआ)
तिष्ठति=रहता है।

१. एष ह इति वा, एषोऽह इति वा, एष हि इति वा पाठभेदा ।

२ जीव की बुद्धिका द्रष्टा रूप ब्रह्मात्मा जिसका प्रकरण चला हुआ है उसी का यहा परामर्श है।

३ हि पाठ मानने पर 'ही' अर्थ कर लेना पडेगा। अन्य पाठ आर्ष सन्धि के कारण सगत है।

४ पूर्वादि दिशाये एव नैऋत्यादि अवान्तर दिशायें है। अथवा ऊर्ध्व और अध को सग्रह करके दशो दिशाओ को ले लेना चाहिये। तात्पर्य है कि सारा ही दिग्रूप आकाश (Space) परमात्म रूप ही है। 'ओं ख ब्रह्म' इत्यादि यजुर्वेद और 'आकाशस्तल्लिङ्गात्' इत्यादि ब्रह्मसूत्र इसमे प्रमाण हैं।

अथवा 'प्र दिश ' ऐसा पदच्छेद करके प्र का सम्बन्ध वाक्यान्तके तिष्ठति के साथ करके 'प्रतिष्ठति' अर्थात् प्रतिष्ठित है ऐसा अन्वय कर लेना चाहिये। 'दिश ' का तो अर्थ उस हालत मे भी 'सभी दिशाओ' का बन जायेगा।

५ 'प्रदिशोऽनु' पठ्यते।

६. अनु ऐसा पाठ मानने पर अनु के कारण कर्म प्रवचनीय योग मे दिश को द्वितीया समझ लेना चाहिये। तब तात्पर्य होगा कि वह देव सारी दिशाओ को अनुप्रवृत्त करता है। अर्थात् दिक् प्रतीति को

वही अन्त करण मे पहले प्रतिष्ठित कर देता है, जिससे खण्डाकाश (Limited space) का प्रथम भ्रम प्रारम्भ होकर अन्य भ्रमो का बीज पड जाता है। अथवा दिक् से अनवच्छिन्न हुआ हुआ ही वह अद्वितीय महादेव सभी दिशाओ के प्रति अनुगत अर्थात् व्याप्य हुआ हुआ प्रतीत होता है।

'नु' पाठ मानने पर तो जो देश है वही काल आदि सर्व रूपो से प्रतीत होता है, यही आश्चर्य है। यह क्या केवल दिशा रूप ही है? ऐसी शका के जबाब मे सर्वा से सर्व रूप अव्याकृत का प्रतिपादन समझ लेना चाहिये।

७ किसी भी चीज के उत्पन्न होने के पूर्व अर्थात् प्रथम काल की सत्ता आवश्यक है। जो चीज पहले न हो और फिर हो उसको ही उत्पन्न कहते है। एव न होने की अवस्था से होने की अवस्था काल के विना सम्भव नही। अत कल्पादि मे सारे शरीरियो से प्रथम काल ही शरीरी होकर प्रतीत होता है। केवल आकाश (Space) अपरिवर्तित अवस्था मे काल की अपेक्षा नही रखता। नित्यकाल शरीरी काल (अर्थात् अनित्य काल) से तो भिन्न है ही। नित्यकाल और अखण्ड आकाश लक्षण और प्रमाण भेद से रहित होने के कारण अभिन्न ही है। यहा जैसे दिशा शब्द का प्रयोग करके खण्ड आकाश मे परमात्मा को व्यापक बतलाया है वैसे ही अब खण्ड काल मे व्यापक बताना इष्ट है। अत आकाश के बाद ही खण्ड काल को बताया जा सकता है। जिस प्रकार दिक् से अव्याकृत को बतलाया था वैसे ही यहा सूत्रात्मा का प्रतिपादन इष्ट है। वेदो मे सवत्सर ही सूत्रात्मा है। सवत्सर ही शरीरी काल है। अत सवत्सरोपासना का विस्तृत वर्णन किया गया है।

८ भूत पञ्चक से समग्र हितकारी और रमणीय ससार उत्पन्न होने के कारण उसे हिरण्यगर्भ कहा जाता है। किञ्च 'उ' के द्वारा जो 'भी' अर्थ का प्रतीक है यह बताया जा रहा है कि उसमें वर्तमान

ब्रह्माण्ड रूप गर्भ अर्थात् विराट् रूप भी वही है । तात्पर्य है कि सारे कार्य और कारण रूपो से एकमात्र आत्मा ही प्रतीत हो रहा है ।

किसी पक्ष मे यहा गर्भ से गर्भाशय मे प्रविष्ट भी लिया गया है । परन्तु समष्टि रूप के वर्णन के बीच मे आने से समष्टि गर्भ का ग्रहण अधिक योग्य है। अथवा समष्टि और व्यष्टि को एक मानकर वही समष्टि और व्यष्टि दोनो गर्भो मे विद्यमान है, ऐसा अर्थ समझ लेना चाहिये ।

९ जो दिक् मे और काल मे स्थित है एव हिरण्यगर्भ, विराट्, आदि रूपो से ब्रह्माण्ड के उदर मे विद्यमान है वही सूक्ष्म समष्टि एव स्थूल समष्टि कार्य-कारण की उपाधिवाला परमात्मा व्यष्टि रूप अनन्त कार्य-कारण उपाधिवाला होकर व्यष्टि रूप अनन्त जीवात्मभाव से उत्पन्न होता है । इससे आरोपित पुरुष अवयव का प्रतिपादन अनारोपित पुरुषावयव वाले विराट् रूप प्रजापति के वर्णन के बाद करके पुराणो की उस प्रसिद्धि के मूल रूप को ध्वनित किया जिसके अनुसार मेरु उल्ब है एव पर्वत जरायु तथा जीव एव ससार शिशु ।

१० अतीत एव अनागत के ग्रहण से वर्तमान का ग्रहण भी अर्थ सिद्ध है । आत्मा सभी जीवो मे अन्तर्यामी रूप से विद्यमान है यह तात्पय है । आने वाली कार्य-करण उपाधियो के द्वारा वही अद्वितीय आत्मा विद्यमान है । वस्तुतस्तु उपाधियो का उत्पादक होने से उपाधिरूप भी वही है एव उपाधियो का जनक होने से दोनो का निमित्त भी वही है ।

११ सब दिशाओ मे मुख अर्थात् उपलब्धि के द्वार होने से सर्वतोमुख कहा जाता है । अथवा सब मुख अर्थात् इन्द्रियो से वह सर्वत्र उपलब्ध होता है इसलिये सर्वतोमुख है । विवेकियो का तो कथन है कि वह सर्वत्र सम्मुख ही रहता है अत मानो बहुमुखी है । लिग मे यह सर्वतोमुखता स्पष्ट हो जाती है ।

१२ प्रत्यग्जनास्तिष्ठति इति पठते दीपिकाकार । प्रत्यङ्जनान् तेष्ठति इति वा । प्रत्यङ्जनास्तिष्ठति इति वा पाठ ।

१३ जनी प्रादुर्भावे धातु से निष्पन्न जन शब्द चेतन अचेतन सभी उत्पन्न होने वाले पदार्थों क अर्थ वाला है। अत सारे पदार्थों के अन्दर हुआ हुआ वह उन सबके मुख अर्थात् चिन्ह वाला है। जैसे मुख से आदमी की पहचान होती है वैसे ही जड चेतन सबसे परमात्मा पहचाना जाता है। पाठान्तर से तो जना को सम्बोधन मानकर 'हे लोगो, प्रत्यक् रूप से अवस्थित रहता है' ऐसा अर्थ कर लेना चाहिये। एव ऋषियो द्वारा शिष्यो के प्रति यह सम्बोधन है। अथवा शिष्यो का एक दूसरो के प्रति भी यह सम्बोधन हो सकता है। अथवा 'जना' इस शब्द के द्वारा बुलाया जाने वाला परमात्मा ही है। वस्तुतस्तु पाठान्तर मे द्वितीया के लिये प्रथमा का प्रयोग मान कर प्रतिपादित अर्थ ही सगत हो जाता है।

१४ प्रत्यक् शब्द यहा अव्यय समझना चाहिये। प्रत्यङ् पाठ स्वीकार करने पर तो प्रसिद्ध प्रत्यक् शब्द से ही काम चल जाता है। बुद्ध्यादियो के प्रति प्रतिकूल होकर जो अन्दर ही अन्दर जाता जाता है वह प्रत्यक् है। मै के भी अन्दर जो आत्मरूप से प्रतीत होता है एव अनन्त समष्टि व्यष्टि रूप सभी कार्य-करण उपाधियो के भीतर ही प्रतीत होता है अत वह परमात्मा प्रत्यक् कहा जाता है।

१७

आखिरी से पहले मत्र मे ब्रह्म आत्मा एव देव शब्दो का अद्वितीय रूप से प्रतिपादन किया। सामान्यत ब्रह्म तात्त्विक सत्य है (Metaphysical truth), आत्मा अनुभूत सत्य है (Existential truth), एव देव मीमासित सत्य है (Theological truth)। भिन्न भिन्न ध्वनियो के रहते हुए ही ये एक दूसरे के पर्याय रूप मे प्रयुक्त होकर वेदान्त दर्शन को समझने मे जहा एक तरफ धु घलापन लाते हैं वहा दूसरी

तरफ एक उस अद्भुत वातावरण का निर्माण करते है जहा धर्म, दर्शन और विज्ञान आपस मे घुल मिल जाते है। अध्यात्म और दर्शन, भक्ति और क्रिया का समन्वय (Mysticism, theology, philosophy, vitaleneigy) एक अत्यन्त स्निग्ध रूप से हो जाता है जो औपनिषद् दर्शन की सबसे बडी देन है। अब इसी गहन तत्त्व को व्यापकेश्वर वाद के रूप मे (pantheism) निर्देश करते है —

यः देवः अग्नौ यः अप्सु यः विश्वं भुवनम् आविवेश।
यः ओषधीषु यः वनस्पतिषु तस्मै देवायनमः नमः॥

य.=जिस	**य** =जिसने
देव =महादेव ने[1]	**विश्वम्**=सारे
अग्नौ=अग्नि मे,[2]	**भुवनम्**=भुवनो को[6]
य =जिसने	**आविवेश**=प्रवेश कर लिया[7]
अप्सु=जल मे,[3]	**तस्मै**=उस[8]
य =जिसने	**देवाय**=देवता को
ओषधीषु=चावल आदि मे,[4]	**नम** =नमन है[9]
य =जिसने	**नम** =बार बार नमन है[10]।
वनस्पतिषु=पेडोमे,[5]	

१ पूर्व मन्त्र मे हिरण्यगर्भादि रूप से परमात्मा को उत्पन्न बताया गया। वह उत्पत्ति स्वरूपत न होकर घटाकाश, या जल चन्द्र रूप से प्रातीतिक उत्पत्ति है। इसे बताने के लिये प्रवृत्त हुआ यह मन्त्र देव शब्द से स्वय-प्रकाश-चिन्मात्र वपु को बताता है। तात्पर्य है कि परमात्मा शब्दादि के कार्य मे शब्दादि को व्याप्त करने वाली बुद्धि मे जल मे चन्द्र की तरह हिरण्यगर्भादि रूप से प्रवेश कर जाता है। अर्थात् घट मे परमात्मा के प्रवेश का तात्पर्य है घट को विषय करने वाली घट के आकार वाली बुद्धि वृत्ति मे उसका प्रतिफलित हो जाना।

सर्व रूप से आत्मा के प्रतिपादन के बाद विभूति रूप से वर्णन विषय को हृदयंगम कराने के लिये है।

२ अग्नि से भूत-तन्मात्राओ का ग्रहण करके अपञ्चीकृत सूक्ष्म सृष्टि का ग्रहण कर्तव्य है। अथवा अग्नि कर्म है।

३. जल से पञ्चीकृत पञ्चमहाभूत अर्थात् स्थूल शरीर का ग्रहण है। अथवा अप कर्मफल का प्रतीक होने से वह कर्म-फल प्रदाता रूप से व्यापक है यह बताना यहा इष्ट है।

४ अमरसिह के अनुसार '**ओषध्य फलपाकान्ता**' अर्थात् फल पकते ही जिसका अन्त हो जाय उसे ओषधी कहते है।

५ फली वनस्पतिर्ज्ञेय इस कोश के अनुसार जो बार बार फल देता है उसे वनस्पति कहते है। वस्तुतस्तु फलपाक मे समाप्त होने का तात्पर्य है जो कर्मफल कार्य-करण उपाधियो मे एक बार सुख-दु खात्मक अनुभूति कराके समाप्त हो जाते है वे सकाम अनुष्ठान। एव सत् चित् अनन्त सुख अपरोक्षस्वभाववाला बार बार प्रतिक्षण आनन्दघन रूप आत्मा का अनुभव कराने वाला निष्काम कर्मोपासना ही वनस्पति है। अर्थात् सकाम और निष्काम दोनो ही कर्मो मे ज्ञेय परमात्मा तो एक जैसा ही है। सभी स्थावर जगमो मे परमात्म-शक्ति ही काम करती है यह अभिप्राय है।

६ अपने द्वारा निर्मित ससार मण्डल मे स्वय ही प्रविष्ट है। कर्म मे ईप्सिततमत्व होने से भाव यह है कि भूरादि लोको का निर्माण प्रवेश करने के लिये ही किया गया था। अथवा चतुर्दश भुवनो को सत्ता स्फुरण देकर उनको अपने ज्ञान का विषय बनाना ही प्रवेश करना है। सामान्यत तो सत्ता दान करके सत्ता रूप से भी उनमे प्रवेश है ही।

भुवन का अर्थ इन्द्रादि देवगण भी होता है। अत व्यष्टि रूप जगम कार्य करण उपाधियो मे अर्थात् अग्नि, वरुण, इन्द्रादि देवताओं

मे वही प्रविष्ट होकर उन्हे शक्ति देता है जिससे वे अपना कार्य करने मे सक्षम हो सके। निरुक्त के अनुसार तो **भवतीति भुवनम्** अत महदादि सारे कार्य हा भुवन शब्द के वाच्य है। इनका प्रवतक होना भी एक प्रकार से इनमे प्रवेश हो जाना है। जैसे प्रेतात्मा किसी के शरीर को जब प्रवृत्त करता है तो उस शरीर मे प्रेतात्मा का प्रवेश माना जाता है। सम्मोहन (Hypnotism) मे सम्मोहक सचमुच सम्मुग्ध मे प्रवेश नही करता है, फिर भी सम्मुग्ध मे सम्मोहक का प्रवेश माना जाता है। प्रवर्तक रूप से महेश्वर का प्रवेश भी ऐसा ही समझना चाहिये।

७ यहा काल अविवक्षित होने से नित्य आवेश समझना चाहिये।

८ विश्वरूप, सारे भुवनो के मूल, जो सारे विश्व और भुवनो मे प्रविष्ट है।

९ सर्व उपद्रवो की उपशान्ति के लिये मन, वाणी और कर्म से अपने आपको परमात्मा के लिये बलि देता हूँ। नम शब्द का वास्तविक अर्थ त्याग है। अत अहन्ता ममता का त्याग ही वास्तविक और पूर्ण नमन है।

१० योग की तरह ही नमन स्वतत्र साधन है। इसको बतलाने के लिये इसका अलग प्रयोग किया गया है। प्रथम नमन के द्वारा योगादि साधनो के साथ भी इसका प्रयोग किया जा सकता है यह बताया। वस्तुतस्तु योगादि सभी साधन नमस्कार मे पर्यवसित होते है। एव जिसने ईश्वर, गुरु और वेद को नमस्कार कर लिया उसको सद्य मुक्ति प्राप्त हो जाती है और अन्य साधन निरर्थक हो जाते हैं।

द्विरुक्ति को आदर के लिये माना जा सकता है। अत नमस्कार के साधन को अधिक आदर दिया जा रहा है। नमन अतिशय आदर पूर्वक होना चाहिये अवज्ञा पूर्वक नही। बार बार नमन से परमात्मा

अत्यधिक आदर के योग्य है यह बताया जा रहा है। चूं कि यहां विश्वरूप का प्रतिपादन किया जा रहा है अत व्यवहार्य सभी पदार्थ और पुरुषो के प्रति अत्यधिक आदर कर्तव्य है। वेदान्ती प्राणिमात्र को शिवरूप समझ कर सबका आदर करता है। कहा जा सकता है कि नमन और ज्ञान निष्ठा से ही यदि कृतार्थता सिद्ध हो जाय तो फिर अष्टांग योग निरर्थक हो जायेगा। परन्तु योग के द्वारा मन आदि को जिसने नहीं जीत लिया है वह शिव के लिये अपनी बलि कभी देने मे समर्थ नही हो सकेगा। यदि इस जीवन मे कोई गुरु, शास्त्र, एवं ईश्वर को नमस्कार कर सकता है तो मानना पडेगा कि पूर्व जन्म मे वह योगाभ्यास कर चुका है।

हठं विना राजयोगो, राजयोगं विना हठः।
न सिध्यति द्वयं तस्मात् आनिष्पत्ते समभ्यसेत् ॥

इत्यादि स्मृति वाक्य इसमे प्रमाण हैं।

अथवा मुक्त की भी अवस्था ईश्वर तुल्य होने से ईश्वरवत् ही वह नमस्कार्य है। प्रथम नम से ईश्वर को नमस्कार करके द्वितीय नम से शिवयोगी, जीवन्मुक्त, परमहंस गुरु को नमस्कार किया गया। इस प्रकार नमस्कार करके श्वेताश्वतर महर्षि शिष्यों को शिक्षा दे रहे है कि ब्रह्मविद्वरिष्ठ होने पर भी ईश्वर और गुरु सदा ही नमस्कार्य हैं।

अध्याय समाप्ति के लिये नम' पद का अभ्यास माना जा सकता है। या 'नमोनम' एक निपात समुदाय है जिसका अर्थ नम है।

इति द्वितीयोऽध्यायः।

—•—

अथ तृतीयोऽध्यायः

पूर्वाध्याय मे वाक्य ज्ञान से अविद्या की निवृत्ति एव द्वितीयाध्याय से तत् उपयोगी योग का प्रतिपादन करके अब वाक्यार्थ ज्ञान के उपयोगी पद के अर्थो का ज्ञान कराते हुए सदाशिव के ध्यान रूपी लक्ष्य की सिद्धि के लिये स्वरूप और महिमा का वर्णन प्रारम्भ करते है —

१

यः एकः जालवान् ईशते ईशनीभिः सर्वान् लोकान् ईशते ईशनीभिः । यः एव एकः उद्भवे सम्भवे च ये एतत् विदुः अमृताः ते भवन्ति ॥

यः = जो[१]
एक = एक[२]
जालवान् = महा इन्द्रजाल वाला[३]
ईशनीभि = अपनी ईश्वरी शक्तियो के द्वारा[४]
ईशते = ईश्वर की तरह आचरण करता प्रतीत होता है,
य = जो
एक = अकेला
एव[५] = ही
उद्भवे = सृष्टि[६]
च = और
सम्भवे = स्थिति और प्रलय काल मे[७]
ईशनीभिः = अपनी व्यक्त शक्तियो से[८]
सर्वान् = सभी
लोकान् = अपने से बाहर प्रतीत होने वाले जड चेतन जगत् का[९]
ईशते = शासन करता है,
एतत् = उस सत्य तत्त्व को[१०]
ये = जिन्होने[११]
विदु = जान लिया
ते = वे
अमृता = अमर[१२]
भवन्ति = हो जाते है ।

१ जिसकी सिद्धि अन्य के अधीन नही है ऐसे स्वायत्त सिद्ध को ही अखिल भेदो के अस्त हो जाने पर अविकारी आत्मा का यहा सकेत किया जा रहा है ।

२ द्वैत गन्ध शून्य परमात्मा त्रिविध परिच्छेद शून्य होते हुए भी सवनियन्ता एव सर्वरूप होकर जगत् की उत्पत्ति स्थिति और लय का कारण वैसे हो प्रतीत होता है जैसे अविकृत रहते हुए मायावी अपनी माया से हाथी, राजा, अकुशादि वाला अथवा स्वप्न मे अविकृत रहते हुए ही जीव घोडा, गधा और चाण्डाल बन जाता है। यही उसकी एकता है।

३ **जाल गवाक्ष आनाये कोरके दम्भवृन्दयोः। जालो नीपद्रुमे जालीं कोशातक्याम् उदाहृता** ॥ इत्यादि कोशो से जाल शब्द अनेकार्थक है। तथापि इन सब अर्थो मे जल सम्बन्ध होने से जो जल मे हो (जले भवति) वह जाल है, यह अर्थ अक्षुण्ण ही है। मछली पकडने का जाल जल के अन्दर रहता है तो कोशातकी मे जल भरा रहता हैं और गवाक्ष वर्षा मे शाला को बचाकर स्वय जल मे भीजता रहता है। इसी प्रकार जल रूपी अविद्या मे प्रतिबिम्ब रूप से ब्रह्म का प्रवेश भी है, पदार्थ रूप से माया मे सत्ता देते हुए कल्पित रूप से रहता भी है, एव जीव रूप से अविद्या के विक्षेपो को सहन भी करता है। यद्यपि जल का अधिकतर अर्थ कर्म ही है तथापि कर्म का मूल कारण होने से अविद्या भी जल सम्बन्धी होकर जाल पद का वाच्य बन जाती है। एव अधिष्ठान रूप से ब्रह्म जालवान् कहा जाता है। किञ्च जैसे जाल को मछली काट नही सकती उसी प्रकार माया जाल को जीव काट नही सकता। वैसे भी बाजीगरी को इन्द्रजाल कहते है जिसमे सारे पदार्थ दीखते है परन्तु होते नही। अविद्या भी महेश का महेन्द्रजाल ही है। अथवा जिस प्रकार मकडी अपने मे से ही जाल को निकालकर पुन अपने मे ही लीन कर लेती है वैसे ही महेश अविद्या महेन्द्र जाल को अपने से निकाल कर अपने मे ही लीन कर लेते हैं। जैसे मकडी के जाल को फसा हुआ मच्छर भेदने मे असमर्थ होता है उसी प्रकार जीव अविद्या की शक्तियो को भिन्न नही कर पाता।

उपर्युक्त कोश वाक्य मे यदि वृन्दार्थक जाल शब्द को यहा समझा जाय तो अर्थ होगा कि **एकधा भवति त्रिधा भवति पञ्चधा सप्तधा नवधा पुन** इत्यादि यजुर्वेद के अनुसार वह परमात्मा ही अनेक रूपो वाला बनने वाला होने से समूह वाला या जालवाला कहा गया है।

४ ज्ञान, इच्छा और क्रिया अथवा आवरण, विक्षेप, मल, आणव आदि शक्तियो का यहा सग्रह है। यहा परमात्मा की स्वरूप शक्तियो का ग्रहण है, क्यो कि तटस्थ शक्तियो का वर्णन तो आगे ईशनी शब्द से कहना है। पुराणो मे इसे पराशक्ति और अपरा शक्ति के भेद से कहा गया है। यद्यपि ज्ञान शक्ति, क्रियाशक्ति, इच्छा शक्ति स्वरूप से एक अखण्ड परमशक्ति ही है तथापि शुरू शुरू मे साधक को अनेकता की प्रतीति होती है अत ऐसा कहा गया है। स्मृति मे भी कहा है **एकैवाह जगत्यत्र द्वितीया का ममापरा।** कार्यभेद के नानात्व को देखकर ही सामान्य व्यक्ति को उसमे नानात्व की प्रतीति हो जाती है। वस्तुत ब्रह्म भी एक ही है और उसकी शक्ति अविद्या भी एक ही है। परन्तु इस शक्ति का स्वरूप ही प्रतिक्षण मे परिणत होते हुए ब्रह्म को अनन्त रूपो वाला प्रतीत कराना है। विवेकी इसी लिये **ईश्यत आभि इति ईशन्य** इनके द्वारा मानों अनेकाकार होकर प्रतीत होता है एव ऐसा होने से इनके शासन मे प्रतीत होता है इसी लिये इनको ईशन्य कहते है। यहा ल्युट् करण अर्थ मे भी हो सकता है एव अधिकरण अर्थ मे भी। ब्रह्म इन ईशनियो का अधिकरण है। टित्व होने से ङीप् कर लेना पडेगा। **अधिष्ठानत्वमात्रेण कारण ब्रह्म गीयते** इत्यादि वार्तिकामृत यहा गतार्थ है। यद्यपि कुछ लोग ब्रह्म स्वरूप मे शक्तियो को मानने से द्वैत प्राप्ति समझते है परन्तु यह आक्षेप तो अत्यल्प है। **किन्न पश्यसि ससार तत्रैवाज्ञानकल्पितम्** आदि के द्वारा विद्यारण्य स्वामी ने, **देवस्यैष स्वभावोऽय** के द्वारा भगवान् गौडपादाचार्यों ने अविद्या या स्वभाव को ही स्वीकार करके

इसका समाधान कर दिया है। स्वरूपदान, स्फुरणदान आदि की शक्ति व्यक्त हो या अव्यक्त, रहेगी तो अवश्य ही। अधिष्ठान होना ही इन शक्तियो का ईशन अर्थात् शासन करना है। माया के कार्य समष्टि हो या व्यष्टि माया के द्वारा ही चलते है क्यो कि ब्रह्म अविकारी और असग है, परन्तु ये कार्य ब्रह्म के विना चल नही सकते बस इतना ही उसका शासकत्व है।

५ **च एवैक इहोद्भवे पठति दीपिकाकार । इह प्रतीयमाने ससारे।**

६ उत अर्थात् ऊपर ऊपर, भव अर्थात् होना। अनेक प्रकार का बनना ही उद्भव है जिसे सामान्यत सृष्टि कहते है। अथवा भव अर्थात् होना जब उद्वृत्त अर्थात् प्रारम्भ हो जाय तब उसे उद्भव कहेगे। उत्पत्ति मे वह अकेला ही निमित्त और उपादान कारण है यह भाव है।

७ जिस प्रकार वह सबकी उत्पत्ति मे कारण रूप से स्थित है क्यो कि सब कुछ उसी से सम्भव होता है उसी प्रकार स्थिति काल मे वह उन सबको सम्यक्‌भव भली प्रकार सत्तावान् बनाये रखने से सभव है तथा अन्त मे सम्यक् माने अच्छी तरह से कार्य रहित कारणमात्र रूप से स्थित हो जाता है, इस लिये भी वह सम्भव ही है। चू कि लीनावस्था मे पुनः सारी सृष्टि के उत्पत्ति की सभावना बनी रहती है अत समग्र कार्यो को कारण रूप से एकता रूप से प्राप्ति हो जाने पर भी लय और उत्पत्ति का निमित्त बना हुआ चिन्मात्रवपु ब्रह्म सम्भव कहा जा रहा है।

लय दशा मे आधार से अनतिरिक्त वह एक ही बना रहता है। इसलिये भी उसका सम्भव कहा जाना ठीक ही है। **सम्भव कथितो हेतौ उत्पत्तौ मेलकेऽपि च। आधारानतिरिक्तत्वे आधेयस्य च सम्भवो।** इत्यादि कोश इसमे प्रमाण हैं। चू कि कार्य आदि और

अन्त मे नही रहते अत **आदावन्ते च यन्नास्ति वर्तमानेऽपि तत्तथा** इत्यादि न्यायो से वे प्रतीति काल मे भी असत्य ही है ।

सम् अर्थात् सम्यक् स्वात्म रूप से भव अर्थात् हो जाना सम्भव कहा जा सकता है । तात्पर्य है कि स्थिति काल मे विशिष्ट सत्ता रूप से वे पदार्थ वर्तमान है एव प्रलय काल मे शुद्ध सत्ता मात्र रूप से । इस शुद्ध भाव को अविवेकी सहार कहते है यह बात दूसरी है । शकरानन्द स्वामी ने तो मन्त्रोक्त च से ही स्थिति का सग्रह कर लिया है । अर्थात् उद्भव मे और सभव मे तो वह एक है ही, प्रतीति वाले मध्य काल मे भी उसकी अद्वितीयता अखण्डित ही है ।

८ सृष्टि, स्थिति, सहार, अनुग्रह, तिरोभाव आदि मुख्य पराशक्तियो से विशिष्ट को परमेश्वर कहते है । सहज स्वरूप शक्तियो से वह विशिष्ट नही होता परन्तु इन तटस्थ पराशक्तियो से विशिष्ट हो जाता है । चू कि इन शक्तियो से वह विशिष्ट बन जाता है इस लिये इन्हे ईशनिया कहा है । इन्द्र, वरुण, यमादि शक्तियो से वह ईश्वर, तथा प्रत्येक प्राणी मे द्रष्टा, श्रोता, स्पृष्टा, इत्यादि शक्तियो से वह ईश कहा जाता है । इनमे कुछ शक्तिया समष्टि भावान्वित है कुछ व्यष्टि भावान्वित । लेकिन इन सभी शक्तियो से युक्त तो एक परमेश्वर ही है । ईशन मे समर्थ उपाधियो के द्वारा माया रूप हुआ हुआ माया एव उनकी शक्तियो का ईशन करता है एव माया की शक्तियो से विशिष्ट हुआ हुआ तन्मात्राओ का ईशन करता है । तन्मात्राओ से विशिष्ट हुआ हुआ आकाशादि पदार्थो का ईशन करता है । आकाशादि से विशिष्ट हुआ हुआ पञ्चीकृत महाभूतो का ईशन करता है । पञ्चीकृत महाभूतो से विशिष्ट हुआ हुआ वर्षा, झझा, ग्रहण आदि कार्यों का ईशन करता है, एव इन समष्टि उपाधियो से विशिष्ट हुआ हुआ व्यक्त सारे पदार्थों का ईशन करता है । एव उन पदार्थो से विशिष्ट हुआ हुआ बलभद्र देवभद्र आदि

शरीरो का ईशन करता है, बलभद्रादि शरीर विशिष्ट हुआ हुआ घट पटादि का ईशन करता है। इस प्रकार उत्तरोत्तर परमेश्वर का ईशत्व अखण्ड ही रहता है। जिस प्रकार मायावी माया द्वारा दिखाये जाने वाले पर्वत समुद्रादि एव बाग, हाथी, घोडे, राजा, पडित आदि का शासन करता है इस प्रकार परमेश्वर जैसे अपने द्वारा नियमन मे लिये हुए सभी पदार्थो की उत्पत्ति और लय मे हेतु है उसी प्रकार उनका नियन्ता भी है। ये सारी शक्तिया अविद्या काल मे व्यक्त होने से व्यक्त कही गई है।

९ **लोक्यन्ते इति लोका** अर्थात् जो अनुभव मे आवें ऐसे दृश्य पदार्थ, पृथिव्यादि तथा भिन्न प्राणि समुदाय सभी लोक शब्द से कहे जाते है। अपनी शक्तियो से अपने ही द्वारा बनाये हुए लोको को अपने ही स्वायत्त मे रखता है यह भाव है।

१० उपर्युक्त ईश्वर स्वरूप को अपने से अभिन्न जानना ही सत्य तत्त्व को जानना है। भक्ति मार्गी ईश्वर के इस शासन करने वाले वृत्तान्त को जानना यद्यपि प्रतिपादन करते है परन्तु प्रकरण विरुद्ध होने से उसे असगत ही मानना चाहिये। यद्यपि यहा एतम् पाठ होना चाहिये था क्यो कि पूर्व मे यत् पद मे पु ल्लिग का निर्देश है तथापि श्रुति यहा पु ल्लिग और नपु सक लिग का व्यत्यय करके उसके सर्वलिग रूप का प्रतिपादन करके लिगहीनता को लक्षित करती है।

११ जिन अधिकारियो ने एकत्व का श्रवण करके अपरोक्ष कर लिया उन श्री परमहसो को ही यहा कहा जा रहा है।

१२ आत्म-ज्ञान के द्वारा मरणादि ससार की हेतु अविद्या को जलाकर नित्य सिद्ध ब्रह्म रूप पुरुषार्थ को प्राप्त करके आनन्दात्म रूप से मुक्त होना ही अमर पद का मुख्य अर्थ है।

२

जिस परब्रह्म परमात्मा का देवात्म शक्ति रूप से तात्त्विक

(Metaphysical) वर्णन किया था उस सृष्टि-स्थिति लय करने वाले परब्रह्म परमात्मा का ब्रह्म लीन श्री परमहंसो के द्वारा साक्षात् अनुभूत सर्व वेद प्रतिपाद्य रुद्र रूप का प्रत्यक्ष निर्देश करके बुद्धि से दुखग्राह्य तत्त्व को हस्तामलकवत् वात्सल्यातिरेक से अभिभूत श्रुति प्रतिपादन करती है —

एकः हि रुद्रः न द्वितीयाय तस्थुः यः इमान् लोकान् ईशते ईशनीभिः । प्रत्यङ् जनान् तिष्ठति सञ्चुकोच अन्तकाले संसृज्य विश्वा भुवनानि गोपाः ॥

यः=जो
इमान्=इन प्रत्यक्ष
लोकान्=अनुभव मे आने वाले लोको को
ईशनीभिः=स्वशक्तियो के द्वारा
ईशते=शासित करता है[1],
जनान्=लोगो को
प्रत्यङ्=प्रत्यगात्मा रूप से प्रतीत होता
तिष्ठति=रहता है,[2]
विश्वा=सारे
भुवनानि=भुवनो को[4]
संसृज्य=बना करके,
गोपाः[5]=रक्षक होकर,[6]
अन्तकाले=अन्त समय मे[7]
सञ्चुकोच[8]=उपसंहृत कर लेता है,[9]
हि=निश्चित रूप से (वह)
रुद्रः=रुद्र[10]
एकः=एक अकेला ही[11]
द्वितीयाय=किसी दूसरे की अपेक्षा के लिये[12]
न=नही
तस्थुः[13]=खडा हुआ (रुका)।

१ इस वाक्य के द्वारा पूर्व मंत्र मे प्रतिपादित तत्त्व के साथ रुद्र की एकता का प्रतिपादन इष्ट है।

२ प्रत्यङ् जनास्तिष्ठति इति वा प्रत्यक् जनास्तिष्ठति इति वा पाठ ।

३ इसके द्वारा पूर्वाध्याय मे प्रतिपादित तत्त्व के साथ रुद्र की एकता का प्रतिपादन हैं।

४ महा सर्ग मे चतुर्दश भुवनो को उनके कारण आकाशादि महा भूतो को एव उनके विन्यास रूपा को सत्ता और स्फुरण देकर परमात्मा सन् अर्थात् भली प्रकार सृज अर्थात् सृष्टि करता है। कुम्हार की तरह वह केवल मिट्टी रूपी उपादान कारण को ग्रहण करता हो ऐसा नही है। वरन् अपनी शक्ति का बाहर प्रक्षेप करना ही उसका स्रष्टा या नियन्ता बन जाना है। अभिन्ननिमित्तोपादान कारणता का प्रतिपादन ही इष्ट है। यह बात अगले मन्त्र मे विराट् रूप से अवस्थिति और विराट् रूप को बनाने का प्रतिपादन करके और भी स्पष्ट करेंगे। विश्वानि की जगह विश्वा छान्दस है।

५ गोप्ता इति पठति दीपिकाकार।

६ गो अर्थात् चराचर विश्व का पा अर्थात् पालन करने वाला होने से रुद्र गोपा है। वह सारे जगत् का पालक एव रक्षक है यह भाव है। गोप शब्द का प्रयोग वेदो मे सृष्टि या इन्द्रियो के रक्षक के रूप मे रुद्र के लिये बहुलता से है। गा पाति गोपाः। परवर्ती साहित्य मे प्रसिद्ध गोपाल भी लोक रक्षक है ही। वस्तुतस्तु स्थिति काल मे आनन्द प्रद होने से वह गोप कहा जाता है। यदि इस ससार मे सुख लवो की प्राप्ति न हो तो प्राणी इसमे लगे रहकर इसकी स्थिति बनाई न रखे।

७ महा प्रलय से तात्पर्य है। अथवा मरण से भी व्यष्टि दृष्टि से तात्पर्य हो सकता है।

८ सञ्चुकोप इति क्वचित् पाठ।

९ फैलाये हुए जाल का पुन सकोच करना अर्थात् समेटना ही उपसहार है। यदि रुद्र तटस्थ रूप से असम्बद्ध होकर जगत् की सृष्टि करता तो सकोच अर्थात् सिमटने मात्र से प्रलय न हो सकता। असगता उसकी इसलिये बनी रहती है कि उसका सृष्टि के साथ ससर्ग सम्बन्ध अध्यास से है। अपनी स्वतत्र इच्छा से अपने मे ही अध्यास

करके सृष्टि स्थिति करता है अत सकोच और विकास उसके लिये अत्यन्त सुकर है। प्रकाश-विमर्श उभयात्मक ही शिव शक्ति सामरस्य है।

१० रुत् अर्थात् ससार दु ख को नष्ट करने वाला होने से रुद्र कहलाता है। अथवा रुत् अर्थात् प्रणव नाद। नाद के अन्त मे पिघलने वाला होने से रुद्र है। अथवा नादान्त मे सोम मण्डल को द्रवन कराने वाला होने से रुद्र है। शब्द रूप होने से वेद भी रुत् है। वेदो के ज्ञान को देने वाला होने से अथवा वेदोक्त धर्म का प्रतिपादन करने वाला होने से अथवा वेद प्रतिपाद्य ब्रह्म को प्राप्त कराने वाला होने से भी उसको रुद्र कहा जाता है। वाग् रूपी रुत् से वाच्य को जना देता है इसलिये भी रुद्र है। अर्थात् उसीने शब्दो के अर्थ निर्णीत किये है। अथवा रुत् अर्थात् प्राण को चलाने वाला होने से भी वह रुद्र है। अथवा प्राण रूप आत्मा को प्राप्त कराने वाला होने से वह रुद्र है। रोरूयमान होता हुआ अर्थात् जोर शोर से आवाज करता हुआ द्रव रूप से मर्त्यो मे प्रवेश करने वाला होने से वह रुद्र है। रौति सत्ये अत सत्य रूप होने से भी वह रुद्र है। सृष्टि के प्रत्येक पदार्थ को सत्यवत् प्रतीत कराने वाला होने से भी वह रुद्र है। अन्त काल मे सब को रुलाता है इस लिये भी वह रुद्र है। रुक् अर्थात् तेज। अत तेजस्वी होने से भी वह रुद्र कहाता है। तेज का द्रवण अर्थात् फैलाव करने वाला होने से भी वह रुद्र कहाता है। यह रुद्र का सविता रूप है, जिससे पूर्व अध्यायो के साथ सगति हो जाती है। रोधिका अर्थात् बन्धिका मोहिका शक्ति का द्रावण अर्थात् नाश करने वाला होने से भी उसे रुद्र कहा जाता है। मनुष्य को रुत् अर्थात् शब्द को, राति अर्थात् ददाति। तात्पर्य है मनुष्य को वाणी देता है इसलिये भी रुद्र कहलाता है। रुत् अर्थात् शब्द को एव शब्द से उपलक्षित आकाश को बनाने वाला होने से

भी वह रुद्र कहलाता है। रु का अर्थ भय भी होता है। अत भय को नष्ट करने वाला होने से भो उसे रुद्र कहते है। रुत् अर्थात् रोग। सारे रोगो को नष्ट करने वाला होने से भी वह रुद्र है। धर्म-हीनो को रुत् अर्थात् भय के साथ द्रावण अर्थात् सयुक्त करने वाला होने से भी रुद्र कहलाता है।

११ सृष्टि के आदि मे सकल्प करने वाला होने से वह चिदानन्द रस रूप से अकेला है, एव प्रलय के बाद पुन वैसा ही है। मध्य काल मे भी सत् और चित् रूप से प्रतीत होता ही रहता है एव उसकी सता से भिन्न और किसी भी सत्ता का अभाव होने से उस समय भी वह एक ही है। सर्व रूप से अविद्या नाश के विना दु ख की निवृत्ति सभव नही। अत अविद्या का नाश करने के कारण रुद्र का स्वरूप सदा ही विद्यामय है। अनेकता सारी अविद्या-निमित्तक होने से रुद्र एक ही रहता है।

यद्यपि वेदो मे अनेक प्रकार के देवताओ का वर्णन आता है परन्तु वे सभी रुद्र की भिन्न भिन्न शक्तियो के द्वारा ही अकेले रुद्र को ही विषय करते हैं। इन देवताओ को भिन्न सत्ता मीमासा मे स्वीकृत नही है एव युक्ति अनुभव से भी विरुद्ध है। अनेक मत्रो मे अनेक देवताओ को एक मान कर ही सम्बोधित कर दिया गया है। अत जैसे पाचक, पाठक, वाचक, कथक, याजक, आदि भेदो न देवदत्त का भेद नही माना जाता उसी प्रकार इन्द्र, वरुण, यम, रुद्रादि भेदो से महादेव का भेद नही माना जा सकता। पौराणिक देवता यद्यपि जीव होने से व्यावहारिक दृष्टि से एक दूसरे से भिन्न एव अधिकार सम्पन्न है तथापि उनको अधिकार देने वाले भो रुद्र हैं तथा उनके अन्दर सत्ता चित्ता रूप से तो वे विद्यमान हैं ही। अतः उनसे भी रुद्र को एकता अक्षुण्ण ही रहती है। वस्तुतस्तु जब सारे ब्रह्माण्ड मे एक हो चेतन सत्ता इन अनन्त भेदो के द्वारा अपने एकत्व

की परित्याग नही करती तो थोडे से देवताओ के कारण उनमे भेद मानना तो सर्व प्रमाण विरुद्ध है।

१२ **द्वितीयाय अर्थात् द्वितीयार्थम्**। तात्पर्य है कि रुद्र सृष्ट्यादि कार्य के लिये किसी दूसरे के मुख का अवलोकन करने वाला नही बना। अथवा **द्वितोयाय अर्थात् द्वितीयभावाय**। अद्वितीय सच्चिदानन्द रूप इसके अधीन सत्ता स्फुरण वाले माया और उसके कार्य अनन्त प्रपञ्च समूह के रहते हुए ही रुद्र मे सद्वितीयता का आपादन करने की स्थिति वाले नही हुए। तात्पर्य है कि जिस प्रकार राजा से सत्ता प्राप्त करने वाले मत्री इत्यादि राजा के जोडे नही बन पाते उसी प्रकार सारा जगत् मिलकर के भी ब्रह्म का जोडा नही बन पाता। अथवा रुद्र से अतिरिक्त किसी दूसरे के लिये प्रमाण स्थिर नही हुए। अर्थात् अविद्यात्मक होन से द्वैत प्रमाण के अयोग्य ही रहता है। द्वैत को अविचारित रमणीयता होने से प्रमाणसिद्धता नही हो पाती। सभी प्रमाणो से एक रुद्र की ही सिद्धि हाती है और किसी दूसरी चीज की नही। पग पग पर रुद्र की अद्वितीयता का प्रतिपादन होने से उसकी पारमार्थिक सत्यता सिद्ध हाती है। अनेक श्रुतिया साक्षात् ही अद्वितीय भाव का प्रतिपादन करती है एव पग पग पर द्वैत के मिथ्यात्व और ज्ञान मात्र से निवर्त्यत्व का प्रतिपादन होने से वह तुच्छ द्वैत रुद्र का द्वितीय नही बन पाता। अत रुद्र अद्वितीय ही बना रहता है। अथववेद मे तो **एको रुद्रो न द्वितीयाय तस्थौ** यह पाठ मिलता है। अथवा ब्रह्मवेत्ता किसी दूसरा वस्तु को सहन करने के लिये स्थित नही हुए क्यो कि रुद्र एक ही है।

१३ **तस्थे इति पठति दीपकाकारः**।

३

ब्रह्मा से घास पर्यन्त सभी प्राणियो के कार्य-करण ईश्वर के ही कार्य-करण है। एव इसोलिये वह सबका नियन्त्रण वैसी ही स्वतन्त्रता

से करता है जैसी स्वतन्त्रता से जगत् की उत्पत्ति स्थिति और सहार। इस प्रकार विराट् रूप का प्रतिपादन कहते हैं —

विश्वतः चक्षुः उत विश्वतः मुखः विश्वतः बाहुः उत विश्वतः पात् । सं बाहुभ्यां धमति सं पतत्रैः द्यावाभूमी जनयन् देवः एकः ॥

एक एक[1]
देवः महादेव
विश्वत सर्वत्र[2]
चक्षु आखो वाला,
उत और
विश्वत सर्वत्र
मुख मुह वाला,
उत और
विश्वत सर्वत्र
बाहु हाथो वाला (और)
विश्वत सर्वत्र
पात् पैरो वाला[3]
द्यावाभूमी द्युलोक और भूलोक को[4]
जनयन् उत्पन्न करते हुए,
स भली प्रकार
पतत्रै =पखो के द्वारा[5] (तथा)
बाहुभ्याम्=भुजाओ के द्वारा
सं=अच्छी प्रकार
धमति=धमन करता है[6] (फूकता है)।

१ अद्वितीय भेद शून्य।

२ सारे प्राणियों के आख कान आदि ईश्वर के ही आख कान है। चूकि अपनी ही माया से शरीर इन्द्रियादियो को बना करके फिर खुद ही उनमे अनुप्रविष्ट हुआ जीव शब्द का वाच्य होता है अत सभी जीवों की इन्द्रिय इत्यादि ईश्वर की ही इन्द्रिया हैं। यही उसकी सर्वात्मकता हैं। असग उदासीन होने पर भी माया के कारण सभी इन्द्रिय और जीवो के सृष्टि, स्थिति, सहार की स्वतत्रता भी उपपन्न हो जाती है। अथवा स्वेच्छा से सभी जगह सभी रूपों का दर्शन करने की सामर्थ्य होने से उसे सर्वत्र चक्षु आदि वाला कहा गया है।

३ यहा पाद के अकार का लोप अहस्त्यादिभ्य से समझ लेना चाहिये।

४ वेदो मे द्यावाभूमी को प्राय. करके एकसाथ ही प्रार्थना या उपासना के लिये बताया गया है। ब्रह्माण्ड के बीच से टुकडे रूपी दो कटाहो को ही द्यावाभूमी कहा जाता है। अत यह सारे जड चेतन लोको का, एव उनके अन्तर्वर्ती पदार्थ तथा जीवो का उपलक्षण हो जाता है। इस दृष्टि से सत्कर्मो के भोग के लिये द्यु को उत्पन्न करता है एव असत् कर्मों के लिये नीचे के नरकादि लोको को उत्पन्न करता है जिनकी ऊपरी छत भूलोक है। भूलोक यद्यपि असत् कर्मो की नीव मे स्थित है तथापि द्यु लोक की ओर खुला हुआ है अत इससे द्यु लोक मे जाना सभव है इसीलिये इसको मिश्र कम वाला लोक कहा जाता है।

वास्तविकता तो यह है कि द्यावापृथिवी शिवलिग और शिव-वेदी का स्वरूप है। अतः विश्वतश्चक्षुरित्यादि के द्वारा विराट् रू को धारण करने के बाद उपास्य रूप से माया विशिष्ट चेतन के मूर्तामूर्त रूप वेदिस्थ शिव का उस आद्य पुरुष ने मोक्ष मार्ग की सीढी रूप से निर्माण किया। इसके प्रति कर्म फल का अर्पण, भक्ति रूपी सेवा, एव इसके लक्ष्य का ज्ञान मुक्ति का सहज साधन है। विराट् उपासना या विश्वरूप उपासना का यह प्रतीक स्वय महादेव ने निर्माण किया अतः इसकी श्रेष्ठता स्वत सिद्ध है। उत्तम साधक वृत्ति रूपी वेदी मे चैतन्य रूपी लिग की उपासना करते हैं। अधिका-रानुसार वेदी और लिग मे रूप भेद होने पर भी उपाधि और उपहित की अक्षुण्णता बनी ही रहती है।

५ बाहुभ्याम् अर्थात् बाहुओ से जैसे मनुष्यादि को सधमति अर्थात् सयुक्त करता है वैसे ही पतत्रै. अत अर्थात् पतन के आधार रूपी पैरो से भी युक्त करता है। पक्षियो के पख भी पतन के अर्थात्

उडने के साधन माने जाते है। पखो को गिराने से ही पक्षो का उठान होता ह यह प्रत्यक्ष सिद्ध है। वस्तुत स्तनन्धय प्राणियो मे जा स्थान हाथो का है ठीक वही स्थान उडने वाले जानवरो मे पखो का है। आधुनिक जीवविज्ञान (Biology) भी इस बात को स्वीकारता है। अत श्रुति ने यहा दोनो को साथ रख कर एक सूक्ष्म ध्वनि की है कि जैसे बाहुओ के द्वारा उडना पशु के लिये असम्भव होने पर भी विशिष्ट विकास के द्वारा पख बनाकर उनसे उडना अत्यन्त सरल हो जाता है उसी प्रकार उपासना और कर्म के द्वारा सामान्यत शिव प्राप्ति असम्भव होने पर भी फलत्याग एव प्रेम रूपी साधनो से विकसित करके वे शिव प्राप्ति कराने मे समर्थ हो जाते हैं। अत इन विद्या कर्म रूपी साधनो से हम को युक्त किया गया है।

अथवा वह परमात्मा हमे विद्या कर्म से (बाहुभ्याम्) युक्त करता है (सन्धमति) एव वासनाओ के द्वारा (पतत्र) दीप्त करता है (सन्धमति)। तात्पर्य है कि जीव निष्ठ विद्या-कर्म-वासनाओ से ईश्वर जगत् को प्रवृत्त करता है। विवेकी तो ऐसा मानते हैं कि सृष्टि के पूर्व शिवेच्छा से अतिरिक्त अदृष्ट या अपूर्व का अत्यन्त अभाव होने से पहले पूर्वोत्तर तट की तरह द्यावाभूमी की रचना करके ससार समुद्र मे ज्ञान-क्रिया-शक्ति रूपी भुजाओ के द्वारा (बाहुभ्या) स्व लीला विग्रह रूपी गिरने उडने वाले (पतत्रै) जीवो का जो इच्छा स्वरूप है निर्माण करके उन सब रूपो मे कर्णधार की तरह इस प्रवाह को चलाता है।

बाहु और पतत्र से अन्य सभी इन्द्रियो का उपलक्षण कर लेना चाहिये। अर्थात् वह परमात्मा ही सबको सब इन्द्रियो से सयुक्त करता है। अविद्या, काम, कर्म से पहले युक्त करता है एव तब मन आदि से। अनादि प्रवाह स्वीकार करने पर भी सृष्टि के क्षण मे उन

जीवो का व्यक्तीभवन एव इन्द्रियो से युक्त करना मानना ही पडेगा। परन्तु ऐसा मानने पर असगता की रक्षा के लिये उसे उत्पत्ति का प्रयोजक मात्र मानना चाहिये, उत्पत्ति करने वाला नही।

कुछ नैयायिकों ने पतन शील परमाणुओ को ही यहा पतत्र माना हैं। परन्तु तदनुकूल अर्थ करने पर भी पञ्चीकृत पञ्चमहाभूतो को ही पतत्र मानना चाहिये क्यों कि परमाणु श्रुतिप्रतिपादित नही हैं। यदि कहा जाय कि मन्त्रोक्त पतत्र ही परमाणु मे प्रमाण है तो भी न्याय पक्ष मे पृथ्वी और जल मे ही गुरुत्व अगीकार करने से उन्हीं का गिरना बनेगा, अग्नि, वायु के परमाणुओ का नही। वायु, अग्नि के परमाणुओ को मूर्त मान कर भी न्याय सिद्धान्त मे गुरुत्व-हीन माना गया है। पतन के प्रति तो गुरुत्व ही कारण होता है। यदि इस प्रकार के तिनको का सहारा लेकर परमाणुओ को श्रौत मान लिया जायेगा तब तो किसी भी प्रतिपक्ष का समर्थन श्रौत हो जाने के कारण शास्त्र का श्रवण मनन का व्यसन व्यर्थ सिद्ध होगा। अत उस दृष्टि से भी यहा पञ्चीकृत पञ्चमहाभूत ही सिद्ध होगा।

६ यद्यपि धमन का मुख्य तात्पर्य होता है अग्नि को दीप्त करने के लिये मुख से वायु सयोग, तथापि धातुओ को अनेकार्थता के न्याय से यहा सयोग अर्थ माना जा सकता है। अथवा सन्तापकारी होने से जीवो को सुख दु ख की प्राप्ति अविद्या काम, कर्म द्वारा धमन करने से ही होती है। अर्थात् सुख दु ख की उत्पत्ति, स्थिति और सहार करने वाला सुख-दु खकारी परमात्मा है। इस पक्ष मे बाहुभ्या अर्थात् सुखदु खाभ्या। अथवा परमात्मा सर्वकमहेतु होने से धम और अधर्म का भी यहा सग्रह हो सकता है। दोनो ही पक्षो मे पतत्र का तात्पर्य तो वासना से ही है।

धमना मुख का व्यापार है। अतः धमति का अर्थ शब्द करना भी हो सकता है। अत. परमेश्वर जब अपने हाथो से विश्वोत्पत्ति

करता है तो अनेक शब्दो को पहले उत्पन्न करके फिर उन शब्दो के अनुरूप रूप सृष्टि करता है। उस रूप-सृष्टि के पूर्व सम्पतत्र अर्थात् पञ्चीकृत पञ्चमहाभूतो को बनाता है। लोक मे भी कहा जाता है कि परमात्मा ने जान फूक दी अथवा किसी महापुरुष ने धर्म मे जान फूक दी इत्यादि। यहूदी और ईसाई धर्मग्रन्थो मे भी (Breathed life into adam) इत्यादि प्रयोग प्रसिद्ध है। जीव मे तो मानो प्रतिक्षण वायु रूप से परमात्मा प्राण फूकता रहता है।

४

अन्य देवता भी जड सृष्टि के कर्ता माने गये हैं। फिर एक मात्र रुद्र ही क्यो यहा परमेश्वर माना गया ? मानव से लेकर ब्रह्मा विष्णु आदि देवताओ तक सभी चेतनो की सृष्टि करने वाला होने के कारण रुद्र ही एक मात्र परमेश्वर है —

यः देवानां प्रभवः च उद्भवः च विश्वाधिकः रुद्रः महर्षिः ।
हिरण्यगर्भम् जनयामास पूर्वम् सः नः बुद्ध्या शुभया सं युनक्तु ॥

य =जो[1]
महर्षि =महर्षि[2]
रुद्र =रुद्र
विश्वाधिक =सबसे परे रहता हुआ,[3]
देवानां=देवो की[4]
प्रभव =उत्पत्ति[5]
च=और
उद्भव =महत्ता[6] (रूप है),
च=तथा (जिसने)
पूर्वम्=सबसे पहले[7]
हिरण्यगर्भम्=हिरण्यगर्भ को[8]
जनयामास=उत्पन्न किया[9]
स =वह[10]
शुभया=शुभ[11]
बुद्ध्या=बुद्धि से[12]
न =हम लोगो को[13]
सयुनक्तु=सयुक्त करे[14] ।

१ स्वय प्रकाश परमेश्वर ही पूर्वाध्यायो मे व्यष्टि कार्य-करणो का अधिष्ठाता एव समष्टि करणो के अभिमानी अग्नि, आदित्यादि

देवो की उत्पत्त्यादि का कारण बताया गया। उसी का 'जो' शब्द से परामर्श है।

२ महान् अर्थात् निरवग्रह महत्त्व सम्पन्न ऋषि अर्थात् सर्वज्ञ। जो किसी भी रुकावट के बिना सर्व ज्ञानो का महा द्रष्टा हो ऐसा सर्वज्ञ। ऋषि शब्द से अतीन्द्रिय ज्ञान वाले ज्ञानी का ही ग्रहण किया जाता है। अत जिसकी महत्ता लोग स्वीकार करे ऐसा अतीन्द्रिय ज्ञानवान् सर्वज्ञ महर्षि पद वाच्य है। जिसके अनुग्रह को प्राप्त कर ऐसे महर्षि पद को प्राप्त किया जा सकता है उसके महर्षित्व मे सन्देह की सभावना ही कहा है।

३ परमात्मा समग्र विश्वरूप को धारण करते हुए भी वस्तुतः उन सबसे अतीत रहता है। जिस प्रकार फणी साप दर्दुरादि को विष के द्वारा नष्ट करने पर भी उस विषको अपने मे रखते हुए उस विष से सर्वथा अस्पृष्ट रहता है उसी प्रकार रुद्र मे अविद्या रहते हुए भी रुद्र को वह स्पश नही करती। अथवा समग्र विश्व के पदार्थो से भी वह अधिक अर्थात् उत्कृष्ट है क्योकि निरतिशय आनन्द स्वभाव है। अथवा विश्व और अधिक ऐसा द्वन्द्व समास करके जो विश्व अर्थात् जगत् रूप धारण करके उसका नियन्ता भी बना रहता है।

विवेकी तो ऐसा मानते है कि अखिल भावो का, जो प्रतिबिम्ब स्वरूप है, मूल प्रकृतिरूप बिम्ब होने से वह उन सबसे अधिक है। इस प्रकार बिम्ब रूप से ज्ञान-स्वभाव वाले समग्र खण्ड ज्ञानो के प्रति वह अखण्ड-ज्ञान वैसे ही उत्पत्ति स्थिति का कारण बनता है जैसे सूर्य समस्त अपने प्रतिबिम्बो के प्रति। इस प्रकार रुद्र की अपेक्षा अधिक ज्ञान और आनन्द स्वभावत अन्यत्र नही है यह भाव है।

पाठानुक्रम के बल से विश्वाधिक के द्वारा कोई कोई ज्ञान हीन की भी अधिकता की व्यावृत्ति के लिये महर्षि पद का ग्रहण मानते हैं।

कही कही **विश्वाधिक** की जगह **विश्वाधिप** और **रुद्र** की जगह पर **देव** पाठ भी मिलता है।

४ इन्द्रादि वैदिक देव एव गणेशादि पौराणिक देवताओ का सग्रह है। वस्तुतस्तु प्रकाशक होने से समष्टि-व्यष्टि करण सघात ही देव पद वाच्य है। एव सूत्रात्मा की सृष्टि-प्रतिपादन मे ही यहा वास्तविक गतार्थता है। चू कि रुद्र ब्रह्मा-विष्णु, अग्नि इन्द्र से लेकर कीट-पतग तक का स्रष्टा, स्थाता एव हर्ता है अत वही एकमात्र देवाधिदेव महादेव कहा जाय यह स्वाभाविक है।

५ प्रकर्ष से भवन अर्थात् उत्पत्ति प्रभव कही जाती है। यद्यपि सभी पदार्थ कारण रूप से नित्य हैं परन्तु किसी एक कार्य रूप का प्रकट हो जाना उसका प्रकर्ष होने से उस कार्य का प्रभव कहा जाता है। रुद्र ही एक मात्र अभिन्न निमित्तोपादान कारण होने से सब कार्यो का उत्पत्तिस्थान या उत्पत्ति का कारण है।

उत्पत्ति-क्रम की अपेक्षा सहार-क्रम मे व्याप्य कार्य का व्यापक कारण मे लीन होना उसका प्रकर्ष भवन अर्थात् प्रकर्ष होना कहा जा सकता है। अथवा उत्पत्ति क्रम की अपेक्षा प्रतिलोमता से अर्थात् विपरीतता से जो भव अर्थात् होना है उसको प्रभव कहा जा सकता है। इन दोनो ही दृष्टियो से वह रुद्र सबका लय-स्थान भी है यह तात्पर्य है। चू कि रुद्र अधिष्ठानमात्र होकर समग्र कार्यो का उत्पादक या सहर्ता कहा जाता हैं अत असगता अखण्डित रहती है। दर्पण के सामने खडे होकर केवल अपनी दाढी को काटने पर भी दर्पण के प्रतिबिम्ब वाले की दाढी कट जाती है। यहा नाई बनकर दूसरे की दाढी काटी नही गई है। इसी प्रकार रुद्र के स्वातन्त्र्य-शक्ति-उन्मेष से पदार्थ उत्पन्न और लय होते दीखते है वह उनको उत्पन्न और लय करने वाला नही है। जैसे प्रतिबिम्ब की दाढी कट जाने का न तो मेरी दाढी काटने से अतिरिक्त कोई कारण है और न बिना मेरी दाढी

काटे हुवे प्रतिबिम्ब की दाढी काटने का कोई रास्ता ही है। अत अविद्याग्रस्त प्राणी स्वभावत मुझे 'प्रतिबिम्ब की दाढी काटने वाला' इस प्रकार लाञ्छित करते है परन्तु उस लाञ्छन का मेरे से स्पर्श नही होता। उसी प्रकार रुद्र को स्रष्टा, संहर्ता कहने पर भी वह असग ही बना रहता है।

६ उत् अर्थात् ऊर्ध्व, भव अर्थात् होना। जो चीज किसी मे महत्ता का आपादन करती है वही उसको ऊर्ध्व बनाती है। वस्तुत विभूति रूप से स्वय रुद्र ही सब पदार्थों मे युक्त होता है। जिन देवादियो मे महत् उपाधि रूप से वह प्रवेश करता है वे महान् देवता बन जाते है एवं जिन कुत्ते आदि के अन्दर वह अल्प उपाधि रूप से प्रवेश कर जाता है वे अल्प कहे जाते है। इस प्रकार वही सबको ऐश्वर्य प्रदान करता है। सत्ता रूपी ऐश्वर्य प्रदान करके वह उन सबकी स्थिति रूप भी है ही। अथवा मन्त्र के च शब्द से स्थिति का संग्रह कर लेना चाहिये, एव दूसरे च से संहार। चकारो की वीप्सा से वह रुद्र स्वय भी उन उन देवताओ का रूप है एव वे सभी देवता रुद्र स्वरूप है यह बतलाना भी इष्ट है।

७ जगत् की उत्पत्ति अर्थात् सृष्टि के पहले। चू कि ईश्वर से सर्व प्रथम हिरण्यगर्भ उत्पन्न होता है अत हिरण्यगर्भ से अन्य देवताओ की उत्पत्ति कई जगह बताई गई है। केवल देवताओ का उत्पादक कहने से कही भ्रम से हिरण्यगर्भ को न समझ लिया जाय अत यहा पूर्वम् के द्वारा बताया गया कि उसने पहले हिरण्यगर्भ को उत्पन्न किया एव फिर हिरण्यगर्भ मे प्रवेश करके बाकी सब देवताओ को उत्पन्न किया। यद्यपि पुराणो मे एव संसार के सभी मजहबो मे प्राय विराट् या इससे नीचे के देवो को ही ईश्वर मान लिया गया है तथापि पुराणादि मे कही कही नारायणादि रूप से हिरण्यगर्भ का भी

संकेत मिल जाता है। परन्तु वेद सिद्धान्त से अतिरिक्त रुद्र तत्त्व अर्थात् ईश्वर तत्त्व का वर्णन और कही नही मिलता।

८ ज्ञान-क्रिया-शक्ति रूप चैतन्य से अधिष्ठित सूक्ष्मतम कार्य-कारण भाव के प्रारम्भ का आदि कार्य हिरण्यगर्भ कहा जाता है। यही शिव-शक्ति-सामरस्य का प्रथम आन्दोलन है जिसमे शिव बीज शक्ति मे स्थापित होता है। बीज और गर्भ प्राय एकार्थक शब्द हैं। जो हितकारी हो और रमणीय हो उसको हिरण्य कहते हैं। अत्युज्ज्वल होने से रमणीय एव अविद्या नाशक होने से हितकारी आत्मज्ञान ही गर्भ अर्थात् अन्तस्सार है जिसका, उसे हिरण्यगर्भ कहेगे। उज्ज्वल यहा आनन्द से सम्बन्धित है। अथवा विराट् पुरुष ब्रह्माण्ड शरीर वाला होने से हिरण्य है। ब्रह्माण्ड का प्रत्येक पदार्थ किसी न किसी के लिये हितकारी और रमणीय अवश्य है। यह विराट् पुरुष जिसके गर्भ मे है वह हिरण्यगर्भ कहा जा सकता है। यही अपञ्चीकृत पञ्च महाभूतो की आरम्भावस्था है। सांख्य और पौराणिक दृष्टि से तो करण-समष्टि के अभिमानी को ही हिरण्यगर्भ कहते हैं। महत् तत्त्व मे प्रतिफलित चैतन्य से उनका तात्पर्य होता है। क्यो कि वे प्रकृति के अधिष्ठाता विराट् को ही ईश्वर मानते हैं और प्रकृति से ऊर्ध्व तत्त्वो के विषय मे उनका प्रवेश नही है।

९ यहा भी आविद्यिक उत्पत्ति ही समझनी चाहिये।

१० हिरण्यगर्भ रूपी ब्रह्मज्ञान की उत्पत्ति का हेतु होने से वह अतिशय आनन्द विग्रह परमेश्वर ही मुमुक्षुओ के द्वारा ध्येय, उपास्य एव योग, क्षेम, मोक्ष, ज्ञान आदि समग्र पुरुषार्थो की प्राप्ति के लिये प्रार्थितव्य है।

११ समग्र शुभो का जो निधान वही आत्मा एक मात्र शुभ वस्तु है। उसकी प्राप्ति से समग्र अशुभो का मूल कारण अविद्या सर्वथा निवृत्त हो जाती है।

१२ ब्रह्म को विषय करने वाली बुद्धि ही वास्तविक बुद्धि है। क्यो कि बुद्धि का धर्म है निश्चय करना। निश्चय वह है जो कभी न बदले। ब्रह्म ज्ञान से अतिरिक्त सभी ज्ञानो का बाध हो जाने से वे वस्तुत अनिश्चय स्वरूप ही है। उन्हे बुद्धि मानना एक भ्रम ही है। अत यहा उस अपवर्ग की हेतु भूत बुद्धि को ही प्रार्थना है।

१३ बहुवचन के प्रयोग से सब जीवो मे अपनत्व की दृष्टि का द्योतन है। अथवा शम, श्रद्धा सम्पन्न योग्य अधिकारी श्री परमहसों का निर्देश है।

१४ हमे उस रुद्र की कृपा से परम पद की प्राप्ति हो। यह प्रार्थना हम पुत्र उस रुद्र को पिता मानकर करते है। रुद्र ही सयोग बना कर हमे अपने से सयुक्त कर सकता है, हमारी अपनी सामर्थ्य से यह बाहर है। इससे साधक को अहन्ता के त्याग का उपाय बताया। **यमेवैष वृणुते** इत्यादि श्रुतिया इसमे प्रमाण है।

५

इस प्रकार सर्व स्रष्टा रुद्र का प्रतिपादन करके प्रत्यगात्मा रूप से निर्मलात्म भाव का स्वरसता से आविर्भाव होने के लिये मुमुक्षुओ को प्रार्थना करने के मन्त्र-द्वय बताते है —

या ते रुद्र शिवा तनूः अघोरा अपापकाशिनी।
तया नः तनुवा शन्तमया गिरिशन्त अभि चाकशीः॥

रुद्र=हे रुद्र!
या=जो[1]
ते=आपका[2]
शिवा=शिवा से युक्त[3]
अघोरा=प्रसन्न[4]
अपापकाशिनी=पापो का नाशक[5]
तनू=शरीर का रूप (है),
तया=उस
शन्तमया=अत्यधिक कल्याण कारी[6]
तनुवा=शरीर के रूप से[7]
गिरिशन्त=हे गिरि मे रहकर कल्याण करने वाले[8]!
न=हम लोगो को[9]
अभि=प्रत्यगात्मा रूप से
चाकशी=प्रकाशित हो जावे[10] (दर्शन दे देवें)।

१ श्रुति, स्मृति, इतिहास, पुराणो मे प्रसिद्ध सकल निष्कल सब प्रकार के शरीर यद्यपि रुद्र के है तथापि यहा सर्व ससार ताप का उपशमन करने वाले निष्कल शरीर को ही लेना चाहिये क्यो कि पूव मन्त्रो मे ज्ञान का ही प्रतिपादन किया गया है। रुद्र सम्बोधन से भी इसी की ध्वनि हैं कि निष्कल तनु मे रुद्र शब्द स्वय ही प्रमाण है। यत् पद से वैदिक प्रसिद्धि का द्योतन है, **या ते तनुर्घोरान्या शिवान्या** कि रुद्र के घोर और शिव दो रूप हैं। पुराणादि मे यद्यपि शिवा तनु के लिये अधिकतर शिव शब्द का ही प्रयोग है तथापि वैदिक वाङ्मय मे उसको रुद्र का तनु ही कहा गया हैं।

२ युष्मत् अर्थात् मध्यम पुरुष का प्रयोग करके श्रुति निर्देश करती है कि परमात्मा से अतिघनिष्ठ सम्बन्ध रखना चाहिये। वस्तु-तस्तु यह सारा विश्व ही रुद्र का अविद्या सम्पन्न होने से घोर रूप है। अत हमे जो कुछ भी अनुभव मे आता है वह सब अति सन्निकट रूप से रुद्र का ही दर्शन-स्पर्शन आदि है। इसको पहचानना ही ते के प्रयोग का वास्तविक तात्पर्य है।

३ शिव की शक्ति को शिवा कहते हैं। वैसे तनु पद स्त्रीलिग है। अत कल्याणकारी तनु अथवा अकल्याणकारी तनु दोनो ही शक्ति विशिष्ट ही हो सकते है। आगमो मे काली को घोरा तनु एव शिवा को अघोरा तनु माना गया है। अत यहा प्रार्थना की जा रही है आपका जो कल्याणकारी शु॰ जड और मल से रहित अतिशय आनन्द प्रद अविद्या और उसके कार्य से रहित सत् चित् अनन्त आनन्दाद्वय रूप है वह प्रकट हो।

शिवा शब्द कान्ति या तेज को बतलाता है। अत शिव-शक्ति-सामरस्य वाला रूप न केवल परम मगलमय है अपितु पूर्ण सौन्दर्य-तेजोमय एव हृदय को चन्द्र की तरह अत्यधिक आकृष्ट करके चन्द्र

त्रिम्ब की तरह आह्लादकारी भी है। इसीलिये शिवा को **शिव-स्यापि शिवा** कहा गया है।

४ अविद्या तत् कार्य रूप जीव-दृष्ट भयकर रुद्र रूप को घोरा कहते है। यद्यपि शिवा शब्द से ही इस भयकर रूप की व्यावृत्ति होकर प्रसन्न रूप का प्रतिपादन हो गया तथापि घोर रूप से अत्य-धिक तप्त होने के कारण ससारताप के उपशमन रूप से उसका स्मरण फिर भी बना रह जाता है। जिस प्रकार बाहर की गर्मी से शीत-शाला (air conditiond room) मे प्रवेश करने पर ये शाला तो बडी ठडी है कहने के साथ ही आदमी पूर्वानुभव का स्मरण करके कहता है बाहर तो आज झुलस गये।

५ अपनी अभिव्यक्ति मात्र से सारे पापो को जला देने वाली होने से ब्रह्मानुभूति पापनाशक कही जाती है। अथवा अपाप अर्थात् पापरहित व्यक्तियो को ही काशिनी अर्थात् प्रकाशिनी ब्रह्म का प्रकाश करती है, इस लिये भी इसको अपापकाशिनी कहा जाता है। अपाप का अर्थ पुण्य लेकर पुण्यात्माओ को काशित अर्थात् प्रकाशित होनी है। अथवा अपनी अभिव्यक्ति से सारे पुण्यो का फल दे देती है। अथवा पापो का अर्थात् अधर्मों का प्रकाशन करने वाली अविद्या पापकाशिका अर्थात् पाप प्रकाशिका है। इससे विप-रीत विद्या कभी भी पाप का प्रकाशन नही करती अत अपाप-काशिका है। तात्पर्य है कि स्मरण मात्र से यह दिव्य देह पाप समूहो का नाश एव पुण्यों को प्रकट कर देती है। विवेकियो की दृष्टि मे तो धर्म भी अनित्य, जड, सद्वितीय, परिच्छिन्न आदि फलो को उत्पन्न करने के कारण पाप ही हैं। अत पाप पुण्य दोनो का विध्वस करने वाली परम मगलमयी यह मूर्ति है। **आत्मा अपहत पाप्मा** इत्यादि यजुर्वेद इसमे प्रमाण हैं।

६ श अर्थात् कल्याण, शन्तम अर्थात् कल्याणतम। अद्वितीय आनन्द ही निरवधिक कल्याण है। **अस्यैव आनन्दस्य मात्रामुपजीवन्ति** इत्यादि यजुर्वेद इसमे प्रमाण है। अन्यत्र इसीलिये शिवतमाय कहा गया है। यहा तमप् प्रत्यय दूसरो की अपेक्षा श्रेष्ठता म नही वरन् उन सब मे भी उसके अश की विद्यमानता से हो कल्याण कारिता है अत पूर्णानन्द का प्रतिपादक है।

७ तन्वा के लिये तनुवा वैदिक है। तनु का अर्थ छोटा भी होता है। अत व्यापक चीज को एक जगह देखना उसका तनूकरण है। सामान्यत सब अन्त करणो का नियामक और विषय होने पर भी एक अन्त करण मे प्रतात हो जाना हा उसका विलक्षण तनु भाव है। सर्वव्यापक परमात्मा का हमे दशन हा जाय यही उसका मूर्ति ग्रहण है। यह उसकी अहैतुकी कृपा ही है कि वह अपने को इस प्रकार मूर्त बनाकर दर्शन दे दता है।

८ प्रसिद्ध है कि शकर कैलास के गिरिशिखर मे रहते है एव वहा सब से दूर रहने हुए भी सबका कल्याण करते रहते हे। मानव देह मे सहस्रार भी गिरिशिखर है जहा से सोमरस का स्राव करके वह प्राणियो का कल्याण करता है। गिरि शब्दे धातु से निष्पन्न गिरि शब्द का अर्थ वेदान्त रूपी शब्द भी होता है। **वेदान्ते च प्रतिष्ठित** आदि यजुर्वेद इसमे प्रमाण है। वेदान्त मे सभी प्राणियो का कल्याण करते हुए वेदान्तो के द्वारा ही प्राप्त होने के कारण रुद्र को गिरिशन्त कहा गया। भगवान् बादरायण ने ब्रह्म सूत्र मे भी वेद को ही ब्रह्म की उपलब्धि का स्थान बतलाया है **शास्त्रयोनित्वात्**। ब्रह्मा, इन्द्र, आदि सभी देवताओ को सुख देने वाला होने से भी उसे गिरिशन्त कहा गया है।

श मे त प्रत्यय मतुप् अर्थ मे हो सकता है। जो गिरि के समान विशाल सुख वाला हो ऐसे रुद्र को यहा गिरिशन्त कहा गया है।

गिरि प्रिय सन्यासी भी गिरि कहे जाते है। अतः गिरियो को जो श माने सुख, तनोति माने बढाता है ऐसा परम हसो से प्रेम करने वाला रुद्र गिरिशन्त कहा गया है।

९ साधन चतुष्टय सम्पन्न श्री परमहस यहा इष्ट है।

१० आपका निष्कल रूप हमे दीप्त होकर सब तरफ सब समय अनुभव मे आता रहे। अथवा आप हमे अच्छी तरह से देखे क्यो कि आपके देखने से ही हमारा कल्याण निश्चित हो जाता है। परमात्मा के दृष्टिपात होते ही जीव मोक्ष मे नियुक्त हो जाता है।

६

यामिषुं गिरिशन्त हस्ते बिभर्षि अस्तवे।
शिवां गिरित्र तां कुरु मा हिंसीः पुरुषं जगत् ॥

गिरिशन्त=हे महादेव !	**शिवां**=कल्याण कारी[४]
या=जिस	**कुरु**=करें[५]।
इषु=बाण को[१]	**गिरित्र**=हे गिरिवासी[६]।
अस्तवे=छोडने के लिये[२]	**पुरुष**=पुरुषो को[७] (व)
हस्ते=हाथ में[३]	**जगत्**=प्राणियो को[८]
बिभर्षि=धारण कर रहे हैं,	**मा**=मत
तां=उस (बाण) को	**हिंसी**=मारे।

१ विश्व के सभी पदार्थ और भाव रुद्र के बाण हैं। इसीलिये यजुर्वेद मे **वर्षमिषव वात इषव अन्नमिषव.** इत्यादि कह कर वर्षा, हवा, अन्न आदि सभी को रुद्र के बाण ही बताया है। इन बाणो से हम रुद्र के स्वरूप को नही देख पाते इसीलिये रुद्र के बाण सहारक कहे जाते हैं। जब वह इन बाणो को कल्याणकारी कर देता है तब यही पदार्थ रुद्र के स्मारक होकर हमारा कल्याण करते हैं जिसकी यहा प्रार्थना की गई है।

२ कामना वाले प्राणियो को ये बाण ही प्रिय है। इसलिये उनके प्रति इन बाणो का छोडना भी उसकी कृपा ही है। अथवा अस्तवे अर्थात् जो अस्त होने वाले है अर्थात् उपसहार के योग्य है, तब तात्पर्य होगा कि पापियो को दण्ड देने के लिये वे बाण छोडते हैं।

३ प्रारब्ध भोगानुसार निरन्तर कोई न कोई बाण उनके हाथ मे ही रहता है। अथवा जो सञ्चित कर्म अभी तूणीर मे हैं एव हाथ मे हैं वह तो रुद्र को प्राथना से निवृत्त हो सकते है, अतः उनके निवृत्त करने के लिये ही प्रार्थना की जा रही है। जो प्रारब्ध उनके हाथ से छोडा जा चुका है उसका तो भोग से हो क्षय होगा। इस अर्थ मे आगे आने वाले शिवा का अर्थ उपशम कर लेना चाहिये।

४ जिस प्रकार रुद्र का तनु शिवा है उसी तरह उसका बाण भी शिवा हो जाय। अर्थात् सर्वत्र सभी अनुभवो मे द्रष्टा और दृश्य का भेद मिट जाय एव शिव-शक्ति-सामरस्य प्रतिक्षण प्रस्फुटित होता ही रहे।

५ रुद्र ही कृपा करके इस शिवा भाव को स्फुट करने मे समर्थ है अत आप अपने सगुण साकार रूप को प्रकट करे या दिखावे इसकी ही प्रार्थना है। एव अविकार प्राप्त होने पर निर्गुण निराकार रूप भी प्रकट करें।

६ पर्वत मे उनका निवास स्थान होने से उन्हे गिरित्र कहा गया। अथवा गिरि मे रहकर सब का त्राण करता है अत वह गिरित्र है। हमारे समग्र अविद्यादि दोषो को नष्ट करके हमारी रक्षा करे, यह भाव है। चू कि वे सर्व सहार मे समर्थ है अत वह यह करने मे समर्थ हैं यह प्रसिद्ध ही है। गिरि का अर्थ समूह भी होता है। यह शरीर अस्थि-पञ्जर का समूह ही है। भाव है कि हम सर्वथा हड्डी मास के पुतले केवल आपकी भक्ति के सहारे आपसे रक्षा की प्रार्थना करते हैं। अथवा गिरिं, गिरि को त्रायते रक्षित करते हैं इसलिये

विरित्र हैं। गिरि का ग्रहण सभी सन्यासियो की उपलक्षणा के लिये है।

७ आत्मज्ञान के साधको को ही यहा पुरुष कहा गया है। अत **पूर्णत्वात् पुरुष** पूर्ण की अभिलाषा करने वालो की उस अभिलाषा को मत मार। तात्पर्य है कि जब तक सम्यक् ज्ञान होकर निर्मल आनन्द का आविर्भाव न हो जाय तब तक सम्यक् ज्ञान के योग्य कार्य-करण सघात, वेदान्त शास्त्र, आचार्य आदि सभी बने रहे।

८ स्थावर जगमादि रूप जो परिच्छिन्न सुख मे ही अपने को कृतार्थ मानते हैं उनपर भी दया कर। शनै शनै वे भी आत्म ज्ञान के अधिकारी बनें और तब तक सशयादि के द्वारा वे इहलोक और परलोक दोनो से भ्रष्ट होकर नास्तिक भाव को प्राप्त न करें इसलिये उन्हें परिच्छिन्न सुख भी प्रदान करते रहे।

७

ईश्वर के स्वरूप का निर्णय करके एव उससे कल्याण की प्रार्थना के बाद अब उसके निर्गुण स्वरूप का वर्णन और ज्ञान का फल बताते हैं :—

ततः परं ब्रह्मपर बृहन्तं यथा निकायं सर्वभूतेषु गूढम्।
विश्वस्य एकं परिवेष्टितारम् ईशं तं ज्ञात्वा अमृताः भवन्ति॥

ततः=उसके	(फिर भी)
परं=बाद[१]	विश्वस्य=समग्र विश्व के
तं=उस	एक=एक ही
ब्रह्मपर=परब्रह्म[२]	परिवेष्टितार=लपेटनेवाले[६]
बृहन्त=बडे से बडे,[३]	ईश=ईश को,[७]
यथानिकायं=प्रति शरीर वाले,[४]	ज्ञात्वा=जान कर[८]
सर्वभूतेषु=सारे प्राणियो मे	अमृता=अमर
गूढ=छिप कर विद्यमान्,[५]	भवन्ति=हो जाते हैं।

१ योग एवं उपासना के सिद्ध होने के बाद, अथवा रुद्र को प्रसन्न करने के बाद। तात्पर्य है कि सगुण तत्त्व के साक्षात्कार हो जाने पर ही निर्गुण तत्त्व की प्राप्ति सम्भव है। यदि यहा तत से हिरण्यगर्भ का ग्रहण किया जाय तो भी हिरण्यगर्भ की प्राप्ति के अनन्तर कहकर, हिरण्यगर्भ ही कारण रूप से अवस्थित होकर रुद्र कहे जाने की वजह से, हिरण्यगर्भ प्राप्ति के बाद ही उसकी 'प्राप्ति सभव है, यह ध्वनि होगी। जो जिसके परे होता है वह उसके बाद ही जाना जा सकता है। अतः हिरण्यगर्भ के ज्ञानानन्तर ही हिरण्यगर्भ से परे ब्रह्म को जाना जा सकता है।

२ निर्गुण, निष्कल, निर्मल, उत्कृष्ट, आनन्द ही परब्रह्म का वास्तविक स्वरूप है।

३ पुरुष सहित जगत् का परम-कारण होने से कार्यभूत प्रपञ्च का व्यापक ईश्वर सब बडो से बडा है, यह तो स्पष्ट ही है। परन्तु विराट् हिरण्यगर्भ आदि व्यापक तत्त्वो की अपेक्षा भी वह अत्यधिक व्यापक है, यह भाव है। देश काल-वस्तु परिच्छेद-शून्यता बृहण की पराकाष्ठा है।

४ वैसे तो कोश के अनुसार **निकायो नियमे लक्ष्ये संहतानाम् समुच्चये। एकार्थभाजि निलये निवहे परमात्मनि ॥** इत्यादि से निकाय का साक्षात् अर्थ ही परमात्मा है। अत **यथा निकाय** का अर्थ होगा जो कुछ भी, जहा भी जिससे भी, जिस प्रकार भी, अनुभव मे आता है वह सब निकाय अर्थात् परमात्मा ही है। अर्थात् वे सब परमात्मा के रूप ही है। यत् मे थसिल् प्रत्यय प्रकार अर्थ मे करके ही यथा शब्द बनता है। अथवा यथा अर्थात् यथार्थ रूप निकाय अर्थात् परमात्मा। तात्पर्य हुआ यथार्थ रूप परमात्मा को जानकर अमर होते है। सारा जगत् यथार्थ रूप से परमात्मा ही है यह वेदान्तो का उद्-घोष है। निकाय शब्द के बाकी अर्थ भी परमात्मा का ही सारे

जगत् का यथार्थ रूप से नियामक होने से, लक्ष्य होने से, वासस्थान होने से, निभ जाते है ।

५ प्रत्येक शरीर मे कूटस्थ रूप से परमात्मा ही विद्यमान है । पूर्व विशेषण मे कार्य-करण सघात का ईश्वर से अभेद बतलाया तो यहा कार्य-करण सघात लक्षण वाले जीव से अभेद बता रहे है । वह नित्य अद्वितीय निर्विशेष रहते हुए भी देह-रूप एव देह रूप वाले रूप से अवगत होता है । जिस प्रकार त्रिकोण पञ्चकोण इत्यादि लकडियो मे अग्नि भी त्रिकोण पञ्चकोणादि आकार वाली ही प्रतीत होती है उसी प्रकार विष्णु इन्द्र आदि देवताओ मे, आकाशादि महाभूतो मे, एव नारी नरादि विकारो मे छिपा हुआ वह उन उन आकारो का प्रतीत होता रहता है । अथवा जिस प्रकार मशाल को घुमाने से ऋजु-वक्रादिभाव प्रतीत होते है, जो यद्यपि मशाल से ही निकल कर उसमे लीन होते है ऐसा कहा जाता है, तथापि न वे निकलते है न लीन होते है, एव न वस्तुत मशाल ही उन आकारो को ग्रहण करती है । यही गूढ रहस्य होने से यहा गूढ शब्द का प्रयोग है ।

अथवा गुहाया अर्थात् सब प्राणियो की हृदय-गुहा मे रहने के कारण ही वह गूढ है । जीव अन्य सब चीजो को देखने पर भी अपनी ही हृदय-गुहा मे देखने मे असमर्थ है, इस कारण परमात्मा छिपा रह जाता है ।

६ सारे प्राणियो मे स्थित कहने पर मच्छर, कूटपाद (Amoeba) आदि सूक्ष्म शरीरो मे रहने के कारण उसे अणु परिमाणी न समझ लिया जाय इसलिये उसकी व्यापकता का निर्देश है । अत उसका रहना वैसे ही है जैसे घडे मे मिट्टी का रहना, न कि घडे मे जैसे जल का रहना । घडे के कण कण मे मिट्टी रहने पर भी मिट्टी घडे की अपेक्षा व्यापक बनी रहती है । उसी प्रकार सब भूतो मे रहने पर भी ईश्वर व्यापक बना रहता है । कारण सूक्ष्म और व्यापक

दोनो हुआ करता है। वेष्टन का अर्थ उपसहार भी हो सकता है। सबको अपने आपमे चारो तरफ से घुसा लेने वाला होने से सहारक प्रक्रिया का अधिष्ठाता रुद्र **परिवेष्टितार** कहा गया। अथवा जैसे किला राज्य का परिवेष्टन करके उसका रक्षक बनता है, उसी प्रकार भक्तो का दुर्ग की भाति काम क्रोधादि शत्रुओ से रुद्र रक्षक है। तात्पर्य है कि जब अन्त करण महेश्वर की भक्ति मे लगा दिया जाता है तो प्रेमाकार वृत्ति विशिष्ट चैतन्य अन्य विकारो के प्रवेश को रोक कर साधक का रक्षण करता है। वस्तुतस्तु जैसे मायावी अपने बनाये हुए हाथी, राजा, दरबारी आदियो को परिवेष्टन करके स्थित होता है अथवा जिस प्रकार मिरगी के जल का परिवेष्टन करके रेगिस्तान या ऊषर रहता है वैसे ही विश्व का परिवेष्टन करके अन्दर बाहर सर्वत्र एक मात्र रुद्र ही रहता है। इसीलिये वह एक अद्वितीय कहा गया है। यहा उससे भिन्न सारी सत्ताओ का निराकरण करने से तात्पर्य है। सबको अपने अन्दर करके स्वसत्ता से सबको व्याप्त करके उसकी अवस्थिति है।

७ इस कारण से ही यह कार्य उत्पन्न होगा, इस पदार्थ का ही यह स्वभाव होगा, इस देश अथवा काल मे ही इसकी स्थिति होगी, इन इन विषयो मे जीव की स्वतत्रता होगी, इन इन साधनो से ही ज्ञान होगा, आदि आदि सभी मर्यादा और धर्मो का निर्माण करने वाला होने से वह सबका नियामक ईश कहा जाता है। यद्यपि दूसरे नियामक भी ईश कहे गये हैं लेकिन वे सातिशय ईश हैं क्योकि रुद्र के नियमो के परतत्र रहकर ही वे ईश हैं। रुद्र स्वतत्र है। अत वही निरतिशय ईश है।

८ प्रत्यक् रूप से उपर्युक्त विशेषणो वाले ईश्वर का अपरोक्ष करके नित्यसिद्ध ब्रह्मभाव को प्राप्त हो जाते हैं। वस्तुत तो जीव सर्वदा ही रुद्र है परन्तु, व्यवधायक अविद्या के कारण अपने को

भिन्न समझता है। इस अविद्या के नष्ट हो जाने पर मै ही रुद्र हू ऐसा अनुभव करके आनन्दात्मस्वरूप विज्ञान से अपनी मरणशून्यता को जान लेता है, इतने मात्र से 'अमर होता है' ऐसा औपचारिक प्रयोग बन जाता है।

८

किसी को यह अनुभव होता ही नही होगा, ऐसी आशका को हटाने के लिये एव जीव शिव की एकता का दृढ करने के लिये श्वेताश्वतर महर्षि अपना अनुभव कहते है —

वेद अहं एतं पुरुषं महान्तम् आदित्यवर्णम् तमसः परस्तात्। तम् एव विदित्वा अतिमृत्युम् एति न अन्यः पन्था विद्यते अयनाय ॥

अह = मै[1]
एत = इस उपर्युक्त[2]
महान्त = ब्रह्म रूप[3]
आदित्यवर्ण = आदित्य के रग वाले[4]
तमस = अज्ञान से
परस्तात् = परे[5]
पुरुष = पुरुष को[6]
वेद = जानता हूँ[7]।
तं = उसको[8]
एव = ही
विदित्वा = जानकर
मृत्यु = मृत्यु को[9]
अति = पार
एति = करता है[10]।
अयनाय = (मोक्ष) गमन के लिये[11]
अन्य = दूसरा
पन्था = रास्ता[12]
विद्यते = मौजूद
न = नहीं है।

१ यह मन्त्र ऋग्वेद मे नारायण महर्षि द्वारा भी कहा गया है। एव सामवेद और अथर्ववेद मे भी मिलता है। अत अनेक ऋषियो द्वारा अपने अनुभवो का वर्णन ज्ञान गम्यता को सुस्पष्ट करता है। अनुभव वाक्यो से सामान्य पुरुषो को भी प्रवृत्ति हो जाती है।

वस्तुतस्तु नित्य वेद मे ये वाक्य आचार्य को अनुभव प्रकट करने का प्रकार बतलाने के लिये है कि आगम से प्रतिपादन करने के बाद अनुभव का पुट देने से साधको का उत्साह वर्धन होता है। यह सदा याद रखना चाहिये कि अनुभव प्रमाण नही होता, परन्तु प्रमाण सिद्ध प्रमेय का उपोद्बलक और निश्चायक अवश्य होता है।

२ जिस रुद्र ब्रह्म का प्रकरण चला हुआ है उसी का परामर्श करना इष्ट है। एतत् के द्वारा प्रत्यक्ष निर्देश करके आत्मतत्त्व को हस्तामलकवत् बताया। तात्पर्य है कि ऋषि ने केवल शास्त्र या गुरुओ के वाक्य से नही जाना वरन् साक्षात् अनुभव करके जाना।

३ सर्व रूप होने से सबसे अधिक व्यापक होकर ब्रह्म कहा जाता है। अपने गुण, कर्म, ऐश्वर्य आदि से भी व्यवहार दृष्टि से वह सबसे महान् है ही।

४ सूर्य को आदित्य कहते है। सूर्य स्वय प्रकाश है। इसी प्रकार आत्मा भी स्वय प्रकाश है। सूर्य के प्रकाश के सामने अन्य सब प्रकाश लुप्त हो जाते है। इसी प्रकार आत्म प्रकाश के सामने अन्य प्रकाश लुप्त हो जाते हैं। आत्मज्ञान के सामने अनात्मज्ञान अति तुच्छ होने से नही की तरह हो जाते है। इन समानताओ के कारण ही चिन्मात्र को आदित्य के वर्ण वाला अर्थात् आदित्य की तरह बताया गया। इन्ही समानताओ से रुद्र की आदित्य रूप से उपासनाओं का विधान किया गया है। इसलिये भी आदित्य के उपास्य रूप से वरण करने से जिसकी प्राप्ति होती है वह रुद्र भी आदित्य-वर्ण ही है। वस्तुतस्तु दिति अर्थात् खण्ड, एव अदिति अर्थात् अखड। जब जब मन की वृत्ति के द्वारा द्रष्टा और दृश्य एक अर्थात् अखण्ड याने अदिति हो जाते हैं तब तब जो ज्ञान उत्पन्न होता है वह आदित्य है। परन्तु इन ज्ञानो के पूर्वापर एव ज्ञान के भीतर भी द्रष्टा और दृश्य का किञ्चित् भेद अनुवृत्त रह ही जाता है। स्वय द्रष्टा

मे भी श्रोता, स्पृष्टा, विज्ञाता आदि भेद हो नही नरत्व भारतीयत्व आदि भेदों का भी अनुवर्तन बना ही रहता है। दृश्य मे भी रूप, रस, गन्ध, घट, हाथी आदि भेद बने हो रहते हैं। ब्रह्म ज्ञान मे ही आत्मा और ब्रह्म की वास्तविक एकता होने से प्रथम प्रकार का भेद नही है, एव शोधित होने से आत्मा या ब्रह्म मे भी दूसरे प्रकार के भेद नही हैं। अतः वास्तविक अद्वितीयता होने से वह ज्ञान ही आदित्य है। उस आदित्य के वरण करने से ही उसकी प्राप्ति सभव हो जाती है। इस प्रकार पूर्ण प्रेम की कारणता प्रतिपादन करने के लिये वर्ण शब्द है। पूर्ण प्रेम से पूर्णानन्द का भी प्रतिपादन हो जाता है। प्रेम ही आनन्द का साधक है। अथवा ब्रह्म ज्ञान की तरह विशिष्ट ज्ञान को भी उसी के रग का मान कर ध्यानादि मे अखण्डता लाने से उसकी प्राप्ति होती है। इसीलिये वह आदित्य वर्ण है।

५ यहा परत्व अविद्या से अतिरिक्त अर्थ मे नही लेना चाहिये क्यो कि यह अज्ञान ब्रह्म मे ही आश्रित होने के कारण उससे भिन्न नही है। फिर भी स्वय प्रकाश ज्ञान रूप होने से अज्ञान से इसकी वास्तव मुख्य एकता रूपी तादात्म्य सबन्ध की असभवता होने से उससे परे कहा गया। अथवा तम रूपी अज्ञान के नष्ट होने पर ही उसके प्रकाश का अनुभव होने से उसे तम के परे बताया।

६ पूर्ण होने से अथवा पुरु अर्थात् बहुत रूपो मे शयन करने से उसे पुरुष कहा गया है। एक ईश्वर ही सर्व रूपो मे विद्यमान है यह भाव है।

कुछ लोग तो पुरि शयनात् के द्वारा इस देह मे रहने वाले जीव तत्त्व को एवं अनुभव सिद्ध होने से जीव को ही उद्देश्य करके महान्तम् आदि के द्वारा ईश्वरत्व का विधान मानते हैं। इस प्रकार मानने पर भी पूर्व दल से त्वं पदार्थ एव अपर दल से तत् पदार्थ की एकता करके इस वाक्य की महावाक्यता सिद्ध हो जायेगी।

७ साक्षात् अपरोक्षानुभव से तात्पर्य है। असभावना विपरीत भावना को मनन निदिध्यासन से दूर करके श्रवण द्वारा दृढ अप्रतिबद्ध आत्म ज्ञान प्राप्त कर चुका हूँ यह भाव है। कर्तृ-कर्मादि विरोध तो तुच्छ है। यहा अनुभव वाक्य समाप्त हो गया। इसके आगे श्रुति स्वय ही विधि कर रही है।

८ अत्यन्त कठिन आत्मज्ञान के लिये दुष्कर प्रयत्न क्यो किया जाय जब कि सुख प्राप्ति और दु ख परिहार के लिये हजारो लौकिक और शास्त्रीय उपाय उपलब्ध है, ऐसी शका को समूल उखाडकर श्रुति कहती है कि केवल आत्मा को जान करके ही ससार-दु ख-महोदधि को पार किया जा सकता है। परमात्मा को आत्मा से अन्य रूप मे जानने से कभी भी दु ख नही हट सकता। कृतकृत्यता की प्राप्ति रुद्र को आत्मा जानने से ही सभव है। रुद्र का यह रूप प्रकृति और प्राकृत सब भावो से अनास्कन्दित ही है। इसके अतिरिक्त और कोई सम्यक् ज्ञान के योग्य दूसरा तत्त्व नही है। तात्पर्य है कि न ब्रह्म मे अन्य दृष्टि और न ब्रह्म से अन्य दृष्टि रह जाने पर ही साधना की पूर्णता है।

९ अज्ञान ही मृत्यु है। इसके आवरण शक्ति और विक्षेप शक्ति के द्वारा दु.ख वृक्ष बीज का प्रारम्भ होकर मरणादि प्रबन्ध मिलते हैं। अत जब तक मूलाज्ञान नष्ट नही हो जाता तब तक दु ख निवृत्ति सर्वथा असभव है। लौकिक और शास्त्रीय उपाय दु ख निवृत्त करने मे वैसे ही असमर्थ हैं जैसे प्रतिदिन सिञ्चित होने वाली भूमि मे स्थित तृण समुदाय के ऊपर से पत्तो को काटने पर तृणनाश की सम्भावना।

१० परम पुरुषार्थ रूप को आत्म रूप से जान जाता है। सारे लयो का अर्थात् कारण भाव मे लीन होने का अन्तिम स्थान अज्ञान रूप मृत्यु ही है। सम्यक् ज्ञान के फलक (धार) पर चढा हुआ वह

मृत्यु स्वरूप से जल जाता है। यही मृत्यु को अतीत कर जाना है। पाने मे जाता है और जानता है दोनो ही भाव निहित हैं।

११ एक स्थिति से दूसरी स्थिति मे जाना अयन का मुख्य अर्थ है, जैसे दक्षिणायन, उत्तरायण आदि। इसी प्रकार ब्रह्म का अज्ञान मे अयन और ज्ञान मे अयन मानकर बन्धन और मोक्ष की व्यवस्था होने से यहा उसी शब्द का प्रयोग किया गया। चू कि अज्ञान से ही बन्धन सर्व शास्त्रविदो ने माना है, अत ज्ञान से अतिरिक्त और कोई मोक्ष का अयन नही हो सकता। योगी भी आत्मा के स्वरूप अज्ञान से ही प्रकृति मे बन्धन मानते हैं एव वैष्णवादि द्वैती भी भगवान् से अपने सम्बन्ध के अज्ञान को ही बन्धन का कारण स्वीकारते है। बौद्ध भी आत्मा की शून्य या क्षणिकरूपता के अज्ञान से, एव ईसाई-मुसलमान भी गॉड या अल्लाह् के नियमो के अज्ञान से या ईसा मुहम्मद के एक मात्र पुत्र या पैगम्बर होने के अज्ञान से बन्धन मानते है। आज का साम्यवाद भी ऐतिहासिक द्वन्द्ववाद के ऐतिहासिक निश्चिति के अज्ञान से ही बन्धन स्वीकारता है। इस प्रकार ससार के सभी वादो एक मत से जब अज्ञान का ही कारण मानते हैं तो उसकी निवृत्ति के लिये ज्ञान से अतिरिक्त साधनो को मानना उपहासास्पद ही सिद्ध होता है। भोजन बनाने या पैसा कमाने के तरीको की अज्ञान निवृत्ति के लिये जब कोई पूजा, पाठ, तीर्थ, भक्ति, योग, ध्यान, तप आदि साधनो को नहीं मानता, तब केवल इस अज्ञान की निवृत्ति के लिये इस प्रकार के साधनो को स्वीकारना सर्व-प्रमाण विरुद्ध है यह तो स्पष्ट ही है। अयन पद से श्रुति ने यही निर्देश दिया है कि बाकी सभी साधन अज्ञान के अन्दर ही रखते है, अज्ञान से दूर नही करते।

१२ ब्रह्मात्म-ज्ञान से ही कैवल्य संभव है न कि उपासना, योग, कर्मादि साधनान्तरो से और न ज्ञान के साथ इन साधनो का समुच्चय करने से ही। श्रुति, स्मृति, पुराण, न्याय, आगम आदि मे बताये हुए तीर्थ स्नान, महादान, निर्विकल्प समाधि, भक्ति आदि सभी का यहा

सग्रह है। इनकी परम्परा से कारणता का निषेध करना इष्ट नहीं है। वरन् साक्षात् कारणता का ही निषेध है।

किञ्च यद्यपि कई वादी ज्ञान से मोक्ष को मानते हैं तथापि किसके ज्ञान से मोक्ष होगा इस विषय मे उनमे भी मत भेद है। अत यहा **अन्य पन्था** का तात्पर्य जिस ज्ञान मे किसी भी प्रकार की अन्यता न रह जाय उसका निर्देश है। इस शका का भी निषेध यहा इष्ट है कि ज्ञातव्य पदार्थों मे ब्रह्म ही ज्ञेय रूप मानने पर भी मोक्ष के उपायान्तरों को मानने मे क्या निषेध हो सकता है। तात्पर्य है कि जीव, ईश्वर, जगत् आदि सर्व भेद निवृत्ति रूप जो ब्रह्म ज्ञान उससे भिन्न कोई मार्ग निरतिशय सुख-प्राप्ति रूप नि शेष अनर्थ निवृत्ति का नही है। ससार समुद्र से पार जाने के लिये अविद्या निवृत्ति से भिन्न उपायो का सहारा लेना वैसे ही है जैसे आकाश मे उडने लिये पेड से लिपटना।

९

जिस ब्रह्म के ज्ञान से मुक्ति होती है उसी ब्रह्म का प्रतिपादन अब अध्याय की परिसमाप्ति तक किया जायेगा —

यस्मात् परं न अपरम् अस्ति किञ्चित् यस्मात् न अणीयः न ज्यायः अस्ति कश्चित्। वृक्षः इव स्तब्धः दिवि तिष्ठति एकः तेन इदं पूर्णं पुरुषेण सर्वम्॥

यस्मात् = जिससे[1]
पर = परे (उत्कृष्ट)
किञ्चित् = कुछ भी
अपर = दूसरा
न = नही
अस्ति = है;
यस्मात् = जिससे
अणीय. = छोटा[2]
न = नही है,
ज्याय = बडा[4]
कश्चित्[5] = कोई[6]
न = नही
अस्ति = है,
स्तब्ध = स्तब्ध[7]
वृक्षः = वृक्ष[8]
इव = की तरह

दिवि=द्युलोक मे[९]
एक =अकेला[१०]
तिष्ठति=खडा हैं,[११]
तेन=उस

पुरुषेण=पुरुष से
इद=यह (प्रतीयमान विश्व)[१२]
सर्व=सारा
पूर्णम्=भरा हुआ है[१३]।

१ जिस पुरुष का श्वेताश्वतर महर्षि ने अनुभव किया उस पुरुष का ही यहा निर्देश है। ब्रह्म और आत्मा की एकता के अज्ञान से ही क्रिया कारकादि रूप द्वैत प्रपञ्च का विलास होता है। अत उसकी एकता के ज्ञान से ही उसका बाध होकर वह ज्ञान मोक्ष का साधन बन जाता है। इस प्रकार समस्त अतिशयो का अपास्त करना ही उसका रूप होने से उससे उत्कृष्ट और कुछ हो ही नही सकता यह स्पष्ट है।

२ वस्तुत उससे अपर अर्थात् भिन्न कुछ है ही नही क्यो कि आत्मा से भिन्न सभी कुछ निरात्म अर्थात् असद् रूप है। उससे अन्य उसकी ही अविद्या से विस्तार प्राप्त करता है अत· वेदान्तो मे जगत् का कारण अविद्या को माना जाता है। अथवा सत्ता चित्ता और आनन्द रूपता उसी की होने के कारण उससे अपर और कोई हो ही नहीं सकता। विवेकी तो नकार का देहली दीपक न्याय से पर और अपर उभय पदो मे समावेश करके उस आत्मा से न कोई पर अर्थात् श्रेष्ठ है और न अपर=कनिष्ठ, ऐसा मानकर पर-अपर भावो से रहित निमल आत्मतत्त्व का ही दर्शन करते हैं।

३ अणु अर्थात् अल्प। अणीय अर्थात् अणुतर। जो जिससे अणु होता है वह उसमे प्रवेश कर सकता है। चूकि विज्ञानघन आत्मा मे अनात्मा का प्रवेश असम्भव है अत आत्मा से अणुतर किसी को मानना समीचीन नही हो सकता। किञ्च अणु का अर्थ सूक्ष्म भी होता है। आत्मा सबका कारण होने से सूक्ष्मतम है एव अनात्मा कार्य होने से जड और स्थूल है।

४ ज्याय अर्थात् महत्तर। अथवा वृद्धतर। आयु की महत्ता को ही वृद्धता कहते है। चू कि महाप्रलय काल मे वही अकेला था अत वह सबसे वृद्ध है इस मे सशय हो नही। गुण ऐश्वर्यादि से भी उससे महत्तर और कोई नही है।

५ किञ्चित् इति पाठान्तरम्।

६ पूर्व मे जड पदार्थो का सकेत था। इसमे चेतन पदार्थो का। अर्थात् विष्णु इन्द्र आदि कोई भी देवगण उससे श्रेष्ठ नही है। फिर दानवो की ता बात ही क्या ?

७ जो पदार्थ बिना बाह्य कारण के निश्चल रहता है उसको स्तब्ध कहते है। अविद्या के बिना ब्रह्म मे स्पन्दन की असभवता होने से यहा उसे स्तब्ध कहा गया है। अथवा परमेश्वर के सगुण रुद्र रूप का आसन ऐसा दृढ होता है कि वे अतिदीर्घ कालतक सर्वथा निश्चल दीखते है। इसलिये उन्हे स्तब्ध कहा जा सकता है।

किसी अद्भुत घटना को देख सुनकर जो मन का निश्चल भवन है उसे भी स्तब्धभवन कहते है। ईश्वर ही जीव रूप से अपनी माया के विस्तार को देखकर किंकर्तव्यविमूढ हो जाता है इसलिये भी उसको स्तब्ध की उपमा दी गई है।

जिस प्रकार वातरहित देश मे वृक्ष अविकारी भाव से रहने के कारण ही स्तब्ध कहा जाता है उसी प्रकार सारे विकारो से रहित होने के कारण शिव को भी स्तब्ध कहा जायेगा। चू कि शिव से भिन्न सभी कुछ उसके अधीन सत्ता स्फुरण वाला है अत· उसे कौन विकृत कर सकता है ?

८ वृश्चि धातु से निष्पन्न वृक्ष शब्द का अर्थ होता है काटने योग्य। जिस प्रकार वृक्ष मे डाल, फूल, पत्ते, फल, बीज आदि उत्पन्न होते हैं उसी प्रकार अविद्या से अनन्त नाम रूपो की सृष्टि होती है। अविद्या से उत्पन्न होने के कारण विद्या से उसका बाध करके नाश होना ही

उद्देश्य होने के कारण उसको वृक्ष कहा गया। वृक्ष की तरह स्तब्ध से भाव है ब्रह्म नाम रूप की तरह प्रतीत होता है।

९ स्वर्ग को द्यु लोक कहते है क्यों कि देवता स्वय प्रकाश होने से सूर्यादि परप्रकाश की अभिलाषा नही करते। अथवा स्वर्ग से उपलक्षित यहा सगुण ब्रह्म का लोक ले लेना चाहिये। जैसे उस लोक मे निश्चल भाव से ब्रह्म ही आश्रय और विषय दोनो रूप से प्रतीत होता है वैसे ही यहा भी प्रतीत होता है। अथवा द्योतन स्वभाव वाले ज्ञान रूप ब्रह्म मे पूर्णानन्द अभिव्यक्त होने के कारण ब्रह्म ज्ञान ही द्यु है। मैं ब्रह्म हूँ इस वृत्ति मे प्रमेय रूप से क्रीडा करते हुए रहना है, यही उसका द्यु मे रहना है। अथवा द्यु अर्थात् ज्ञान सबका प्रकाशक होने से द्यु ज्ञान है। स्वय प्रकाश रूपी अपनी महिमा मे रहता है। इस ज्ञान महिमा को ही यहा द्यु मे रहना कहा गया है। उपासक दृष्टि से जो प्रकाश स्वभाव वाले आदित्य मण्डल मे उपास्य रूप से रुद्र रहता है इसलिये उसको द्युलोक मे रहने वाला कह दिया।

१० सर्व भेद शून्य अद्वितीय सर्वप्रधान रूप हुआ हुआ रहता है। जिस प्रकार स्वर्ण के सारे विकारो मे स्वर्ण अकेला रहता है उसी प्रकार उपाधि के सारे विकारो मे रुद्र अकेला रहता है। द्यु लोक मे वृक्ष के दृष्टान्त से ब्रह्म मे परिच्छिन्नता की भ्रान्ति हो सकती थी उसको हटाने के लिये यह पद दिया गया।

११. भूत, भविष्य और वर्तमान तीनो कालो का निर्देश समझना चाहिये। प्रायः खडा का अर्थ होता है गति क्रिया का प्रध्वसाभाव, या प्रागभाव का अन्तिम क्षण। परन्तु यहा दोनो ही अर्थ इष्ट नही हैं, वरन् क्रिया का अत्यन्त अभाव ही इष्ट है।

१२ विविध प्रत्ययो से गम्य होने के कारण ही उसमे विविधता है, स्वरूप से नही। जिस प्रकार यह रस्सी है, एव यह साप है, इन दो ज्ञानों में रस्सी का ज्ञान सर्प को बाधित करता है, परन्तु यह पना

अक्षुण्ण रहता है। इसी प्रकार 'देश, काल, वस्तु के द्वारा अवच्छिन्न यह दृश्य वर्ग है और प्रतीत होता है' इसका बाध 'देश, काल, वस्तु से यह अपरिच्छिन्न है, और प्रतीत होता है' के द्वारा हो जाता है। सत्ता और प्रतीति मे कोई भेद नही आता। अत न दृश्य प्रतीतिकाल मे और न दृश्य के बाध काल मे ईश्वर से भिन्न कुछ भी है। अत उसके ज्ञान से ही मोक्ष मुख्य हो जाता है।

१३ निरन्तर पुरुष से व्याप्त है, यह तात्पर्य है। अथवा नाम रूप असत् होने के कारण ब्रह्म के द्वारा सत्ता प्रदान करके ही इनको पूरित किया गया है।

१०

ब्रह्म-ज्ञान से पुरुषार्थ की प्राप्ति एव उस ज्ञान से रहित अन्य भावनाओं का अवलम्बन करने वालो को केवल दुःख ही हाथ मे आयेगा इसका प्रतिपादन करते है —

ततः यत् उत्तरतरं तत् अरूपम् अनामयम्। ये एतत् विदुः अमृताः ते भवन्ति अथ इतरे दुःखम् एव अपियन्ति॥

यत्=जो[1]	**ते**=वे[7]
ततः=उस (हिरण्यगर्भ से[2])	**अमृताः**=अमर
उत्तरतर=श्रेष्ठतर है[3]	**भवन्ति**=हो जाते हैं।
तत्=वह	**अथ**=इसके विपरीत[8]
अरूपम्=रूप रहित[4] (और)	**इतरे**=दूसरे (अज्ञानी)[9]
अनामयम्=अविद्यारहित है[5]।	**दुःखम्**=दुःख को[10]
ये=जो	**एव**=ही
एतत्=इसको[6]	**अपियन्ति**=जाते हैं (नरक मे डूबते हैं।)[11]
विदुः=जानते हैं।	

१. ब्रह्म जो परि पूर्ण रूप से प्रसिद्ध है।

२ कार्य और कारण का अभेद होने से हिरण्यगर्भ को भी ब्रह्म

क्यो न मान लिया जाय इस शका को दूर करने के लिये उससे श्रेष्ठ रूप से ब्रह्म प्रतिपादन है। अथवा मूर्त ब्रह्म की अपेक्षा अमूर्त ब्रह्म की श्रेष्ठता का प्रतिपादन इष्ट है।

३ चूं कि ईश्वर की एकता के ज्ञान से कैवल्य प्राप्ति हो जाती है अत ईश्वर को सब श्रेष्ठो की अपेक्षा श्रेष्ठतर कहा गया। अथवा सर्प को व्याप्त करके रहने वाली रस्सी सर्प के बाधित हो जाने पर भी रह जाती है अत उसे उत्तरतर कह सकते हैं। या गहनो मे व्यापक स्वर्ण गहनो के लय हो जाने पर भी रह जाता है अत उसे उत्तर कह सकते है। इसी प्रकार भौतिक पदार्थो के बाध या लय हो जाने पर भी भूत बने रहते है अत वे उत्तर है। परन्तु भूतो के बाध या लय के अनन्तर भी बना रहने से वह उत्तरतर कहा गया है। व्याप्य-व्यापक भाव से विद्यमान प्रकृति व प्राकृत सभी हेयोपादेय पदार्थों को सत्ता स्फुरण देने के कारण सर्व व्यापक रुद्र ही प्रकृति प्राकृत सर्वोपाधिलय हाने पर भी स्थित रहता है अत उत्तरतर है। अथवा सबका अधिष्ठान होने से उसकी श्रेष्ठतरता है।

उत्तर का अर्थ पहले भी होता है। अत वह सारे पूर्वजो की अपेक्षा भी पूर्व ही रहता है अत उसे उत्तरतर कहा गया है। उत्तर का अर्थ कारण भी होता है। अत जगत् का कारण हिरण्यगर्भ उत्तर कहा जायगा। इस पक्ष मे मन्त्र के तत शब्द का अर्थ इदन्ता से प्रतीयमान जगत् लिया जायेगा। जगत् रूपी कार्य और हिरण्यगर्भ रूपी कारण, इन दोनो भावो से विनिर्मुक्त होने के कारण कार्य-कारण रहित ब्रह्म का प्रतिपादन इष्ट है। आगमिक तो उत्तर दिशा मे जल प्रवाह होने के कारण लिङ्ग को ही उत्तरतर मानते है।

४ शुक्ल-कृष्णादि रूपो से रहित अथवा हाथ पैर आदि रूपो से रहित। अथवा रूप से उपलक्षित रस गन्धादि सभी गुणो से रहित।

५ रूपादि शून्य कहने से कारणावस्था अर्थात् माया रूपता की

प्राप्ति हो सकती है अत **अनामयम्** कहा गया। आमय अर्थात् रोग। रोग दुःख का कारण होता है। अविद्या भी दुःख का कारण है अत कारण विद्या से रहित है यह तात्पर्य हैं। अथवा आमय अर्थात् आध्यात्मिकादि ताप। इनसे रहित होने से अनामय है। दुःख, ससार, रोग आदि विकारो को आमय कहा जा सकता है। अत निर्विकार अर्थ भी यहा इष्ट हैं।

६ अनामय परिपूर्ण रूप तत्पदार्थभूत ईश्वर तत्त्व को त्व पदार्थ-भूत प्रत्यगात्मा से अभिन्न करके जो श्री परमहस साक्षात् अपरोक्ष ब्रह्म को जान लेन है।

७ जीव-शिवैकता के अपरोक्ष ज्ञान से स्वरूप का व्यवधान करने वाला जो अज्ञान और उसका कार्य द्वैत भ्रम उसको स्वरूप मात्र से प्रविलापन करने वाले।

८ आत्म-ज्ञान से क्या लाभ जब कि ज्ञानी और अज्ञानियो का व्यवहार एक जैसा ही देखने मे आता है, ऐसी शका होने पर पक्षान्तर बतलाते हैं।

९ अद्वैत ज्ञान का सहारा न लेकर जो तीर्थ, जप, पूजा, योग, यज्ञ, आदि साधनान्तरो का अवलम्बन करते है ये सभी पूर्व-ज्ञानियो की अपेक्षा दूसरे प्रयोजनो वाले अज्ञानी साधक है।

१० अधिक अधिक बार बार दुःख को ही प्राप्त करते है एव सुख के लवलेश की भी इनको प्राप्ति नही हो सकती। तात्पर्य हैं कि बाह्य व्यवहार एक जैसा होने पर भी अहन्ता ममता से अज्ञानी दुःख को पाता रहता है एव ज्ञानी इन अभिमानो से रहित होने के कारण दुःख को नही भोगता।

११ **अपियन्ति** अर्थात् लय होते है। तात्पर्य है कि वे दुःख मे ऐसे लीन होते है कि अपने आपको किसी भी समय दुःख रहित रूप से नही देखते। जो बीच बीच मे उनको सुखाभास की प्रतीति है वह

भी मलमूत्र विशिष्ट देह मे, जो एक तरह से कुम्भीपाक नरक है, अभिमान रखते हुए ही होने से दु ख रूप ही हैं।

११

इस ब्रह्म तत्त्व को शिव से अभिन्न बताते है —

सर्वाननशिरोग्रीवः सर्वभूतगुहाशयः ।
सर्वव्यापी सः भगवान् तस्मात् सर्वगतः शिवः ॥

स[1] = वह
भगवान् = भगवान्[2]
सर्वाननशिरोग्रीव[3] = सब जगह मुख, सिर और गर्दन वाला,[3]
सर्वभूतगुहाशय = सारे प्राणियो के बुद्धि गुहा मे रहने वाला,[4]
सर्वव्यापी = सर्वव्यापी,[5]
सर्वगत = सर्वगत है,[6]
तस्मात् = इसलिये[7]
शिवः = शिव है[8]।

१ च इति दीपिकापाठ ।

२ ऐश्वर्य, धर्म यश, लक्ष्मी, ज्ञान, वैराग्य की समग्रता ही भग शब्द का अर्थ होता है। यह जिसमे विद्यमान हो वह भगवान् कहा जाता है। जिसके कारण ये भग अशो मात्र से ब्रह्मा, विष्णु, देव, दानव, गन्धर्व, किन्नर इत्यादि मे आते है उसके भगवान् होने मे सन्देह ही क्या है।

३ पूर्व मत्र मे उत्तरतर शब्द के प्रयोग से कार्य और कारण मे अथवा कारण और कारणोत्तर मे भेद की प्रतीति हो सकती है, जिसको दूर करने के लिये उसकी सर्वात्मता का प्रतिपादन किया जा रहा है। सभी के मुख सिर आदि उसके है, अथवा सभी मुख आदि उसके है, अथवा सब जगह मुख सिर आदि उसके है। तात्पर्य है कि सारे कार्य-कारणो को अपनी माया से बनाकर जल मे चन्द्र की तरह जीवरूप से उनमे प्रवेश करके नाम भेद होने पर भी ईश्वर ही वहा स्थित है। ब्रह्मा से लेकर कूट पाद तक सभी के आनन उसी के है। यहा अन्य सभी अवयवो की उपलक्षणा समझनी चाहिये।

४. शरीररूपता के निवारणार्थ यह पद दिया गया। गुहा का अर्थ हृदय पुण्डरीक है। एव उसमे प्रत्यगात्मा रूप से वह स्थित है।

५ सर्वभूतगुहाशयता से प्राप्त परिच्छिन्नता की निवृत्ति के लिये यह पद है। चेतन अचेतन सभी को व्याप्त करके रहता है। समष्टि रूप से स्थित सभी उपाधियो को सब तरफ से लपेटकर रहने का शील अर्थात् स्वभाव है।

६ व्याप्य-व्यापक रूप से भेद की प्राप्ति होने पर सर्वत्र प्राप्त है कह कर उसका निराकरण किया। सर्वत्र-सर्वरूप से गया हुआ ही है अर्थात् अद्वितीय है, यह भाव है। वस्तुतस्तु अखण्ड ब्रह्म ज्ञान मे सर्व रूप से ज्ञात होने पर ही सर्वगत कहा गया।

७ उपर्युक्त प्रत्येक विशेषण ही एक एक कारण है।

८ अविद्या तत्कार्य मलो से रहित, परिपूर्ण आनन्द स्वभाव वाला होने से परम मगलमय, सौन्दर्यघन, प्रेम मूर्ति रुद्र को ही शिव कहते है।

१२

मगलो की परमावधि रूप शिव ही अन्त करण की शुद्धि, ज्ञान, मोक्ष, इत्यादि देता है —

महान् प्रभुः वै पुरुषः सत्त्वस्य एषः प्रवर्तकः।
सुनिर्मलां इमां प्राप्तिं ईशानः ज्योतिः अव्ययः॥

एषः=यह[1]
सत्त्वस्य=ज्ञान, क्रिया शक्ति का[2]
प्रवर्तक=प्रेरक,
महान्=महान्[3],
प्रभु=समर्थ[4],
पुरुष=पुरुष,[5]
ईशान=शासन करने वाला[6],
अव्यय=अविनाशी,[7]
ज्योति=प्रकाश रूप[8]
इमां=इस[9]
वै=निश्चित रूप से[10]
सुनिर्मलां=अत्यन्त निर्मल[11]
प्राप्तिम्[12]=प्राप्ति रूप है

१ स्वय प्रकाश, चिदानन्द रूप ईश्वर जिसका पूर्व मन्त्रो मे प्रतिपादन किया गया है।

२ व्यष्टि और समष्टि दोनो प्राण और मन यहा सग्रहीत है। अथवा समग्र प्राणि जातो का वह प्रेरक है। सत् अर्थात् ब्रह्म अत सत्त्व अर्थात् ब्रह्म-भाव। निर्मलता प्राप्त कराकर प्रत्यगात्मा मे प्रवण साधक को अपनी एकता के ज्ञान की ओर प्रवृत्त करने वाला होने से भी उसे सत्त्व का प्रवर्तक कहा गया है। किञ्च सत् अर्थात् कार्य रूप जगत्। कारण रूप मे स्थित जगत् को कार्य रूप मे ढकेलने वाला होने से भी वह सत्त्व का प्रवर्तक है।

३ प्रथम शब्द होने से पूर्व मत्रोक्त मगलवाची शिव शब्द से सयुक्त होकर सबसे अधिक मगल का प्रतिपादन इष्ट है। जैसे छोटे छोटे मगल अभीप्सित अनिष्टनिवृत्ति मे एव इष्ट प्राप्ति मे सर्वदा काय कारी नही होते वैसे ही ईश्वर की मगलता न समझ ली जाय। उसके स्मरण चिन्तन मात्र से अवश्य ही मगल हो जाता हैं। अथवा देश कालादि से अनवच्छिन्न होने के कारण ही वह महान् है। सामान्य मगल किसी विशिष्ट देश कालादि मे मगल करने पर भी अन्यत्र अमागलिक हो जाते है, वैसा यह शिव नही है।

४ विश्वोत्पत्ति, स्थिति, लय, जीव भाव से प्रवेश, आविर्भाव, तिरोभाव, नियमन आदि सभी मे उसकी सामर्थ्य अप्रतिहत है।

५ पूर्ण होने से ही वह पुरुष है। अथवा शरीर रूपी पुर मे शयन करने से वह पुरुष है। जैसे शयन करने पर सामर्थ्य और ज्ञान नही रह जाता वैसे ही जीव रूप से शयन करने पर शरीरादि के अध्यास के कारण इसको भी अपने स्वरूप का ज्ञान भी नही रहता और सामर्थ्य का भी लोप हो जाता है।

वस्तुत जीव को ही पुरुष मानकर पुरुष रूप से अर्थात् जीव के अह साक्षी रूप से ही इसका दर्शन होता है, इस लिये ही इसे पुरुष

कहा गया। किंच उत्तम साधको को पुरुष रूप से ही इसके दर्शन होते है एव पुरुष रूप की उपासना ही सर्व श्रेष्ठ शिव प्राप्ति का मार्ग है। इन हेतुओ से भी इसे पुरुष कहा गया है।

६ मुमुक्षु को अपने स्वरूप का दर्शन देकर सम्यक् ज्ञान को देता है, जिससे इसके साथ एकता का जो तिरोधान हो गया था वह नष्ट होकर, सारे ससार और उसके कारण, अज्ञान को दहन करके मुक्ति मार्ग का शासक होने से इसे सब का नियन्ता कहा गया।

७ शामक मे धीरे धीरे कमजोरी आती जाती है, परन्तु शिव मे ऐसा नही है। अत वह कूटस्थ नित्य है।

८ परिशुद्ध विज्ञान प्रकाश से तात्पर्य है। मनके साक्षी रूपता से वह ध्येय हे क्यो कि वही उसका प्रकाश स्फुटतर होता है।

९ ऋषि अपने विद्वत् अनुभव से सिद्ध शिव प्राप्ति का निर्देश करने के लिये अपरोक्ष रूप से निर्देश करते हैं।

१० स्वानुभूति, श्रुति, न्याय और अन्य ब्रह्मनिष्ठो के अनुभव से भी सिद्ध है।

११ अविद्यादि मलो से सर्वथा रहित, सकारण, प्रपञ्चोपशम रूप निरतिशय आनन्दाविर्भाव लक्षण वाली शिव की नित्या का यहां निर्देश है। तन्त्रो मे द्वादश, षोडश, एव चतुषष्टि निमलाओ का प्रतिपादन किया गया है। यद्यपि श्री एव आद्या, ब्रह्मोपासको के लिए, अन्त करण की शुद्धि के लिये, प्रधान साधन है, तथापि साक्षात् मोक्ष रूपिणी होने से निर्मला की प्राप्ति ही अन्तिम लक्ष्य है। निर्मला का दर्शन हो जाने पर न केवल अविद्या का बाध हो जाता है वरन् उसकी स्मृति या वासना भी नष्ट हो जाती है। यही ब्रह्म-प्राप्ति है।

१२. शान्ति पठत दीपिका विवरणकारौ। तत्र आश्रित इति शेषः। अथवा यत प्राप्नोति तस्य इति शेष। अथवा शान्ति प्रति ईशान इत्यन्वय।

१२

उपासनाओ मे श्रेष्ठ हृदयोपासना को बताते है —

अंगुष्ठमात्रः पुरुषः अन्तरात्मा सदा जनानां हृदये सन्निविष्टः। हृदा मनीषा मनसा अभिक्लृप्तः ये एतत् विदुः अमृताः ते भवन्ति ॥

अगुष्ठमात्र =अगूठे के जितना[1]
अन्तरात्मा = अन्तरात्मा[2]
पुरुष = पुरुष
जनानां = लोगो के[3]
हृदये = हृदय कमल मे
सदा = सदा
सन्निविष्ट = घुसा हुआ है[4]।
हृदा = हृदय मे स्थित
मनीषा = बुद्धि से
मनसा = साकल्य रूप से
अभिक्लृप्त = प्रकाशित[5]
एतद् = इसको
ये = जो[6]
विदु = जान गये[7]
ते = वे
अमृता = अमर
भवन्ति = हो गये।

१ हृदय-कमल अगुष्ठ परिमाण का होता है। उसमे रहने से लिङ्गाभिमानी जीव को भी अगुष्ठ मात्र कहा गया। '**अगुष्ठमात्र पुरुषं निश्चकर्ष यमो बलात्**' सत्यवान् को जब यम ले गया था तब अगुष्ठ मात्र ही उसका स्वरूप था, इत्यादि प्रमाण है। हृदय सुषिर परिमाण की अपेक्षा से अनुभव काल मे वही अभिव्यक्ति स्थान होने से अगुष्ठमात्र की प्रतीति को लेकर यह प्रयोग है। सभी प्राणियों के हृदय का परिमाण अपने अपने अगूठे से अगुष्ठ परिमाण ही होता है, ऐसा पुराणादि मे प्रतिपादित है। कुछ विवेकियो की तो यह मान्यता है कि गत्यर्थक अक धातु से निष्पन्न होने के कारण अङ्गुष्ठ शब्द का तात्पर्य सभी ज्ञान और क्रियाओ मे स्थित होना ही है। मात्र के द्वारा बताया गया कि ज्ञान और क्रिया से अतिरिक्त उसकी प्राप्ति का उपाय नही है। उपनिषदो मे प्रायः करके बुद्धि मे ही ईश्वर को प्रकाशित माना है। अपञ्चीकृत पञ्च महाभूत से बनी होने के कारण

बुद्धि तो अणु से भी अणीयान् है । फिर भी हृदय पुण्डरीक मे सवत्र प्रकाश देने के कारण उसे हृदय, अर्थात् अगुष्ठ परिमाणी, कहा जा सकता है । एव बुद्धि मे स्थित आत्मा को भी अगुष्ठ परिमाणी माना जा सकेगा । इस दृष्टि से पुराण-वाक्य उपासना मे प्रयुक्त अगुष्ठ परिमाण के उपवृहण रह जायेगे । अपञ्चीकृत अणुतर बुद्धि उपास्य नही हो सकती यह तो स्पष्ट ही है । अत उपासना के लिये हृदय के अगुष्ठमात्र मे ही ध्यान करना पडेगा । अगुष्ठ शिव का उत्कृष्ट प्रतीक है क्यो कि प्राय यह लिङ्गाकार होता है । शिवागमो मे लिग अनुपलब्ध होने पर अगुष्ठ के ही अभिषेक का विधान किया है । ब्राह्मण, गुरु, आदि के अगुष्ठ पूजन का भी यही तात्पर्य है । हृदय मे स्थित पुरुष का प्रतीक मानकर अगुष्ठ पूजन से पुरुष पूजन मान लिया जाता है ।

मात्र का अर्थ **मीयते** भी होता है । अर्थात् अगुष्ठ के ध्यान के द्वारा सर्वोपाधियो मे प्रविष्ट पुरुष दर्शन शीघ्र होता है । यह एक आश्चर्य ही है कि पाश्चात्य देशो मे पुरुष का चिह्न अगुष्ठ (Thumb impression) ही माना है । सभवत वैदिक अगुष्ठ पुरुष का यह विरोचन की परम्परा से प्राप्त देहात्मवादी आसुर मत है ।

२ अन्दर अन्दर जाने से इसकी प्राप्ति होती है इसलिये इसे अन्तरात्मा कहते है । अथवा आत्मा माने बुद्धि । परमेश्वर ही बुद्धि उपाधि के अन्दर अनुप्रविष्ट होकर जीवरूपता को प्राप्त करता है । अत: वह अन्तरात्मा कहा जाता है । अन्दर रहकर के शासन करने वाला होने से भी वह अन्तरात्मा है । अन्त करण की वृत्ति के द्वारा विषय देश मे जाकर विषय को व्याप्त करता हुआ प्रतीत होने के कारण भी वह अन्तरात्मा है । सर्प मे रस्सी की तरह सभी उपाधियों मे स्थित होकर उनका स्वरूप होने से भी उसे अन्तरात्मा कहा जा सकता है । सबके अन्दर आत्म रूप से प्रकाशित होने के कारण ही वह अन्तरात्मा है ।

३ जनन आदि धर्म वाली उपाधियो से तात्पर्य है।

४ हृदय नाम के लिग देह मे सत्ता ज्ञान देते हुए भली प्रकार छिपा हुआ रहता है। यद्यपि आत्मा सारे शरीर मे रहता है परन्तु शान्तावस्था मे अच्छी प्रकार से हृदय मे ही घुसा रहने से उसे हृदय मे सन्निविष्ट कहा गया। किंच जब साधक सारी इन्द्रियो को सब जगह से हटा कर हृदय मे स्थित करता है तभी आत्म ज्ञान होता है। शिव ध्यान के लिये हृदय ही श्रेष्ठ स्थल है। इन्ही सब कारणो से उसे सन्निविष्ट कहा गया।

५ हृदय मे स्थित बुद्धि के द्वारा एव मनको ईशन करने वाले सकल्प से रहित मनीषा से एव मनन रूप मन के द्वारा सम्यक् दर्शन होकर वह अभिक्लृप्त अर्थात् ज्ञात हो जाता है। इस प्रकार हृदा से श्रवण, मनीषा से निदिध्यासन एव मन से मनन का निर्देश है। अथवा हृदा अर्थात् हृदयस्थ बुद्धि से जो बुद्धि मन का शासन करने वाली होने से **मन इष्टे** मनीषा भी है उस बुद्धि के द्वारा (मनसा) सकल्प करके आत्मा अभिक्लृप्त अर्थात् प्रकाशित होना है। अथवा मन से सकल्पित, एव बुद्धि से निश्चित इस प्रकार मन और बुद्धि दोनो से अभिक्लृप्त होता है। मन से न्याय प्रकाश को और बुद्धि से श्रुनि प्रकाश को लेना चहिये। विवेकी तो ऐसा मानने हैं कि ह्रिञ्. हरणे से निष्पन्न हृत् शब्द का मतलब है नेति नेति वाक्यो से सब का प्रतिषेध रूपी हरण। हृदा अर्थात् इस हरण के द्वारा सारी उपाधियो को निवृत्त करके मन के शास्ता रूप से (मनीषा) आत्म तत्त्व को जान कर फिर मन के विषय रूप से **सर्व खलु इदं ब्रह्म** का प्रकाश शरीरो के वर्तमान रहने हुए ही हो जाता है। उपासना दृष्टि से तो सकल्प विकल्प के नियन्त्रण करने वाले मनीषा, अन्त करण व्यापार से, हृदा हृदय की उपाधि के द्वारा, उपासना के लिये सारे देह मे एव विश्व मे व्यापक परमात्मा को, मनसा, मन के द्वारा अगष्ठ मात्र से कल्पना (अभिक्लृप्त) उसका साक्षात्कार कराती है। **मनीषा, मनसा,**

हृदा=हृदय रूपेण अभिक्लृप्त, ऐसा सरल अन्वय भी सभव है। **मन्वीश** पाठ कही कही मिलता है। तब तात्पर्य होगा मनु अर्थात् मत्र का ईश। आगमो के अनुसार हृदय मे मन्त्रेश्वर और विद्येश्वर का ध्यान ऐश्वर्य का प्रापक है। अथवा मन्वीश का अर्थ ज्ञानेश मानकर, एव **ज्ञानमिच्छेन्महेश्वरात्** इत्यादि पुराणो की प्रसिद्धि से हार्दाकाश मे मन से शिव का निर्माण कर, मानसिक पूजादि भी यहा विहित मानी जा सकती है।

६ जो उपाधि से अलग करके मरकण्डे से मू ज की तरह आत्म तत्त्व को निकाल लेते है वे तो तत्त्वज्ञान से मुक्त हो जाते है। परन्तु जो शमादि साधन सम्पन्न आत्मानात्म का विवेक करने के बाद भी सम्यक् ज्ञान के द्वारा अविद्या का विलय नही कर सकते वे भी इस उपासना से आपेक्षिक मोक्ष या सगुण ब्रह्म लोक की प्राप्ति तो कर ही लेते है।

७ अधिकारी भेद से यहा ज्ञान और उपासना दोनो अर्थ कर लेना चाहिये।

१४

रुद्र को जीव जगत् रूपता की प्राप्ति होने पर भी वह स्वरूप से उनमे अछूता ही रहता है —

सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात्।
सः भूमि विश्वतः वृत्वा अति अतिष्ठत् दश अङ्गुलम् ॥

स =वह[१]	**विश्वत** =चारो तरफ स[३]
सहस्रशीर्षा = अनन्त सिर वाला	**वृत्वा** = लपेट कर (भी)
सहस्राक्ष =अनन्त इन्द्रियो वाला	**दश** =दस
सहस्रपात् =अनन्त पादो वाला[२]	**अंगुलम्** =अगुल[४]
पुरुष =पुरुष	**अति** = ऊपर
भूमि = ब्रह्माण्ड को[३]	**अतिष्ठत्** =बना रहा।

१ पूर्व मन्त्र मे जिसको अन्तरात्मा कहा उसी को यहा सर्वात्मा कहा जा रहा है। अगुष्ठ मात्रता इत्यादि बताने से रुद्र को अल्पता की प्राप्ति न हो जाय अत' माया काल मे भी कार्य करण सघातो मे प्रवेश किये हुए भी वह उनसे व्यापक एव विशुद्ध रहता है यह बताना इष्ट है। कभी अणु उपाधि और कभी विभु उपाधियो का प्रतिपादन करके अध्यारोप करना, एव पुन उनके निषेध से अपवाद करना, यही वेदान्त ज्ञान की औपनिषद् प्रक्रिया है, जो ब्रह्मनिष्ठ श्रीपरमहसो मे अक्षुण्ण रूप से आज भी विद्यमान है। यह प्रकृत मन्त्र ऋग्वेद मे नारायण ऋषि द्वारा भी दृष्ट है।

२ शीर्षा के द्वारा देह उपाधि को बतलाया। अक्ष के द्वारा ज्ञानेन्द्रिय की उपाधियो को बतलाया। पाद के द्वारा कर्मेन्द्रियो को बताया। इन्द्रिय द्वय से मन का भी सग्रह है। अथवा शीर्ष से स्थूल शरीर एव अक्ष से सूक्ष्म शरीर का ग्रहण करके पाद से कारण शरीर का ग्रहण है यद्यपि कही कही कारण शरीरो को एक ही माना है परन्तु वहा भी अश भेद की कल्पना तो कारण शरीर मे करनी ही पडेगी। स्थूल-सूक्ष्म देह कारण मे से चल के आते है, इसलिये कारण को पाद कह दिया गया।

३ यद्यपि भूमि का अर्थ पृथ्वी प्रसिद्ध है परन्तु यहा पृथ्वी से उपलक्षित समग्र ब्रह्माण्ड उपादेय है। अथवा समग्र व्यवहार जहा हो, वह जाग्रत् और स्वप्न ही, भूमि का वाच्य है। अध्यात्म अधिदैव, व्यष्टि समष्टि दोनो यहा सग्रहीत है।

४ अन्दर बाहर दोनो तरफ की व्यापकता से तात्पर्य है। यह व्याप्ति वैसी ही है जैसी कल्पित सर्प मे रज्जु की।

५ समग्र भुवन को निर्माण करने के बाद भी वह अनन्तगुना फिर भी बच ही रहता है। दशागुल से यहा तात्पर्य गिनती न करके अनन्त अपार बताने से है। अथवा यदि दस की सख्या का ग्रहण ही

इष्ट हो तो पञ्चीकृत पञ्चमहाभूत विराट् के पाच एव अपञ्चीकृत पञ्चमहाभूत हिरण्यगर्भ के पाच, इन दश समष्टियो से भी अधिक या ऊपर वह है। अति का अर्थ अतीत्य अर्थात् इनसे अतीत, असग अनन्त आनन्द ज्ञान मात्र, एक रस रूपसे अपनी महिमा मे अतिष्ठत् अर्थात् स्थित हुआ रहता है। विवरणकर्ता तो ऐसा मानते है कि माया (१) भूत पञ्चक (५) एव अन्त.करण (४) ये दस अध्यात्म दश अगुल है, एव वह इन सबसे परे है। अथवा दसेन्द्रिय या दस दिशाओ से अतीत होने पर भी ऐसा कहा जा सकता है। वस्तुतः अगुल परिमाण से उपलक्षित सभी परिच्छिन्न उपाधियो को यथा तथा दस भागो मे बाट करके व्यवस्था बनाई जा सकती हैं। तात्पर्य सर्वत्र व्यष्टि-समष्टि सब से अतीत तत्त्व के प्रतिपादन मे ही है।

अगुल का अर्थ गुणा भी होता है अत सर्व प्रपञ्च की अपेक्षा दस गुने से भी (अति=अतिरिच्य) बडा हुआ हुआ (अतिष्ठत्) स्थित रहा। अर्थात् वह निस्सीम महत्ता से सम्पन्न है। व्याप्य पदार्थों से अधिक व्याप्त है, अत एव असग है, यह भाव है।

उपासक की दृष्टि से तो ९६ अगुल के शरीर मे नाभि से ऊपर दश अगुल से आगे हृदय मे उसकी उपलब्धि होने से ऐसा कहा गया। नाभि देह का मध्य भाग है, यह तो प्रसिद्ध ही है।

१५

यदि अतीत होकर स्थित है तो नदी के तट की तरह भिन्न होगा, इस दोष की निवृत्ति करते है –

पुरुषः एव इदं सर्वं यत् भूतं यत् च भव्यम्।
उत अमृतत्वस्य ईशानः यत् अन्नेन अतिरोहति ॥

यत् = जो[1]	भव्यम् = भव्य है[3]
भूत = भूत है[2]	उत = और
च = और	यत् = जो
यत् = जो	अन्नेन = अन्न से[4]

अतिरोहति=खूब बढता है।	**ईशान** =मालिक
इद्=यह	**पुरुष** =पुरुष
सर्वं=सब[५]	**एव** =ही है।
अमृतत्वस्य=अमरता का[६]	

१ विश्व व्यापकता एव विश्वातीतता जिस पुरुष के बारे मे कही गई वह पुरुष ही, इस सारी अविद्या विलासिता का विचार करके निरूपण करने पर, अधिष्ठान मात्र सिद्ध होना है। यही परामश वाची जो पद का तात्पय है।

२ भू अर्थात् सत्ता वाला जो भी है वह सभी यहा इष्ट है। जो भी सत्ता वाला होता है वह पूर्व-सिद्ध हो होता है। अत सभी भूत और वर्तमान कालिक पदार्थो का यहा सग्रह है।

३ जो होना (भवन) का कर्ता होना है उसे भव्य कहते है। तात्पर्य है सब भूतो को सत्ता देने वाला भी वही है। सुन्दर को भी भव्य कहते है। अत जहा कही अतिशय सौन्दर्यादि होता है वहा वह ही है। माध्यन्दिन शाखा के अनुरोध से यदि भाव्य पाठ माना जाय तब तो भविष्य काल मे होने वाले पदार्थ अर्थ मानना पडेगा। इस पक्ष मे च शब्द से वर्तमान का समुच्चय कर लेना चाहिये।

४ अन्न अर्थात् जो अदन (खाने) के योग्य हो। ईश्वर की सब से बडी ईश्वरता यही है कि अनादि काल से अनन्त जीव इसका भोग करते रहते हैं, परन्तु ऐसा लगता है कि यह अधिकाधिक बढना ही जाता है (अतिरोहति)। अथवा ईश्वर के द्वारा ही नियम बनाया गया है कि किस प्राणी का कौन सा अग किस अन्न को खाने के योग्य है। अपनी अपनी योनि के भक्षण से सभी अधिक वृद्धि को प्राप्त करते हैं (अतिरोहति)। अथवा जो कुछ भी अन्न से बढता है उस सबका वह मालिक है।

विवेकी तो ऐसा मानते है कि जो कुछ भी दृश्यजात है वह आत्म ज्ञान से खाया जाता है, अर्थात् बाधित होना है, अत वह सब अन्न ही

है। बाधित होने से माया नाम के अन्न से (अति) अतीत होकर, अर्थात् अपने वास्तविक स्वभाव का अतिलङ्घन किये बिना ही, अद्वितीय ब्रह्म नामरूपाकार से बढता है (रोहति)। अथवा माया नाम के अन्न से अति अर्थात् अपने से विपरीत आकाशादि कार्य रूप से अपने अधिष्ठान रूप पर चढ जाता है (रोहति)। हर हालत मे तात्पर्य है कि माया, ब्रह्म रूपी अधिष्ठान के ऊपर चढकर, ब्रह्म के अद्वितीय भाव से भी अधिक नाम रूप का दर्शन करा देती है। उपासको की दृष्टि मे यही काली का शिव के ऊपर खडे होकर नृत्य करना है।

वस्तुतस्तु अ तिरोहति, ऐसा छेद करने पर माया एव तत्कार्य नाम रूपो के द्वारा (अन्नेन) वह तिरोहित नही होता। अर्थात् सत्ता स्फुरत्ता रूप से प्रतीत होता ही रहता है। अन्न का अर्थ देवादियो का अन्न भी सग्रहीत होने से अमृत की अपेक्षा भी जो अधिक है, अर्थात् उससे भी ऊर्ध्व और उत्कृष्ट वह पुरुष है, ऐसा तात्पर्य है।

५ सप्रपञ्च ब्रह्म से अतिरिक्त यह परिदृश्य वर्तमान जगत्-नही है। विविध प्रत्ययो से ज्ञात होने पर भी वस्तुत वह सद् भिन्न नही होता। तात्पर्य है कि विभक्त, परिच्छिन्न और सघात रूप होने से, पुरुष से व्यतिरिक्त जो भी है, वह अविद्यात्मक ही है। दृश्य होने के कारण, रज्जु सर्प की तरह, मिथ्या है। भूत, भविष्य, वर्तमान कालो मे प्रतीत होने के कारण, स्वप्न प्रपञ्च की तरह, अज्ञान मात्र से प्रतीत होता है। अत सभी कुछ अविद्या रूप ही है। अत यहा पर बाध समानाधिकरण समझना चाहिये।

६ प्रतिभास मात्र ससार, जीवन्मुक्त का महावाक्य जनित अह ब्रह्म इस ज्ञान रूपी अमृत का पान करके भी, रह जाता है। अत ऐसे जीवन्मुक्त का भी वही ईशान अर्थात् शासन करने वाला है। तात्पर्य है कि प्रारब्ध शेष पर्यन्त अमृत, अर्थात जीवन्मुक्त का योग क्षेम रूपी फल, देता है। एव अविद्या लेश की निवृत्ति का भी वही कारण है। अथवा सच्चिदानन्द ब्रह्म, वृत्ति मे आरूढ होकर, मोक्ष का नियामक

है। जो मोक्ष का भी प्रभु है उसका अन्य के ऊपर शासन होवे इसमे कहना ही क्या है।

१६

अपनी अतिरोहित क्रियाशक्ति के द्वारा चिदात्मा सारे इन्द्रिय व्यापारो को हमेशा करता है —

सर्वतः पाणिपादं तत् सर्वतः अक्षिशिरोमुखम्।
सर्वतः श्रुतिमत् लोके सर्वम् आवृत्य तिष्ठति॥

सर्वत = सब तरफ[1]
पाणिपादम् = हाथ पैर वाला,
सर्वत = सब तरफ
अक्षिशिरोमुखम् = आख सिर-मुख वाला,
सर्वत = सब तरफ
श्रुतिमत् = कानो वाले[2]
सर्वम् = सबको
आवृत्य = ढक करके
लोके = ससार मे[3]
तत् = वह (पुरुष)
तिष्ठति = रहता है[4]।

१ यदि पुरुष भगवान् अन्न से वृद्धि को प्राप्त करते है तो शरीर वाले एव नियत हाथ पैरो से परिच्छिन्न होगे, इस शका की निवृत्ति करने के लिये, निर्विशेष रूप से सभी शरीरो मे वही क्रिया करता है, यह कहा जा रहा है। वस्तुत ब्रह्मा से लेकर घास तक सभी मे ईश्वर प्रत्यगात्मा रूप से स्थित है यह तात्पर्य है।

२ श्रुति से यदि वेद का तात्पर्य लिया जाय तो वेद के सब मत्रो से प्रतिपाद्य होने के कारण ऐसा कहा गया।

३ कर्म के फल रूपी इस ससार मे सभी प्राणी देहो मे अविद्या वश से वह स्थित है।

४ अपनी माया से बने हुए ससार मे अपने ब्राह्म रूप का आवरण करके (आवृत्य) रहता है, यह भी तात्पर्य ध्वनित है। सर्व रूप होने से अन्न के द्वारा अतिरोह है, देह वाले की तरह नही, यह भाव

है। जैसे स्वप्न के पदार्थो से जीव का अतिरोह एव जीव की उनमे व्यापकता है, वैसा ही यहा समझना चाहिये।

१७

इन्द्रियरूपता बताकर इन्द्रिय-ज्ञान की विषयरूपता कहते है

सर्वेन्द्रियगुणाभासं सर्वेन्द्रियविवर्जितम्।
सर्वस्य प्रभुम् ईशानं सर्वस्य शरणं सुहृत्॥

सर्वेन्द्रियगुणाभासं=सारी इन्द्रियो के ज्ञान का फल,[१]
सर्वेन्द्रियविवर्जितम्=सारीइन्द्रियो से रहित[२]
सर्वस्य=सारे जड चेतन जगत् का
प्रभु=मालिक,[३]
ईशान=नियन्त्रण करने वाला
सर्वस्य=सबका
शरण=शरण[४]
सुहृत्[५]=मित्र है[६]।

१ इन्द्रियो का गुण अर्थात् उनको वृत्तिया। उनका आभास अर्थात् फल अर्थात् विषयो का स्फुरण। स्फुरण के आश्रित ही विषय प्रतीत होते है। अत तात्पर्य हुआ कि सारी इन्द्रिया, उनकी वृत्तिया और स्फुरण जिस महादेव मे तादात्म्य रूप से स्थित रहते है उसे सर्वेन्द्रियगुणाभास कहा गया। अथवा कान रूपी, या वाणी रूपो इन्द्रिय का गुण सुनना या बोलना है। सुनने या बोलने का विषय शब्द है। इन्हे भी परम्परा से गुण समझ लेना चाहिये। ये इन्द्रिया और गुण आभास रूप से चेतन मे ही स्थित है। अर्थात् चेतन को भान हैं यही उनकी स्थिति है। इसीलिये उसे सर्वेन्द्रियगुणाभास कहा गया। अथवा इन्द्रियो के गुण अर्थात् विषय, रूपादि। उनका आभासक अर्थात् प्रकाशक होने से आत्मा को सर्वेन्द्रियगुणाभास कहा गया। किञ्च इन्द्रियो से यहा अन्तःकरण का भी ग्रहण करना उचित है। अत अन्त करण और बहिष्करण उपाधि रूप सारी इन्द्रियो के गुणों से अर्थात् सकल्प श्रवणादियो से गुण वाला हुआ हुआ प्रतीत होता है

(आभासते) अत सर्वेन्द्रियगुणाभास है। सारी इन्द्रियो से व्यापार करते हुए उसे जानना चाहिये। गुण मे मतुप् का लोप इष्ट है।

२ पूर्व दल मे क्यो न उसको सचमुच ही इन्द्रियो से व्यापार करने वाला मान लिया जाय, इस शका की निवृत्ति के लिये यह दल है। उपाधि रूप इन्द्रियो के अध्यारोप से ज्ञेय ब्रह्म को भी ध्येय ब्रह्म की तरह विशिष्टता की प्राप्ति सारी इन्द्रियो से रहित कह के बता दी। इन्द्रियादि से विशिष्ट ध्येय रूप ही ब्रह्म का नही वरन् इन्द्रियादि से रहित, निस्सङ्ग, कूटस्थ, चिदानन्द रस ही पारमार्थिक रूप है। यहा इन्द्रियो से उनको वृत्तिया, विषय, अविद्यादि भाव सभी का सग्रह है। अर्थात् इनके साथ सभी प्रकार क ससर्ग से शून्य है। तात्पय है कि सब करणो से व्यापार करते हुए भी वह वस्तुत व्यापार हीन हो रहता है, एव उनक साथ तादात्म्य रूप से एक हुआ हुआ भी पारमार्थिक रूप से उनसे अलग ही रहता है।

३ अध्यात्म, अधिदैव, अधिभौत, अधिज्योतिष, अधिलोक, अधियज्ञ आदि सभी का सग्रह है। यद्यपि शासन करने वाला (ईशान) होने से प्रभु शब्द पुनरुक्ति प्रतीत होता है, परन्तु प्रभु मे सामर्थ्य का भाव है। अनेक लोग शासक बनने पर भी सामर्थ्य हीनता के कारण नियम पालन नही करा पाते। जैसे वर्तमान काल के मन्त्रीगण। ईश्वर वैसा नही है। यह बताने मे प्रभु शब्द सार्थक है।

४ आर्तादि स्थितियो मे रक्षक एव सबका अन्तिम घर होने से शरण कहा गया है। **शरणं गृहरक्षित्रो** इत्यादि कोश इसमे प्रमाण हैं। केवल प्रभु कहने से आर्तो का रक्षक नही होगा। इस शका की निवृत्ति के लिये, जो भक्त उसके परायण हो जाते हैं उनका वह शरण बन जाता है एव उनकी रक्षा करता है, यह भाव है।

५ **बृहत् पठति कश्चित्। तत्र कारणमित्यर्थ** ।

६ पूर्व पद मे कारुणिक ईश्वर का प्रतिपादन होने पर विषमता की प्राप्ति न हो जाय, इसलिये यह पद है। प्रत्युपकार से निरपेक्ष

होकर उपकार का कर्ता सुहृद् कहा जाता है । तात्पर्य है कि सभी अवस्थाओ मे वह हित ही करता है । जब तक जीव कर्म फल का चाहता है तब तक उसे कर्म फल से युक्त करता है, एव जब ज्ञान चाहता है तब ज्ञान के साधनो से युक्त करता है । इस प्रकार पहले भोग के द्वारा हमारे मल को पकाता है, फिर त्याग के द्वारा उसको काट देता है । जिस प्रकार चक्षु वैद्य (optician) मोतिया को पहले पकने देकर फिर काटता है वैसा ही यहा समझना चाहिये ।

१८

यद्यपि अर्ध मात्रा लाघव से पुत्रोत्सव सुख का अनुभव वैयाकरण करते है परन्तु वेद रहस्य निष्णात ग्रन्थलाघव की अपेक्षा बुद्धि-लाघव को अधिक आवश्यक मानते है । तात्पर्य है कि कठिन विषय का अनेक प्रकार से उपदेश करने से शिष्य की बुद्धि पर कम जोर पडता है । जीवेश्वर की एकता से अधिक और कोई दु ख ग्राह्य तत्त्व नही है । अतः उपनिषदो मे पुनरुक्ति दोष नही मानी जा सकती । किञ्च मीमासा शास्त्र के अनुसार षड्-विध लिग तात्पर्य निर्णायको मे अभ्यास अन्यतम है । इस दृष्टि से भी अनेक प्रकार से तत्त्व प्रतिपादन आवश्यक है । आ॰ अब तत् पदके त्व रूप से प्रवेश के अनन्तर त्व रूप का प्रतिपादन करके उसे तत् रूप बताते है —

नवद्वारे पुरे देही हंसः लेलायते बहिः ।
वशी सर्वस्य लोकस्य स्थावरस्य चरस्य च ॥

सर्वस्य=सारे
स्थावरस्य=जड[1]
च=और
चरस्य=चेतन
लोकस्य=लोको का
वशी=नियन्ता[2]
हस =हम[3]
देही=शरीर धारी[4] (होकर)
नवद्वारे=नव दरवाजे वाले[5]
पुरे=शहर मे[6] (रहता हुआ)
बहि =बाहर[7]
लेलायते=लपलपाता है[8] ।

१ यहा पेड आदि स्थिर प्राणिभेदो का भी सग्रह किया जा सकता है।

२ इसके वश मे रहता है क्यो कि अखण्ड मायोपाधिक रूप से अथवा बिम्ब रूप से परमेश्वर की स्थिति है। सभी प्रतिबिम्ब बिम्ब के वशवर्ती होते है। अथवा परिच्छिन्न आकाश महाकाश के वशवर्ती होना है।

३ ब्रह्माकार वृत्ति रूपी बुद्धि से अविद्या का हनन करने वाला होने से इसे हस कहा गया। अथवा जाग्रत् से स्वप्न, सुषुप्ति तुरीय मे पूर्व पूर्व का हनन कर जाने के कारण हस कहा गया।

४ देहाभिमान से तात्पर्य है।

५ दो आख, दो कान, दो नाक, मुख, उपस्थ और पायु ही नौ छिद्र हैं जिनके द्वारा अन्तरात्मा बाहर जाता है। वस्तुत इनके न होने से जीव का जगत् से सम्बन्ध ही नही हो सकता। कुछ लोग ज्ञान की पाच इन्द्रिया एव क्रिया की पाच इन्द्रिया इस प्रकार दश ज्ञान-क्रिया शक्ति सम्पन्न शरीर को ही यहा लेते है। चूकि जीभ रसनेन्द्रिय एव वागिन्द्रिय दोना का स्थल है अतः यहा नव द्वार कहा गया। अथवा कर्मेन्द्रिय, ज्ञानेन्द्रिय, प्राण, भूत, अन्त करण, अविद्या, काम, कर्म और इनका अभिमानी जीव, इन नौ का ग्रहण किया जा सकता है। कुछ लोग पाच ज्ञानेन्द्रियो के द्वारा पाच प्रकार के प्रत्यक्ष एव अनुमान, आप्त वाक्य, उपमान, अर्थापत्ति इनके द्वारा ही सभी प्रकार के ज्ञान होने के कारण इन्ही नौ को मानते है। योग वासिष्ठ मे जाग्रत्-स्वप्न, जाग्रत्-सुषुप्ति, महा जाग्रत्, स्वप्न-जाग्रत्, स्वप्न-सुषुप्ति, महा-स्वप्न, सुषुप्ति-जाग्रत्, सुषुप्ति-स्वप्न, महा-सुषुप्ति इस प्रकार जीव की नव अवस्थाओ द्वारा जीव का बहिर्गमन होने से इन्हे ही नव द्वार माना है। विवेक दृष्टि से तो इन्द्रिय आदि सभी अनिर्वच-

नीय होने से यहा नव शब्द सख्या वाचक न होकर नवीन वाचक है। अर्थात् प्रतिक्षण प्रतिवृत्ति ही एक नवीन दरवाजा है जिससे जीव विषय के साथ सम्बन्ध करता है।

६ धातुओ के द्वारा भरा हुआ है **धातुभि पूर्यते** अत यह शरीर पुर कहा जाता है। अथवा ब्रह्म का उपभोग स्थान होने से यह पुर है। अथवा एकाधिपति होने के कारण यह पुर है। विज्ञानात्मा ही पुरप है।

७ विषय ग्रहण के लिये जीवात्मा तत् तत् रूपादि के योग्य तत् तत् चक्षुरादि दरवाजो से बाहर जाता है। चू कि यह स्वरूप से इन विषय और द्वारो से असग है अत जितना भी इन विषयो को ग्रहण करे ये विषय सदा बाहर ही रहते हैं, विषयो का एक अश भी कभी इसके अन्दर नही आ पाता। यही कारण है कि ज्ञानोत्पत्ति होते ही क्षणमात्र मे मुक्ति हो जाती हे।

८ जैसे कुत्ता हड्डी को देख करके जीभ लपलपाता है वैसे ही विषय पर अपने भोगाधिकार आदि के लिये जीव भी इन्द्रियो के द्वारा चल देता है। अथवा लेलायते का अथ लीला करता है भी हो सकना है। तात्पर्य है, परमात्मा ज्ञान क्रिया शक्ति से पुण्य पाप करके उसके परतत्र होकर भिन्न भिन्न योनियो मे ससरण करने की लीला करता है। वस्तुतस्तु इन अनेक देहो मे लोला करते हुए भी वह इन सबका वशी बना रहता है, यह पूर्वार्ध से साकेतित है। जीव रूप से भी कार्य-करण मघात का वह नियामक है ही। उसको परिच्छिन्न करने वाला होने से देह भाव मे तादात्म्य हेय है, यह सकेत है। यहां पूर्वार्ध से त्व पदार्थ बताकर उत्तरार्ध से वाक्यार्थ का प्रतिपादन समझना चाहिये।

१९

विरोधालकार से महादेव का वर्णन करते हैं :—

अपाणिपादः जवनः ग्रहीता पश्यति अचक्षुः सः शृणोति अकर्णः। सः वेत्ति वेद्यं न च तस्य अस्ति वेत्ता तम् आहुः अग्रयं पुरुषं महान्तम् ॥

स =वह[1]	**वेत्ति** =जानता है,
अपाणिपाद् =विना हाथ पैर का होते हुए[2]	**च**=पर
जवन =धावक[3] (एव)	**तस्य**=उसका (पुरुष का)
ग्रहीता=पकडने वाला है	**वेत्ता**=जानने वाला[8]
अचक्षु =अन्धा होकर	**न** = नही
पश्यति=देखता है[4],	**अस्ति**=है,
अकर्ण =बहरा होकर	**तम्**=उसको
शृणोति =सुनता है,	**अग्रय**=सर्व प्रथम[9]
स =वह[6]	**महान्त** = महा[10]
वेद्य = ज्ञातव्य को[7]	**पुरुष**=पुरुष
	आहु =कहा गया है[11] ।

१ स्वरूप से सब कारण शून्य रहते हुए ही पुरुष को अविद्या के कारण इन्द्रिय एव इन्द्रिय व्यापारवत्ता की प्राप्ति हो जाती है। अतएव हस अपने स्वरूप से ही एकता प्राप्त करता है क्यो कि जो हस है वही वस्तुत मुक्त गम्य है। निर्विकार आनन्द स्वरूप से इसका ज्ञान उदय अस्त से रहित है, यही प्रतिपाद्य है।

२ सभी कर्मेन्द्रियो की उपलक्षणा है।

३ जु धातु से निष्पन्न जवन का अर्थ वेग से चलने वाला अथवा दूर जाने वाला होता है। तात्पर्य है कि ज्ञात एव अज्ञात पदार्थो का साक्षी होने से यह सर्वत्र ही पहले मौजूद है। केवल वृत्ति के चलने से इसमे चलने की प्रतीति हो जाती है। जैसे सर्व व्यापक आकाश मे घट उपाधि के चलने से घटाकाश रूप से चलने की भ्रान्ति हो जाती

है। चू कि जहा कही वृत्ति जाती है वहा ब्रह्म पहले से ही विद्यमान होता है अत लगता है कि ब्रह्म वहा पहले ही तेजी से पहुँच गया है।

४ उसकी सत्ता के विना सभी मे सत्ता का अभाव हे अत अपनी अविद्या से कल्पित पदार्थो को सत्ता देकर मानो वह पकड लेता है।

५ सभी पदार्थो को ज्ञान से अभिन्न करके उन्हे प्रकाशित करता है यह भाव है। अथवा अन्त करण की वृत्ति को साक्षी रूप से बिना किसी चक्षु के ही देखता है। यहा भी सभी ज्ञानेन्द्रियो की उप-लक्षणा इष्ट है।

६ अखण्ड स्वय प्रकाश चिदेकरूप परमात्मा ज्ञात, अज्ञात, सभी पदार्थो मे विद्यमान रहते हुए ही फिर उनको विषय भी कर लेता है। यह उसकी अद्भुत विलक्षणता है। यद्यपि वह सर्वज्ञ है तथापि अपने मे तत् तत् पदार्थो के अज्ञान आश्रयत्व की कल्पना करके पुन ज्ञान आश्रय की कल्पना करता रहता है। जिस प्रकार अविद्या ब्रह्म के ही आश्रय मे रहती है एव ब्रह्म मे रहते हुए ही ब्रह्म को ही विषय करती है, ब्रह्म से अतिरिक्त अन्यत्र न रहने के कारण उसे ब्रह्म से अभिन्न भी कहा जाता है, एव ब्रह्म को विषय करने के कारण उसे ब्रह्म से भिन्न भी कहा जाता है, ठीक इसी प्रकार अविद्या विशिष्ट हुआ हुआ ब्रह्म अविद्या के ही आश्रित रहते हुए पुन अविद्या को ही विषय करता है। इस प्रकार विशिष्ट ब्रह्म अविद्या से भिन्न और अभिन्न दोनो ही बन जाता है। यह बात दूसरी है कि अविद्या स्वरूप से मिथ्या होने से उसका ससर्ग, स्वरूप, ज्ञान और वह स्वय सभी अध्यस्त है, जब कि ब्रह्म केवल ससर्ग मात्र से अध्यस्त है।

७ जानने के योग्य सभी वस्तुओ से तात्पर्य है। वस्तुत ज्ञान का विषय हो तब वेद्य कहा जायेगा। यदि योग्यता मे भी प्रत्यय को मान कर जानने के योग्य को भी वेद्य कहा जाय तब भी उसकी ज्ञान की

योग्यता ज्ञान होने के पहले कैसे सिद्ध होगी ? विशारद परीक्षा उत्तीर्ण होने के पूर्व किसी मे उत्तीर्ण होने की योग्यता कैसे मानी जाय ? अत जो वेद्य है वह सब ज्ञान स्वरूप परमात्मा का विषय अवश्य है। यही सर्वज्ञता सिद्धि का बीज है। किञ्च समग्र अन्त करण की वृत्तियो मे वह साक्षी रूप से अपनी सन्निधि मात्र से ज्ञात भाव को पैदा कर देता है अर्थात् अन करण की वृत्ति मे घट जान लिया गया, यह भाव आत्म सन्निधि के कारण ही आता है। जिस अग्नि की सन्निधि से जल गरम हो जाता है उस अग्नि की गरमी तो स्वत सिद्ध है। इसी प्रकार जिस साक्षी की सन्निधि मात्र से वृत्ति मे ज्ञाता भाव आ जाता है वह स्वय उसकी ज्ञाता हो इसमे कहना ही क्या है। इसीलिये साक्षी को सवज्ञ मानना पडता है। जो जानने के साधन रूप से प्रसिद्ध है यदि उन चक्षुरादि इन्द्रियो को जानने के लिये दूसरे साधन को (ज्ञान ग्राहक) माना जाय तो फिर उसके लिये तीसरा इत्यादि मानकर अन्योन्याश्रय या चक्रिका या अनवस्था आदि दोषो को हटाना असभव हो जायेगा। फिर तो घट का ज्ञान ही असभव हो जायेगा एव कुछ भी सिद्ध नही हो पायेगा। अत मन, चक्षु आदि इन्द्रिया जानने के साधन रूप होने से दूसरे साधनो की अपेक्षा नही रखती। परन्तु दृश्य होने से ईश्वर की सन्निधि मात्र से जान ली जाती है। इस प्रकार विना ही किसी करण के ईश्वर सब कुछ जान लेता है यही उसकी सर्वज्ञता है।

८ विना मन आदि करणो के सर्वज्ञता की सिद्धि की गई। प्रश्न होता है कि क्या यह परमात्मा भी किसी के द्वारा जाना जा सकता है ? उत्तर है कि वह किसी के द्वारा नही जाना जा सकता। वह ज्ञान स्वरूप है। अत यदि उसका ज्ञान किसी को हो सकता है तो इसका अर्थ होगा कि दूसरे के ज्ञान से वह ज्ञान वाला बना। जो दूसरे के ज्ञान से ज्ञान वाला बनता है वह ज्ञान रूप नही हो सकता।

जैसे घडे को सूर्य प्रकाशित करता है क्यो कि घडा प्रकाश रूप नही है। परन्तु सूर्य को कोई प्रकाशित नही कर सकता क्यो कि वह प्रकाश रूप है। यदि ज्ञान स्वरूप आत्मा को दूसरा ज्ञान प्रकाशित करेगा तो वह दूसरा ज्ञान भी ज्ञान-स्वरूप होने से तीसरे ज्ञान की अपेक्षा करने लगेगा। एव इस प्रकार अन्योन्याश्रय, चक्रिका, या अनवस्था प्राप्त हो जायेगी। फिर तो किसी भी ज्ञान की सिद्धि न होने के कारण जगत् मे कही, किसी को, किसी का ज्ञान सभव न रह पायेगा। अत ज्ञान स्वरूप परमात्मा का ज्ञान मानना सर्व प्रमाण विरुद्ध है। वैसे तो वेद्यत्व ही जडत्व का लक्षण होने से ईश्वर मे उसका निषेध स्वत सिद्ध है। लौकिक व्यवहार मे जिसे दूसरे का चेतन कहते है वह तो केवल देह, मन आदि सघात की क्रियाओ से केवल कल्पित चेतनत्व का अनुमान है, अनुभव नही। अत चेतनान्तर का ज्ञान प्रत्यक्षादि प्रमाणो से भी सिद्ध नही है। **नान्योतोस्ति द्रष्टा** इत्यादि यजुर्वेद इसमे प्रमाण है। जिसे सामान्यत भगवान् का ज्ञान माना जाता है वह तो विराट् या हिरण्यगर्भ के स्थूल या सूक्ष्म काय-करण सघात के उत्कृष्ट व्यवहार से कल्पित भगवत् रूपता का अनुभव है। वस्तुतस्तु जिस प्रकार घट पटादि ज्ञात होकर के आत्मा का ज्ञान शक्ति को प्रकट करते है, एव व्यवहार्य होकर के क्रिया शक्ति को, उसी प्रकार हिरण्यगर्भादि आत्मा की दिव्य विभूति का प्रतिपादन करते है। अत ध्यानादि के द्वारा उनका दर्शन होकर जैसे घट ज्ञान से आत्मा की घट प्रकाश सामर्थ्य का बोध होता है वैसे ही आत्मा क दिव्य विभूतित्व का बोध होता है। यही भगवत् दर्शन माना जाता है।

९ सब का कारण होने से सबसे प्रथम **अग्रेभव**। अथवा सब से प्रधान, क्यो कि सबका अधिष्ठान, सबका कारण और सबका नियन्ता है **अग्राह**। काल देश वस्तु से अनवच्छिन्न होने से भी

वह अग्र कहा जाता है। विवेक दृष्टि से सभी ज्ञानो के पूर्व आत्मा अवश्य रहेगा। अत सबसे पहले वही होता है। इसीलिये सबका पूज्य है। इसके पीछे सब चलते है इसलिये अग्रगामी होने से भी अग्रच है। इसी दृष्टि से वेदो मे इसे अग्नि भी कहा गया हे।

१० वस्तुत अनवच्छिन्न।

११ वेदान्तो मे तथा ब्रह्मनिष्ठो के द्वारा।

२०

नवम मत्र से यहा तक जिस आत्मतत्त्व का प्रतिपादन किया उसकी प्राप्ति के लिये अमोघ परन्तु दुलभ और अगम्य रुद्र कृपा कटाक्ष रूपी कारण का प्रतिपादन करते हैं —

अणोः अणीयान् महतः महीयान् आत्मा गुहायां निहितः अस्य जन्तोः। तम् अक्रतुं पश्यति वीतशोकः धातुप्रसादात् महिमानम् ईशम् ॥

अणो =परमाणु से भी
अणीयान्=सूक्ष्मतर[1],
महत =महत् तत्त्व से भी
महीयान् = बडा
आत्मा=आत्मा[2]
अस्य=इस
जन्तोः=विष्णु से तृण तक प्राणि के[3]
गुहायाम्=हृदय कमल मे
निहित = छिपा हुआ (आत्म रूप से स्थित है)[4]।
धातुप्रसादात्[5] =विधाता (रुद्र) की कृपा से (प्रसन्नता से)[6]
अक्रतु[7]=संकल्प रहित[8]
महिमानं= महिमा रूप (कर्मोद्भूत वृद्धिक्षय रहितता रूपी[9])
त=उस[10]
ईशं=ईश्वर से अभिन्न आत्मा को[11]
वीतशोकः=शोक रहित होकर[12]
पश्यति=देखता है (अनुभव करता है)।

१ जो भी पदार्थ ससार मे है वह अपने नित्य स्वरूप से ही अपने भाव वाला होता है, एव उस स्वभाव से रहित हो जाने पर नही रह सकता। तात्पर्य है कि नित्य आत्म स्वरूप से सद्रूपता एव नित्यात्म-रहित होकर असद्रूपता होने से सब वस्तुओ की उपाधिवाला आत्मा ही सूक्ष्म से सूक्ष्म और स्थूल स स्थूल पदार्थो मे उनके स्वभाव-रूप (आत्म रूप) से स्थित है। यही परमात्मा का अद्वितीय रूप एव प्रत्यगात्म रूप से अवस्थान है, जिसके ज्ञान से **मोक्ष** हो जाता है।

२ 'मै' इस प्रतीति का साक्षी आत्मा कहा जाता है। **यच्चाप्नोति यदादत्ते यच्चात्ति विषयानिह** अर्थात् स्वप्न काल मे जो सारे स्वप्नस्थ पदार्थो को **आप्नोति** प्राप्त अर्थात् व्याप्त करके रहता है, सुषुप्ति मे सबको अपने अन्दर **आदत्ते** ग्रहण अर्थात् लीन करके रहता है, एव जाग्रत् मे विषयो का भोग करता है **अत्ति** वही आत्मा है। इन तीनो अवस्थाओ मे भ्रमण करने पर भी वह निरन्तर बना ही रहता है। इस सतत भाव रूपता के कारण ही उसे आत्मा कहा जाता है। यद्यपि अह प्रतीति केवल जाग्रत् और स्वप्न मे ही रहती है तथापि सुषुप्ति काल का जाग्रत् और स्वप्न मे मै था इस प्रकार परामर्श होने से मै प्रत्यय की साक्षिता कही जा सकती है। स्मरण हमेशा अनुभव पूर्वक होता है। यह सतत भाव अत् धातु के व्यापक भाव से सकेतित है। मातत्य के साक्षी रूप से जिस की **मा** अर्थात् प्रमा हो वही आत्मा है। तात्पर्य है कि समग्र विश्वके पदार्थों मे क्षणिकता सिद्ध हो जाने पर उनकी क्षणिकता का ज्ञान जिसे होगा उसे स्वय क्षणिक नही माना जा सकता। उसकी क्षणिकता को जानने के लिये अन्य क्षणिकता को मानने पर तो समस्या का समाधान कभी सभव ही नही होगा। वस्तुतस्तु किसी भी नदी आदि के प्रवाह मे एक अखण्ड स्रोत अवश्य स्वीकार करना पडता है। इसी प्रकार विज्ञान-सन्ततियो के प्रवाह के लिये जब तक एक नित्य-विज्ञान

नही स्वीकार किया जायेगा तब तक संतति प्रवाह अप्रामाणिक हो जायेगा। किञ्च क्षणिकत्व प्रत्यभिज्ञा सापेक्ष है एवं प्रत्यभिज्ञा अक्षणिक वस्तु होने पर ही संभव है। पुरुषान्तर का पुरुष दृष्ट अनुभूति का स्मरण कही देखने मे नही आता। कभी किसी अनुभव करने वाले का 'मै नही था' ऐसा अनुभव भी देखने मे नही आता। अत आत्मा का क्षणिक मानना बौद्धो का साहस मात्र है। यह आत्मा शब्द से ही स्पष्ट हो जाता है।

अत् धातु का अर्थ फैलना भी है। अत जो अपने को फैलाकर के (manifest) अपना ही मा अर्थात् ज्ञान करे उसे आत्मा कहते है। वृत्ति के द्वारा स्वयं ही घटाकार बनकर ज्ञान करता है यह तो स्पष्ट ही है।

३ जनन धर्म मे युक्त स्थूल एवं सूक्ष्म शरीर का संग्रह है। इसमे स्थूल शरीर चक्षुरादि करणो के द्वारा ग्राह्य, पञ्चीकृत पञ्चमहाभूत का कार्य होकर सन्निहित है, एवं सूक्ष्म शरीर साक्षि-ग्राह्य एवं अपञ्चीकृत पञ्चमहाभूतो का कार्य होकर अति सन्निहित है। कुछ लोग तो प्रत्यक्ष-जनन धर्म वाले स्थूल शरीर मात्र का यहा संग्रह करते है। ऐसा करने पर समष्टि अभिमानी उपास्य देवताओ का निराकरण हो जाने से योगाभ्यास रूपी स्वदेह विशिष्ट उपाधि को छोडकर अथवा माता, पिता, गुरु आदि प्रत्यक्ष देवताओ को छोडकर अन्य सभी उपासनाओ का निषेध प्राप्त हो जायेगा जो किसी भी आस्तिक का इष्ट नही हो सकता। वरन् पुराणादि के अनुरोध से तो यह मानना पडेगा कि हिरण्यगर्भ, विराट्, विष्णु, गणेश आदि समष्टि तत्त्वो की उपासना अधिक ग्राह्य है।

४ **नितरां** अर्थात् अत्यधिक **हित** अर्थात् हितकारी होने से परमात्मा को निहित कहा जाता है। हृदय मे रहकर जीव को स्वरूप प्रदान करने से अधिक हित और क्या हो सकता है। निहित का

छिपा हुआ अर्थ तो प्रसिद्ध ही है। यद्यपि आत्मा सर्वत्र है परन्तु विषय रूप से उपलब्ध होता है अत विषयता रूपी घूंघट से ढका रहता है। बुद्धि गुहा सदा ही निर्विषय है। अत वहा इसका निर्विषय ज्ञान होता है जो उसका साक्षात् ज्ञान है। आगे अक्रतु पद से इसी बात को कहेगे।

५ धातु प्रसादात्, इति पठन्ति विज्ञान भगवन्नारायण शङ्करानन्दा ।

६ जगत् एव जीव को धारण करने वाला होने से ब्रह्म धाता कहा जाता है। उसका प्रसाद अर्थात् करुणा कटाक्ष। प्रसन्नता से ही उपलब्ध होने के कारण इसको प्रसाद कहा गया। वस्तुत ज्ञान प्राप्ति का अमोघ उपाय केवल शिव-कृपा ही है। तप यज्ञ दान व्रत तीर्थ जप-योग आदि सभी साधन केवल ईश्वर प्रसन्नता की प्राप्ति के लिये है। वह सकारण या अकारण किसी भी तरह प्रसन्न हो गया तो ये सभी साधन निरर्थक रह जाते है। एव जब तक वह प्रसन्न नही होता तब तक ये सारे साधन मिलकर भी ज्ञानोत्पत्ति मे असमर्थ रह जाते है। ईश्वर के प्रसन्न होने तक जीव के साधनो की स्थिति है। आगे वे अहेतुक दया सिन्धु स्वय ही अपने स्वरूप का ज्ञान देकर मुक्ति वधू के लावण्य देह की प्राप्ति करा देते है। विचक्षण पुरुष तो यह मानते है कि ईश्वर की प्रसन्नता सदा हेतु रहित ही होती है।

चूं कि बिम्ब ही प्रतिबिम्ब का नियामक होता है अत ईश्वर के प्रसन्न होने पर ही जीव भी प्रसन्न हो सकता है। जिस प्रकार तालाब के मट्टी के हिस्से के नीचे बैठ जाने पर (प्रसन्न) निर्मल जल का दर्शन होता है उसी प्रकार विकार के नष्ट हो जाने पर निर्मल आत्मा का दर्शन होता है। हृदय की अतृप्त वासनाये ही मल है। जीव वासनामय ही है। ये वासनायें जीवोत्पत्ति काल मे उसमे निहित कर दी गई। एव जब वे शान्त हो जायेगी तब ईश्वर की प्रसन्नता रूपी

कृपा से जीव पुन स्वरूप मे स्थित हो जायेगा। प्रत्येक जीव को मानो एक अभिनय का पात्र (Role) दे दिया गया हैं। एव जब तक वह अदा न कर लिया जायेगा तब तक रगमञ्च से हटा नही जा सकता। व्यावहारिक काल मे यह माना जा सकता है कि पात्र पूर्ण रूप से अभिनय मे पूर्णता प्राप्त कर लेने पर मञ्च को छोडने मे स्वतत्र है। इस पूर्णता को धीमे या द्रुत प्राप्त करे यह जीव को स्वतत्रता है। वस्तुतस्तु अभिनय सर्व अभिनेतृ सापेक्ष होकर ही पूर्णता को प्राप्त करता हैं। अत मञ्च से व्यक्तिश निवृत्ति असभव है। यह बात दूसरी है कि व्यक्तिश पूर्णता प्राप्त करने पर प्रयास का बोझ हट जाता है एव दूसरे अभिनेताओ की सहायता करके उनमे भी पूर्णता लाने को तीव्रता लाकर मञ्चनिवृत्ति मे सहायक बन जाता है। इस प्रकार मुक्त को ईश्वर भाव की (d ıector) प्राप्ति तो सद्य हो जाती हैं जिसमे उसे किसी तारतम्य अथवा द्वैतभाव की प्रतीति नही रह जाती, परन्तु बिम्ब और प्रतिबिम्ब भाव दोनो की निवृत्ति तो साथ साथ ही सभव है। यह स्ववासनाओ की निवृत्ति ही यहा ईश्वर का प्रसाद समझना चाहिये जिससे ईश्वर सम्बन्धी यथार्थ ज्ञान हो जाता है।

अथवा जीव को धारण करने वाला अन्त करण ही है। सुषुप्ति मे अत करण के अभाव से उपनिषदो ने ईश्वर भाव की प्राप्ति मानी है अत जोव का धारण करने वाला होने से अन्त करण ही धातु है। मल विक्षेप और आवरण दोषो से रहित होना ही उसका प्रसाद है। जैसे **सर प्रसीदति** अर्थात् तालाब निर्मल हो रहा है। अन्त करण के प्रसन्न होने पर ही आत्म ज्ञान सभव होता है। अथवा इन शरीरो को धारण करने वाली इन्द्रियो को धातु कहा जा सकता हैं। अत इन्द्रियो के प्रसाद से अर्थात् उनके विषय रूपी दोष दर्शन के बल को हटाने पर ही आत्म-प्राप्ति सभव है। कामना ग्रस्त प्राकृत

परुषो के लिये आत्मा दुर्विज्ञेय है, यह भाव है। सत्त्व-शुद्ध व्यक्ति की हो आत्म विचार मे प्रवृत्ति होती है। अथवा इन्द्रियो का मन के सहित प्रत्यगात्मा के विषय मे प्रवीण बनने से नैर्मल्य (प्रसाद) भाव का प्राप्ति हो जाती है, एव वे विषय रूप पापो के द्वारा आकृष्ट नही होती। इस प्रकार उनका प्रसाद ज्ञान साधक बन जाता है।

उपनिषद् के अन्त मे देव भक्ति एव गुरु भक्ति को साथ साथ बताया गया है, अत ज्ञान को धारण कराने वाला होने से गुरु भी धाता पद का वाच्य है। शुश्रूषादि के द्वारा गुरु की प्रसन्नता आत्म-ज्ञान का साक्षात् कारण है यह तो निर्विवाद है। ब्रह्म-निष्ठ होने से गुरु की ईश्वर रूपता एव उसकी प्रसन्नता ईश्वर की प्रत्यक्ष प्रसन्नता है। किञ्च धाता का अर्थ समग्र जगत् को धारण करने वाला होने से आत्मा भी हो सकता है। जब जीव का अपने स्वरूप से अत्यधिक प्रेम हो जाता है तो यही उसकी खुद अपने ऊपर प्रसन्नता (प्रसाद) है। ऐसी कृपा होने पर ही अन्य बाह्य विषयो का परित्याग करके वह प्रत्यगात्मा की तरफ जिज्ञासा एव प्रेम पूर्वक प्रवृत्त होता है। इस कृपा से जीव-भाव की निवृत्ति होकर स्वरूप स्थिति सहज हो जाती है।

विश्व के समग्र नियमो का विधान करने के कारण वेद को भी धाता कहा जाता है। अत बार बार वेदाध्ययन से वेद अपने गुह्य रहस्यो को जब प्रकट करने लगता है तभी वेद के लक्ष्यार्थ ब्रह्म का ज्ञान सभव है। बार बार अध्ययन ही वेद की सेवा है जो उसकी प्रसन्नता का साधन है। प्रमाणगत सशय की निवृत्ति इसी से होती है।

उपयुक्त सभी का सन्निवेशात्मक अर्थ ही श्रुति को इष्ट है, क्योकि कुछ अर्थ प्रमाणगत दोष की निवृत्ति के लिये है तो कुछ प्रमेय और प्रमातृ गत। सभी दोषो की निवृत्ति होने पर प्रज्ञप्ति-मात्रता की सिद्धि सभव है।

७ अक्रतुरितिपाठे अधिकारोऽविशेषणम् ।

८ क्रतु का मूल अर्थ निश्चय पूर्वक सकल्प है। सामान्य व्यक्ति निरन्तर विषय भोग का सकल्प करता रहता है। एव उसके लिये लौकिक साधनो को अपनाता है। इनसे निवृत करने के लिये श्रुति ने दिव्य भोगो का निरूपण करके उसके लिये श्रौत कर्मो का विधान किया। चू कि दिव्य भोग लौकिक भोगो की अपेक्षा अत्यधिक श्रेष्ठ होते हैं अत मनुष्य यह निश्चय कर लेता है कि मैं वैदिक कर्मो के सहारे दिव्य भोग ही प्राप्त करूँगा। इस दृढ निश्चय को करने वाला क्रतु कहा गया एव उसको जोवन पद्धति भी क्रतु कही गई। इन दोनो क्रतुओ का जिसने त्याग कर दिया वह अक्रतु है, अर्थात् लौकिक एव दिव्य विषय भोगो के सकल्प से रहित है। आत्मा का विषय से किसी भी प्रकार सम्बन्ध बनता नही। अत यह केवल साकल्प मात्र मे कल्पित है। यह उसकी नित्य सकल्प रहितता ही यहा कही जा रही है। यद्यपि मै एक हूँ बहुत हो जाऊ इत्यादि साकल्प क्रतु कहे जा सकते है परन्तु ये सकल्प भी अविद्याद्वारा अविद्याग्रस्त शुद्ध मे कल्पित करता है। वस्तुत वे वहा नही। अक्रतुत्त्व पारमार्थिक है और जीव जगत् की अन्यथा अनुपपत्ति से क्रतुत्व कल्पित है यह हृदय है।

९ सामान्यत पदार्थों मे गौणत्व और प्रधानत्व गुण क्रिया निमित्तक हुआ करता है। परन्तु ब्रह्म की महिमा निरवग्रह होने से इनसे वृद्धि क्षय को प्राप्त नही होती। वस्तुतस्तु जहा कही गुण कर्म अर्थात् महिमा है वहा उसी की महिमा है या वह स्वय ही महिमा रूप है। अत पारमार्थिक दृष्टि से वही महिमा है, एव व्यावहारिक दृष्टि से उसकी ही महिमा है, तथा प्रातिभासिक बुद्धि से जो भी महिमा है उसकी अन्तिम सीमा वही है।

१० अणोरणीयान् इत्यादि धर्मों के द्वारा जिसका दर्शन अतिदुर्गम बताया उसी प्रत्यगात्मा को अब उपाय के द्वारा सुलभ रूप से निर्देश करना है। श्रुतियो मे कही कही ब्रह्म को वाणी और मन से अगम्य

बनाया है और कहीं कहीं मन और वाणी का विषय। यद्यपि स्थूल दृष्टि वालों को यह विरुद्ध लगता है परन्तु श्रुति का भाव स्पष्ट है। लौकिक वाणी और असंस्कृत मन के द्वारा असम्भव होने पर भी गुरु की विज्ञान से भावित वेद वाणी व शास्त्र न्याय साधनादि में संस्कृत अन्त करण के द्वारा वह अत्यन्त सुलभता से ही अपरोक्ष रूप में जान लिया जाता है।

११ सब प्रकार से निरपेक्ष त्व पदार्थ रूप प्रत्यगात्मा को तत् पदार्थ भूत अद्वितीय ईश्वर रूप से यहां तात्पर्य है। त्व पद से भिन्न होने पर वह अचेतन होकर अस्वतंत्र होने से ईश पद का वाच्य नहीं रह पायेगा। इसी प्रकार तत् पद से भिन्न होने पर परिच्छिन्न होकर देश-काल-वस्तु के परतंत्र होने से भी ईश नहीं रह जायेगा। इस प्रकार निर्विशेष ईशता की सिद्धि जीव और ईश्वर की एकता से ही हो सकती है।

१२ शोक से यहां अविद्या समझ लेना चाहिये। अर्थात् अविद्या की निवृत्ति होने पर ही ईश दर्शन सम्भव है। अथवा जब ईश को देखता है तब शोक अर्थात् तद्रूप संसार निवृत्त हो जाता है। दोनों अर्थों का समन्वय करके ऐक्य ज्ञान और शोक निवृत्ति को समका-लिक कहा गया।

२१

शिव कृपा से आत्म-ज्ञान की सिद्धि में मन्त्र द्रष्टा श्वेताश्वतर महर्षि स्वानुभव से दृढ प्रत्यय उत्पन्न करते हैं —

वेद अहम् एतम् अजरं पुराणं सर्वात्मानं सर्वगतं विभुत्वात्।
जन्मनिरोधं प्रवदन्ति यस्य ब्रह्मवादिनः हि प्रवदन्ति नित्यम्॥

अहं=मैंने
एतं=इस[1]
अजरं=जरा से रहित[2]
पुराणम्=उत्पत्ति से रहित[3]
विभुत्वात्=विविध रूप से बनने के कारण[4]

सर्वात्मानं=सबके प्रत्यगात्मा रूप,[८]
सर्वगत=सर्व व्यापी को [१]
वेद=जान लिया है।
यस्य=जिस (आत्मा) के
जन्मनिरोध=जन्म और मरणको
प्रवदन्ति[७]=बकते है,[८]
हि=निश्चय रूप से
ब्रह्मवादिनः=ब्रह्म वेत्ता लोग
नित्य=(उसको) जन्म मरण रहित[९]
प्रवदन्ति=अनुभव और युक्ति से सिद्ध करते है।

१ पूर्व अध्यायो मे प्रतिपादित तत्त्व का प्रत्यक्ष रूप से निर्देश कर के आचार्यपदारूढ श्वेताश्वतर महर्षि उस तत्त्व की अपने हाथ मे रखी गोली की तरह स्वानुभूति बतलाते है।

२ जीर्ण होने से अर्थात् अपक्षय होने से बुढापे को जरा कहा जाता है। आत्मा अपक्षय से रहित होने के कारण अजर कहा गया, अथवा **अजरा निर्जरा देवा** इत्यादि कोशो के आधार पर अजर का अर्थ देव अर्थात् अप्राकृत पदार्थ। तात्पर्य है कि शिव प्रकृति और प्राकृत दोनो भावो से रहित है। क्यो कि उसमे किसी भी प्रकार की विपरिणामधर्मिता नही है।

३ सारी उत्पत्तियो को प्रारम्भ करने वाला होने से वह स्वय उत्पत्ति से रहित है। तात्पर्य है कि कितने भी पुराने काल मे चले जाओ उस समय भी वह पुराना ही था। जरा रहित कहने से यह सन्देह हो सकता था कि वह नया होने से पहले नही था अत उत्पत्ति वाला हुवा। उसके निराकरणार्थ पुराण कहना आवश्यक हो गया। किञ्च **पुरापि नव एव** इस व्युत्पत्ति से वह सर्वदा एक रूप है यह भाव भी आ जाता है। गीता के **कविं पुराण** का भी यही अर्थ है।

४ विपूर्वक भू धातु का अर्थ यह बताने के लिये है कि सद्रूप से एक होने से भी वह अविद्यास्पन्द से आकाश, जल, देव, मनुष्य, कुत्ता, चाण्डाल, आदि अनेक रूपो से वैसे ही प्रतीत होता है जैसे

एक ही मशाल चक्र, अण्ड, आदि अनेक रूपो से प्रतीत होती है। हेतुत्वेन इसको बताने का तात्पर्य यह है कि वह कूटस्थ रहते हुए भी सर्व रूप **सर्वश्चासौ आत्मा च** सब का प्रत्यगात्मा रूप **सर्वेषाम् आत्मा स्वरूपं इति** वा होकर के सब मे व्यापक है।

५ सब के 'मैं' इस ज्ञान का साक्षी होने से वह सर्वात्मा है। घट पटादि पदार्थों का सत्ता रूप से वह आत्मा है।

६ आकाश की तरह उसकी व्यापकता है। जैसे आकाश घट के भीतर घुसता नही, फिर भी घट मे गया हुआ प्रतीत होता है, वैसे ही आत्मा बिना किसी उपाधि मे घुसे हुए उन सब मे घुसा हुआ प्रतीत होता है। देश, काल, वस्तु सभी दृष्टियो से व्यापक होने के कारण वह सर्व परिच्छेद से रहित है एव इसीलिये सब वस्तुओ में प्राप्त है। व्यापी मे व्याप्य स्वतन्त्र नही होता वरन् उसका कार्य ही होता है। अत सर्वगतम् का तात्पर्य सब कुछ उसका कार्य है। अथवा सर्व व्यापक होने से उसको सब कुछ (सर्व) ज्ञात (गत-अवगत) है। इस प्रकार सर्वज्ञता भी इसके द्वारा निर्दिष्ट है।

७ **न वदन्ति इति तु युक्त पाठ इति नारायणः।**

८ जिसका जगत् जन्म और जगन्निरोध अर्थात् जगत् सहार कर्म है ऐसा ब्रह्मवादी कहते हैं। यह अर्थ भी सरलता से लग जाता है। अथवा प्रथम प्रवदन्ति का कर्ता अज्ञानी मूढ बकने वालो को समझ लेना चाहिये। अथवा यस्य=जिस ब्रह्म का जन्म अर्थात् उत्पत्ति का निरोध अर्थात् अभाव ब्रह्म वादी कहते हैं, अर्थात् ब्रह्म की उत्पत्ति नही है ऐसा प्रतिपादन करते हैं।

विवेक दृष्टि से तो यह दोनो वाक्य पूर्व पक्ष एव उत्तर पक्ष से सगततर हो जाते हैं। तात्पर्य है कि पहले अज्ञान दशा मे ब्रह्मवादी अर्थात् वेद के कर्म काण्ड को जानने वाले (यस्य) परमात्मा से उत्पत्ति और नाश प्रतिपादन करते हुए जन्मान्तर, स्वर्ग, आदि व्यवस्थाओ

से आपेक्षिक नित्यत्व की व्यवस्था करते हैं, उसी से ब्रह्म ज्ञान से अज्ञान नाश करने के बाद ज्ञान दशा मे (ब्रह्मविद) ब्रह्मविद् वरिष्ठ लोग जन्म का निरोध अर्थात उत्पत्ति की असभवता का प्रतिपादन करते हुए निश्चित, असन्दिग्ध, निरपेक्ष, नित्यता का प्रतिपादन करते हैं। इस अवस्था मे न केवल जन्म का प्रध्वसाभाव है वरन् प्रागभाव भी है। ज्ञान दृष्टि से आज तक जन्म और मरण आदि विकार उत्पन्न हुए ही नही। अथवा (यस्य) जिन (ब्रह्मवादिन) ब्रह्मवादियो का (नित्य) ब्रह्म जन्मनाशक (जन्म निरोध) या जन्म नाश रूप है, यह भाव है।

९ धर्म और धर्मी के भेद को निवारण करने के लिये यह दल दिया गया है। भाव है कि जन्म-मरण शून्य रूप अविनाशी आत्म तत्त्व है न कि जन्म-मरण रहित वाला आत्म तत्त्व है। अथवा महा प्रलय, महा सर्ग, सुषुप्ति, प्रबोध एव इनकी अन्तरालावस्थाओ मे उसकी एक रूपता है। जिस ब्रह्म तत्त्व को ब्रह्मवादी ऐसा बताते है (तम् अह वेद) उसको मैंने जान लिया, इस प्रकार पूर्व से अन्वय बना कर, वह ब्रह्म ही मैंने प्रतिपादित किया है, यह तात्पर्य सिद्ध हो जाता है।

इति तृतीयोऽध्यायः।

—०—

अथ चतुर्थोऽध्यायः

विधाता की कृपा से ईश दर्शन बताया। परन्तु उसकी कृपा का उपाय नहीं बताया। अब इस अध्याय मे विविध विभूति रूप से विद्यमान रुद्र की प्रार्थना ही एकमात्र प्रसन्नता का उपाय है, यह बताना इष्ट है। यद्यपि उसकी प्रसन्नता अकारण ही होती है, पर जब तक वह प्रसन्नता नही होती तब तक साधक के लिये प्रार्थना करते हुए ही काल यापन सम्भव है। यह प्रार्थना किसी पदार्थ की भिक्षा नही हैं। परन्तु जीव और ईश्वर के स्वरूप का भिन्न भिन्न प्रकारो से निर्णय करते हुए, ईश्वर ही माया बल से जगत् का कारण है, जीव ही मायाधीन होकर बद्ध है, एव स्वरूप से दोनो एक हैं, तथा द्वैत अज्ञान की प्रकृति का है, अत मिथ्या है, एव बाध के योग्य है, एव एक अद्वितीय शिव ही वरणीय है, इस प्रकार का चिन्तन सम्यक् ज्ञान की प्रार्थना है। इदानी काल का ज्ञान हो जाय, ज्ञान हो जाय, मोक्ष हो जाय, मोक्ष हो जाय, ऐमा रटना नही।

सर्व प्रथम मुमुक्षु ईश्वर स्वरूप प्रतिपादन के द्वारा सम्यक् ज्ञान की प्रार्थना करता है :—

यः एकः अवर्णः बहुधा शक्तियोगात् वर्णान् अनेकान् निहितार्थः दधाति। वि च एति च अन्ते विश्वम् आदौ सः देवः सः नः बुद्ध्या शुभया संयुनक्तु ॥

बहुधा=बहुत प्रकार की[1]
शक्तियोगात्=शक्तियो के सयोग से[2]
य =जो
एकः = भेद शून्य
अवर्णः[3] =वर्ण रहित[4] (महादेव)
अनेकान्=भिन्न भिन्न प्रकार के
वर्णान्=वर्णों को[5]
निहितार्थः=[6]बिना प्रयोजन के[7]
दधाति[8]=धारण करता है,
च=एव
अन्ते=प्रलय मे

विवि=लीन
एति=कर लेता है,[९]
च=तथा
आदौ=सृष्टि के पहले
सः=वह
देव=स्वय प्रकाश महादेव
विश्वम्=विश्व को (अपने से अभिन्न करके रखता है[१०]);
स=वह महादेव
न=हम लोगो को
शुभया=कल्याण कारी[११]
बुद्ध्या=बुद्धि से
संयुनक्तु=सयुक्त कर दे[१२]।

१ यद्यपि महादेव की वास्तविक शक्ति तो एक ही है परन्तु अनेक प्रकार के कार्य करने की वजह से उसके नाम, रूप, गुण आदि बहुत प्रतीत होकर उसे बहुत प्रकार की कहा और समझा जाता है। ज्ञान, इच्छा और क्रिया रूप से इसका भेद सुप्रसिद्ध है। ज्ञान मे पुन. देखना, सुनना, देखने मे पुन रग, आकार, रग मे पुन सफेद काला, सफेद मे पुन मलाई, बगुला आदि आदि अनन्त शाखाये प्रशाखायें होकर ज्ञान शक्ति अनन्त प्रकार की हो जाती है। इसी प्रकार इच्छा और क्रिया-शक्ति को समझ लेना चाहिये। (यह शक्ति के चेतन प्रकार के भेद का विस्तार समझा जा सकता है। जड शक्ति पुन आकाश, पृथ्वी आदि अनन्त विषय भेद वाली बन जाती है। इस प्रकार शक्ति की अनन्तता के कारण ही आगमो मे अनन्त शक्ति का, एव प्रत्येक शक्ति से विशिष्ट शिव का अनन्त उपासना साम्राज्य विस्तृत होता जाता है। वैदिक देवता वाद का भी यही रहस्य है। यह शक्ति और शक्तिमान् का सिद्धान्त विश्व के किसी भी मजहब या दर्शन मे नही पाया जाता। इसमे ब्रह्म की अद्वितीयता अक्षुण्ण रह कर विश्व नियामकता एव विश्व कर्तृता सगततर हो जाती है। इसीलिये हमारे सभी देवता शक्ति सम्पन्न एव सभी शक्तिया देव सम्पन्न है। अनन्त शक्तिया, एव प्रति शक्ति से विशिष्ट हुवा हुवा अनन्त शिव महादेव और महादेवी के रूप से वैसा ही अखण्ड बना रहता है जैसे आकाश

और उनकी जगह देने की शक्ति। घडे, कमरे, किले, सूचिच्छिद्र आदि से अनन्त रूपो मे प्रतीत हुआ हुआ आकाश अनन्त तरह के जगह देने के कारण अनन्त क्रियाओ का साधक बनकर के भी उन उन रूपो से भिन्न रहते हुए अखण्ड आकाश से अभिन्न ही बना रहता है। अत जब तक उस अखण्ड आकाश की प्राप्ति नही हो जाती तभी तक यह खण्ड आकाश अलग अलग लगते हैं। वैसे ही निर्विशेष परमात्म तत्त्व की प्राप्ति के पूर्व ही देवतागण अलग अलग लगते है। प्रत्येक जीव जिस प्रकार ब्रह्म से अभिन्न है उसी प्रकार उसकी शक्ति भी ब्रह्म शक्ति से अभिन्न है। जिस प्रकार ब्रह्म शक्ति का ब्रह्म से दृष्ट होना ही उसका ब्रह्म मे लीन हो जाना है उसी प्रकार जब जीव अपनी शक्ति का दर्शन कर लेता है तो वह शक्ति उसमे लीन हो जाती है। शक्ति के कार्यो के दर्शन से शक्ति लीन नही होती वरन् और दूर होती जाती है। सारी साधनाओ का रहस्य प्रत्येक जीव का अपनी शक्ति का पता लगाकर उसको अपने मे लीन करके यामल भाव को प्राप्त करना है। दो को पिघला कर एक बना देना (welding) यामल भाव है। जिस प्रकार घटादि उपाधि के आकाश रूप से एक हो जाने पर घटाकाश और महाकाश का भेद नही रह जाता उसी प्रकार यामल भाव ही महादेव से एक हो जाना है।

कुछ लोग यहा तत्त्व से ओकार को लेकर मन्त्रार्थ करते है। तब 'बहुधा' का अर्थ हो जायेगा अ, क, च आदि अनेक अक्षर अथवा शाखा, अग, उपाङ्ग, उपवेद, आदि अनेक प्रकार से ओकार का विस्तार।

२ शक्ति अर्थात् माया, अविद्या, अव्यक्त आदि नामो से कही जाने वाली। यद्यपि योग शब्द से दो के जुडने का बोध होता है परन्तु शक्ति और शक्तिमान् दो नहीं हुआ करते। अत यहा लाक्षणिक योग शब्द समझना चाहिये। जिस प्रकार चैत्र और चैत्र की

शक्ति का न भेद ही है और न अत्यन्त अभेद। भिन्न मानने पर सत् से भिन्न होने से उसे असत् मानना पड़ेगा और असत् मानने पर वह जगत् कार्य को उत्पन्न करने मे असमर्थ हो जायेगी। सद्असद् उभय रूप मानना तो सर्वथा न्याय विरुद्ध है। अतः सदसन् से विलक्षण ही मानना पड़ेगा। कुछ लोग कार्याधिक्य को देखकर शक्ति का बढना भी मानते हैं परन्तु यह न्याय सगत नही है। शक्ति का अधिक अभिव्यक्त होना ही कार्य की अधिकता के प्रति कारण है।

३. वर्ण इति वाच्छेद।

४ **वर्णो द्विजादौ, शुक्लादौ, स्तुतौ, रूप यशोक्षरे, विलेपने कथाया च वर्णस्यात् गणभेदयो** इत्यादि कोश के आधार पर वर्ण के कई अर्थ होते हैं। उस अखड आत्म तत्त्व मे ब्राह्मणादि जाति, शुक्लादि रग, रूप, यश आदि का भी निषेध है, एव अद्वितीय असग होने के कारण उस पर किसी चीज का विलेप या किसी अन्य गणादि से भेद भी असभव है। अत इन सभी का निषेध करने मे उसकी भेद रहितता का प्रतिपादन करना ही श्रुति का वास्तविक तात्पर्य है। उसकी निर्विशेषता समग्र है। जिससे उसका वर्णन किया जाय ऐसे किसी भी नाम रूप से शून्य बताना भी तात्पर्य है।

अथवा **वर्ण** पाठ समझना चाहिये। **वर्ण्यते इति वर्ण**। अर्थात् ससार के सभी पदार्थ और अनुभूतियो मे उसी का वर्णन होने से उसे वर्ण कहा गया। विश्व मे सभी कुछ सत्ता का ही विलास है यह तात्पर्य है। अथवा **एक वर्ण** अर्थात् सजातीय, विजातीय, स्वगत भेद रहितता से भी उसका वर्णन किया जा सकता है।

वर्ण से ओकार का तात्पर्य भी होता है। चू कि ओकार ही अपने अकार, उकार, मकार के द्वारा ब्रह्म का वर्णन कर देता है, अथवा एक रहते हुए ही वह ओकार रूप वर्णता को प्राप्त हो जाता है। **वर्णक स्तुतिविस्तारे शुक्लाद्यत्युक्तिदीपने** इत्यादि कोशो के आधार

पर ब्रह्म का ही विस्तार करने से इसे वर्ण कहा गया। ओंकार मे निहित अकारादि ही पद वाक्य रूपो को धारण करते हैं। तब शक्ति योग का अर्थ होगा पद और वाक्यो मे जिन अर्थों का ज्ञान कराने की शक्ति है। वस्तुत अक्षरो का समुदाय पद है, पदो का समुदाय वाक्य है। वास्तविक दृष्टि से देखा जाय तो केवल वाक्य मे ही अर्थावबोधन सामर्थ्य होने से शक्ति माननी चाहिये। प्राकृत रूप से भाषा ज्ञान के काल मे वाक्य के द्वारा किसी क्रिया को प्रतिफलित होते देख कर वाक्य का क्रिया मे शक्ति बोध उत्पन्न होता है। पुन' किञ्चित् क्रिया भेद एव वाक्य भेद से अवापोद्धार के द्वारा समझने की सरलता के लिये पदो मे शक्ति की कल्पना की जाती है। जैसे, गौ को लाओ, ऐसा दादा के कहे जाने पर बाप को गाय लाता देखता है, एव गौ को खोलो, ऐसा कहने पर गाय को खोलते देखता है। दोनो वाक्यो मे गौ को समान देख कर एव क्रिया मे भी उसको समान देख कर 'गौ को' पदका ज्ञान हो जाता है। फिर 'बकरी को लाओ', और 'बकरी को खोलो' एव तत्प्रयुक्त क्रियाओ को देखकर 'लाओ' और 'खोलो' का भी ज्ञान हो जाता है। इस प्रकार धीरे धीरे पदो मे शक्ति बोध होने लगता है। फिर धीरे धीरे 'गाय से' 'गायको' 'गाय के लिये' इत्यादि वाक्य और तत्प्रसूत क्रियाओ को देखकर प्रातिपदिक और प्रत्यय मे शक्ति बोध होने लगता है। सस्कृत को छोड कर विश्व की सभी भाषायें एव भाषाविद् यही रुक जाते हैं। सस्कृत इसी लिये दैव भाषा है कि वह उससे आगे जाती है। एव प्रातिपदिको मे भी धातु, उपसर्ग, उणादि प्रत्ययो के द्वारा आधार भूत शब्दो मे शक्ति का बोध करने की सामर्थ्य देती है। यद्यपि भाषा विज्ञान (Philology) ने आधुनिक युग मे अन्य भाषाओ मे भी धातु इत्यादि देखने का प्रयास किया है परन्तु मैक्समूलर, ह्विटनी, मोनियर विलियम्स, रॉथ, आदि इस विज्ञान के सस्थापको ने स्पष्टत स्वीकार

किया है कि सस्कृत अध्ययन से ही उन्हे यह सूत्र हाथ लगा। इतना ही नही सस्कृतेतर किसी भाषा मे ऐसी नियम बद्धता नही मिलती क्यो कि वे भाषाये वस्तुत. भाषा विज्ञान के आधार पर बनी ही नही। यह स्पष्ट होने पर भी सस्कृत का अन्य भाषाओ की तरह भाषा मानना वैसा ही अन्धविश्वास है जैसा वैदिक धर्म को अन्य मजहबो को तरह एक मजहब मानना। वस्तुत धातु आदि तक भी न ठहर कर तान्त्रिको ने एव कुछ अशो तक महा-भाष्यकार पतञ्जलि तथा एकाक्षरी कोशकारो ने प्रत्येक अक्षर मे ही शक्ति को स्वीकारा है। इस प्रकार की शक्ति का आधान ईश्वर की इच्छा से ही होता है। इसोलिये निहितार्थ कहकर शक्य रूप से अर्थो का जिसने समर्पण किया वह महादेव ही निहितार्थ है। **निहितार्थान्** पाठ मे तो वर्ण समर्पित अर्थो को पद वाक्य रूप से धारण करता है यह तात्पर्य हो जायेगा।

५ चित् अचित् रूप अनेक जाति, रग, रूप, यश, विलेपनादि को धारण करता हैं। यद्यपि स्वत अवर्ण बना रहता है तथापि अविद्या के द्वारा अनेक नाम रूपो वाला प्रतीत होता है। अथवा शब्दो का वर्णन अर्थात् निरूपण करने के कारण पदार्थ वर्ण कहे गये हैं। **शब्दान् वर्ण्यन्ते इति वर्णा।** एव **वर्ण्यन्ते अनेन** इति इस प्रकार के विग्रह से अर्थो का निरूपण करने के कारण शब्द भी वर्ण कहे गये है। तात्पर्य है कि अनेक प्रकार के शब्दो को और अनेक प्रकार के अर्थो को वह धारण करता है। ब्रह्म रूप एव ओकार शब्द इन अनेक रूपो मे एकसा ही बना रहता है। ऋगादि भेदो से भिन्न प्रतीत होने पर भी उनकी ओकार रूप से भिन्नता वैसे ही नही हो पाती जैसे इन्दिरा जगजीवन आदि नाम और रूपो के भेद होने पर भी वे सब चाण्डाल से अभिन्न ही बने रहते हैं।

६. **निहितार्थान् पठति नारायण।**

७ निहित अर्थात् अगृहीत एव अर्थ अर्थात् प्रयोजन। अत भाव हुआ कि किसी भी प्रयोजन को न ग्रहण करके अर्थात् प्रयोजन के बिना वह इन रूपो को धारण करता है। इसीलिये भगवान् गौडपाद सृष्टि को उस देव का स्वभाव मानते हैं। लीला रूपी प्रयोजन भी ऊबने को हटाने वाला प्रतीत होने से खटकता है। जहा केवल आनन्दोल्लास रूपी लीला हो वहा तो स्वभाव ही मानना पड जावेगा। अथवा निहित अर्थात् निक्षिप्त अर्थात् फेंक दिया गया है अर्थ याने प्रयोजन जिसमे से वह निहितार्थ कहा जा सकता है। तात्पर्य है कि परमात्मा मे सब प्रयोजन परिपूर्ण होने से न कुछ अनवाप्त है, न कुछ अवाप्तव्य है। जैसे पत्ते मे नाडिया (veins) या शकु फैले हुए होते है उसी प्रकार परमात्मा मे अपनी व्याप्ति शक्ति के सम्बन्ध से अनन्त पदपदार्थ विद्यमान रहते हैं। वह अनन्त पद पदार्थ स्वय अपने आप ही कभी व्यक्त होते है कभी अव्यक्त। जिसका जब व्यक्तीभवन हो गया उसको तब सृष्ट कहते है एव ऐसा न होने पर प्रलय कहते हैं। परन्तु किसी भी समय उनका अत्यन्त विनाश नहीं है और न अत्यन्त उत्पत्ति ही। स्रष्टव्य विषय के ईक्षण मे यह सब (अर्थ) पद पदार्थ (निहित) छिपे रहते हैं इसलिये भी इसको निहितार्थ कहा गया। अर्थ्यते अनेन इति अर्थ। इस प्रकार शब्द को भी अर्थ कहते है, एव अर्थ्यते इति अर्थ इस प्रकार रूप को भी अर्थ कहते है। अत आन्तरिक अभिप्राय यही है कि वह पहले अपने ईक्षण रूपी क्रिया मे नाम रूप का व्याकरण करता है एव उसके बाद बाहर। अपने मे छिपे हुए शब्दार्थों का प्रकट करना ही सृष्टि है।

८ केचित् तु वि दधाति इति स्वीकुर्वन्ति। विचैति शान्ते दीपिका पाठः।

९ पक्षान्तर मे वि अर्थात् विविधता को एति अर्थात् जाता है। तात्पर्य है कि विविध भाव को प्राप्त हो जाता है। अथवा वह सब

चीजो के विशेष भाव को अपने अन्दर ले जाता है अर्थात् लीन करता है। यहां अन्तर्भावित णिच् समझना चाहिये। **वि एति गमयति विश्लेषयति सर्वम्।** सब चीजो को कारण रूप मे विश्लिष्ट कर देता है यह तात्पर्य है।

अथवा आदि मे विश्व अर्थात् विश्व-रूप हुआ हुआ अन्ते अर्थात् अवसान मे व्येति अर्थात् व्यय भाव को प्राप्त होता है अर्थात् कार्य भाव को छोड के कारण भाव को प्राप्त होता है। इस अर्थ मे द्वितीय च शब्द से मध्य काल मे भी वह रहता है, यह तात्पर्य है।

अथवा ओंकार रूप आदित्य की तरह सारे अर्थो को प्रकाश करने वाला देव रूप सृष्टि के पहले (आदौ) विद्यमान होकर अन्त मे अर्थात् नाम रूप से रहित होकर स्थित हो जाता है। तात्पर्य हैं कि विविध अभिधेय रूप से और अभिधान रूप से वही बन जाता है। अथवा एक अकार ही ह्रस्व, दीर्घादि अनेक भेदो से अपनी सामर्थ्य से उकारादि वर्णो को भी प्राप्त कर लेता है एव अपने ऊपर अध्यस्त ककारादि से विविधता को प्राप्त हो जाता है। चू कि अकार मे यह सब होने की सामर्थ्य है इसीलिये उसे निहितार्थ कह दिया गया। आगमिक तो ऐसा मानते हैं कि एक वर्ण अर्थात् शब्द तत्त्व कुण्डलिनी शक्ति के सम्बन्ध से एक दो तीन आदि वेष्टनो से वेष्टित हुआ हुआ स्वर एव व्यञ्जनो को निश्चित प्रयोजनो के अनुसार करके पुन' प्रयोजन का अन्त होने पर सर्व भेदशून्य शब्द तत्त्व मे पुन लीन हो जाता है। इस पक्ष मे अर्थ और शब्द का अभेद होने से अर्थ भी शब्द के साथ ही लीन हो जाता है।

योगियो की दृष्टि से तो प्रथम योग सिद्धि आने पर वह एक निर्विकल्प प्रतीति का विषय अवर्ण होते हुए भी हार्दपिण्ड, नीहार आदि अनेक प्रकार का मन और पवन के विधारण और आयास शक्तियों के सम्बन्ध से भेद वाला होकर प्रतीत होता है, यही उसका निहित

अर्थ अर्थात् योग सिद्धि का प्रयोजन है। योग सिद्धि रूपी विघ्न के निवृत्त हो जाने पर यह भेद सारे समाप्त हो कर पुन निर्विकल्प ही रह जाता है।

१० यद्यपि पदार्थ रूप से विश्व भिन्न भिन्न नाम रूपो वाला है परन्तु सत्ता से उनमे कोई भेद न होने से सत्ता से वे अभिन्न कहे जाते है। अन्त मे व्यय हो जाता है, ऐसा कहने से समूल नाश की प्राप्ति हो जाती, अत व्यय धर्म से अस्पृष्टता बताने के लिये विश्व कहा गया। अर्थात् जगत् उत्पत्ति-स्थिति आदि के कारणत्व धर्म से उपलक्षित ही वह स्वय प्रकाश देव है।

११ ब्रह्म विषयक मोक्ष हेतु रूप बुद्धि से। जिससे ससार का कारण निवृत्त होकर छिपा हुआ आनन्द अभिव्यक्त हो जाय।

१२ यहा प्रार्थना मे लोट् है। अथवा देव अर्थात् दीप्तिमान् श्वास लेने वाला प्राण की उपाधिवाला जीव अपवर्ग साधन अह ब्रह्मास्मि इत्याकारक बुद्धि से सयुक्त होवें।

२

अनिर्वचनीय माया से आधिदैविक समष्टि उपाधियो की सृष्टि करके विभूति वाले बने हुए देव का प्रतिपादन करते हुए इन उपाधियो मे ब्रह्म चिन्तन का प्रकार बताते हैं —

तत् एव अग्निः तत् आदित्यः तत् वायुः तत् उ चन्द्रमा।
तत् एव शुक्रं तत् ब्रह्म तत् आपः तत् प्रजापतिः॥

तत्=वह[1]
एव =ही[2]
अग्नि=अग्नि (समष्टि वाक्) है,
तत् = वह
आदित्य = आदित्य (समष्टि चक्षु) है,
तत्=वह
वायु =वायु (समष्टि प्राण) है,
तत्=वह
चन्द्रमा = चन्द्रमा[3] (समष्टि मन) है;

तत्=वह
एव=ही
शुक्र[4]=शुक्र[5] (स्थूल समष्टि याने-विराट्) है,
तत्=वह
ब्रह्म=ब्रह्म[6] (समष्टि जीव) है,
तत=वह
आप=जल (समष्टि जीभ) है,
उ=एव
तत्=वह
प्रजापति=प्रजापति (समष्टि उपस्थ) है।

१ चू कि ईश्वर से ही सृष्टि स्थिति लय है अत वही सर्व रूप है। सर्व रूप से वह कभी भी विभक्त नही होता। ब्रह्म सूत्रो के अनुसार अग्नि आदित्यादि मे ब्रह्म दृष्टि कर्तव्य है, ब्रह्म मे अग्न्यादि दृष्टि नही। अर्थात् महादेव ही अग्नि-सूर्यादि रूप से स्थित है ऐसा समझना चाहिये।

२ अन्य भाव की व्यावृत्ति कराने वाले इस शब्द को आदित्य वायु आदि के साथ भी लगा लेना चाहिये। तात्पर्य है कि नाम रूप विशिष्ट चिन्मात्र से अतिरिक्त और कोई भी तत्त्व कही भी नही है।

३ यहा चन्द्र से सोम भी ले लेना चाहिये।

४ शुक्लम् इति वा पाठ।

५ शुद्ध जो कुछ भी तेजस्वी होता है वह सभी शुक्र कहा जाता है। अत नक्षत्र आदि सभी का सग्रह है। अथवा ब्रह्म की स्व प्रकाशता भी यहा ध्वनित है। सृष्टि उत्पन्न करने वाले चरम धातु का भी यहा सग्रह है। शुक्र ग्रह भी यहा लिया जा सकता है।

६ वेद का सग्रह भी किया जा सकता है। कोई कोई तो चतुर्मुखी का भी यहा ग्रहण मानते हैं।

३

व्यष्टि भूत उपाधियो की सृष्टि करके उनमे जल चन्द्र की तरह प्रवेश किया हुआ ही महादेव है :—

त्वं स्त्री त्वं पुमान् असि त्वं कुमारः उत वा कुमारी ।
त्वं जीर्णः दण्डेन वञ्चसि त्वं जातः भवसि विश्वतः मुखः ॥

त्वं=तुम[1]	त्वं=तुम
स्त्री=औरत (और)	**जीर्ण** =बुड्ढे होकर[3]
त्वं=तुम	**दण्डेन**=दण्डे से[4]
पुमान्=मर्द	**वञ्चसि** =चलते हो[5] ।
असि=हो ।	**त्वं**=तुम
उत =और[2]	जात =पैदा होकर
त्वं =तुम	**विश्वत** =अनन्त[6]
कुमार =क्वारे	**मुख** =मुख वाले
वा =या	**भवसि** =बनते हो ।
कुमारी=क्वारी हो ।	

१ स्तुति और चिन्तन के द्वारा ब्रह्म स्वरूप के भान होने पर यह मन्त्र द्रष्टा का वचन होने से मध्यम पुरुष के द्वारा प्रतिपादित किया जा रहा है।

२ इससे नपुंसक का संग्रह है। तात्पर्य है कि इन इन रूपो मे स्थित होकर इन इन नामों को प्राप्त करता है। स्त्री-पुरुषादि भेद सभी आत्मा मे कल्पित हैं।

३ कुछ लोग जीर्ण से पुराण पुरुष का संग्रह करते है। तब तात्पर्य होगा दण्ड से अर्थात् पापियो को दण्ड देकर के उनका दमन करने के हेतु उनको छलते हैं।

४ बुढापे मे तीसरे पैर रूपी दण्डे से।

५ इन सब रूपो से उपाधियो के द्वारा अपने स्वरूप को छिपा कर छलते हो यह भी भाव हो सकता है। तात्पर्य है कि स्वकीया स्वतन्त्र इच्छा शक्ति के द्वारा अनेक विध नाम रूपो को धारण करके माया से उत्पन्न हुए प्रतीत होते हो।

६ परिमित गणन व्यर्थ मान कर यह पद दिया गया।

४

अब तिर्यंगादि रूप से सर्व रूपता का प्रतिपादन करते है —

नीलः पतङ्गः हरितः लोहिताक्षः तडिद्गर्भः ऋतवः समुद्राः। अनादिमत् त्वं विभुत्वेन वर्तसे यतः जातानि भुवनानि विश्वा ॥

नील = नीला[1]	त्व[9] = तुम
पतङ्ग = पतङ्गा[2]	विभुत्वेन = व्यापक होकर[10]
हरित = हरा[3]	वर्तसे = रहते हो,
लोहिताक्ष = लाल आखो वाला[4]	यत = जिससे[11]
तडिद्गर्भ = बिजली के गर्भवाला[5]	विश्वा = सारे
ऋतव = मौसम[6]	भुवनानि = भुवन
समुद्रा = समुद्र रूप हैं[7]।	जातानि = उत्पन्न हुए हैं।
अनादिमत् = कारण रहित[8]	

१ गहरे दूर्वा दल के रग का भौंरा। समग्र हरियाली (ptauts) का उपलक्षण है।

२ पतनाय गच्छति, इस व्युत्पत्ति के अनुसार जो कीट लपट की तरफ मरकर गिरने के लिये जाता है। इससे कीट मात्र की उपलक्षणा कर लेनी चाहिये।

३ लोगों को हर के ले जाने का साधन होने से घोडे को हरित कहते हैं। यहा घोडे से सभी ग्राम्य पशुओं की उपलक्षणा है।

४ सिंह लाल आखो का होता है। इससे सभी आरण्य पशुओं की उपलक्षणा हैं।

५. बादल के पेट मे बिजली रहती है अत उसे तडिद्गर्भ कहते हैं। अथवा सभी जलो से बिजली निकलने के कारण यहा बिजली के

सभी साधनो का सग्रह समझना चाहिये। वस्तुतस्तु विद्युत् शक्ति की उपलक्षणा के लिये है। अत सभी शक्तियो के स्रोतो का सग्रह कर लेना चाहिये। कुण्डलिनी शक्ति भी एक तडित् ही है। विवेकी जन तो ऐसा मानते हैं कि बिजली चमकने की तरह चचल दृष्ट नष्ट स्वभाव वाला होने से यह जगत् ही तडित् का वास्तविक अर्थ है। मन मे ही जगत् का गर्भ रहने से इसे तडित्गर्भ कहा गया है।

६ वसन्त, निदाघ, वर्षा, शरद्, हेमन्त, शिशिर ये छै प्रसिद्ध ऋतुएँ हैं। कही कही वेदो मे हेमन्त और शिशिर को एक करके पांच भी कहा गया है। इससे काल की उपलक्षणा कर लेनी चाहिये। कुछ प्राचीन आचार्यों ने ऋतव को समुद्रा का विशेषण मानकर छै समुद्र बनाये हैं। एव पुराणोक्त सप्त समुद्र के मधुर समुद्र को सर्वत्र अनुस्यूत मान कर छै की सिद्धि की है।

७ सारे जलो का एकायतन होने से समुद्र से जल की उपलक्षणा है। जल मे ही कललादि के द्वारा ब्रह्माण्ड की उत्पत्ति होती है यह भारतीय एव आधुनिक विज्ञान दोनो पौराणिको को मान्य है। मानवादि प्राणियो मे भी अधिकतर जलोय अश ही होता है एव उसकी अम्लता (pH) प्राय समुद्र जलवत् ही है।

८ आदि से यहा आदि, मध्य और अन्त सबकी उपलक्षणा कर लेनी चाहिये। महादेव को कारण बताने पर कही उसके भी कारणत्व की जिज्ञासा न रह जाय इसलिये उसे कारण रहित बताया। अथवा कारण वाले रूप मे वह स्थित रहते हुए अश्वमेघ यज्ञ करने वालो को ब्रह्माण्ड के भीतर से ब्रह्माण्ड के बाहर ले जाने की वायु को प्रेरणा करने वाला होने से उन्हे ऐसा कहा गया। इससे कालगत अपरिच्छिन्नता भी प्रतिपादित कर दी गई।

९. अनादि सत्त्वम् इति वा पाठ ।

१०. देश के द्वारा अपरिच्छिन्नता बताना इष्ट है।

११ जिससे जगत् उत्पन्न, लय, और स्थित होता है वही ब्रह्म है। यह ब्रह्म सूत्र के द्वितीयाधिकरण मे प्रतिपादित है।

५

पूर्वोक्त तीन मत्रो के द्वारा परमेश्वर की प्रार्थना करके अब रूपक की सहायता से जगत् कारणत्व का एव बन्ध-मोक्ष व्यवस्था का वर्णन करते है —

अजाम् एकां लोहित-शुक्ल-कृष्णाम् बह्वीः प्रजाः सृजमानाम् सरूपाः। अजः हि एकः जुषमाणः अनुशेते जहाति एनां भुक्तभोगाम् अजः अन्यः ॥

एक =एक[1]
हि=हो[2]
अज =बकरा[3]
बह्वी =बहुत सी[4]
सरूपा =अपनी जैसी[5]
प्रजा =सन्तति को
सृजमानां=पैदा करने वाली
लोहितशुक्लकृष्णाम्=लाल, सफेद और काली[6]
एका=एक[7]
अजाम्=बकरी को[8]
जुषमाण =(उससे) प्रसन्न हुआ हुआ[9]
अनुशेते=साथ सोता है[10]।
अन्य =दूसरा[11]
अज =बकरा
भुक्तभोगाम्=जिसका भोग कर लिया है[12]
एनां=उस बकरी को[13]
जहाति=छोड देता है[14]।

१. अविद्या रूपी उपाधि की एकता से यहा एक कहा गया। अन्त -करण स्वय कार्य होने की वजह से स्वय बकरी की सन्तान होगी। अत उसे पति रूप कहना बनता नही। सुषुप्ति मे या महाप्रलय मे अन्त करण के नाश से जीव नाश मानना पडेगा, एव कृत हानि और अकृत अभ्यागम प्राप्त हो जायेगा। अविद्या से अतिरिक्त कुछ भी ऐसा नही है जो कार्य न हो। अत और किसी उपाधि से जीव

का जीवस्वरूप प्रतिपादन सम्भव नही। अनेक अविद्याओं मे शास्त्र विरोध होने से आस्था बनती नही। यद्यपि भामतीकार वाचस्पति ने अनेक अविद्याओ के प्रतिपादन मे कुछ श्रुति न्याय के प्रमाण दिखाये हैं परन्तु वे विचार की कसौटी पर कसने से एक जीववाद की ओर अधिक सगत हो जाते हैं। उनके मत से अनेकेश्वर और अनेक जगत् वाद भी प्रसक्त हो जाता है जो सर्वथा अनुभव विरुद्ध है। अनेक अविद्याओ को एक दूसरे से सर्वथा स्वतत्र मानने से कल्पना गौरवादि दोष प्राप्त हो जाते हैं। प्रश्न हो सकता है कि एक अविद्या मानने पर भिन्न भिन्न जीवो के सुख दु ख की व्यवस्था कैसे बनेगी ? उत्तर है कि एक ही अविद्या के आवरण और विक्षेप दो पहलू है, एव विक्षेप के अनन्त रूप होने से अनन्त जीवो की व्यवस्था हो जायेगी। ब्रह्म ज्ञान पर्यन्त इस प्रकार जीव भेद की प्रतीति सगत होती रहेगी। जैसे बेर के बीज के न जलने तक बेर की परम्परा चलती रहती है। ब्रह्म-ज्ञान के पश्चात् तो अविद्या की निवृत्ति हो जाने से कल्पित बन्ध और मोक्ष दोनो निवृत्त हो जाते हैं। वास्तविकता तो यह है कि किसी भी प्रकार से बन्ध मोक्षादि, सुखादि की व्यवस्था बन ही नही सकती। क्योंकि सभी कल्पित हैं। अविचार दृष्टि से व्यवहार चलाने के लिये जितना कुछ मन को सन्तोष करने वाला मानना पडे उतना ही मानना चाहिये।

एक जीव वाद की दृष्टि से भी यहा व्यवस्था बन सकती है। अथवा हिरण्यगर्भ को ही यहा ससारी एक जीव मान लेना चाहिये। भगवान् सर्वज्ञात्म की दृष्टि से तो ब्रह्म ही अविद्या से ससरण और विद्या से मोक्ष का भागी बनता है अत उसका ग्रहण करना भी असगत नहीं है। तात्पर्य है कि एक ही अनादि काल से प्रवृत्त, अविद्या-काम-कर्म रूपी पाश से फसा हुआ क्षेत्रज्ञ प्रकृति के विवर्तों से तादात्म्य सम्बन्ध वाला बनकर अपने को प्रकृति रूप मानते हुए अनेक भावों को प्राप्त होकर शब्दादि का विषय हो जाता है।

२ 'मै' इस प्रतीति के आलम्बन रूप से प्रसिद्ध ।

३ अज्ञान हमेशा ही उत्पत्ति रहित हुआ करता है, यद्यपि ज्ञान से नष्ट हो जाता है । यद्यपि लोग बार बार प्रश्न करते हैं कि अज्ञान कहा से और कैसे आया परन्तु यदि उन से पूछा जाय कि तुम्हे इस बात का ज्ञान है तो तुरन्त कहेगे 'नही हमे इस विषय का अज्ञान है' । फिर यदि उनसे पूछा जाय कि यह अज्ञान कहाँ से और कैसे आया तो वे इसे नैसर्गिक ही बतायेंगे । जो बात सर्ववादि सम्मत हो उसके विषय मे किसी एक सिद्धान्त वाले पर दोष या बोझ डालना अन्याय है, अत ब्रह्म विषयक अज्ञान को जब वेदान्ती नैसर्गिक कहता है तो उसे सिद्ध करना आवश्यक नही । यद्यपि बौद्ध भी इसी बात को प्रकारान्तर से कहना चाहते है परन्तु वे असत् वादी होने के कारण अज्ञान के मूल की जिज्ञासा को अनुपादेय बतलाते हुए कहते हैं कि लगे हुए काटे को कहा से काटा लगा इसकी जिज्ञासा से कोई लाभ नही । वेदान्त अनुपादेयता को हेतु न मान कर अज्ञान के स्वरूप को ही अज्ञान रूप मानकर तात्त्विक व्यवस्था बनाता है । अनुपादेयता मानने पर मानना पडेगा कि वस्तुत उसका आदि तो है, परन्तु हमे उसका अज्ञान है । आत्मा ज्ञान स्वरूप है अत किसी भी अज्ञान को नष्ट करना ही उसका स्वभाव है । एव यदि किसी विषय का अज्ञान रह गया तो पूर्ण ज्ञान का उदय न होने के कारण पूर्ण स्वतन्त्रता रूपी मोक्ष का उदय न हो सकेगा । अज्ञान को अज्ञान स्वरूप जानना ही उसका ज्ञान है । बन्धन काल मे इस स्वरूप को न जान करके उसमे ज्ञान की कल्पना से बन्धन बढता रहता है । इस अनादि अज्ञान का आश्रय होने के कारण जीव रूप से भी ब्रह्म अनादि ही है । यह बात दूसरी है कि अज्ञान की तरह ही अज्ञानाश्रयत्व भी अज्ञान के कारण होने से वास्तविक नही है ।

संस्कृत मे बकरे को अज कहते हैं जिसका दूसरा अर्थ जन्म रहित भी हो जाता है। इसी शब्द साम्य के आधार पर यह रूपक कल्पना की गई है। वैसे जिस प्रकार बकरा घास को चरता रहता है वैसे ही जीव विषय भोगो को चरता रहता है। **सगीतरत्नप्रमदासुसक्त गन्धर्वजाति कथितोऽजलिङ्ग** इत्यादि अभियुक्तो (विशेषज्ञो) के वचन से सगीतादि कलाए, रत्नादिधन एव कामिनियो मे विशेष आसक्ति करने वाला भोगासक्त पुरुष अज (बकरे) को जाति वाला माना गया है। आज भी अधिक कामुक युवा लोग अपनी कामुकता के चिन्ह रूप से बकरे की तरह दाढी (goaty) धारण करते हैं। इन्ही सब कारणो से आसक्ति के बन्धन मे फसे हुए जीव को यहा अज नाम से कहा है।

४ प्रसिद्ध है कि बकरी के एक साथ कई बच्चे पैदा होते हैं, इसी प्रकार माया से भी युगपत् अनेक पदार्थो का सृष्टि होती है।

५ जिस प्रकार बकरी और बकर के रूप रग वाली ही उसकी सन्तति होती है वैसे ही दु ख, जड, असत् आदि जाति वाले बकरे बकरी से भी वैसी ही सन्तति उत्पन्न होगी यह स्वाभाविक ही है।

६ अग्नि का लाल रूप है, जल का शुक्ल, और पृथ्वी का कृष्ण। यद्यपि सृष्टि मे आकाश और वायु का भी प्रवेश है परन्तु वे अमूर्त है अतः उनको यहा ग्रहण नही किया गया। किञ्च सामवेद ने इन तीन का ही त्रिवृत् करण करके सृष्टि बताई है। यद्यपि आकाश और वायु का गुणोपसहार न्याय से पञ्चीकरण ही सम्प्रदाय सिद्ध है परन्तु भामतीकार का यह आक्षेप कि इसमे श्रुत का त्याग होता है सर्वथा निराधार नही है। यहा भी उसी दृष्टि से तेज की सृष्टि करके तेज स्वरूप मे स्थित अश को लोहित, जल की सृष्टि करके जल की अवस्थापन्न को शुक्ल एव अन्न की सृष्टि करके अन्न के अवस्थापन्न को कृष्ण कहा गया है। यद्यपि साख्यवादियो ने लोहित से रज, शुक्ल

से सत्त्व और कृष्ण स तम अथ लगाने का प्रयास किया है परन्तु जब तक श्रुति मे इन तीन गुणो का प्रतिपादन सिद्ध न हो जाय, एव इन तीन गुणो के यही रग भी श्रौत सिद्ध न हो जायें, तब तक यहा पर त्रिगुणात्मकता का प्रतिपादन स्वीकार नही किया जा सकता। यदि कहा जाय कि इसी श्रुति को गुण प्रतिपादक मान लिया जाय तो इन शब्दो का गुणार्थकत्व न रूढि से सिद्ध है न योग से। प्रकरण भी यहा सृष्टि का नही वरन् जीव के बन्ध मोक्ष की व्यवस्था का है। इसीलिये वेद व्यास ने ब्रह्म सूत्रो मे त्रिगुणात्मकता का खण्डन किया है। गीता मे यद्यपि त्रिगुणात्मकता को स्वीकार कर लिया है परन्तु वह साख्य के समन्वयाथ है। त्रिगुणात्मकता के स्वीकाराथ नहीं। गीताकार का तात्पर्य है कि यदि साख्य की मीमासा को स्वीकार भी कर लिया जाय तो भी वेदान्त पक्ष मे कोई विरोध नहीं आता। विवेकी तो ऐसा मानते हैं कि गीता के अन्तिम दो अध्यायो मे त्रिगुणात्मकता का वर्णन उस खिन्न की (appendix) तरह है जो ग्रन्थ के बहिर्भूत हैं। सत्रहवें के प्रारम्भ मे अर्जुन का प्रश्न है कि शास्त्र को न मानने वाले अर्थात् अवैदिक लोग श्रद्धा पूवक जो करते हैं उसका क्या स्वरूप हैं। उसके उत्तर मे ही त्रिगुण का विस्तृत वर्णन आता है। इससे सिद्ध होता है कि उस काल मे साख्य ही प्रधान अवैदिक सिद्धान्त था। यह बात निर्विवाद है कि बौद्ध, जैन, वैष्णव, आगमिक, पाञ्च-रात्र, नारायणीय, आदि सभी अवैदिक सिद्धान्त साख्य से ही निकले हैं एव समधिक रूप से साख्य सिद्धान्त को स्वीकार करते हैं। स्वय शकर भगवत्पाद ने भी साख्य को प्रधान मल्ल बताया है। अत साख्यो का त्रिगुणात्मवाद गीताकार ने केवल दुर्जन तोष न्याय से ही स्वीकारा है। पृथ्वी जल तेज तो इन रगो से छान्दोग्य आदि उपनि-षदो मे प्रसिद्ध है ही।

७ यद्यपि आचार्य विद्यारण्य स्वामी ने माया एव अविद्या का

भेद प्रतिपादित किया है, परन्तु वह केवल सामान्य बुद्धि वाले को अद्वैत पर आरूढ करने के लिये उपयोगी है। वस्तुतस्तु एक ही अविद्या के कार्य भेद मानकर के जीवो की व्यवस्था बन जाती है। इसीलिये वार्तिककार, विवरणकार, सक्षेप शारीरककार, न्याय निर्णयकार आदि किसी भी शकर हृदयवत्ता ने अनेक अविद्याओ को नही स्वीकारा है। कार्य की उपाधि से जीव और कारण की उपाधि मे ईश्वर आत्मा बनता है, यही वास्तविकता है।

८ अविद्या ही कारण रहित होने मे यहा अजा कही गई। अथवा अज अर्थात् नित्य सिद्ध ब्रह्म की शक्ति होने से भी उसे अजा कहा गया। यद्यपि सत् ब्रह्म स भिन्न होकर वह सर्वथा असत् तुच्छ हो जाती है, एव इस कारण न उसका अलग वर्णन अनुचित है तथापि बुद्धि के द्वारा अविद्या मे से चिद्रूप को हटाकर समझने मात्र के लिये श्रुति ऐसा प्रतिपादन करती है वस्तुगति बताने के लिये नही। जैसे कह दिया जाता है मन बिना लगाये सोचना व्यर्थ है। वस्तुत बिना मन को लगाये सोचना असम्भव है। तात्पर्य हुआ करता है कि तुम्हारी बात ऐसी है मानो किसी जड पदार्थ के द्वारा करी गई है। यह प्रकृति रूप बकरी ही तीन रगो वाली है। अथवा तीन रगो से सभी रगो की उपलक्षणा कर लेनी चाहिये। इसकी विविधता ही जगत् वैचित्र्य के प्रति कारण है। तात्पर्य है कि आत्मा असग उदासीन है। अत सृष्टि वैचित्र्य के प्रति कारण नही बन सकता। यदि अविद्या, जो एक है (एका), अर्थात् सजातीय भेद रहित है, वह भी यदि सचमुच (एका) स्वगत भेद से रहित हो जायेगी तो जगत् वैचित्र्य का किसी अन्य कारण को हेतुत्व प्राप्त हो जायेगा। चूकि वेदो मे शिव और शक्ति के सिवाय किसी अन्य कारण का प्रतिपादन नही है अत. या तो समग्र चराचर को अत्यन्त असत् रूपता का प्राप्ति हो जायेगी अथवा न्यायादिशास्त्रान्तर की अपेक्षा की प्राप्ति होकर वेद

का स्वत प्रमाणत्व खण्डित हो जायेगा। तीर्थान्तरो मे मतभेद के कारण प्रधान को, परमाणु का, कम को, या महाभूतो आदि की विनिगमना प्राप्त न होने मे सृष्टि-वैचित्र्य असगत हो जायेगा। ऐसी कल्पना अत्यन्त न्याय सम्प्रदाय विरुद्ध होने से अर्थापत्ति प्रमाण के द्वारा जैसा कार्य है वैसी ही कारण की कल्पना करके उससे अभिन्न अविद्या को स्वीकरना ही श्रेय पन्था है। अत पृथ्वी जल तेज के जो रूप कार्य मे मिलते हे वही कारण मे भी मान लेने चाहिये। अथवा अनन्त कार्यों के प्रतीत होने से कारण मे भी अनन्तरूपता मान लेनी चाहिये। इतना भेद याद रखना चाहिये कि जीव अज के साथ अनन्त भी है। परन्तु प्रकृति अज होने पर भी अनन्त नही है।

९ बकरी को निमित्त बनाकर प्राप्त होने वाले भोग मे प्रीति रखना ही उसमे प्रसन्न होना है। तात्पय है कि कारण रूप से भी जो अविद्यमान हो उसका जन्म असभव है। अत कारण रूप से विद्यमान का ही कार्य रूप से प्रविभाजन होकर व्यक्त होना ही उत्पन्न होना है। बकरा निमित्त है जिससे बकरी प्रविभक्त होती है। यह निमित्त बनना ही उससे प्रसन्न होना है। जब तक उसमे अनुराग नही होगा तब तक निमित्तत्त्व नही आ सकता। अनुराग के कारण ही मै दुखी, ये मेरे अनुकूल है, इत्यादि ज्ञान उत्पन्न होते रहते हैं। तात्पय है कि जैसे बकरा बकरी से अनुराग होने पर ही उसकी बनाई हुई प्रजाओ मे आत्मीयता का अध्यास करता है, वैसे ही जीव अन्त करण के बनाये हुवे वृत्तियो मे अध्यास करता है। अनादि अज्ञान काम कम के वश मे अपने स्वरूपानन्द को खोया हुआ विज्ञानात्मा अज्ञान के कार्य को अपना स्वरूप समझ लेता है यही उसकी जुषमाणता है।

१० अनु अर्थात् पीछे शेते अर्थात् सोता है। उसके अनुसार ही आचरण करता है अर्थात् उसका सेवन या भजन करता है। उसके अनुसरण करके सोने मे अपने को स्वस्थ और सुखी मानता है यह

भाव है। तात्पर्य है कि स्वय अविकारी चिन्मात्र एव ससार के सभी धर्मो से अस्पृष्ट होने पर भी प्रकृति और उसके विवर्त पाच कोशो मे जल मे चन्द्र की तरह घुसकर के प्रकृति के धर्मो को अपने धर्म रूप से स्वीकार करके प्रकृति और प्राकृत विकारो का अनुसरण करके सोता रहता है। जैसे लोक मे कोई धनी वैश्य किसी कुम्हारिन मे आसक्त होकर उसके साथ रहते रहने अपने आप को भी कुम्हार समझने लगता है वैसे ही यहा समझना चाहिये। वस्तुतस्तु अविद्या निद्रा मे सोया हुवा ही जीव विक्षेप के विकारो से मानो और ज्यादा सो जाता है। अर्थात् दु ख जड रूपी प्रकृति जो स्वय ही अज्ञान रूप होने से सो रही है उससे तादात्म्य रूप मानकर खुद भी जड और दु ख रूप अपने आप को मानने लगता है। इसीलिए स्वय प्रकाश हुआ हुआ भी अपनी आनन्दात्म स्वरूपता को न जानकर प्रकृति की जडता से अपने आपको अज्ञानी और जड मानता है, यही बन्धन है।

११ आचार्य एव वेदान्तो के उपदेश से उत्पन्न ज्ञान के द्वारा जिसने अविद्यान्धकार का नाश कर दिया। चित्त के द्वारा ही भेद की कल्पना होती है। अन मै बद्ध से अतिरिक्त स्वय प्रकाशमान् चिदानन्द मात्र हूँ इस ज्ञान वाला ही यहा अन्य पद का वाच्य है। अथवा प्रकृति और उसके विकारो से उनका साक्षी रूप होने से मै अन्य हूँ, इस विवेक के द्वारा उत्पन्न वैराग्य वाला। अथवा मै ब्रह्म हू, इस प्रकार अपरोक्ष कर लेने के कारण प्रकृति और उसके विकारो मे अभिमान करने वाले अज्ञानियो से भिन्न होने के कारण अन्य। अथवा अज्ञान से कभी भी स्पृष्ट न होने के कारण ईश्वर ही यहा कहा जा रहा है। उपर्युक्त अनुभव वाला अपने को ईश्वर से अभिन्न ही अनुभव करता है। कुछ लोग तो **भुक्तभोगां जहाति** से मुक्त को लेकर अज अन्य से बद्ध और मुक्त दोनो से भिन्न एक तीसरे ईश्वर का प्रतिपादन करते है। परन्तु इस प्रकार का ईश्वर केवल भावना मात्र होने से अविचारित रमणीय ही है।

१२ (भुक्त) भाग लिया है (भोग) भोग जिसके साथ उसको भुक्त भागा कहते हैं। अर्थात् उसके सर्वाङ्गो को जान लिया है। तात्पर्य है सर्व-रूप ब्रह्म के ज्ञान-रूप अग्नि से उसका सारा अग-प्रत्यङ्ग प्रदीप्त करके जला दिया है। विकारी होने से यही ससार भोग को कराने वाली है। इसके बिना नि सग आत्मा भोग कर्ता नही बनता है। जिस प्रकार जल के बूद से भी रहित सूर्य रश्मि मे हिलने डुलने वाले जल का आरोप करके मृग तृष्णा दीखती है उसी प्रकार ससार धर्म से रहित आत्मा मे दु ख जड आदि धर्मों के आरोप के निमित्त से ही अनर्थ प्राप्ति हैं। सम्यक् ज्ञान से इसका नाश ही भोग समाप्ति के प्रति कारण है।

१३ माया रूपी प्रकृति से तात्पर्य है जो सब का मूल कारण है। यहां आवरण और विक्षेप दोनो रूपो का सग्रह है।

१४ चिन्मात्र रूप से बाध कर देता है। ईश्वर तो नित्य अबद्ध होने के कारण नित्य अमुक्त भी है ही, अत वह न भोग भोगता है न छोड़ता ही है।

६

चूं कि ससार दशा मे बद्ध और मुक्त को एक साथ देखा जाता है अत बद्ध और मुक्त की व्यवस्था माया से नही मानी जा सकती, ऐसी शका न हो जाय इसलिये अधिदैवादि रूप मे दो शरीर वाली अविद्या का वर्णन वृक्ष रूप से परिकल्पित करके जीव और ईश्वर को पक्षी रूप से बतलाते हुए अब दूसरा रूपक उपन्यस्त होता है —

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते। तयोः अन्यः पिप्पलं स्वादु अत्ति अनश्नन् अन्यः अभिचाकशीति ॥

द्वा = दो[1]
सयुजा = साथ साथ रहने वाले[2]
सखाया = दोस्त[3]
सुपर्णा = सुन्दर पख वाले[4] (पक्षी)
समान = समान[5]
वृक्ष = वृक्ष पर[6]
परिषस्वजाते = अच्छी तरह से आलिंगन करते हुए[7] रहते हैं।
तयो = उनमे से[8]

अन्य = जाव[9]
पिप्पल = पीपल रूपी फल को[10]
स्वादु = स्वाद से[11]
अत्ति = खाता है,[12]
अनश्नन् = नही खाते हुए,[13]
अन्य = दूसरा (मुक्त या ईश्वर)[14]
अभिचाकशीति = केवल प्रकाशित होना रहता है[15] (देखता रहता है)।

१ **द्वौ सुपर्णौ सयुजौ सखायो के** स्थान मे द्वा इत्यादि छान्दस् है। द्वौ अर्थात् दोनो, विज्ञानात्मा और परमात्मा। तात्पर्य है कि स्वय सारे भेदो से रहित होने पर भी अखण्ड अविद्योपाधि में प्रवेश करके उस उपाधि के द्वारा परिकल्पित बिम्ब प्रतिबिम्ब भाव को प्राप्त हुआ आत्मा बिम्ब रूप से परमात्मा कहा जाता है और प्रतिबिम्ब रूप से विज्ञानात्मा। जिस प्रकार आकाश मे स्थित बिम्बरूप सूर्य चलनादि धर्म से शून्य हुआ हुआ निर्मल प्रकाश रूप से सबका प्रकाशक हुआ हुआ स्थित है, उसी प्रकार परमात्मा ससार दोषो से रहित, अनवच्छिन्न स्वरूप ज्ञान से सब को जानता हुआ सर्वज्ञ रूप से रहता है। जल मे प्रतीत होता हुआ सूर्य का प्रतिबिम्ब जल के हिलने वाली उपाधियो का पक्ष लेकर उनधर्मो को अनुभव करके जलकी मलिनता से मलिन हो जाता है, उसी प्रकार उपाधि रूप अविद्या का पक्षपाती होकर जीव उपाधि के दोषो से एक होकर उनका अनुभव करते हुए पापादि मलो से कलुषित एवं उपाधि की क्रियाओ के फल से भोग वाला होकर विज्ञानात्मा ससारी की तरह आचरण करता है। यही दोनो यहा इष्ट हैं।

२ युक् अर्थात् सम्बन्ध । विज्ञानात्मा और परमात्मा का तादात्म्य ही सम्बन्ध है । सदा ही तादात्म्य सम्बन्ध से रहने से उन्हे सयुजौ कहा । बिम्ब और प्रतिबिम्ब कभी भी अलग अलग नही रह सकते यह स्पष्ट है ।

३ नित्य उपकार्य और उपकारक रूप से विज्ञानात्मा और परमात्मा के रहने से उनकी मित्रता प्रसिद्ध ही है । अथवा समान आख्यान अर्थात् अभिव्यक्ति-कारण होने से वे सखा है । अविद्या ही दोनो की अभिव्यक्ति का कारण है । अथवा चेतन रूप से दोनो की समान आख्या अर्थात् प्रसिद्धि होने से वे सखा है ।

यद्यपि साथ साथ रहने वाले प्राय मित्र भी हुआ करते है अत दोनो विशेषणो मे पुनरुक्ति लगती है, परन्तु कही कही साथ साथ रहने पर भी मित्रता नही होती । जैसे बृहस्पति और शुक्र मे । प्रसिद्ध है कि **राहुरव्यो पर वैरम् गुरुभार्गवयोरपि** । इसी प्रकार कही कही मित्रता होने पर भी साथ साथ रहना नही होता । जसे शिव और विष्णु । इसलिये दोनो ही विशेषण सार्थक है । जीव ईश्वर से प्रसिद्ध है और ईश्वर जीव से । अथवा जीव नित्य पालित है एव ईश्वर पालक ।

४ जीव के दो पख धर्म और अधर्म है या कर्म और उपासना । एव ईश्वर के कर्म फल दातृत्व और अनुग्राहकत्व । कोई कोई ईश्वर के अविद्या और अविद्या के सम्बन्ध रूपी पखो को मानते है । यही पक्षी से समानता यहा सकेतित है । विज्ञानात्मा और परमात्मा दोनो ही चेतन होने से पक्षी कहे गये । तात्पर्य है कि जैसे पक्षी अच्छी प्रकार से उडते हैं जिससे उनके पदचिन्ह कही नही मिलते उसी प्रकार जीव और ईश्वर के पद चिन्ह कही नही मिलते । इसीलिये ससार मे अज्ञेयवाद, नास्तिकवाद, सन्दिग्धवाद, लोकायतवाद अनात्मवाद आदि अनेक वाद प्रचालित होते है । जीव जहा से आया है वहा से

यहा तक के भी पद चिन्ह नही मिलते एव यहा से जाने के बाद भी उसके पदचिन्ह नही मिलेगे। ईश्वर के पदचिन्हा की प्राप्ति के लिये तो अनादि काल से साधना करने पर भी आज तक की अनुपलब्धि प्रत्यक्ष सिद्ध है। यही इनके शोभन पतन या शाभन गमन मे प्रमाण है।

५ एक ही तात्पर्य है कि दोनो विज्ञानात्मा और परमात्मा अविद्या दृष्टि के द्वारा उत्पन्न हुए देह मे विद्यमान रहते है। अथवा अविद्या दृष्टि से अर्जित देह मे रहते है। यह बात दूसरी है कि परमात्मा भुगवाते हुए रहता है एव जीव भोगते हुए। यद्यपि आत्मा अनन्त सुख स्वरूप है परन्तु बिम्ब प्रतिबिम्ब भेद से किञ्चित् ज्ञत्व और सर्वज्ञत्व उपाधि के द्वारा नियम्य और नियन्ता भाव को प्राप्त हो जाता है। यही शुद्धि और अशुद्धि अविद्या के खण्ड भेद से सम्पन्न होती है।

६ ओवृश्चु छेदने धातु से निष्पन्न होने वाला वृक्ष छेदन धर्म वाले शरीर को विषय करता है। अथवा अविद्या और उसका कार्य अन्नमयादि पञ्चकोश रूप आध्यात्मिक, एव आकाशादि पञ्चमहाभूत आधिभौतिक, तथा इन दोनो के अभिमानी आधिदैविक प्रपञ्च ज्ञान से छिन्न होने के कारण वृक्ष कहे जाते है। जिस प्रकार वृक्ष आदि और अन्त मे बीज रूप होने पर भी मध्य मे बहुत सी शाखाओ, बीजो और फलो वाला हो जाता है, उसी प्रकार अनेक विज्ञानात्माओ की शाखा वाला, पुण्य पापादि रूप बहुत से बीज वाला, सुख दु खादि फल वाला होने से भी इसे वृक्ष कहा जाता है।

यहा स्थूल सूक्ष्म कारण तीनो शरीरो को ग्रहण कर लेना चाहिये। अथवा कार्योपाधि एव कारणोपाधि इन दो उपाधियो से अग्रहण एव अन्यथा ग्रहण रूपी उपाधियो का सग्रह है। यह दोनो या तीनो काटने रूपी विनाश अर्थात् बाध के योग्य होने से वृक्ष कहे गये।

७ परि अर्थात् सब तरह से ष्वञ्ज परिष्वङ्गे धातु से निष्पन्न होने के कारण इसका अर्थ लिपटना या आलिङ्गन है। एक के बिना दूसरे की प्रतीति न होना ही यहा पर परिष्वङ्ग है। अर्थात् यह एक दूसरे के आश्रित हैं। अथवा नियम्यत्व उपाधि रूप से एव नियामकत्व उपाधि रूप से इस शरीर रूपी वृक्ष का परिग्रह करके रहने के कारण इन्हे 'लिपटा हुआ कहा गया। सर्वथा तात्पर्य है कि न केवल एक ही शरीर रूपी वृक्ष पर यह रहते हैं वरन् प्रतिक्षण एक दूसरे से अभिन्न हैं। विवेक दृष्टि से कहा जा सकता है कि प्रत्येक अन्त करण की वृत्ति मे प्रतिबिम्ब रूप से जीव को ज्ञान होता है, एव उस ज्ञान के साक्षी रूप से ईश्वर को ज्ञान होता है। चू कि बिम्बरूप साक्षी के प्रतिफलित हुए बिना अन्त करण मे जीव ज्ञान असम्भव है, एव बिना उस वृत्ति-विशिष्ट ज्ञान के साक्षी-ज्ञान असम्भव है अत सर्वथा दोनो परस्पर लिपटे हुए हैं।

८ कार्य और कारण उपाधि वाले विज्ञानात्मा और परमात्मा मे से।

९ अविद्या के कार्य अहकार के द्वारा लिङ्ग शरीर मे अभिमान करने वाला। अहकार के कारण ही अविद्या और उसके सम्बन्ध का पक्षपात करके धर्म और अधर्म के फलभोक्ता रूप से अपने को मानने वाला होने से धर्म और अधर्म रुपी पक्ष वाला अविद्या, काम, वासना आदि का आश्रय उपाधि विशिष्ट विज्ञानात्मा ही यहा जीव पद वाच्य है।

१० सुख दु ख लक्षण वाला कर्म-फल जो धर्म और अधर्म से उत्पन्न होता है। कृष्ण यजुर्वेद की काठकोपनिषद् मे ससार वृक्ष को पीपल की उपमा दी गई है। उसी से अतिदेश करके शरीर रुपी वृक्ष को यहा पीपल मानकर फल का नाम पीपल कहा गया है।

११ विविध विषय सेवन की वासना को निमित्त बनाकर विचित्र विषय का आस्वादन रस सहित करना ही उसमे स्वादुता है। उपभु-

जयमान होकर आसक्ति को उत्पन्न करना एव आसक्ति से पुन उपभोग की तरफ प्रवृत्त होना यही स्वादुता का लक्षण है। इस चक्र के द्वारा कभी भी वैराग्य की उत्पत्ति नही हो पाती।

१२ अविवेक के द्वारा ही उपभोग करता है, विवेक से नही। तात्पय है कि विचित्र वेदनाओ का अन्त.करण की वृत्ति मे जो अनुभव है वह वृत्तियो से अपने को भिन्न जानने से निवृत्त हो जाता है। सुख दु खाकार वृत्ति से अपने को सुखी दु खी मानना वैसा ही है जैसे जल की तरगो से चञ्चल होने पर सूर्य का अपने को चञ्चल मानना।

१३ बिम्ब स्थानीय ईश्वर कर्म-फल का भोग न करते हुए स्वय अविकृत रहते हुए ही अभि अर्थात् सब तरफ देखते हुए अर्थात् सबको सत्ता चित्ता देते हुए भी सर्व-ससार घर्म शून्य हुआ हुआ स्वय-प्रकाश अखण्ड ज्ञप्ति मात्र रूप से प्रकाशित होता है। जिस प्रकार आकाश में स्थित बिम्ब रूप सूर्य जल धर्मों से रहित रहते हुए ही अपने प्रकाश से जल और उसकी तरङ्ग आदियो को प्रकाशित करते हुए रहता है उसी प्रकार ईश्वर भी अन्त करण की वृत्तियो को प्रकाशित करते हुए भी भोग न करते हुए ही बना रहता है। तात्पर्य है कि अहन्ता, ममता, अभिमान से रहित होने से ही नित्य शुद्ध बुद्ध मुक्त स्वभाव आत्मा की स्थिति मुक्त या ईश्वर मे होती है।

१४ धम अधम पक्षपातता से रहित। अर्थात् कर्म-फल-भोक्तृत्व के प्रति निरपेक्ष। कार्योपाधिक अपने ही प्रतिबिम्ब रूप जीव से यहा भेद इष्ट है। यद्यपि वास्तविक भेद नही है परन्तु व्यवहार निर्वाहार्थ कल्पित भेद का प्रतिपादन है।

१५ अच्छी तरह से प्रकाश करता है। परन्तु भोग नही करता है। काशृ दीप्तौ धातु से निष्पन्न होने से सवत्र दीप्तिमान् है, यह भाव है। तात्पर्य है कि साक्षी रूप से सभी प्रमाता के ज्ञानो को प्रकाशित करते हुए भी उनसे अस्पृष्ट रहता है।

७

विरुद्ध धर्म वाले होने से इनमे सखित्व कैसे होगा ? ऐसी शका न हो जाय इसलिये विरुद्ध धर्मता अज्ञान निमित्तक है एव ज्ञान होने पर विरुद्ध धर्मता की निवृत्ति हो जाती है इसका प्रतिपादन करते हुए जीव और परमात्मा के स्वरूप का अनुवाद करके जीव की परमात्मा के साथ एकता के ज्ञान से मोक्ष को बतलाते हे —

समाने वृक्षे पुरुषः निमग्नः अनीशया शोचति मुह्यमानः ।
जुष्ट यदा पश्यति अन्यं ईशं अस्य महिमानं इति वीतशोकः ॥

समाने=एक ही[1]
वृक्षे=वृक्ष पर
अनीशया=सामर्थ्य रहितता से
निमग्न=फसा हुआ
पुरुष=जीव
मुह्यमान=मोह मे पडा हुआ[२]
शोचति=शोक करता है,[४]
यदा=जब[५]
अन्य=दूसरे (मित्र को)[६]
ईशं=ईश्वर को[७]
जुष्ट=भजता है[८] (तब)
अस्य=इसकी
महिमान=महिमा को[९]
पश्यति=देखता है (साक्षात् करना है),
इति=इतने मात्र से ही[१०]
वीतशोकः=शोक रहित[११] (हो जाता है) ।

१ विज्ञानात्मा और परमात्मा दोनो के लिये एक ही होने से उसे समान कहा गया । पुण्य पाप फल भोग का आयतन शरीर एक के लिये भोग का आश्रय है और दूसरे के लिये भुगवाने का ।

२ अविद्या काम कर्म एव उसके फल और रागादि भारी भारो से आक्रान्त हुआ हुआ भोक्ता, एव पूर्ण होकर पुरी मे शयन करने वाला परमात्मा । इनमे से जीव ही अनीश होने से यहा ग्राह्य है । तात्पर्य है कि विज्ञानात्मा और परमात्मा दोनो पुरुष रूप होने पर भी

विज्ञानात्मा परतंत्र होने से अनीश है एव परमात्मा स्वतंत्र होने से ईश। स्वरूप से यद्यपि विज्ञानात्मा भी स्वतंत्र ही है पर अविद्या से वह अपने को कर्ता, भोक्ता, सुखी, दु खी, ससारी इत्यादि भावो से अस्वतंत्र मान लेता है। जिस प्रकार जल के चलने या मैले होने पर चन्द्र प्रतिबिम्ब मैला या चलने वाला बन जाता है क्योंकि उसी मे निमग्न अर्थात् डूबा हुआ है, उसी प्रकार अविद्या के कार्य अन्नमयादि कोश और उनके धर्मों मे अहन्ता और ममता के अभिमान से डूबा हुआ अपने अद्वितीय ईश्वर निज रूप को तिरस्कृत कर देता है। इस प्रकार परमार्थत सर्व ससार धर्मों से अस्पृष्ट रहते हुए ही ईश्वर ही अविद्या से अपने ईश्वर भाव को ढक कर के अपने को जीव मान लेता है। उपाधि के धर्मो से तादात्म्य कर लेना ही उसमे निमग्न हो जाना है। जिस प्रकार जल मे पत्थर डूब जाने पर वह पत्थर देखने मे नही आता उसी प्रकार आत्मा उपाधि मे डूब जाने पर देखने मे नही आता। पुन जल को निर्मल और अचल कर लेने से जल मे पडा हुआ पत्थर दीख जाता है, उसी प्रकार उपाधि को निर्मल और अचल कर लेने से पुरुष तत्त्व का साक्षात्कार हो जाता है। कर्ता-भोक्ता के अध्यास से ही अपने स्वतंत्र आनन्द रूप का तिरस्कार होकर मैं सुखी, मैं दुःखी ऐसी प्रतीति हो जाती है। अथवा ऐसे समझ लें कि जैसे तुम्बी या उद्तारक (lifebuoy) के ऊपर अधिक वजन रखने से वह समुद्र जल मे डूबे हुवे की तरह हो जाता है परन्तु फिर भी ऊपर आने के लिये अपना दबाव ऊपर की तरफ फेंकना ही रहता है एव वजन के कम होते ही तुरन्त ऊपर आ जाता है। इसी प्रकार जीव देहात्म भाव को प्राप्त कर मै यह देह ही हू एव अमुक का पुत्र दुबला, गोरा, विद्यादिगुण वाला, अमुक देश का, अमुक काल का, आदि ही हू, एव इन सब उपाधियों से भिन्न कुछ नही हू, इन भावो की अधिकता से आज यह करूंगा, कल उसे करना पडेगा, आज पुत्र

की रक्षा करूंगा, कल भाई को नौकरी दिलाऊंगा आदि कर्तव्य भारों से आक्रान्त होकर यद्यपि बीच बीच में इन सबसे छूट कर स्वतन्त्र हो आनन्द की प्रेरणा अन्दर से उठती रहती है परन्तु उसे पूर्ण नहीं कर पाता। अन्त मे मर जाता है, एवं इन कर्तव्य के संस्कारो से पुनः उत्पन्न होकर के वैसे ही अन्य सम्बन्धी और बान्धवो के साथ सम्बन्ध वाला पैदा हो जाता है। उसमे ईश्वर भाव स्फुट नही हो पाता एवं मैं किसी चीज की सामर्थ्य से रहित हूँ, मेरा बेटा मर गया, मेरी पत्नी भाग गई, मेरा भाई मेरे से विरुद्ध हो गया मेरा जीना ही निरर्थक है, इस प्रकार के दीन भावो को प्राप्त होकर अपने आप को अनीश्वर समझता है। यही पुरुष का व्यावहारिक रूप है।

३ अनेक अनर्थो से अविवेक के द्वारा विचित्र भावो को अनादि अविद्या की वासना के विलासो से अनेक चिन्ताओ का प्रवाह उठाकर, फिर उनसे पार न पाकर, विपरीत ज्ञान, मिथ्या ज्ञान, अज्ञान, या स्तब्ध भावो को प्राप्त होता रहता है। विषयो मे रक्ति ही इसका मूल कारण है।

४ ससार रूपी शोक का अनुभव करता है अर्थात् शरीर की स्वस्थता, मन की बुद्धि या स्मृति, धन, घर, खेत, पत्नी, पुत्रादि के बिना कैसे रहूँगा और कैसे काम चलेगा इत्यादि रूप से सन्ताप करके दुःख भोगता रहता है। एवं कर्म फलो के अनुसार प्रेत, पशु, पक्षी, देव, गन्धर्व, ब्राह्मण, म्लेच्छ आदि भिन्न भिन्न योनियो मे गिरता रहता है।

५ अनेक जन्मो के शुद्ध धर्मों के एकत्रित हो जाने पर किसी परम कारुणिक श्री परमहंस के द्वारा उपदिष्ट प्रकार से सत्य, तप, दम, शम, अप्रमाद, वेदाध्ययन, उपरति, तितिक्षा, श्रद्धा, समाधान से युक्त होकर उपनिषद् विचार मे प्रवृत्त होता है। तब अपने स्वतत्र आनन्दात्मक प्रकाश को समझकर परितुष्ट हुआ हुआ ब्रह्म रूप बन जाता है।

६ अविद्या से कल्पित अन्य भाव समझना चाहिये। वह ईश्वर हिरण्यगर्भादियो के द्वारा सेवित है। अत उसे जुष्टम् कहा गया। अथवा सनकादि योगियो के द्वारा ज्ञात होने से जुष्ट कहा गया। इस प्रकार कुछ लोगो ने जुष्ट को अन्य का विशेषण माना है। वस्तुतस्तु प्रकृति एव प्राकृत पदार्थो से अन्य होने के कारण ही उसे यहा अन्य कहा है।

७ अविद्या और उसके कार्य तथा सम्बन्धो का नियन्त्रण करने वाला, अविद्या उपाधि वाले विज्ञानात्मा का अपना ही आत्मा। वृक्ष-रूपी उपाधि मे रहते हुए भी उपाधि विशिष्ट न होते हुए असंसारी, भूख-प्यासादि से असंस्पृष्ट सर्वान्तर परमात्मा।

८ अखण्ड सुख रूप होने से उसे अपना प्रियतम समझना ही वास्तविक भजना है। जैसे सेवा के द्वारा जिसकी सेवा की जाती है उसके दु ख पीडादि दूर होते है, उसी प्रकार मैं ब्रह्म हू इस भावना से द्वैत भावना द्वारा उत्पन्न खण्ड रूपता एव परोक्षरूपता रूपी पीडा ईश्वर से हट जाती है। यह भजन श्रवण मनन उभय रूप है। इस सेवा से ईश्वर प्रसन्न होकर आनन्दात्म रूप मे स्थिर कर देता है।

९ मै ब्रह्म हू, इस प्रकार सब मे एक जैसा, सब प्राणियो के अन्तर मे स्थित, अविद्या जनित उपाधि परिच्छिन्न भाव से रहित ही इसकी महिमा है। इसके द्वारा जगत् रूप भी अविद्या के द्वारा मेरी ही महिमा है, इस प्रकार का ज्ञान हो जाता है। अथवा स्वय प्रकाशमान आनन्दात्मा का आविर्भाव होना ही महिमा है। अथवा मुझ प्रत्यगात्मा की महिमा अनवच्छिन्न स्वरूप ईश्वर ही है। इस प्रकार की महिमा को जानता है।

१० पूर्व मे यदा आने से यहा इति से तदा का परामर्श है। अथवा इति अर्थात् एति, गच्छति, महिमा को जाता है। अथवा इति एवं पश्यन् सर्वज्ञ, इस प्रकार अपने को सर्व व्यापक समझ लेता है।

११ श्रवण मनन के अभ्यास से ईश्वर के साथ एकता के अपरोक्ष के द्वारा ससार-कारण अविद्या के ध्वस हो जाने पर उसके कार्य शोक मोहादि से रहित होकर भवसागर से पार हुवा कृतकृत्य हो जाता है।

८

सारे ही वेद इस एकता के ज्ञान मे ही गतार्थ है। यदि इस एकता का ज्ञान कराने मे कर्म, उपासना, श्रवण, यजन, देवता, आदि उपाय न होवे तो ये सभी व्यर्थ हो जायेगे। अत वे सभी क्रम से जीव के अविद्या से छिपे हुए ईश्वरत्व भाव को ही उद्घाटित करते हुए सफल होते है। किञ्च ब्रह्म रूप ईश्वर ही वेद है। वह वेद मूल रूप से ऋचाये है। ऋचाओ को व्याख्या ही यजु है। ऋचाओ का गान ही साम है। विशिष्ट ऋचाओ को ही अथर्व कहते है। इस प्रकार वेद ही अगी है। एव ऋक् शब्द का अर्थ ब्रह्म हो होने मे समग्र वेद ब्रह्म रूप ही है। अत न केवल उपाय रूप से वरन् उपेय रूप से भी वेद की सार्थकता है। इम प्रकार समग्र विद्या कर्मादि का अन्तिम लक्ष्य जीवेश्वर ऐक्य ज्ञान ही है —

ऋचः अक्षरे परमे व्योमन् यस्मिन् देवाः अधि विश्वे निषेदुः। यः तं न वेद किं ऋचा करिष्यति ये इत् तत् विदुः ते इमे समासते॥

यस्मिन् = जिस[1]
परमे = पर[2]
व्योमन् = ब्रह्म रूपी[3]
ऋच = ऋचाओ के[4]
अक्षरे = अक्षरो मे[5]
विश्वे = सारे
देवा = देवता[6]
अधि = अच्छी प्रकार से
निषेदु = अवस्थित हुए है,[7]
त = उसको[8]
य = जो[9]
न = नही
वेद = जानता है
ऋचा = (वह) ऋचाओ से[10]
किं = क्या[11]
करिष्यति = करेगा ?

ये = जो[12]	ते = वे
इत्[13] = इस प्रकार	इमे = (जीवन्मुक्त) ये[14]
तत् = उस ब्रह्म को	समासते = बैठे हुए है[15]।
विदु = जानते है (अपरोक्ष रूपसे)	

१ ऋचाओ का अधिष्ठान परब्रह्म यहा परामृष्ट है। यहा ऋचा से सारे ही वेद उपलक्षित है।

२ देश, काल, वस्तु सब तरह से उत्कृष्ट। तात्पर्य है कि आगे बताये जाने वाले अक्षर ब्रह्म का अधिष्ठान होने से, एव रूप सृष्टि और नाम सृष्टि दोनो का अधिष्ठान होने से वह सर्वाधिक उत्कृष्ट है।

३ यद्यपि व्योम का अर्थ आकाश होता है परन्तु श्रुतियो मे प्रायश व्योम शब्द से ब्रह्म का ही ग्रहण किया जाता है। **आकाश-स्तल्लिगात्** इत्यादि ब्रह्म सूत्रो मे इसका स्पष्ट निर्देश है। वैसे आकाश मे बादलादि के बरसने एव धूलादि के द्वारा मलिन होने पर भी असगता का बना रहना एव सबके अन्दर व्यापक रहते हुए भी अखण्ड बना रहना, आदि की ब्रह्म से समान धर्मता होने से लाक्षणिक प्रयोगता समझनी चाहिये। सप्तमी मे व्योमन् का प्रयोग तो वैदिक है।

४ ऋचाओ से पाद बद्ध वर्ण लिये जाते है। यहा सब वेद उपलक्षित है। यद्यपि **नित्यात्मना एकत्व ब्रुवन्ति ऋगादीनां** कह कर तैत्तिरीय भाष्य मे स्पष्ट ही सर्वज्ञ शकर ने आत्मा एव वेदो की एकता का प्रतिपादन किया है तथापि यह स्पष्ट है कि प्रसिद्ध वेदो की शब्द राशि केवल इस आत्म तत्त्व की भिन्न भिन्न शक्तियो को व्यक्त करने के कारण ही वेद कही जाती है। यदि यहा ऋच से यह शब्द राशि इष्ट हो तो भी जिस परम व्योम रूपी अक्षर मे **ऋच** और देवा **निषेदु**. ऐसा अन्वय बन ही जायेगा, फिर भी ऋच का मुख्यार्थ लेने मे अधिक स्वारस्य प्रतीत होता है, क्योकि ईश्वर की प्रत्यक्ष मूर्ति वेद

की शब्द राशि ही है। एव जिस प्रकार मूर्ति से मूर्तिमान् का ज्ञान होता है उसी प्रकार वेद से ईश्वर का ज्ञान होता है। व्यवहार मे मूर्तिमान् और मूर्ति को अथवा देवदत्त और उसके शरीर को जैसे एक मानकर मूर्ति या शरीर की पूजा से मूर्तिमान् या देवदत्त की पूजा मान ली जाती है ठीक उसी प्रकार वेद की पूजा से ईश्वर की पूजा हो जाती है। शम दमादि से युक्त होकर गुरु मुख से वेद का श्रवण और उसके अर्थ का मनन ही उसकी पूजा है। आजकल कुछ लोग वेद की कल्पित पत्थर की मूर्ति एव कुछ दूसरे लोग वेद की पुस्तक को बढिया सुनहरे जिल्द मे मढा कर घटे आरती से पूजा करते हैं। यह सब वेद की पूजा नही वरन् मखौल है।

५ तैत्तिरीय उपनिषद् की शिक्षावल्ली के द्वारा यह प्रतिपादित किया गया है कि अर्थ की प्रधानता स्वीकार करने पर भी अक्षर ग्रहण मे प्रमाद अनुचित है। बहुत बार वेद के तात्पर्य को प्रधान मानकर लोग मत्र सहिता को गौण मान लेते है। परन्तु बिना अक्षर ग्रहण के तात्पर्य-ज्ञान असम्भव होता है एव मिथ्याज्ञान जनक भी हो जाता है। अत वेदाक्षरो को पूर्ण सयम के साथ सुरक्षित रखने की परम्परा के विना उसका अर्थज्ञान वैसा ही है जैसा किसी की आत्मा को सुख देने के नाम पर शरीर की उपेक्षा करना।

जिस पक्ष मे अक्षरे को परमे के साथ अन्वित किया गया है वहा तो जिसका क्षरण नही होता एव जो सर्वव्यापक है उस नित्य ऋचाओ से प्रतिपाद्य अक्षर का ही ग्रहण हैं। केवल अक्षरे कहने से अव्याकृत की प्राप्ति हो सकती थी उसको हटाने के लिये व्योमन् पद का प्रयोग है।

६ वेदो मे न केवल समग्र ज्ञान को देने वाली शब्द राशि की अधिष्ठानता है वरन् अर्थ प्रपञ्च की भी है। यहा विष्णु, अग्नि, इन्द्र, आदि देवता, अथवा चक्षुरादि इन्द्रिया, अथवा पञ्चमहाभूत रूप विराट् एव सूक्ष्म प्रपञ्चरूप हिरण्यगर्भ आदि सभी का सग्रह है।

७ जिस ब्रह्म रूपी वेद मे ये सभी आश्रित हुए हुए रहते है, अथवा उस परमेश्वर के स्वामित्व मे अवस्थित हुए हुए देव गण रहते हैं। अथवा अधिकता से समष्टि रूप होने के कारण सब प्रकार से अवस्थित रहते है, अर्थात् व्यवहार जगत् के अधिपति बने हुए रहते है क्योकि इन्ही के द्वारा जगत् का सञ्चालन परमेश्वर करते है।

८ उस वेदत्रय वेद्य, शब्द और अर्थ के अधिष्ठान रूप, चिन्मात्र तत्त्व को आत्म रूप से जानना ही यहा सकेतित है।

९ ऋगादि के स्वाध्याय एव तत्प्रतिपादित कर्म, उपासना, शमादि, श्रवण, मनन आदि का अनुष्ठान करके शुद्ध हुआ साधक।

१० परमात्मा से दूर करके मीमासकादिको की तरह केवल वेदाध्ययन, कर्म और उपासना से अथवा विना अर्थ जाने केवल वेद का अध्यापन कराने से। तात्पर्य है कि जीवेश्वर की एकता के ज्ञान के विना शब्द-ब्रह्म का ज्ञान निष्फल है।

११ यहा प्रश्नार्थक न होकर आक्षेपार्थक है। अर्थात् पाठ मात्र सार होने के कारण प्रयोजन की असम्भवता है।

१२ जीव-शिव की एकता करने वालो का कृतार्थत्व बताते है।

१३ **इत् इत्थ वा छन्दार्थे निरर्थको वा।**

१४ **अह ब्रह्म** इस प्रकार का अपरोक्ष करने वाले यहा उपस्थित पदार्थ के लिये प्रयुक्त होने वाले इम पद के द्वारा सकेतित है। अर्थात् जिन ब्रह्मविद्वरिष्ठो का शरीर हमको प्रत्यक्ष सिद्ध होवे उनका सकेत है।

१५ कृतार्थ होकर सं अर्थात् भली प्रकार से **आसते** आनन्द स्वरूप से बैठे हुए है। यद्यपि स्वरूप से वे सर्वव्यापी हैं तथापि यावत् प्रारब्ध लोको का उपकार करते हुए शरीर मे आसन रखते है। भगवान् गौडपाद ने भी ज्ञानी के चल और अचल दो बैठने की जगहे बताई है। अथवा स्वरूप से निरतिशय आनन्दभाव मे जो

स्थिति है उसको ही सम्यक् आसन कहा गया है। अथवा जो आज (इमे) जीवन्मुक्त है वे ही फिर (समासते) विदेह मुक्त होकर भली प्रकार ब्रह्म मे स्थित हो जायेंगे। यहा भली प्रकार से तात्पर्य लेशाविद्या की निवृत्ति से है।

९

शब्द और अर्थ का अधिष्ठान होने पर भी जगत् का कारण प्रकृति या परमाणु अथवा और कोई हो ऐसी सभावना होने पर कहते है —

छन्दांसि यज्ञाः क्रतवः व्रतानि भूतम् भव्यं यत् च वेदाः वदन्ति। अस्मान् मायी सृजते विश्वं एतत् तस्मिन् च अन्यः मायया सन्निरुद्धः॥

मायी=मायावान् महेश्वर[1]
छन्दांसि=गायत्र्यादि छन्द,[2]
यज्ञा=यज्ञ,[3]
क्रतव=क्रतु,[4]
व्रतानि=व्रत,[5]
भूत=अतीत,
भव्य=भविष्य,
च=और
यत्=जो (कुछ और भी)
वेदा=वेद
वदन्ति=बताते है[6],
अस्मान्[7]=(तथा) हमको[8],
एतत्=इस
विश्वं=विश्व को
सृजते=प्रकट करता है।
च=और
तस्मिन्=उस जगत् जाल मे[9]
अन्य=दूसरा (जीव)[10]
मायया=माया से
सन्निरुद्ध=भली प्रकार बन्धनों से जकडा हुआ है।

१ कूटस्थ होने पर भी माया की उपाधि से उसमे सर्व स्रष्टृत्व उपपन्न होने से उसे मायी कहा गया। यदि ऐसा न किया जाता तो साक्षात् ईश्वर मे ही जगत्-कारणता आ जाती। अज्ञात ब्रह्म ही मायी पद का वाच्य है। ज्ञात होने पर वह मायी नही कहलायेगा।

२ नियत अक्षरो से ढाकने के कारण ही ये छन्द कहे जाते है। इनसे सभी वेदो की उपलक्षणा कर लेनी चाहिये।

३ ज्योतिष्टोमादि सभी यज्ञो का सग्रह अथवा यूप सम्बन्ध से रहित विहित क्रियाओ को यज्ञ एव यूप सम्बन्ध वालो को क्रतु माना जा सकता है। वस्तुतस्तु पाक सस्थ असोमक सपशवक यज्ञ कहे जाते हैं, एव तद् भिन्न ससोमक अपशवक क्रतु।

४ सभी यज्ञो को पूर्व पद से लेने पर क्रतु अर्थात् सकल्प से उपासनाओ का सग्रह करना होगा। अथवा यज्ञ सम्बन्धी क्रियाओ को करने मे जो मानसिक सकल्प करना पडता है वह क्रतु पद वाच्य है।

५ अन्न की निन्दा न करना, सत्य बोलना, ब्रह्मचर्य, कामनात्याग आदि वैदिक व्रतो का सग्रह है। अथवा किसी किसी यज्ञ मे जो विशिष्ट नियम बताये गये है, जैसे भोजन काल को छोडकर पानी न पीना, केवल दूध ही पीना, आदि आदि व्रत।

६ वेद मे प्रतिपादित पशु, दही, घृत, आदि पदार्थ। तात्पर्य हैं कि उपर्युक्त चीजे भी वेद प्रतिपादित है जो मुख्य होने से गिना दी गई है। परन्तु जो नही गिनाई गई है वे सब भी यहा सग्रह कर लेनी चाहिये। अतीत और भविष्य भी वेद प्रतिपाद्य इसलिये है कि यज्ञादि के द्वारा ही यह प्रपञ्च स्थित रहता है। यहा विहित और निषिद्ध दोनो कर्मों का सग्रह है।

७. **अस्मात् मा यीत्यपिच्छेदः। प्रकृतात् ब्रह्मण इत्यर्थ।**

८. हम यजमान रूप जीवो को। अथवा श्वेताश्वतर महर्षि का वचन होने से वेद सम्प्रदाय-प्रवर्तक ऋषियो को।

९. समष्टि-व्यष्टि कार्य-कारण रूप विश्व जाल मे। तात्पर्य है कि ईश्वर ही इस सृष्टि को बनाकर उसमे बधा हुवा अन्यवत् प्रतीत होता है। ऐसा वेद बताते है यह पूर्व से अन्वय कर लेना चाहिये। अथवा अविद्या से अन्य हुवा हुवा उसमे जकड जाता है।

१० अविद्या के वश होकर अपने को अन्य मानने से ससार समुद्र मे घूमता है। आत्मा और ईश्वर के तादात्म्य-ज्ञान से रहित होना ही अन्य बन जाना है। पूर्व मन्त्र से धर्म और अधर्म रूपी पक्ष वाला विज्ञानात्मा यहा इष्ट है।

१०

माया और मायावी को बताते है —

मायां तु प्रकृतिं विद्यात् मायिनं तु महेश्वरम्।
अस्य अवयवभूतैः तु व्याप्तं सर्वं इदं जगत्॥

मायां = माया को	**अस्य**[३] = इसके[४]
तु = ही	**तु** = ही
प्रकृतिं = प्रकृति,[१]	**अवयवभूतै** = अग रूपो के द्वारा[४]
मायिन = मायावीको	**इद** = यह
तु = ही	**सर्वं** = सारा
महेश्वर = महेश्वर[२]	**जगत्** = जगत्
विद्यात् = जानो,	**व्याप्तम्** = भरा है।

१ जगत् के उपादान कारण रूप से जिस किसी भी नाम से वेदान्तो मे प्रतिपादित किया जाय वह वस्तुत माया ही है। अथवा प्रकृति स्वभाव को कहते है। माया ही ईश्वर का स्वभाव है। माया अर्थात् जो न हो उस रूप से प्रतीत होना। विश्व मे कोई भी पदार्थ अपने शुद्ध स्वरूप से प्रतीत नही होता। सोना मिट्टी आदि सभी किसी न किसी आकार मे ही मिलते है। इससे पता चलता है कि इसका मूल कारण भी इसी प्रकार का होगा। एक होते हुए अनेक, चेतन होते हुए जड, द्रष्टा होते हुए दृश्य आदि सभी उसके स्वभाव प्रत्यक्ष सिद्ध हैं।

२ जिन किसी भी शब्दो से सृष्टिकर्ता, नियामक, सहारक, अनुग्राहक का वर्णन वेदा मे मिलता है उन सब नामो से महेश्वर का ही प्रतिपादन है। अद्वितीय आनन्दघन रूपी देह वाला स्वरूप और स्फुरण देकर माया का अधिष्ठान रूप से उपकारक है। अग्नि, इन्द्र, वरुण, विष्णु, ब्रह्मा आदि ईश्वरो की अपेक्षा भी महान् होने से इसे महेश्वर कहा गया। यही इन देवताओ का एव समग्र विश्व प्रपञ्च का एक मात्र प्रेरयिता है।

३ तस्येति वा पाठ।

४ माया के वश से ही परमेश्वर मे प्रत्यक्षता को प्रतीति होती है।

५ जिस प्रकार महाकाश का घटाकाश अग है अथवा सूर्य का दर्पणस्थ प्रतिबिम्ब अग है उसी प्रकार यहा समझना चाहिये। हाथ पैर आदि की तरह अशत्व को कल्पना तो सर्वथा असगत है। इस प्रकार के जीवो से यह सारा जगत् व्याप्त है यह तो प्रत्यक्ष सिद्ध ही है। किञ्च रस्सी मे सर्प कल्पित होने से सर्प को भी रस्सी का अवयव कहा जा सकता है। इस प्रकार द्रष्टा और दृश्य उभयविध जगत् मे महेश्वर की व्याप्ति अध्यास के द्वारा बन जाती है। अथवा अखण्ड ब्रह्म के एक देश मात्र मे (इद) विविध ज्ञानो से जाने वाला चेतन अचेतन रूप जगत् विद्यमान है। यहा अवयवत्व को गौण कल्पना समझना चाहिये। तात्पर्य है कि एक देश का कार्य रूप से परिणाम होने पर भी दूसरे देश मे कारण रूप से महेश्वर अधिष्ठाता ही बना रहता है। यह देश भेद कल्पना भी माया से होने के कारण उसकी अखण्डता को निवृत्त नही करती। इस प्रकार यहा विवर्तवाद से ही सगति करनी चाहिये परिणामवाद से नही। सारे प्रपञ्च को माया का विवर्त बता कर सम्यक् दर्शन के द्वारा बाध्य बताने का यही तात्पर्य है कि मुमुक्षु को एकात्म ज्ञान के लिये ही यत्न करना चाहिये।

११

जगत् के सहस्रो कारण प्रत्यक्ष से भी सिद्ध है एव अन्य तीर्थकरो ने भी सिद्ध किये है। फिर एक मात्र मायी को ही कारण रूप से जानने का क्या लाभ ? इस शका को हटाते है —

यः योनिम् योनिम् अधितिष्ठति एकः यस्मिन् इदं सम् च वि च एति सर्वम्। तं ईशानं वरदं देवं ईड्यं निचाय्य इमां शान्तिं अत्यन्तम् एति ॥

य =जो[१]
एक =एक महेश्वर
योनि=कारण[२]
योनि=कारण मे
अधितिष्ठति=अधिष्ठित रहता है,
च=और
यस्मिन्=जिसमे[३]
इद=यह[४]
सर्व=सारा
सम् (एति)=सहृत होता है[५]
च=और
वि=विविध भाव को
एति=प्राप्त होता है,

त=उस[६]
वरद=वर देने वाले[७]
ईड्य=स्तुति के योग्य[८]
ईशान=नियामक
देवं=महादेव को
निचाय्य=अपरोक्ष रूप मे देख कर[९]
इमां=जीवन्मुक्तो मे प्रत्यक्ष रूप से देखी जाने वाली[१०]
शान्तिम्=शान्ति को
अत्यन्तम्=पूरी तरह से[११]
एति=पा लेता है।

१ माया विनिर्मुक्त आनन्दैकघन।

२ वीप्सा से प्रत्येक कारण का भाव है। तात्पर्य है कि वह न केवल महा सर्ग मे मूल प्रकृति का भी अधिष्ठाता है वरन् अवान्तर सर्गो मे आकाश वायु आदि के द्वारा भी वही सृष्टि करता है। अत. उसके सिवाय और किसी मे भी वास्तविक कारणता नही है। विवेक दृष्टि से तो कुम्हार इत्यादि मे भी उस कार्य करण उपाधि के द्वारा वास्तविक कारणता तो चेतन आत्मा की ही है। इसीलिये यद्यपि

सामान्य दृष्टि से आकाश से वायु उत्पन्न हुआ आदि श्रुतिया है परन्तु वहा भी श्रौत मत तो यही है कि आकाश उपाधिवाला होकर वायु को, एव वायु उपाधि वाला होकर अग्नि को बनाता है। काल सवत्सर, प्रजापनि, नारायण आदि जो कारण वेदो मे यत्र तत्र आये है वे सब भी इसी न्याय से महेश्वर की ही कारणता का प्रतिपादन करते है। प्रथमाध्याय के तृतीय मत्र मे इसे बताया जा चुका है।

अथवा प्रथम योनि से कारण एव द्वितीय योनि से कार्य-रूप उपाधि का सग्रह किया जा सकता है, अर्थात् कारण और कार्य दोनो उपाधियो मे स्थित हुवा वही वास्तविक कारण है। अथवा इन्द्रादि कारणो को भी ज्ञान शक्ति और क्रिया शक्ति देने वाला होने के कारण वही वास्तविक कारण है। किसी किसी ने तो **य अयोनि योनि,** ऐसा पदच्छेद करके योनि रहित अर्थात् कारण रहित योनि अर्थात् मूल प्रकृति को ग्रहण किया है। अथवा योनि अर्थात् स्थान। अन्तर्यामी रूप से अध्यात्म अधिदैव, अधिभूत आदि स्थानो मे अधिष्ठित होकर उनका नियमन करता है। अथवा देव, पशु, मनुष्य, स्थावर, जगम, आदि योनियो मे अधिष्ठित होते हुए भी हिरण्यगर्भादि योनियो मे एक अद्वितीय रूप से अधिष्ठित बना ही रहता हैं।

३ अधिष्ठान कारण के प्रतिपादन से यद्यपि वह भेद शून्य सर्व कारण कारण सिद्ध हो गया तथापि यह निमित्त-कारणवाद से भी सगत हो सकता है। अत अभिन्न निमित्तोपादन कारणता के प्रति-पादन के लिये श्रुति प्रवृत्त होती है। जगत् कारण रूपी अधिष्ठान में ही उसका सहार बताने से उपादान कारणता सिद्ध हो जाती है।

४ विविध प्रतीतियो से जाना जाने वाला।

५ सम् और वि दोनो उपसर्गो के साथ एति क्रिया पद का सम्बन्ध हैं। आनन्दघन वपु मे उपसहार काल मे यह सारा जगत् **सम् एति सगच्छते ऐक्यं याति,** लीन हो जाता है। सुषुप्ति में आनन्द रूप से एकता अनुभव सिद्ध है एव प्रलय मे शास्त्र सिद्ध।

अथवा समेति अर्थात् जाना जाता है। एव वि एति का अर्थ व्यय हो जाता है, नष्ट हो जाता है। अथवा सम् एति अर्थात् सम्यक् गच्छति, स्थिति करता है और वि याने विविध भाव को प्राप्त होकर नष्ट हो जाता है अर्थात् टुकडे टुकडे होकर नष्ट हो जाता है। चकार के द्वारा एति का सम्बन्ध दोनो तरफ लग जाता है। इस प्रकार सृष्टि, स्थिति, प्रलय तीनो का वह कारण है यह बता दिया।

६ ऊपर कहे हुए कारण रूप को।

७ भोग और मोक्ष रूपी सभी वरो को देने वाले। भक्तो की अभिलाषा पूर्ण करना उनका स्वभाव है यह भाव है।

८ वेद, पुराण, इतिहास, सभी एकमात्र साक्षात् या परम्परा से उसी की स्तुति करते है अत साधको के लिये उसे छोड कर और किसी की स्तुति करना अवाञ्छनीय है।

९ बुद्धि के द्वारा निश्चय होने से यहा दृढ ज्ञान का सकेत करने की इच्छा से निश्चय करके (निचाय्य) शब्द का प्रयोग किया है। अर्थात् असभावना और विपरीत भावना को हटाकर निश्चय रूप से मै ब्रह्म हूँ, ऐसा साक्षात्कार से दर्शन करके।

१० स्थितप्रज्ञादि लक्षणो को सुनने से जिस शान्ति का परोक्ष ज्ञान होता है जीवन्मुक्त के व्यवहार को देखकर वही प्रत्यक्ष सिद्ध हो जाती है। यहा श्वेताश्वतर महर्षि मानो अपने को ही विषय करके बतलाते है कि इस शान्ति को तुम प्रत्यक्षवत् देख लो। अथवा सुषुप्ति समाधि मे इसका प्रत्यक्ष होता है। सुषुप्ति मे तो सर्वोपरम लक्षण यह शान्ति सार्वजनिक प्रत्यक्ष का विषय है।

११ तत्त्व ज्ञान से अविद्या एव उसके कार्य की निवृत्ति से पुनरावृत्ति रहित आनन्दघन एक रसता की प्राप्ति ही आनन्द की अतिशय प्राप्ति है। यही मोक्षनाम की शान्ति आगे निरूपित की जायेगी। कुछ लोग भविष्य मे निरूप्यमाण होने से इसे इमा कहा गया ऐसा भी मानते है।

१२

सूत्रात्मा को अविरत अपने सामने देखते हुए उसका प्रसाद प्राप्त करके अखण्ड तत्त्वज्ञान की सिद्धि के लिये प्रार्थना करते हैं —

यः देवानां प्रभवः च उद्भवः च विश्वाधिकः रुद्रः महर्षिः । हिरण्यगर्भम् पश्यत जायमानं स नः बुद्ध्या शुभया संयुनक्तु ॥

इस मंत्र में **पश्यत जायमान** को छोड़ कर अवशिष्ट सब तृतीयाध्याय के चतुर्थ मन्त्र से समझ लेना चाहिये। वहां धातु प्रसाद के लिये यह मन्त्र पठित था। वह रुद्र ही हिरण्यगर्भ को जायमान उत्पन्न होते हुए **पश्यत** देखता है या देखा। यहां आत्मनेपद वैदिक प्रयोग है। पश्यत अर्थात् अपश्यत्। तात्पर्य है अवान्तर सर्ग स्थिति प्रलय कर्ता रूप से एवं वेद प्रवर्तक रूप से वह हिरण्यगर्भ को देखता रहता है।

१३

यः देवानां अधिपः यस्मिन् लोकाः अधिश्रिताः । यः ईशे अस्य द्विपदः चतुष्पदः कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥

य = जो (महेश्वर)
देवानाम् = समष्टि देवताओं का[१]
अधिप = अधिपति[२] (है),
यस्मिन् = जिसमें
लोका = परिदृश्यमान जगत्[३]
अधिश्रिताः = अध्यस्त हैं,[४]
यः = (एवं) जो
अस्य = इन[५]
द्विपद = दो पैर वालों[६] (व)
चतुष्पद = चार पैर वालों का[७]
ईशे[८] = शासन करता है।
कस्मै = उस आनन्द रूप ब्रह्म[९]
देवाय = महादेव के लिये
हविषा = हवि से[१०]
विधेम = परिचर्या करते हैं[११]।

१ ब्रह्मा, विष्णु, अग्नि आदि समष्टि कार्य उपाधि वालो का सग्रह है। इसी प्रकार मूल प्रकृति रूपी कारणोपाधि वाले हिरण्यगर्भ का भी यहा सग्रह है। व्यष्टि देव इन्द्रियादियो को भी यहा ले लेना चाहिये। लेकिन तत् तत् देहस्थ इन्द्रियो को न लेकर समष्टि चक्षु, समष्टि श्रोत्र इत्यादि का सग्रह करना है। बृहदारण्यक भाष्य मे यह स्पष्ट किया गया है कि आकाश की तरह इन्द्रिया भी व्यापक ही है एव जो देह मे चक्षुरादि इन्द्रिया प्रतीत होती है वह केवल उनकी अभिव्यक्ति का स्थल है।

२ उनको अधिष्ठित करके उनका पालन करने वाला होने से ही उसको अधिपति कहा गया।

३ भूरादि लोक भी यहा लिये जा सकते है। वे भी कर्म के फल रूप से ही उत्पन्न होते है। अत लोक्यन्त इस व्युत्पत्ति से दृश्यभूत सारे पदार्थो का सग्रह उचित है।

४ ओत-प्रोत रूप से अधि अर्थात् ऊपर आश्रित है। अर्थात् वे इसमे ओतप्रोत है और वह इनमे ओतप्रोत है। अथवा यह सारा परिदृश्यमान जगत् उसी की अभिव्यक्ति होने से उसी का (अधि) अधिक रूप से आश्रित रूप है। ये सभी पारमार्थिक न होने से अध्यस्त है।

५ देवताओ के द्वारा परोक्षो को नियन्त्रित करता है, यह बताया था। अब प्रत्यक्ष जो व्यष्टि उपाधिया उसका भी वह नियामक है यह बताते है।

६ दो पैरो से चलने वाले मनुष्य पक्षो आदि। विवेकी की दृष्टि मे तो अर्थ और काम इन दो से ही गति करने वाले को द्विपद कहा जाता है। अर्थात् जीवन मे अपने समग्र कार्यो के प्रति जिसका दृष्टिकोण केवल अर्थ और काम का हो वे सभी द्विपद है।

७ गाय, हाथी आदि व्यष्टि उपाधि का अभिमान करने वाले। विवेक दृष्टि से धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष, इन चारो के द्वारा जीवन चलाने वाले। अर्थात् जो अपने कार्यो एव उनके फलो मे इन चारो दृष्टियो को सामने रखते है। यदि ये अर्थ इष्ट न हो तो षट्पद (Insects), अपद (Amoeba), शतपद (Centipede) आदि का सग्रह नही हो पायेगा।

८ ईश ईष्टे इत्यत्र छान्दसस् तकारलोपेन ईश इति सिद्ध ।

९ क का अर्थ सुख प्रसिद्ध है। ओ क ब्रह्म इत्यादि श्रौत प्रसिद्धि से 'क' का अर्थ ब्रह्म भी होता है। काय की जगह कस्मै तो वैदिक प्रयोग है। भगवान् सायणाचार्य तो यहा वैदिक ए का लोप मानकर एकस्मै अर्थात् उस भेदशून्य परमात्मा को ग्रहण करते है। किसी किसी ग्रन्थ मे तस्मै पाठ भी मिलता है। इस पक्ष मे तो य के साथ सीधा ही अर्थ लग जाता है।

१० महेश्वर के आराधनभूत द्रव्यो के द्वारा। ये द्रव्य श्रौत चरु पुरोडाशादि भी हो सकते है अथवा औपनिषद् मन, प्राण आदि भी हो सकते है। उपलक्षण से तान्त्रिक फूल चन्दन आदि का भी ग्रहण कर लेना चाहिये। वस्तुतस्तु अपने व्यक्तित्व की ही हवि इष्ट होती है। पदार्थ त्याग भी ममता त्याग को पुष्ट करने के लिये है।

११ हम परिचर्या कर सके, यह प्रार्थना है। तात्पर्य है कि कर्म रूप से तो हम विधि का पालन करते है, परन्तु उसे ईश्वरार्पण बुद्धि से अनुष्ठित नही कर पाते। ईश्वर की कृपा से ही ईश्वरार्पण बुद्धि से कर्म करने की योग्यता आती है। शनै शनै सारे ही कर्मो को जब साधक ईश्वरार्पण बुद्धि से अनुष्ठित कर सकता है तब ज्ञान मार्ग का सिह द्वार खुल जाता है। प्रार्थना के द्वारा यह ध्वनित किया कि महेश्वर वृद्ध पितामहादि की तरह अप्रयोजक नही है। पूर्व मन्त्र के द्वारा यह ध्वनि हो सकती थी कि उसने हिरण्यगर्भादियो को उत्पन्न किया परन्तु अब कुछ भी करने मे असमर्थ है। उसकी व्यावृत्ति इस

मन्त्र से कर दी गई। मुमुक्षुओ के द्वारा सम्यक ज्ञान के अधिकार की सिद्धि के लिये महेश्वर की प्रार्थना करनी चाहिये यह तात्पर्य है।

१४

सूक्ष्मातिसूक्ष्मं कलिलस्य मध्ये विश्वस्य स्रष्टारम् अनेकरूपम्। विश्वस्य एकं परिवेष्टितारं ज्ञात्वा शिवं शान्तिम् अत्यन्तम् एति॥

कलिलस्य=कलिल के[1]	**विश्वस्य**=जगत् के[5]
मध्ये=मध्य में[2]	**एक**=एक ही
सूक्ष्मातिसूक्ष्मम्=बारीक से बारीक[3]	**परिवेष्टितार**=व्याप्त करने वाले
	शिव=शिव को
विश्वस्य=जगत् के	**ज्ञात्वा**=जान कर
स्रष्टार=बनाने वाले को	**शान्ति**=शान्ति को
अनेकरूपम्=अनेक रूप वाला[4] (एव)	**अत्यन्तम्**=पूर्ण तरह से
	एति=जाता है।

१ अविद्या एव उसके कार्य रूप दुर्ग को गहन होने के कारण कलिल कहा जाता है। अथवा सृष्टि के पूर्वक्षण मे शिव का ईक्षण क द्वारा शक्ति की तरफ उन्मुख होने का भाव भी कलिल कहा गया है। अथवा जगत् के आरम्भ काल मे जल के बुद बुद की पूर्वावस्था फेनिल उदक को भी कलिल कहा जाता है। अथवा शोणित एव शुक्र के सगत होने पर जो क्षण भर के लिये अभिन्न स्थिनि (Zygote) बनती है उसे कलिल कहा है। इस क्षण मे ही आत्मा का आध्यात्मिक बन्धन प्रारम्भ होता है जो समग्र सृष्टि का कारण है। विवेक दृष्टि से तो जब जब द्रष्टा का दृश्य से सयोग होता है तब तब ज्ञानकलिल की स्थिति हो जाती है एव वासनादि के द्वारा आगामी सृष्टि का कारण बन जाती है। अत स्वरूप का अज्ञान ही वास्तविक कलिल है।

२ अन्तस्साक्षी रूप से स्थित है अर्थात् विचार के विना छिपा रहता है।

३ यद्यपि परमात्मा की जगत् चक्र मे सूक्ष्मता स्पष्ट है फिर भी पृथ्वी से अव्याकृत पर्यन्त उत्तरोत्तर सूक्ष्म, सूक्ष्मतर सूक्ष्मतम रूप से महाकारण महामाया से भी चित् तत्त्व की सूक्ष्मता बताना यहा अभीष्ट है।

४ उपादान, उपादेय, निमित्त, नैमित्तिकादि भेदो से अनेक रूप वाला। वस्तुत प्रत्येक योनिकलल मे स्थित हुआ हुआ ही वह जगत् वैचित्र्य का हेतु बनता है। उन उन कार्य करण सघातो के द्वारा वह अनेक कारण रूपो वाला एव अनेक कार्य रूपो वाला भी प्रतीत होता रहता है। परन्तु इन अनन्त रूपो को धारण करने पर भी इन उपाधियो के मायिक होने के कारण उनसे असग ही बना रहता है। अर्थात् अनेक उपाधियो से उसमे अनेकत्व है, स्वरूप से नही।

५ पहले विश्वस्य का यहा फिर से ग्रहण विश्व के गौणार्थ की निवृत्ति के लिये है। परमात्मा विश्व को अन्दर और बाहर दोनो तरफ से स्वरूप और स्फुरण देकर प्रविष्ट और आविष्ट होता है, यह भाव है।

१५

सृष्टि का बनाने वाला एव परिवेष्टा व प्रविष्ट होने पर भी विश्व की स्थिति का कर्ता विष्णु, मनु या अन्य राजा होगे इस शका की निवृत्ति करते है —

सः एव काले भुवनस्य गोप्ता विश्वाधिपः सर्वभूतेषु गूढः। यस्मिन् युक्ताः ब्रह्मर्षयः देवताः च तम् एवं ज्ञात्वा मृत्यु-पाशान् छिनत्ति॥

स =वह (महेश्वर)
विश्वाधिप =ससार का अधिपति (एव)
सर्वभूतेषु=सारे प्राणियो मे
गूढ =(अन्तर्यामी रूप से) छिपा हुआ
एव =ही[1]
काले=स्थिति काल मे[2]
भुवनस्य=जगत् का
गोप्ता=पालक है[3]।

यस्मिन्=जिसमे[4]
युक्ता =(योग करके) जुडे हुवे[5]
ब्रह्मर्षय =ब्रह्मर्षि[6]
च=व
देवता =देवता[7]
एवम्=इस प्रकार
तम्=उस (शिव को)
ज्ञात्वा=जान कर[8]
मृत्युपाशान्=मृत्यु के पाशो को[9]
छिनत्ति=काट देते है[10]।

१ अध्यात्मादि भेद भिन्न जगत् का स्वामी एव ब्रह्मा से स्तम्ब पर्यन्त समष्टि-व्यष्टि रूप सब भूतो मे साक्षी रूप से प्रविष्ट हुआ भी अद्वितीयानन्द रूप से छिपा रहता है। इस रूप को विना छोडे हुए ही वह इसका रक्षक बन जाता है। यह बतलाने के लिये ही एव पद है। अर्थात् जगत् से हजारो गुना बडा होने से एक अश से इन सब आकार वाला बनकर भी वह पालक बन सकता है।

२ जीव के कर्मो के परिपाक का समय ही स्थितिकाल है। अतीत कल्पो मे भी जब जब जीवो के कर्मो का परिपाक समय था तब तब वही गोप्ता था, यह भाव है।

३ कर्म के अनुसार सुख दु ख देने वाला होने से ही वह इसका पालक या रक्षक कहा जाता है। तात्पर्य है कि कर्म का फल उत्पन्न न हो तो कर्म फल रूप लोक का नाश हो जाय, एव विना कर्म के कर्म फल रूप लोको की उत्पत्ति हो तो अकृत, अभ्यागम, वैषम्य, नैर्घृण्य आदि अनेक दोष प्राप्त हो जाय। अत इन दोषो की प्राप्ति न हो यही विश्व का रक्षण है।

४ चिद्घनानन्दघन शिव ही यहा इष्ट है जिसमे से अशेष विशेष

नष्ट हो गये हैं। यस्मिन् ब्रह्मर्षयः देवताश्च युक्ता त ज्ञात्वा, ऐसा अन्वय भी सम्भव है। तब तात्पर्य होगा कि जिस महेश्वर मे ब्रह्मर्षि व देवता भी ऐक्य भाव से जुडे हुए है उस परमात्मा को अपना स्वरूप जानकर तर जाता है।

५ ब्रह्मा आदि भी उपाधियो के द्वारा रहित होकर अपने शिव स्वरूप को अपने से एक करके जानते है। अथवा यस्मिन् सति उस परमात्मा के कृपारूप से स्थित होने के कारण ही योग का आश्रय करके ब्रह्मादि प्रवृत्त होते हैं, अर्थात् ऐक्य ज्ञान के लिये सर्व कर्म सन्यास आवश्यक है, एव साधक के ज्ञान प्राप्त होने के पूर्व ही देह-पातादि विघ्न आनेपर सवनाश की प्राप्ति हो सकती है। परन्तु महेश्वर उसका पुन उत्थान ही करते है कभी गिरने नहीं देते, इस निश्चय के कारण ही योग मे प्रवृत्ति सम्भव है।

६ जो ब्राह्मण अतीन्द्रिय द्रष्टा हो उन्हे ब्रह्मर्षि कहा जाता है जैसे सनक, सनन्दन, सनत्कुमार, शुक, वामदेवादि। इनसे देवर्षि और राजर्षियो की भी उपलक्षणा कर लेनी चाहिये। अथवा ब्रह्म च ऋषयश्च ऐसा पदच्छेद है। ब्रह्म अर्थात् ब्राह्मण एव ऋषि अर्थात् वशिष्ठ, गृत्समद् आदि जो वेद के मत्र द्रष्टा है। ऋषि गोत्र प्रवर्तक होने से गोत्रहीन हैं एव इसीलिये उनका ब्राह्मणादि कोई वर्ण नहीं माना जा सकता।

७ हिरण्यगर्भ आदि आधिकारिक पुरुष। यहा देवताओ से आगे आने वाले चकार से दैत्य, गन्धर्व आदि का भी सग्रह कर लेना चाहिये।

८ अपरोक्ष साक्षात्कार करके।

९ मृत्युर्वै तम इत्यादि श्रुतियो से अविद्या ही मृत्यु है। एव काम, क्रोध, कर्म आदि ही पाश हैं। वस्तुत यदि मृत्यु का अर्थ प्रसिद्ध प्राण-वियोग भी लिया जाय तो उसके भी पाश अविद्या, काम, कर्म ही हैं क्यो कि अविद्या, काम, कर्म के द्वारा ही मृत्यु मारती है।

१० जीव और शिव की एकता रूपी अग्नि वासना एव उसका कारण अज्ञान रूपी गाठ को जला देता है ।

१६

यद्यपि सप्रपञ्चता की प्रतीति है तथापि उपाय से निष्प्रपञ्चता की प्राप्ति करनी चाहिये —

घृतात् परं मण्डम् इव अति सूक्ष्मम् ज्ञात्वा शिवम् सर्व-भूतेषु गूढम् । विश्वस्य एकं परिवेष्टितार ज्ञात्वा देवम् मुच्यते सर्वपाशैः ॥

घृतात्=घी से
पर=ऊपर
मण्डम्=मण्ड[१]
इव=की तरह
अतिसूक्ष्मम्=अत्यन्त सूक्ष्म रूप को[२]
ज्ञात्वा=जानकर
सर्वभूतेषु=सारे प्राणियो मे
गूढम्=छिपे हुए रूप को[३] (तथा)
विश्वस्य=विश्व के
एक=एक मात्र
परिवेष्टितार=व्याप्त करने वाले को
देव=देव रूप वाले
शिवं=शिव को
ज्ञात्वा=साक्षात् जान कर[४]
सर्वपाशै=सब पाशो से
मुच्यते=मुक्त हो जाता है[५] ।

१ जैसे दही के ऊपर जमी हुई मलाई दही का सार होती है उसी प्रकार घी अर्थात् द्रवीभूत आज्य के उबाल कर बरफ आदि से अति शीघ्र ठडा करने पर जो ऊपर मलाई की तरह जम जाता है वह उसका उत्कृष्ट सार मण्ड कहा जाता है। जिस प्रकार यह अत्यन्त सार होने से खाने वाले की परम प्रीति का विषय होता है उसी प्रकार शिव भी समग्र साधनाओ का सारभूत होने से मुमुक्षुओ की परम प्रीति का विषय है, यह भाव है । जिस प्रकार गाय से सीधा इस मण्ड को प्राप्त नही किया जा सकता वरन् गाय से दूध, दूध को उबाल कर जामन डाल कर दही, दही को मथ कर मक्खन, मक्खन को

उबाल के घी एव घी को उबाल के मण्ड प्राप्त किया जाता है। जैसे यह युक्ति केवल अनुभवो आप्त पुरुषो से जाननी पडती है वैसे ही शिव प्राप्ति के क्रमिक साधनो को गुरु के द्वारा ही जानना पडता है।

जैसे गाय के शरीर से लेकर घृत पर्यन्त मण्ड जब तक अलग नही हो जाता तब तक उन सभी चीजो मे ओत प्रोत रूप से भरा रहता है वैसे ही आनन्द स्वरूप शिव बन्धनावस्था से लेकर जब तक ब्रह्मनिष्ठता नही होती तब तक सभी अवस्थाओ मे निरतिशय प्रीति का विषय बना रहता है।

२ अतिशय अणु रूप सारे प्रपञ्च का सार। महाकारण होने से एव समग्र पुरुषार्थो का अन्तिम लक्ष्य होने से भी इसे अति सूक्ष्म कहा गया। अथवा अथर्ववेदीय प्रक्रिया के अनुसार विश्व-विराट् से तैजस्-हिरण्यगर्भ तदपेक्षया प्राज्ञ ईश्वर सूक्ष्म है। इसकी भी अपेक्षा समग्र विशेषों से रहित शिव सूक्ष्मतम है। इस रूप से ही वह सारे चराचर जगत् मे विद्यमान है।

३ देव, मानव, दानव सभी जन्तुओ मे कर्म-फल-भोग-साक्षी रूप से प्रत्यक्ष विद्यमान होने पर भी उनके द्वारा तिरस्कृत हुआ हुआ होने से ईश्वर गूढ है। तात्पर्य है कि सब देहो मे रहते हुए भी वह देह वाला न रह कर अन्तर्यामी रूप से ही बुद्धि का साक्षी होने से विना श्रवण मनन के पकड मे नही आता।

४ ज्ञात्वा का दो बार कहना अन्य किसी साधन की व्यावृत्ति के लिये है। अथवा श्रवण के द्वारा अदृढ ज्ञान एव मनन निदिध्यासन के द्वारा दृढ ज्ञान इन दोनो ज्ञानो को बताने के लिये है। विवेक दृष्टि से प्रथम ज्ञात्वा से त्व पदार्थ से लक्षित आत्मा का ज्ञान एव द्वितीय ज्ञात्वा से उस शोधित त्व पदार्थ को शोधित तत् पदार्थ से एक करके जानने को लिया गया है।

५ अविद्या और उसके कार्य रूपी ससारपाश बाधित हो जाते है।

१७

ईश्वर की जीव भाव प्राप्ति को बताते हैं —

एषः देवः विश्वकर्मा महात्मा सदा जनानां हृदये सन्निविष्टः। हृदा मनीषा मनसा अभिक्लृप्तः ये एतत् विदुः अमृताः ते भवन्ति ॥

एष = यह
देव = महादेव
विश्वकर्मा = सब कर्मों को करने वाला[1]
महात्मा = महात्मा[2]
सदा = हमेशा
जनानां = लोगो के
हृदये = हृदय मे[3]
सन्निविष्ट = घुसा हुवा बैठा है[4]।
ये = जो
एतत् = इसको
हृदा = प्रेम से[5]
मनीषा = बुद्धि से,[6] (एव)
मनसा = मन से[7]
अभिक्लृप्त = जान कर[8]
विदु = भजते हैं
ते = वे
अमृता = अमर
भवन्ति = हो जाते है।

१ सभी विश्व रूपी कर्म को करने के कारण वह विश्वकर्मा है अर्थात् सब को उत्पन्न करने वाला है। अथवा विश्व अर्थात् सर्व। भिन्न भिन्न उपाधियो से जहा जहा जो कुछ भी हो रहा है वहा वही कर रहा है। अथवा माया के सहारे से विश्व इसका कार्य है अत यह विश्वकर्मा कहा जाता है।

२ जो महान् हो अर्थात् व्यापक हो एव आत्मा हो उसे महात्मा अर्थात् सर्व व्यापी कहते हैं। इसमे उसकी प्रजापति आदि से व्यतिरेकता प्रतिपादित कर दी। अर्थात् महाकाश स्थानीय हुआ हुआ वह रहता है। महात्मा मानने पर वह किसी देशान्तर मे रहता होगा,

अत यहा आकर के भी कभी कभी बुद्धि का विषय बनता होगा, इस शका को हटाने के लिये आगे आने वाला हृदय पद है।

३ हार्दाकाश मे जो जल पात्र की तरह है।

४ जल मे चन्द्र की तरह उसका प्रवेश है। हृदय अर्थात् लिंग शरीर के तादात्म्याभिमान के साथ, एव उसका साक्षी बनकर दोनो प्रकार से वह विद्यमान है।

५ हृञ हरणे धातु से निष्पन्न होने के कारण नेति नेति इत्यादि निषेध उपायो से जिसका हरण कर लिया गया है।

६ यह पुरुषार्थ है और यह अपुरुषार्थ, यह आत्मा है और यह अनात्मा, इस प्रकार की विवेक बुद्धि से।

७ विचार-साध्य सर्व-साक्षी रूप एकत्व ज्ञान से। अथवा हृदा अर्थात् हृत्पुण्डरीक के सहारे से मनीषा अर्थात् जिस बुद्धि के सकल्प जीत लिये गये है उसके द्वारा। मनसा अर्थात् मनन के द्वारा अह ब्रह्मास्मि ऐसा अनुभव करके।

८ अद्वितीय आत्मरूप से अभि प्रकाशित अर्थात् अभिव्यक्त करके।

यद्यपि महाप्रकरण के अनुसार पूर्वोक्त अर्थ ही अधिक समीचीन है फिर भी शकरानन्द स्वामी ने यहा हृदा के पूर्व सर्वगत की हृदय सन्निविष्टता कैसे, ऐसी आशका करके हृदा आदि अर्धाली को उत्तर माना है। सभवत उनका तात्पर्य यह है वह विश्वकर्मा और महात्मा होने पर भी हृदा अर्थात् भावनाओ मे मनीषा अर्थात् बुद्धि से एव मनसा अर्थात् सकल्प विकल्पो से जीव रूप बनकर अभिक्लृप्त अर्थात् कल्पित हो जाता है। तब तात्पर्य होगा कि परमेश्वर ही जीव रूप से कल्पित हुआ है इसको जानकर जो प्रत्येक भाव, सकल्प और बुद्धि वृत्तियो मे उसी परमात्मा को उन वृत्तियो से विशिष्ट हुआ हुआ मानकर भजता है वह मुक्त हो जाता है। वस्तुतस्तु एक उत्तरण

प्रक्रिया है और दूसरी अवतरण प्रक्रिया। हर हालत मे जब तक प्रेम, बुद्धि, मनके सकल्प विकल्पो का एकमात्र विषय शिव नही बन जाता तब तक कृतार्थता असभव है।

१८

पारमार्थिक दृष्टि से सब कालो मे द्वैतशून्यता ही है —

यदा अतमः तत् न दिवा न रात्रिः न सत् न च असत् शिवः एव केवलः। तत् अक्षरम् तत् सवितुः वरेण्यम् प्रज्ञा च तस्मात् प्रसृता पुराणी॥

यदा[1]=जब या जिस अवस्था मे	केवल =अकेला[8]
अतम =अविद्यान्धकार[2] नही होता	शिव =शिव[9]
तत्=तब या उस अवस्था मे	एव=हो है,[10]
न=न	तत्=वह (शिव)[11]
दिवा=दिन[3]	अक्षरम्=अविनाशी[12] (एव)
न=न	तत्=उस
रात्रि =रात	सवितु =सृष्टि कर्ता का (भी)
न=न	वरेण्यम्=पूज्य है[13]
सत्=भाव[4]	च=और
न=न	तस्मात्=उस (शिव) से[14]
असत्=अभाव है[6]	पुराणी=अनादि सिद्ध[15]
च=परन्तु[7]	प्रज्ञा=आत्म विद्या[16]
	प्रसृता=निकली और फैली है[17]।

१ यदा तम इति दीपिका पाठ। अस्मिन् पक्षे तत् तम यदा न इति वक्ष्यमाणो नकार शृङ्खलान्यायेन सम्बध्यते। अथवा यस्याम् अवस्थाया तमः आत्म-स्वरूपेण अवस्थितो भवति इत्यर्थ।

२ यद्यपि भूत, भविष्य, वर्तमान तीनो कालो मे मुक्ति सुषुप्ति और प्रलय की तरह ही शिव कूटस्थ असग ही है तथापि जाग्रत्-स्वप्न मे सद्वितीय-त्व का अवभास होने से यह निश्चय नही हो पाता। अत सब अवस्था और सब कालो मे निर्भेद होने पर भी जिस अवस्था या काल मे भेद रहितता की प्रतीति है उसका सकेत है। प्रलय, मोक्षादि मे द्विनीयता की अवधारणा हो जाने पर जाग्रत् स्वप्न मे सद्वितीयता का प्रतिभास भ्रान्ति से है एव द्वैत शून्यता पारमार्थिक है यह निश्चय हो जाता है। प्रकरण बल से यहा विद्यावस्था ही लेनी पडेगी जिस मे तम का बाव हो गया है।

३ जिस मे तम न हो उसे अनम कहेगे अत शिव तत्त्व को ही यहा अतम कहा है। चू कि प्राप्त होने पर ही निषेध सार्थक होता है अत यहा निषेध से बाध लेना चाहिये। अर्थात् तत्त्वमस्यादि वाक्य से उत्पन्न ज्ञान के द्वारा अविद्या रूपा तम का नाश अर्थात् बाध हो गया है जिस आत्मा का। यहा तम से आवरण और विक्षेप दोनो की बीज रूप अविद्या को लेना चाहिये।

४ अन्धकार के अभाव मे दिन की प्राप्ति हो जाती है अत उसका निषेध आवश्यक है। तम न रहने पर भी दिन नही है इसके द्वारा यह बताया कि जड प्रकाश कृत प्रकाश और अप्रकाश का प्रश्न यहा नही है वरन् चेतन प्रकाश का ही प्रसग है। अर्थात् जड प्रकाश रूपी दिन और रात्रि दोनो का बाध हो जाता है। जड-प्रकाश और अप्रकाश दोनो ही चेतन मे अध्यस्त है।

५ भाव रूपी कल्पना भी उसमे नही है। अथवा सत् से कार्य-कारणात्मक प्रत्यय विषयता ले लेनी चाहिये। तात्पर्य है कि प्रकाश के रहने या न रहने पर भी कारण या कार्य या दोनो रूप तो होगे ? उत्तर है कि कारण और कार्य दोनो ही 'है' इस ज्ञान का विषय नही बन पाते अर्थात् न कारण मे सत्ता का आरोप रह जाता है न कार्य

मे। अविद्या हेतु से ही कारण और कार्य शिव मे अध्यस्त होते है। एव अविद्या निवृत्त होने पर दोनो भाव निवृत्त हो जाते हैं।

६ यदि काय-कारण दोनो नही है तो सबका अभाव या असत्ता ही वहा होगी यह शका न हो जाय इसलिये कहा कि कार्य-कारण के अभाव की कल्पना भी वहा नही है। जैसे कार्य कारण सत्ता मे कल्पित हैं वैसे ही कार्य-कारण का अभाव भी कल्पित है।

७ बौद्धो की तरह सर्व शून्यता की तत्त्वरूपता से प्राप्ति का निषेध करने के लिये यह पद है।

८ अविद्यादि विकल्प शून्य अथवा ज्ञाता-ज्ञेय आदि भेद शून्य। तात्पर्य है कि आवरण शक्ति के द्वारा मै अज्ञानी आनन्दात्मा को नही जानता इस प्रकार का प्रत्यक्ष अनुभव, एव मैं ही स्वय प्रकाश-रूप होने से अधिष्ठान रूप आत्मा के आविर्भाव का स्थल, इस प्रकार का शास्त्र प्रत्यक्ष, एव इस भेद से विक्षेप और साधना के द्वारा भेद निवृत्त होने से आनन्द रूप मे स्थित होकर इनकी निर्बीजता, इन सब विशेषो से रहित यहा केवल पद का वाच्य है।

९ निषेधावधि करने से प्राय निर्विशेष तत्त्व का स्वरूप ढक जाता है। इसीलिये सबके अधिष्ठान रूपी तत्त्व को शिव शब्द से कहा गया जो मगल भाव का वाचक है। मानव की सब मगल भावनाओ का पूर्ण विकसित रूप ही अधिष्ठान का स्वरूप है, यह भाव है। विशेषो का निषेध अधिष्ठान को विशेषो से एव उनके योग से अधिक बताने के लिये है न्यून बताने के लिये नही। अत औपनिषद् सिद्धान्त साधक को अर्हाओ की (Values) पूर्णता की तरफ ले जाता है अर्हा-शून्यता की तरफ नही। बौद्धो का शून्यवाद इसके विपरीत तत्त्व मीमासा (Metaphysics) अर्हा मीमासा (Ethics) सौन्दर्य-मीमासा (Aesthetics) सभी को शून्यता की ओर ले जाता है। यह बात दूसरी है कि अनेक अपरिपक्व वेदान्ती विक्षेप को न सहने

के कारण त्वरौषधि (Quick medicine) के रूप मे शून्य वाद का सेवन कर लेते है। परन्तु यह वेदान्त के विरुद्ध है।

१० शुद्ध स्वभाव से अतिरिक्त और सब की व्यावृत्ति करने के लिये यह पद है।

११ उपर्युक्त शिव के स्वरूप का प्रतिपादन करते है अथवा वह शिव तत्पद का लक्ष्यार्थ है यह भाव है।

१२ समस्त परिच्छेद शून्य होने से ही वह नित्य है।

१३ तत्सवितुर्वरेण्यम् के द्वारा गायत्री प्रतिपाद्य तत्त्व का निर्देश है। भाव है कि गायत्री के प्रथम पाद का अर्थ तत् पद का वाच्य और लक्ष्य ही समझना चाहिये। यहा अतिधन्य वेद स्वय ही गायत्री का अर्थ कर रहा है। जगत् को उत्पन्न करने वाला आदित्य मण्डल का अभिमानी हिरण्यगर्भ का भी वही वरेण्य अर्थात् श्रेष्ठ पूज्य है। तात्पर्य है कि सबका उत्पादक होने पर भी सविता उसी का वरण करता है क्यो कि सविता का वह अधिष्ठान है। अथवा यह भी ध्वनि है कि मुमुक्षुओ के द्वारा वह जगत् का उत्पादक है, इस भाव से वरण करने के या प्रार्थना करने के योग्य है, अथवा सवितु अर्थात् ज्ञान प्रसवितु ज्ञान देने वाले वरेण्यम् अर्थात् श्रेष्ठ गुरु रूप स सम्भजनीय है।

१४ वह पूर्वो का भी पूर्वतर गुरु है। एव ब्रह्मा का भी उपदेशक है (६।१८)। अत उस परम शुद्ध परमात्मा के द्वारा ही वेद विद्या रूपी आत्म विद्या का प्रसार होने से यह सबके द्वारा उपादेय है। चू कि वह आनन्दात्मा है इसलिये उससे प्रसृत विद्या भी आनन्द प्रद होगी यह निर्विवाद है।

१५ अनादि परम्परा से प्राप्त होने के कारण वह पुराणी कही गई। अथवा प्राचीन महर्षियो के लिये भी (पुरा) वह विस्मय जनक एव नयी ही थी (नव एव)। भाव है कि आत्मज्ञान जन्म मरण के

चक्र को नष्ट करने वाला होने से जिसको ज्ञान हो गया उसका पुनर्जन्म सम्भव नही। किञ्च आत्मविद्या ब्रह्मनिष्ठो मे सुप्रसिद्ध होने पर भी सामान्य लोगो को हमेशा नई ही लगती है। अथवा प्राचीन काल मे भी पुरापि नव आज नवीन काल मे होने वाली की तरह अहं ब्रह्मास्मि इस वृत्ति से उत्पन्न प्रमिति ठीक इसी प्रकार की ही थी।

१६ आचार्य के उपदिष्ट तत्त्वमस्यादि वाक्य से उत्पन्न होने वाली बुद्धि।

१७ साधन चतुष्टय सम्पन्न श्रवण मनन युक्त श्री परमहसो मे पूर्ण रूप से व्याप्त होने से उसका फैलाव हुआ। अर्थात् दक्षिणामूर्ति रूप से जिस आत्म विद्या को उपदिष्ट किया गया वह आज भी अनादि परम्परा से फैली हुई विद्यमान है।

यदा तमः पाठ मानने पर प्रलयावस्था मे विद्यमान अविद्या का ग्रहण होगा। इसमे ऋग्वेदोक्त **नासदासीत् नो सदासीत्, तम आसीत् तमसा गूढमग्रे** भी अनुग्रहीत हो जाती है। तात्पर्य है कि हिरण्यगर्भादि सभी कार्य उस समय तम अर्थात् अविद्या मात्र रूप से विलीन थे। इसीलिये दिन-रात, कार्य-कारण, भाव-अभाव आदि का भेद नही था। वह अविद्या भी केवल अर्थात् अभिन्न होकर शिव मे ही लीन थी। इस प्रकार शिव शक्ति सामरस्य का सकेत है। दोनो उस काल मे अभिन्न थे यह भाव है। इसीलिये वेदान्त सिद्धान्त अन्तिम तत्त्व को एक न कह कर अद्वैत कहता है। यही तत् शब्द का वाच्य है। एव सबका सविता अर्थात् उत्पन्न करने वाला होने से उपासको द्वारा वरणीय रूप वाला है। तत् अर्थात् तब अर्थात् सृष्टयुन्मुख होने पर उसी शिव तत्त्व से पुराणी अर्थात् अनादि सिद्ध नियत क्रम स्वरादि विशिष्ट वेद विद्या (प्रज्ञा) पुरुष निश्वास की तरह विना प्रयास ही प्रसृता अर्थात् उत्पन्न हुई या निकली।

१६

इस प्रकार किसी भी उपाधि से परमेश्वर को यदि नही समझा जा सकता तो फिर उसका ज्ञान अत्यन्त दुष्कर हो जायेगा। अत अनन्त माता पिताओ से भी अधिक वात्सल्य वाली भगवती श्रुति रूपारूप लिग मूर्ति का, एव नाम का साधन रूप से प्रतिपादन करती है —

न एनम् ऊर्ध्वम् न तिर्यञ्चम् न मध्ये परिजग्रभत् ।
न तस्य प्रतिमा अस्ति यस्य नाम महत् यशः ॥

एनम्=इस (शिव तत्त्व को)	**यस्य**=जिसका[५]
न=न	**महत्**=परिपूर्ण
ऊर्ध्वम्=ऊपर से,[१]	**यश**=यश-रूप[६]
न=न	**नाम**=नाम (अभिधा) है
तिर्यञ्चम्=नीचे से[२] (तिरछे)	**तस्य**=उसकी
न=न	**प्रतिमा**=मूर्ति[७]
मध्ये=बीच मे[३]	**न**=नही
परिजग्रभत्=पकडा गया[४] ।	**अस्ति**=है ।

१ तात्पर्य है कि किसी भी दिशा से निरश एव निरवयव शिव तत्त्व को बुद्धि के द्वारा नही समझा जा सकता। उपाधियो से परि-कल्पित होकर कूटस्थ शिव की ऊर्ध्वादि दिशाओ मे कल्पना होती हैं। यदि उसे ऊपर अथवा और किसी दिशा मे समझा जाय तो जिस वस्तु का किसी देश मे किसी के द्वारा दर्शन किया जाता है वह अन्य देश मे नही देखी जाती। शिव तत्त्व सर्वत्र उपलब्ध होने के कारण किसी भी दिशा मे देखा नही जा सकता यह भाव है।

पौराणिक प्रसिद्धि से स्वय ब्रह्मा हस रूप लेकर ऊपर गये फिर भी शिव को सिर अर्थात् ऊर्ध्व देश से नही देख सके। यह पौराणिक प्रसिद्धि इसी श्रुति का अर्थवाद है। अन्यत्र श्रुतियो मे जो उसे ऊर्ध्व

इत्यादि कहा गया है वह केवल दिक्कालादि कल्पनाओ से उत्कृष्ट बताने के लिये है दिशा की दृष्टि से नही। स्मृतियो मे जो ऊर्ध्व ऊर्ध्व लोको की कल्पनाये है वे भी इसी दृष्टि से समझनी चाहिये। दिशाओ की कल्पना करने से जो उपहासास्पद स्थिति बनती है वह विद्वानो को अधिगत ही है। लिङ्ग मूर्ति चू कि ऊपर से भी गोल होती है अत केवल एक काल्पनिक बिन्दु ही उसका ऊर्ध्व भाग कहा जा सकता है। अत॰ उसके ऊर्ध्व भाग को कोई भी नही देख या पकड सकता यह कहना ठीक ही है। लिङ्ग स्वय ब्रह्माण्ड का प्रतीक है। दिक् असीम होने के कारण ऊपर से उसका देखा जाना असम्भव है। दिक् के बाहर दिक् है या अदिक् है ? दिक् है तो दिक् से ऊपर कैसे ? एव अदिक् है तो उस मे ऊपर की कल्पना कैसे ? इस प्रकार दिक् का सीमाकरण असम्भव दोष ग्रस्त है। यद्यपि भौतिकी ने दिक् को ससीम माना है परन्तु वह केवल दिक् सीमा भेदन के असाभाव्य-मानता का प्रतिपादक है न कि दिक् को ससीम बतलाने मे।

२ पूर्व पश्चिम दक्षिण उत्तर नैर्ऋत्य ईशान वायव्य आग्नेयादि नीचे की दिशाये यहा तिर्यक् कही गई हैं। अथवा ऊपर से विरुद्ध होने से नीचे को तिर्यक् कह दिया। तात्पर्य है कि इन आठो दिशाओ मे एव नीचे भी उसकी प्राप्ति नही। पौराणिक कथा मे विष्णु का वराह रूप से उसके नीचे का पता न पाना इसी का अर्थवाद है। लिङ्ग मे वर्तुलाकार होने से पूर्वादि दिशायें भी असम्भव हैं एव नीचे भी असम्भव है। ब्रह्माण्ड मे भी दिशाये असम्भव है, क्यो कि दिशाये सूर्य को लेकर कल्पित हैं, एव सूर्य स्वय ब्रह्माण्ड के अन्त पाती है। व्यक्ति और सूर्य के सम्बन्ध को ही दिशा कहा जाता है, एव व्यक्ति और सूर्य दोनो गतिमान् होने के कारण सम्बन्ध वाला दिक् निरन्तर बदलता रहता है। शैवागमो मे इसीलिये पूजा काल मे देव की स्थिति को लेकर ही पूर्वादि दिशायें मानी हैं सूर्य को लेकर नही। सन्ध्या-

वन्दनादि मे सूर्य ही देव होने के कारण सूर्य की तरफ मुख करके ही साय सन्ध्या भी की जाती है चाहे लौकिक दृष्टि से उसे पश्चिम ही क्यो न माना जाय। इसी प्रकार लिग की वेदी उत्तराभिमुख होने से साधक का मुख दक्षिण मे होने पर भी कोई निषेध नही माना जाता। सामान्यत पश्चिम और दक्षिण का निषेध प्रसिद्ध ही है। मूर्ति पूजा मे देव को महापुरुष माना जाता है। अत देव विग्रह या मन्दिर का मुख पूर्व या उत्तर मे रखा जाता है। सामने बैठने पर साधक का मुख पश्चिम और दक्षिण मे हो जाता है जो सामान्यत निषिद्ध दिशायें है। यहा भी देव और उपासक के सम्बन्ध को पूर्व मान करके ही व्यवस्था बन सकती है। यथा कथञ्चित् देव पूजा मे दक्षिण मुख विहित माना जाय तो दक्षिण मुख वाली तारा या काली, शिव आदि मे साधक उत्तर मुख हो जायेगा। वैदिक यज्ञ मे तो होता वदी के चारो ओर बैठकर आहुति देते हैं। लिगाभिषेक मे भी ऐसा ही होता है। इस रहस्य को न जानने से कुछ लोग पूजा के समय देवता के सामने मुख करके न बैठकर बगल मे बैठते है जो ध्यान के सर्वथा अनुपयुक्त है।

३ द्रष्टा की स्थिति जिससे सब दिशाये प्रवृत्त होती हैं उसे मध्य कहा जाता है। दूसरी दृष्टि से जहा सारी दिशाये आकर मिल जाती है उसे मध्य कहते है। सर्व व्यापक का मध्य असम्भव है। वर्तुलाकार लिङ्ग का भी मध्य असम्भव है। इन्ही समानताओ के कारण लिङ्ग को शिव तत्त्व का रूप माना गया है। कहा जा सकता है कि जीव ऐसा वृत्त है जिसका केन्द्र अन्त करण मे है। एव ईश्वर ऐसा वृत्त है जिसका केन्द्र सर्वत्र है। इसीलिये जीव को तो मध्य से ग्रहण किया जा सकता है परन्तु ईश्वर को नही।

४ देव, दानव, ऋषि, विष्णु, ब्रह्मा, आदि किसी के द्वारा नही पकडा गया, यह भाव है। जब उनके द्वारा ही नही पकडा गया तो

पकडा ही नही जा सकता यह भाव है। अर्थात् कोई भी, किसी भी प्रकार और उपाय से, किसी भी देश मे, आनन्दात्मा को ग्रहण कर ले, यह असम्भव है।

५ ईश्वर, जोकि उपर्युक्त कारणो से अग्रहीत होने पर भी प्रसिद्ध है। **यस्य नाम महद्यश**, ऐसा अन्वय करने पर सबको अगोचर होने पर भी उसका नाम ही महान् प्रसिद्ध है, अथवा यह सारा जगत् उसकी कीर्ति का ही प्रख्यापन करता है यह भाव हो जायेगा।

६ अनेक उपनिषदो मे यश नाम से उसकी उपासना को कर्तव्य रूप से बताया है। इसके द्वारा नामोपासना को बताया गया। महत् भी उसका एक नाम माना गया है। अथवा सारे जगत् मे जहा कही भी जो कोई भी यशस्वी पदार्थ है उसको ईश्वर की विभूति मानकर ईश्वरोपासना कर्तव्य है। गीता मे भी सारी विभूतियो को इसी रूप से उपास्य बताया है। इसके द्वारा ईर्ष्या द्वेषादि की निवृत्ति प्रत्यक्ष सिद्ध है जो ज्ञान का प्रधान साधन है। स्मार्त उपासना पद्धति मे जो सभी उपयोगी पदार्थ देश काल आदि की यहा तक कि औषधि यन्त्र आदि की भी उपासना प्रचलित है उसका भी यही बीज है।

७ अवयवरूप से बने हुए विग्रह को मूर्ति कहते है। शिव तत्त्व की इस प्रकार की मूर्ति इसीलिये सम्भव नही कि वह निरवयव अखण्ड दिक् कालादि अनवच्छिन्न है। इस मत्र से कुछ आधुनिक लोग मूर्ति पूजा का खण्डन सिद्ध करते है, परन्तु यह सर्वथा कपोल कल्पना है। क्यो कि यहा प्रकरण शिव तत्त्व का है, समग्र देवविग्रहो का नही। यदि माध्यन्दिन सहिता मे आये हुए मत्र का भी सग्रह किया जाय तो भी इसके पूर्वाध्याय मे पुरुष सूक्त आया है। एव इस अध्याय के प्रथम मत्र मे **तदेवाग्नि** आदि मत्र के द्वारा उस पुरुष को प्रजापति रूप से बताकर सबका उत्पादक, एव अधिष्ठान कारण प्रतिपादित

कर के फिर इस मत्र के द्वारा पूर्वोक्त अधिष्ठान तत्व को ही मूर्ति का निषेध है देवता मात्र की मूर्ति का निषेध नही। यदि इससे मूर्ति मात्र का निषेध माना जायेगा तो नामोपासना के साथ वाक्य भेद प्रसक्त हो जायेगा जो सर्वथा वेदार्थ प्रक्रिया के विरुद्ध है।

अद्वितीय होने से किसी दूसरे के साथ उसकी उपमा या तुलना नही हो सकती यह भी भाव है। आनन्द का प्रतीक हो ही क्या सकता है। यह सारा भूत भौतिक प्रपञ्चजात दुख जड रूप होने से इसकी कोई भी चीज उसके (प्रति) ज्ञान (मा) का कारण नही बन सकती। चूंकि शब्द तो लक्ष्य के द्वारा ग्रहण करा सकते हैं अत उनमे यत् किञ्चित् प्रतिमानता स्वीकार भी कर ली जाय तो भी मूर्ति आदि मे उसकी स्वीकारता तो असम्भव है। विवेकी तो एसा मानते है कि सादृश्य दो तरह का होता है, प्रतीकात्मक एव प्रतिमात्मक। प्रतिमात्मकता मे दृष्टिगोचर पदार्थ प्रधान होता है एव उसमे जो भावना की जाती है वह गौण होती है। प्रतीकात्मकता मे भावना ही भावना प्रधान होती है एव दृश्यमान अग अक्षर आदि केवल उस भावना का उत्पन्न करने के स्मारक होते हैं। इस दृष्टि मे यन्त्र, मूर्ति, माता, पिता, गुरु, सूर्य, चन्द्र, ब्रह्माण्ड, पृथ्वी आदि सभी परमात्मा के प्रतीक हो सकते है परन्तु प्रतिमा नही, यह भाव है। जो प्रतीक जितनी ज्यादा स्मारकता सस्कारो के कारण ला सके वह प्रतीक उतना ही श्रेष्ठ होता है। अत प्रतीक विषयक उत्कृष्टता साधक-सस्कार सापेक्ष्य है। नामो मे ओकार एव रूप मे लिंग ही वैदिक सस्कारो के अनुसार सर्वाधिक प्रतीकता वाले है। परन्तु इस विषय मे विवाद व्यर्थ है। प्रतीकात्मकता को भूलकर प्रतिमा को ही जब देवता अथवा ईश्वर मानने लगते हैं तब पौराणिक धर्म का प्रारम्भ होता है। **न प्रतीके हि स** आदि ब्रह्म-सूत्रो मे यह स्पष्ट किया गया है। मूर्ति मे ब्रह्म दृष्टि भयावह नहीं, परन्तु ब्रह्म मे मूर्ति दृष्टि भयावह है।

२०

न सन्दृशे तिष्ठति रूपम् अस्य न चक्षुषा पश्यति कश्चन एनम् । हृदा हृदिस्थं मनसा ये एनम् एवम् विदुः अमृताः ते भवन्ति ॥

अस्य = इस परमात्मा का
रूपम् = रूप[1]
सन्दृशे = आख के सामने[2]
न = नही
तिष्ठति = ठहरता ।
कश्चन = कोई भी[3]
एन = इस परमात्मा को
चक्षुषा = आख से
न = नही
पश्यति = देखता ।
एवम् = इस प्रकार
एनम् = इस आत्म तत्त्व को
हृदा = प्रेम के द्वारा[4]
मनसा = शुद्ध मन से[5]
हृदिस्थ = हृदय मे स्थित रूप से[6]
ये = जिन्होने
विदु = जाना[7]
ते = वे
अमृता = अमर[8]
भवन्ति = होते हैं ।

१ जिससे किसी चीज का निरूपण हो जाता है उसको उसका रूप कहते हैं। यद्यपि भाषा मे रूप शब्द से चक्षु विषयता प्रसिद्ध है, एव इसीलिये यहा पर उसकी चक्षु विषयता का निषेध कर रहे हैं, परन्तु मानव मे चक्षु पर अधिक बल होने के कारण ही ऐसी रूढि हुई है। ईश्वर का वास्तविक रूप प्रत्यगात्मा है, पराक् आत्मा नही । जो कुछ भी मैं से भिन्न होकर प्रतीत होना है वह पराक् आत्मा है, जो कुछ भी मैं से अभिन्न होकर प्रतीत होता है वह प्रत्यक् आत्मा है। रूप रस-गन्ध-शब्द-स्पर्शादि से रहित होने के कारण ईश्वर किसी भी इन्द्रिय का विषय नही है। यह निर्विशेषता ही वस्तुत उसका रूप हैं।

२ आख से सभी इन्द्रियो की उपलक्षणा है अर्थात् दर्शन का

निमित्त हुआ हुआ यह आख के सामने नही आता इसी प्रकार श्रवण का विषय हुआ हुआ यह कान के सामने नही आता, इत्यादि। सामने नही आने का मतलब है कि दृष्टि इत्यादि के पीछे तो वह रहता ही है। अत आख के द्वारा उसको देखा जा सकता है, इसका मतलब होता है कि आख जब देखती है तो उसी की शक्ति से देखती है। इस रूप से उसका ज्ञान हो जाता है। चक्षुरादि इन्द्रियो के द्वारा यदि वह विषय होता तो कर्तृ-कर्म विरोध आ जाता। तात्पर्य है कि चक्षु के आश्रय रूपी उपाधि से वह द्रष्टा, एव विषय रूपी उपाधि से दृश्य होने के कारण औपाधिक भेद से भेद स्पष्ट है। तात्पर्य है कि आनन्द स्वरूप का ज्ञान घडे इत्यादि की तरह इन्द्रियो के द्वारा नही हो सकता।

३ कितनी भी विलक्षण अतीन्द्रिय प्रतिभा सामर्थ्य को प्राप्त किया हुआ जीव अथवा ब्रह्मा, विष्णु ही क्यो न हो किसी भी प्रकार उसका दर्शन इन्द्रिया से नही हो सकता। जैसे वायु का आख से प्रत्यक्ष असम्भव है क्यो कि वायु आख का विषय नही, इसी प्रकार ब्रह्म तत्त्व इन्द्रियातीत है। अत जहा कही चाक्षुष दर्शन होता है वहाँ किसी देवता, प्रेतात्मा, या और किसी का भी दर्शन हो सकता है ईश्वर का नही। इस श्रुति के बल से वैदिक ऐसे अन्ध विश्वास मे कभी भी नही पडता।

४ जैसे किसी अत्यन्त प्रिय व्यक्ति के आने की प्रतीक्षा मे हृदय उत्कण्ठित होता है वैसी उत्कण्ठा से चित्त की एकाग्रता ही यहा इष्ट है।

५ सस्कृत बुद्धि के द्वारा जिस अह से अहकार के सारे विशेषणों को हटा दिया गया हैं। तात्पर्य है कि मैं गोरा, ब्राह्मण, वेद पाठी, इस प्रकार के अनुभवो को जब गुरु और शास्त्र के द्वारा आगमापायी बताकर इन सब मे अनुवृत्त शुद्ध अह रूप से आत्मा को दिखा दिया

जाता है तब वैराग्य इत्यादि की पूर्णता के कारण प्रत्यगात्मा रूप से ईश्वर दर्शन सहज हो जाता है।

६ हार्दाकाश मे विद्यमान जो गुहा उसमे प्रत्यगात्मा रूप से स्थित। तात्पर्य है कि स्वय प्रकाश आत्मा अतिस्वच्छ अन्त करण के द्वारा जब शुद्धाहकार रूप वृत्ति रूप मे बदल जाता है तब उसमे प्रतिबिम्बित भाव का ब्रह्म को वृत्ति-वेद्यता कहते हैं। ब्रह्मवेत्ता उसका वैसे ही स्पष्ट दर्शन करते हैं जैसे आकाश का दर्पण मे किया जाता है।

७ मैं ब्रह्म हूँ, इस प्रकार अपरोक्ष रूप से जाना।

८ मरण के कारण-रूप अविद्या का तत्त्वज्ञान की अग्नि से जलने के कारण अमरता की प्राप्ति सहज सिद्ध है।

२१

अमरता की प्राप्ति के लिये अमोघ उपाय रूप ईश्वर शरणागति का प्रतिपादन करते हैं —

अजातः इति एवं कश्चित् भीरुः प्रपद्यते।
रुद्र यत् ते दक्षिणं मुखं तेन मां पाहि नित्यम्॥

अजात[१] = जन्म रहित हो[२]
इति = इस लिये
एव = इस प्रकार
कश्चित् = कोई[३]
भीरु = डरा हुआ[४] (आपकी)
प्रपद्यते[५] = शरण लेता है[६]।
रुद्र = हे रुद्र!
ते = आपका
यत् = जो
दक्षिण = दक्षिण का[७] (अघोर)
मुख = मुख है[८]
तेन = उसके द्वारा[९]
मां = मुझ को[१०]
नित्यम् = सदा
पाहि = बचावें[११]।

१ अज! अत इति वा च्छेदः।

२ जो स्वय जन्म वाला हो वह कभी किसी दूसरे को जन्म रहित नही बना सकता। जिस प्रकार निर्धन किसी को धन वाला नही बना सकता। चू कि सारे ब्रह्माण्ड मे रुद्र के सिवाय और कोई भी जन्म रहित नही है अत उसके सिवाय और कोई जन्म बन्धन से छुडा भी नही सकता। महाप्रलय मे रुद्र से अतिरिक्त और कोई बचता नही, अत महासर्ग मे रुद्र के अतिरिक्त सब की ही उत्पत्ति माननी ही पडती है। उसी की कृपा से इष्ट प्राप्ति और अनिष्ट सहार सभव होने से वही प्रार्थना के योग्य है, यह भाव है। तात्पर्य है कि चू कि तुम अजात हो और इसीलिये जन्म मरण भूख-प्यास-शोक-मोह रूपी षड्ूर्मियो से रहित हो अत उनकी निवृत्ति के लिये तुम्हारी ही प्रार्थना करना युक्तियुक्त है।

अथवा अजात इति न ज्ञात्वा भीरु । अर्थात् यद्यपि मै भी जन्म रहित हू परन्तु यह स्वरूप मुझे अभी ज्ञात नही है अत मै भीरु हूँ। मै ज्ञान के द्वारा इस भीरुता से हटकर अजातता का अनुभव करू । (**इति हेतो**) इस कारण आपकी शरण लेता हू । अथवा हे अज ! अर्थात् जन्म रहित, चू कि तुम्हारे प्रसाद के विना आत्म ज्ञान नही हो सकता **अत** अर्थात् इसलिये आपकी शरण लेता हू ।

३ कोई विलक्षण पुण्यो के फलस्वरूप रुद्र की शरण लेता है। वस्तुतस्तु उनकी ही शरण मे जाना इतना दुर्लभ है कि उनकी कृपा के विना सभव नही । अत इसमे भी परतत्र होने के वजह से उसको कश्चित् कहा। तात्पर्य है वेद की दृष्टि से जीव ईश्वर से अभिन्न है, भिन्न भिन्न वादो की दृष्टि से उसका वास्तविक रूप निर्धारित नही किया जा सकता, पामर दृष्टि से पिशाच रूप है, साधारण दृष्टि से अमुक का बेटा, अमुक का शिष्य इत्यादि रूप है, अविचार से देह रूप है, एव विचार दृष्टि से अह शब्द के द्वारा प्रतिपादित रूप है। इनमे से मैं किस रूप का हू यह ज्ञान न होने के कारण मेरी जिज्ञासा

है कि यह आत्मा कश्चित् वस्तुत कौन है ? इस जिज्ञासा को लेकर आपकी शरण मे आया हूँ। (एव) अगली अर्धाली मे कहे हुए प्रकार से शरण मन्त्र का जप करता हूँ।

४ घोर, कराल, ससार रूपी शूल के बार बार दर्शन करने से त्रस्त हुआ। तात्पर्य है कि अब मैं इससे निर्विण्ण होकर कहीं भी सहारा न मिलने के कारण केवल आपके सहारे को पकड रहा हूँ। घोर जगल मे से शेर के द्वारा खदेडा हुआ व्यक्ति गाव की प्रथम शाला मे घुसते समय जैसे, दाये बाये और किसी आश्रय की तरफ आख उठा कर भी नही देखता इसी प्रकार ससार भीरु ससार से रहित एक मात्र अजात रुद्र को देखकर उसकी शरण मे जाते हुए अन्य किसी देवताओ की तरफ आख उठाकर भी नही देखता।

५ **प्रपद्ये वा, प्रतिपद्यते वा पाठ** ।

६ मेरी तरह जो कोई भी भयभीत होता है वह शरण लेता है, यह तात्पर्य है, स्वय शरण लेते समय उत्तम पुरुष को मध्यम पुरुष मे बदल लेना चाहिये। जब जीव समग्र साधनाओ और उपायो को करके, अथवा उनके स्वरूप का विचार करके इस निश्चय पर पहुँच जाता है कि वे सब उपाय व्यर्थ है तब अपने बलबूते को छोडता है, एव परमात्मा की शरण लेता है। मैं इस प्रकार के निश्चय को प्राप्त करके आपकी शरण प्राप्ति के योग्य बनू अर्थात् आपकी शरणागति मुझे प्राप्त हो यह भाव है अथवा प्रपत्ति का अर्थ एकता की प्राप्ति होता है। आपसे एक होकर मै भी अजात हो जाऊ यह भाव है।

७ हृदय के पञ्च सुषिरो मे दक्षिण का सम्बन्ध अघोर के साथ है। इसीलिये शकर के पाच मुखो मे भी दक्षिणामूर्ति का सम्बन्ध अघोर के साथ है। कान का भी सम्बन्ध इसी के साथ है। आत्म ज्ञान इस अघोर अर्थात् दक्षिणामूर्ति रूप से ही प्राप्त होता है यह प्रसिद्ध हो है। श्रवण से ही ज्ञान होता है यही वेद राद्धान्त है। शकर का

दक्षिणामूर्ति रूप ही सर्वाधिक सुन्दर होने से ध्यानियो को आह्लाद कारी भी है तथा उत्साह जनक है। कुछ लोग मानते है कि उपदेश कुशल मुख होने से ही इसे दक्षिण मुख कहा जाता है। अथवा एक मात्र उनका सहारा लेने वाले श्री परमहसो का सबीज ससार दु ख जलाने मे दक्ष अर्थात् कुशल होने से दक्षिणामूर्ति कहे गये हैं।

८ दक्षिण दिशा मे होने वाला मुख। अथवा मुख का अर्थ है विषय की उपलब्धि का द्वार।

९ वेदान्त श्रवण मे प्रवृत्ति रूप साधन से। तात्पय है कि श्रवण सम्बन्धी दक्षिण सुषिर के खुल जाने से वेदान्त वाक्य का तात्पर्य हृदय मे बैठ सके। अथवा आपके दक्षिणामूर्ति मुख के द्वारा।

१० ससार से उद्विग्न होकर आपके पास आये हुए शरणागत अधिकारी को।

११ मैं ब्रह्म हू ' इस प्रकार की वृत्ति को उत्पन्न करके, फिर उस वृत्ति पर आरूढ होकर, निरतिशय आनन्द स्वभाव की अभिव्यक्ति एव सबीज ससार का उपशम हमेशा के लिये हो जाय, यही रक्षा है। तात्पर्य है कि दक्षिणामूर्ति गुरु रूप से जो उपदेश दे उससे मै मुक्त हो जाऊ। मेरा कान कभी भी वेदान्त श्रवण विहीन न हो पाय।

२२

हमारे शिष्य प्रशिष्यो के कार्य-करण सघात सम्यक् ज्ञान के योग्य बनें :—

मा नः तोके तनये मा नः आयुषि मा नः गोषु मा नः अश्वेषु रीरिषः। वीरान् मा नः रुद्र भामितः वधीः हविष्मन्तः सदम् इत् त्वा हवामहे ॥

रुद्र = हे रुद्र !
भामित = क्रुद्ध होकर[१]
न = हमारे
तोके = पुत्रों को[२]
मा[३] = मत, (नष्ट करो)
न = हमारे
तनये = पोतों को
मा = मत, (नष्ट करो)
न = हमारी
आयुषि = आयु को[४]
मा = मत, (नष्ट करो)
न = हमारे
गोषु = गौवें[५]
अश्वेषु = और घोडों को[६]
मा = मत
रीरिष = नष्ट करो[७]।
न = हमारे
वीरान् = वीरों को[८]
मा = मत
वधी = नष्ट करो।
हविष्मन्त = पूजा की सामग्री से युक्त होकर[९]
सदम् = सदा (अथवा हुए हुए)
इत् = इसी प्रकार से
त्वा = तुम को
हवामहे = भेंट देते हैं[१०]।

१ भा अर्थात् प्रकाश। मित अर्थात् परिमित अर्थात् सीमित। जीव के परिमित ज्ञान से ही मानो अपरिच्छिन्न रुद्र के ऊपर वह परिच्छिन्नता का दोष लगा कर जो अपराध करता है उसके फल स्वरूप रुद्र का क्रोध है। इस परिच्छिन्न ज्ञान को हमारी असमर्थता समझ कर क्षमा कर दो यह भाव है। जैसे अपराधी शरण गत होने पर क्षन्तव्य होता है वैसे ही हम हैं यह भाव है। अथवा हमारे परिच्छिन्न घट-पटादि ज्ञानों के द्वारा तुम्हारे ऊपर जो आवरण चढता है, एवं जो पापरूप क्रियायें होती हैं उन उन के बदले दण्ड न देकर जिस अज्ञान के कारण हम यह प्रवृत्तियां करते हैं उस अज्ञान का ही नष्ट कर दो। किसी किसी पुस्तक में भामत या भावित या भामिन पाठ मिलता है। तब तात्पर्य है बुद्धि उत्साहादि से साधना करने वाले हमको इस साधना से दूर होकर नष्ट न होने देना।

२ सन्यासियों के लिये शिष्य ही पुत्र है, एवं गृहस्थों के लिये

आत्मज। तोक शब्द स्त्री और पुत्र दोनो शब्दो का सग्रह करने के लिये है। अथवा छोटे बालक को भी तोक कहते है। अर्थात् पूर्णावस्था को प्राप्त होकर ही हमारे सम्बन्धी इस ससार से जावे। वस्तुतस्तु पुत्र और पौत्र विस्तार होने से हमारा ज्ञान और ज्ञान निष्ठा कभी नष्ट न होवें यह भाव है।

३ रीरिष इति सर्वत्र सम्बध्यते।

४ नीरोग होकर सौ वर्ष पर्यन्त पूर्ण आयु बनी रहे। यहाँ उकारान्त समझकर वायुना, जगदायुना इत्यादि की तरह शब्द बना लेना चाहिये। लम्बी आयु, ज्ञान दृढता, एव ज्ञान प्रचार के लिये मागी गई है। वैदिक जीवन से भागता नही वरन् डटकर रहता है यह तात्पर्य है।

५ दो खुर वाले पशुओ की उपलक्षणा के लिये है। अथवा सम्यक् ज्ञान के कारण रूप एव सम्यक ज्ञान की साधन परम्परा के प्रतिपादन करने वाले वेदो मे हमारी निष्ठा दृढ बनी रहे, एव नष्ट न हो यह भाव है।

६ एक खुर वाले पशुओ की उपलक्षणा है अथवा इन्द्रियो की, विशेषकर कर्मेन्द्रियो की विनष्टि न हो, अर्थात् शुभ कर्मादि मे हमारी रुचि सदा बनी रहे।

७ रिष् हिसायां धातु से निष्पन्न होने से किसी भी तरह की विनष्टि को यह विषय करता है। यहा सर्वत्र गाषु इत्यादि की सप्तमियां विषयत्व सम्बन्ध मे समझनी चाहिये अर्थात् तत् तत् विषयक हिंसा न करो यह भाव है।

८ हमारे लिये विक्रम करने वाले रिश्तेदार एव स्निग्ध उत्साही भृत्य इत्यादि। तात्पर्य है कि उनके द्वारा किये गये अपचारो से तुम क्रोध न करना। अथवा जो हमारी हानि करने वाले दुर्दान्त मानव भूतवेतालादि हो वे भी तुम्हारे अनुग्रह मात्र से मेरी कोई हानि नही कर सकने अतः मेरे निमित्त से उन्हे भी नष्ट मत करना।

९ ग्राम्य, ग्रारण्य, ग्रोषधिया, दूध, घी, इत्यादि बलि को लेकर हम सदा ग्रापकी पूजा करते रहे। अथवा हम अपने अहकार, काम, क्रोधादि, पशुग्रो की सदा तुमको बलि चढाते रहे। सम्यक् ज्ञान-योग्यता की सिद्धि के लिये ग्राराधन रूपी साधन सदा करे, यह भाव हैं।

१० ग्रापको उद्देश्य करके ही हमारी होमादि पूजायें सम्पन्न हो। अथवा अपनी रक्षा के लिये ग्रापको बुलाते हैं। अथवा प्रभु सदा भक्ताधीन है अत भक्ति के द्वारा ही ग्रापको सदम् अर्थात् मण्डप मे या मण्डप के प्रति पूजा भाव को ग्रहण करने के लिये बुलाते हैं।

इति चतुर्थोऽध्यायः।

—•—

अथ पञ्चमोऽध्यायः

परमेश्वर के स्वरूप का प्रतिपादन करके साधनो का निरूपण किया एव श्रेष्ठतम साधन, रुद्र कृपा की प्राप्ति के लिये प्रार्थना एव शरणागति का उपाय बताया। उनकी कृपा से प्राप्त विद्या एव अकृपा से होने वाली अविद्या को बताते हैं —

द्वे अक्षरे ब्रह्मपरे तु अनन्ते विद्याविद्ये निहिते यत्र गूढे। क्षरं तु अविद्या हि अमृतं तु विद्या विद्याविद्ये ईशते यः तु सः अन्यः॥

यत्र=जिस[1]
अक्षरे=अविनाशी
अनन्ते=अनन्त या अद्वितीय
ब्रह्मपरे[2]=पर ब्रह्म मे[3]
तु=ही
द्वे=दोनो
विद्याविद्ये=विद्या और अविद्या[4]
गूढ़े=गुप्त हुई[5]
निहिते=स्थित (कल्पित) है[6],
अविद्या=अविद्या
तु=ही
क्षर=क्षरण का[7] (सृष्टि का कारण) है,
हि=एव
विद्या=विद्या
तु=ही
अमृतम्=मोक्ष[8] (अमरता का कारण) है।
य=जो[9]
विद्याविद्ये=विद्या और अविद्याका
ईशते=नियमन करता है
स[10]=वह
तु=तो
अन्य=दूसरा है[11]।

१ पूर्वोक्त ब्रह्म ही ज्ञान और अज्ञान दोनो का आश्रय है। वेदान्त सिद्धान्त ब्रह्म को ही अविद्या से बद्ध और विद्या से मुक्त मानता है। परन्तु वस्तुत यह दोनो ही शक्तिया ब्रह्म मे कल्पित होकर के रहती है। ब्रह्म ही मुक्त और बद्ध रूप से कल्पित है।

२ ब्रह्मपुरे इति पठति नारायण ।

३ हिरण्यगर्भ रूपी ब्रह्म से उत्कृष्ट अर्थात् महेश्वर । अथवा जो ब्रह्म होवे एव पर अर्थात् श्रेष्ठ होवे । ब्रह्मपुर पाठ मे तो जीव और ब्रह्म दोनो विज्ञान-स्वरूप है एव देह मे रहते हैं । जीव की अक्षरता ज्ञान पर्यन्त समझनी चाहिये, एव ज्ञान के विना अन्त न होने से भी उसको अनन्त कहा है । परमात्मा मे तो यह विशेषण निरुपचरित ही है । अथवा शब्द ब्रह्म रूपी विद्या और कारण रूप अविद्या दोनो को ही ब्रह्म कहा जाता है ।

४ ब्रह्म के स्वरूप को अनावृत करने वाली शक्ति का नाम विद्या और आवृत करने वाली शक्ति का नाम अविद्या है ।

५ अखण्डानन्द रूप से अनभिव्यक्त होने से ही विद्या को गुप्त कहा जाता है, एव लौकिक पुरुषो के द्वारा न समझी जाने के कारण अविद्या को भी गुप्त कहा जाता है ।

६ परमेश्वराधीन ही दोनो की सत्ता होने से निहित कहा गया । ज्ञान और अज्ञान दोनो ही साक्षी-भास्य है यह भाव है ।

७ समग्र नष्ट होन वाले जगत् की उत्पत्ति का कारण होने से कारण रूप से प्रतिष्ठित शक्ति को अविद्या कहते है, अथवा विनाशी कार्य कर्म का फल है, एव कर्म अविद्या का, इसलिये अविद्या क्षर रूप है । जो जो विनाशी है वह वह अविद्या का कार्य है यह भाव है । इसीलिये स्वर्गादि अनित्य फल को उत्पन्न करने वाले कर्म को भी अविद्या ही कहा जायेगा ।

८ नित्य मोक्ष रूपी पुरुषार्थ को प्राप्त कराने वाली विद्या है । अमृतत्त्व का साधन होने से ही उसे अमृत कहा गया । तात्पर्य है कि शमदमादि से युक्त होकर श्रवणादि ही नित्य पुरुषार्थ की इच्छा वालो को सर्व-कर्म सन्यास पूर्वक कर्तव्य है । अमृत रूप आत्म ज्ञान ही मोक्ष के स्फुरण का हेतु है एवं वह शब्द ब्रह्म मे प्रतिष्ठित है ।

९ विद्या और अविद्या दोनो का स्वामी परमात्मा, जो विद्या और अविद्या रूप नही है। वस्तुतस्तु विद्या और अविद्या दोनों अन्त करण वृत्ति रूप ही है। यद्यपि दोना का अधिष्ठान साक्षी और नियामक है तथापि दोनो से भिन्न है यह भाव है।

१० यस्तु सोम्य इति पठति दीपिकाकृत। सोमवत् प्रिय-दर्शन इत्यर्थ। श्रुतिः सांसारिणं सम्बोधयति, श्वेताश्वतर शिष्यान् वा।

११ विद्या और अविद्या दोनो भावो से असग है, इसीलिये अन्य कहा गया।

२

बद्ध जीव के ऊपर ईश्वर की अनुग्राहकता बताते हैं —

यः योनिं योनिम् अधितिष्ठति एकः विश्वानि रूपाणि योनीः च सर्वाः। ऋषिं प्रसूतं कपिलं यः तम् अग्रे ज्ञानैः बिभर्ति जायमानं च पश्येत् ॥

य =जो
एक =एक
योनिम्=योनि[1]
योनिम्=स्थान को
विश्वानि=सभी
रूपाणि=रूपो को[2]
च=एव
सर्वा =सभी
योनी =योनियो को[3]
अधितिष्ठति=अपना रूप मान कर स्थित रहता है।
य =जो
तम्=उस प्रसिद्ध
ऋषिं=घूमने वाले (जीव) को[4]
प्रसूत=प्रसूति वायु के आघात से अपहृत-ज्ञान वाले[5](व)
कपिल=पूर्व अनुभवो की विस्मृति से हत-प्रभ को[6]
अग्रे =बाद मे[7]
ज्ञानै =ज्ञान के द्वारा[8]
बिभर्ति =पुष्ट करता है।
च =एव वही परमात्मा
जायमान = उत्पन्न होने वाले का (कर्मानुकूल पदार्थ देकर)[9]
पश्येत् = दृष्टि से रक्षण करे[10]।

१ जीव भाव से परमात्मा ही रहता है। एव ज्ञान देकर तथा कर्म फल देकर वह उसका रक्षण करता रहता है। यह सब वह योनि अर्थात् अविद्या शक्ति के द्वारा करता रहता है। न कर्म-फल भोग अविद्या के विना हो सकता है और न मोक्ष ही अविद्या के बिना सभव है। वेदान्त सिद्धान्त मे एक ही अविद्या स्वीकृत होने से एक ही अविद्या विशिष्ट चेतन सिद्ध होता है। जीव का लक्षण अविद्या विशिष्ट चेतन मानने से एक जीव ही सिद्ध होता है। अन्त करण अविद्या का कार्य हैं। व्यावहारिक दृष्टि से अन्त करण विशिष्ट को जीव कह दिया जाता है और इस दृष्टि से अनेक जीव वाद भी सगत है। वस्तुतः देह, मन आदि उपाधियो को हटा देने पर केवल स्वरूपावृत जीवो मे परस्पर भेद प्रतीति असभव है। अत यहा एक पद एक जीव वाद की पुष्टि का प्रबल प्रमाण है। तात्पय है कि परमेश्वर ही महा माया का अधिष्ठाता होने के साथ ही साथ सारे ही शरीरा का एव अवान्तर मायाओ का अधिष्ठाता भी है। यहा मनुष्यादि चौरासी लाख योनि स्थानो का सग्रह है। गभ वास ही इन योनिस्थानो मे आरोहण है। अथवा य **अयोनिं योनिम्** ऐसा पदच्छेद करके कारण रहित अनादि सिद्ध माया को स्वरूप और स्फुरण देकर स्थित रहता है यह भाव है। वस्तुतस्तु यहा त्रिविध योनियो के द्वारा त्रिविध त्रिकोणो का, जो अधोमुख होते है, प्रतिपादन करके छिन्न-मस्ता की उपासना निर्दिष्ट की गई है।

२. मनुष्यादि नाना प्रकार के भिन्न शरीर अर्थात् कार्य सघात से तात्पर्य है। अथवा भिन्न भिन्न प्रकार के लाल इत्यादि वर्ण।

३ समग्र जीव शरीरो से समवेत पुल्लिग, स्त्रीलिग आदि कारण रूप वस्तुओ का सग्रह है। अर्थात् आकाशादि समष्टि रूप एव उनके व्यष्टि-रूप अवान्तर-योनियो मे भी वही प्रवेश करके रहता है।

४ गर्भोपनिषद् के अनुसार प्रसव के पहले गर्भस्थ शिशु को अपने

पूव जन्मो के कर्मो की स्मृति एव आगे के कर्मों का अनुसन्धान होता हे। उसमे वह देखता है कि मै भिन्न भिन्न योनियो मे घूमते हुए, तरह तरह के भोगो को भोगने हुवे कष्ट पाता रहा अत इस जन्म मे महेश्वर की शरणागति लेकर मोक्ष प्राप्त करू गा। इस प्रकार अपने घूमने वाले रूप का अनुसन्धान करते हुए स्वरूप के कारण भी उसे ऋषि कहा गया तथा मत्र द्रष्टाओ को तरह मोक्ष मार्ग का निश्चय करने के कारण भी ऋषि कहा गया।

५ इस प्रकार का गर्भस्थ शिशु का ज्ञान जब वह योनिमार्ग से बाहर निकलता है, एव बार बार प्रसूति वायु के द्वारा योनि पृष्ठो से उसका मस्तिष्क भयकर रूप से दबाया जाता है तब उसका वह ज्ञान नष्ट हो जाता है।

६ बालक का मस्तिष्क भूरे रग की तरह सफेद और छाया का मिश्रण-मात्र रह जाता है भूरे को ही कपिल (brown) कहते है। अज्ञानान्धकार एव चेतना का मिश्रण ही कपिल है। जैसे धु धली रोशनी मे मनुष्य को कुछ नही दीखता वैसी ही स्थिति हो जाती है। न पिछले अनुभवो का स्मरण रहता है और न आगे का अनुसधान। अथवा विषयो मे अप्रवृत्त रूप से स्थित रहने के कारण वह कपिल कहा गया। कपि का अर्थ बन्दर एव तत् उपलक्षित चञ्चलता है। वह चञ्चलता जिसमे नष्ट हो गई हो उसे कपिल कहा गया है।

७ जब जीव इस प्रकार की स्थिति को प्राप्त हो जाता है तब परमात्मा उसे स्तन पानादि की प्रवृत्ति के हेतु रूप दर्शन-स्पर्शनादि ज्ञान दान करता है। अर्थात् उसको ज्ञानेन्द्रिया देता है।

८ अन्त करण मे प्रवृत्ति कराकर वैषयिक ज्ञान की शक्ति देता है।

९ वह परमात्मा ही इस प्रकार कर्म फलो को देकर जीव का सरक्षण करता है, एव जीव के रूप को धारण करता है, ऐसा विचार

दृष्टि से देखे (पश्येत्) अर्थात् ऐसा ध्यान करते हुए उसके शरण मे अपने को समझे।

१० यदि **जायमान** को **बिभर्ति** क साथ लेलिया जाय तो अर्थ होगा कि उत्पन्न होने वाले जीव को परमेश्वर ही अपने साकल्प से धारण करता है, इस प्रकार से पश्येत्। अथवा पश्येत् का अर्थ लकार बदलकर पश्यति कर लेना चाहिये। अर्थात् उत्पन्न होने वाले जीव को परमात्मा देखता है।

कपिल का अर्थ हिरण्यगर्भ भी लिया जा सकता है, क्यो कि हिरण्यगर्भ कपिल वर्ण के होते है। तब तात्पर्य होगा (य) जो परमेश्वर (**अग्रे**) सृष्टिकाल मे (**ऋषिं**) अप्रतिहत ज्ञान वाले (**कपिल**) हिरण्यगर्भ को (**प्रसूत**) अपने से उत्पादित को (**ज्ञानै**) वेद ज्ञान से युक्त करके (**बिभर्ति**) धारण करता है एव उसको अवान्तर सर्ग के सग स्थिति सहार रूप से एव वेद सम्प्रदाय कर्ता रूप से (**पश्येत्**) देखता है। तात्पर्य है कि उसी परमेश्वर को मुमुक्षु अपने आत्म रूप से जाने।

कुछ लोग कपिल से प्रसिद्ध ऋषि अर्थात् अतीन्द्रिय द्रष्टा एव प्रसूत अर्थात् प्रकर्ष से उत्पन्न को लेते है। परन्तु ऐसा मानने पर भी यहा सगर पुत्रो के जलाने वाले वासुदेवावतार कपिल को लेना चाहिये साख्य शास्त्र बनाने वाले को नही। साख्य सिद्धान्ती प्राय इस मत्र से कपिल की प्रामाणिकता का प्रतिपादन करते हैं। वस्तुतस्तु कपिल को यह दोनो ही अर्थ श्रुति मे कहे गये अग्रे से बाधित हो जाते हैं। किञ्च बाद मे होने वाले पौराणिक कपिल का नित्य वेद मे अनुसन्धान व्यर्थ प्रयास मात्र है। इस उपनिषद् के अन्त मे भी **यो वै वेदांश्च** के द्वारा ब्रह्मा को ही ज्ञान सर्व प्रथम दिया गया यह बताया गया है अत हिरण्यगर्भ का ग्रहण ही युक्ति युक्त है। उसे अव्याकृत का प्रथम कार्य होने से प्रसूत कहना भी बनता है, एव

अनन्त ज्ञान-क्रिया शक्ति वाला होने से चितकबरा (कपिल) कहना भी बनता है। हिरण्यगर्भ के द्वारा ही सृष्टि का प्रसार कराना इष्ट होने से उसको अतीत, अनागत, दूर, पास, प्रवृत्ति, निवृत्ति आदि सभी ज्ञानो का धारण कराना भी युक्ति सगत होता है। अत साख्यो का प्रयास व्यर्थ है।

३

परमेश्वर की ही जगत्स्रष्टृत्वादि कर्मों मे कारणता है —

एकैकं जालं बहुधा विकुर्वन् अस्मिन् क्षेत्रे संहरति एषः देवः ।

भूयः सृष्ट्वा पतयः तथा ईशः सर्वाधिपत्यं कुरुते महात्मा ॥

एष =यह	**सृष्ट्वा**=निर्मित करके
देव =महादेव	**अस्मिन्**=इस
एकैक=प्रत्येक	**क्षेत्रे**=क्षेत्र मे[२]
जाल=(कार्य-कारण रूप) जाल को[१]	**सहरति**=उपसहृत कर लेता है[३]
बहुधा=बहुत प्रकार से	**भूय**=फिर
विकुर्वन्=विकृत करते हुए	**महात्मा**=महात्मा
तथा=एव	**ईश** =महेश्वर
पतय =प्रजापतियो को	**सर्वाधिपत्यम्**=सबका आधिपत्य[४]
	कुरुते=करता है।

१ ससार रूप महेन्द्र जाल प्रति प्राणी मे सुर नर तिर्यगादि रूप से अलग अलग देखने मे आने के कारण यहा प्रत्येक जाल कहा गया। कर्मफल लक्षण बन्धन ही बाधने के कारण जाल कहा जाता है। एव एक एक कर्म देहादिभोग उपकरण रूप अनेक फल को उत्पन्न करते हैं। अथवा कार्य करण सघात जीव मत्स्य को बाधने के कारण जाल कहा गया। तात्पर्य है कि समष्टि अन्त. करण, समष्टि प्राण, समष्टि ज्ञानेन्द्रिय एव समष्टि कर्मेन्द्रियो को बनाकर उनसे तादात्म्य

करके व्यष्टि अन्त करण, व्यष्टि प्राण आदि रूप से उनका विकार किया जाता है। एक एक समष्टि का अनेक व्यष्टि रूप मे बटना ही यह विकार है।

२ यस्मिन् इति वा पाठः।

३ सर्व प्राणियो की अभिव्यक्ति का स्थान रूपी महामाया।

४ सृष्टि काल मे विकुर्वन् अर्थात् भिन्न भिन्न विकारो मे फैलाता है एव प्रलय काल मे पुन अपने मे लीन कर लेता है।

५ उपाधि और उपहितो को विना किसी परतत्रता के नियन्त्रित करता है।

४

परमात्मा की अखण्ड ज्ञानरूपता बताते है —

सर्वाः दिशः ऊर्ध्वम् अधः च तिर्यक् प्रकाशयन् भ्राजते यन् अनड्वान्। एवं सः देवः भगवान् वरेण्यः योनिस्वभावान् अधितिष्ठति एकः ॥

यन्[1] = चलते हुए[2]	**एवं** = इसी प्रकार
अनड्वान् = सूर्य[3]	**स** = वह[5]
ऊर्ध्वम् = ऊपर	**भगवान्** = भगवान्
अध = नीचे	**वरेण्य** = वरण करने के योग्य[6]
च = और	**एक** = अद्वितीय
तिर्यक् = तिरछी	**देव** = महादेव
सर्वा = सभी	**योनिस्वभावान्**[7] = कारणो एव स्वभावो को[8]
दिश = दिशाओ को	**अधितिष्ठति** = नियन्त्रन करता है।
प्रकाशयन् = प्रकाशित करते हुए[4]	
भ्राजते = दीप्त होता है,	

१ भ्राजते यद् उ अनड्वान् इति वा पाठच्छेदो।

२ उदयाचल से अस्ताचल की तरफ जाते हुए सबको आश्चर्य

मे डालने वाला सूर्य जगत् चक्र के अवभासन मे रत रहता है यह भाव है।

३ अनड्वान् का अर्थ साड और सूर्य दोनो ही होता है। जिस प्रकार गौवो के मण्डल मे साड स्वतत्र होता है उसी प्रकार सूर्य भी आकाश मडल मे स्वतत्र होता है।

४ दिशाये और दिशा मे रहने वाले पदार्थ सभी को प्रकाश करने पर भी सूर्य अपने स्वय प्रकाश रूप से दीप्त होता ही रहता है। साड अर्थ करने पर भी सभी गायो को गाभिन करते हुए स्वय उन सब से श्रेष्ठ और न्यारा ही शोभता है। जगत् चक्र चलाते हुए परमेश्वर भी प्रतिबिम्ब रूप से सभी उपाधियो मे प्रवेश करके भी उन सब से श्रेष्ठ और न्यारा बना रहता है।

५ जगत् कारण रूप।

६ सबसे श्रेष्ठ एव सबके द्वारा भक्ति करने के योग्य। अभ्युदय और मोक्ष दोनो प्रकार के अभिलाषियो द्वारा जिसका भजन किया जाता है।

७ **योनि स्वभावात् इति वा पाठ।**

८ सबका कारण माया, एव पृथिव्यादि का गन्धादि स्वभाव। अथवा माया ही जिनका स्वभाव है अर्थात् स्वभाव शून्य। जैसे नट एक हुआ भी अनेक वेशो को धारण करके अनेक प्रतीत होता है वैसे ही आकाश से अणु पर्यन्त एव हिरण्यगर्भ से घास पर्यन्त सब पदार्थों के स्वभाव वाला प्रतीत होकर एव अन्तर्यामी रूप से उनका नियमन करके रहते हुए भी वह उन सब का अधिष्ठान होकर स्वरूप और स्फुरणता प्रदान करते हुए उनका स्वतत्र नियामक बना रहता है।

यद्यपि इन प्रकरणो मे कही कही जीव का लिग भी दिखाई देता है, परन्तु प्रकरण एव मोक्ष रूपी फल मे पर्यवसान होने से इन मत्रो को ईश्वरपरक ही समझना चाहिये। अत प्राञ्चाचार्यो (भर्तृप्रपञ्च

और भट्टभास्कर) के द्वारा देह मात्र मे व्यापकता का प्रतिपादन करके जीव मे सगत करने का प्रयास असगत ही है ।

५

यत् च स्वभावम् पचति विश्वयोनिः पाच्यान् च सर्वान् परिणामयेत् यः । सर्वम् एतत् विश्वम् अधितिष्ठति एकः गुणान् च सर्वान् विनियोजयेत् यः ॥

यत्[१] = जिस
स्वभाव = स्वभाव को[२]
विश्वयोनि = जगत् का कारण
पचति = पकाता है[३]
च = तथा
य' = जो
सर्वान् = सारे
पाच्यान्[४] = पकाने के योग्य[५] सामग्रियो को
परिणामयेत् = परिणत कराता है
च = तथा
एतत् = यह
एक = अद्वितीय ही
सर्वम् = सारे
विश्वम् = विश्व को[६]
अधितिष्ठति = अधिष्ठित[७] करता है,
च = एव
य = जो
सर्वान् = सारे
गुणान् = गुणो को[८]
विनियोजयेत् = विनियुक्त कराता है (आने वाले श्लोक से इस वाक्य का सम्बन्ध है)

१ य यश्च इति वा पाठ ।

२ अग्नि का स्वभाव उष्णता है, इसी प्रकार सभी पदार्थो का स्वभाव समझना चाहिये ।

३ अपनी सन्निधि मात्र से वागादियो को उनके कार्य के अनुरूप अर्थात् स्वभाव वाला बनाना ही उनको पकाना है । अथवा वागादियो को कर्म फल के अनुकूल करना ही उनको पकाना है । अथवा धातुओ की अनेकार्थकता के न्याय से उन्हे निष्पन्न करता है यह भाव है ।

सारी योनिया अर्थात् स्थान या कारण उसी के द्वारा पकते है अर्थात् निष्पन्न होते है। यहा एव अवितिष्ठुति मे णिजन्त का प्रयोग न करके श्रुति यह बताना चाहती है कि इन दोनो क्रियाओ मे उपाधियो की गौणता है। भाव है कि समग्र योनियो मे स्वभाव रूप को वह स्वय पकाता है।

४ प्राच्यॉश्चेति वा पाठ । पूर्वोत्पन्नान् पदार्थान् धर्मादींश्च इत्यर्थ ।

५ कर्म, कला, नियति आदि तत् तत् अवस्था रूपो मे परिणत होकर ही तत् तत् जीवो से सम्बन्ध वाले होते है। जीव कृत कर्म-फल के सहारे ही इस पाक की निष्पत्ति होने से परिणामयेत् मे णिजन्त प्रयोग है। प्राच्य पाठ मानने से पूर्वोत्पन्न धर्मादियो को फलोन्मुख करता हैं, यह भाव है।

६ अविद्या एव अविद्या के कार्य जो एक दूसरे से विभक्त होकर दृश्य बनते है।

७ अन्तर्यामी रूप से नियन्त्रण करता है एव सत्ता रूप से अधिष्ठान बनता है।

८ द्रव्य मे रहने वाले धर्मो को गुण कहते है। इनमे से कुछ यावत् पदार्थ स्थायी होने से नित्य कहे जाते है एव कुछ अनित्य। इन्द्रियो का अपने अपने कार्यो मे प्रवृत्त होना भी गुणाधीन है। अथवा पुण्य-पापादि गुणो को अध्यात्मादि भेद भिन्न पदार्थों मे विनियुक्त करता है अर्थात् अमुक से अमुक होगा इस प्रकार का विनियोग करता है।

कुछ लोग गुणो से साख्य सिद्धान्त के सत्व, रज, तम का सग्रह करते हैं। परन्तु अवैदिक होने से यह उपेक्ष्य है। सभी 'जो' का अगले मत्र मे आने वाले 'वह' से सम्बन्ध है।

६

तत् वेदगुह्योपनिषत्सु गूढ़म् तत् ब्रह्मा वेदते ब्रह्मयोनिम् ।
ये पूर्वदेवाः ऋषयः च तत् विदुः ते तन्मयाः अमृताः वै
बभूवुः ॥

तत् = उस[1]
वेदगुह्योपनिषत्सु = वेद, गुह्य और उपनिषदो मे[2]
गूढ़म् = छिपे हुए[3]
ब्रह्मयोनिम् = वेद योनि रूप[4]
तत्[5] = तत्पदार्थ रूप शिव को
ब्रह्मा = ब्रह्मा
वेदते = जानते हैं[6],
ये = जो
पूर्वदेवा[7] = विष्णु आदि प्रथम देवता[8]
च = तथा
ऋषय = वसिष्ठादि ऋषि[9]
तत् = उसको
विदु = जान गये[10]
ते = वे
वै = निश्चित रूप से
तन्मया = शिवमय होकर[11]
अमृता = अमर
बभूवु = हो गये थे ।

१ जिसका प्रकरण चला है एव जो पूर्व-मत्र मे जो से कहा गया है उस कारण रूप परमात्मा का परामर्श है । यद्यपि कर्म वाचक अम् का यहा लोप है, परन्तु वह अव्यय तत् के द्वारा प्रतिपादित ईश्वर वाचक पद के कारण है । तत् सत् परब्रह्मणे नम आदि प्रयोगो मे यह प्रसिद्ध है ।

२ वेदो के गुह्य अर्थात् रहस्य रूप उपनिषत् भागो मे । ऋगादि वेदो मे सर्वत्र प्रणव रूप महावाक्य का ही विस्तार है । अथवा वेदो मे, गुह्यो मे और उपनिषदो मे । तात्पर्य है कि कर्म-भाग रूपी वेद मे स्तुति और पूजा के योग्य, एव फलदाता ईश्वर रूप से शिव का प्रतिपादन है एव आरण्यको मे उपास्य रूप से तथा उपनिषदो मे ज्ञेय रूप से । अथवा वेदो मे अर्थात्- ऋगादि चार वेदो मे एव गुह्यो मे अर्थात्

परम्परा से प्राप्त गुह्य विद्याओ मे यानी तत्रो मे, और उपनिषत् अर्थात् गुरुपरम्पराओ मे परमात्मा का ही प्रतिपादन है। अथवा वेदो मे, हृदय गुहा मे, एव बुद्धि मे वही स्थित है।

३. ढका हुआ। तात्पर्य है कि वेद आदि वाच्य रूप से देवता, द्रव्य, यज्ञ आदि का प्रतिपादन करते हैं परन्तु लक्ष्य रूप मे परमात्मा का प्रतिपादन करते है। यही उसका छिपा रहना है।

४ ब्रह्म है योनि जिसकी, इस प्रकार अर्थ करने से परमात्मा से ही वेद प्रकट हुआ, यह अथ होता है। ब्रह्म की योनि, इस प्रकार अर्थ करने से वेद से ही ब्रह्म का ज्ञान होता है, ऐसा तात्पर्य सिद्ध होता है। अथवा ब्रह्म का अर्थ वेद, एव उसकी योनि अर्थात् उत्पत्ति स्थान होने से परमात्मा को ब्रह्म यानि कहा गया है। ब्रह्म का अर्थ अपर ब्रह्म या हिरण्यगभ भी होता है। उसका कारण होने से भी परमात्मा ब्रह्म योनि कहा गया है।

५ तद्ब्रह्म विन्दते ब्रह्म योनिम् इति वा पाठ। जीव परमात्मानम् लभते इत्यर्थ।

६ वेद प्रमाण स आत्म रूप से साक्षात्कार करते है, यह भाव है।

७ पूर्वं देवा इति पठति दीपिकाकार। अस्मदादिभ्य प्रथमम् इत्यर्थ।

८ पूर्व कल्प मे साधन सम्पन्न होकर इस कल्पके प्रारम्भ मे जो सृष्टि के सञ्चालक रूप देव गण उत्पन्न हुए।

९ अतीन्द्रिय दर्शन करने वालो से तात्पर्य है। अथवा सृष्टि के प्रारम्भ मे कर्म एव ज्ञान का उपदेश करने वाले भगवत् विभूति रूप ऋषि। चकार के द्वारा मनुष्य गन्धर्व आदियो का समुच्चय कर लेना चाहिये।

१० अपरोक्ष साक्षात्कार से तात्पर्य हैं। इससे यह अतिदेश भी है कि और भी जिन्होने इसका साक्षात् किया, कर रहे है या करेंगे वे भी इसी फल को प्राप्त करेंगे।

११ अविद्या के उदय न होने एव आनन्द स्वभाव के कभी भी अस्त न होने के कारण जो सदा शिव है । सम्यक् ज्ञान से जीव के शिव भाव का व्यवधान करने वाली अविद्या और उसके कार्य क जल जाने से, उसे भी शिव भाव को प्राप्ति हो जाती है। शास्त्र, युक्ति एव अनुभव तीनो से सिद्ध होने के कारण निश्चय रूप से शिव रूपता बताई ।

७

यहा तक तत् पदार्थ का प्रतिपादन करके पुरुषार्थ के द्वारा प्राप्त होने वाले ईश्वर रूप का प्रतिपादन किया । अब त्व पद के अर्थ रूप जीव का वर्णन करते हुए उसको देहादि से अलग करक बतायेगे एव कर्तृत्व भोक्तृत्वादि ससार की प्राप्ति देहेन्द्रियादि मे अविवक के कारण प्रतिपादित करेगे —

गुणान्वयः यः फलकर्मकर्ता कृतस्य तस्य एव सः च उपभोक्ता । सः विश्वरूपः त्रिगुणः त्रिवर्त्मा प्राणाधिपः सञ्चरति स्वकर्मभिः ॥

य = जो
गुणान्वय = गुणो से युक्त[1]
फलकर्मकर्ता = फल वाले कर्मो को करने वाला[2]
च = और
कृतस्य = किये हुए
तस्य = उन (कर्मो का)[3]
स = वह
एव = ही
उपभोक्ता = उपभोग करने वाला है ।
स = वह
विश्वरूप = विश्वरूप वाला,[4]
त्रिगुण = तीन गुणो वाला,[5]
त्रिवर्त्मा = तीन मार्गो वाला,[6]
प्राणाधिपः = प्राणो का अधिपति[7]
स्वकर्मभि = अपने कर्मो के द्वारा
सञ्चरति = सञ्चार करता रहता है ।[8]

१ अविद्या, काम और कर्म रूपी तीन गुणो से युक्त होकर ही

चैतन्य जीव पद का वाच्य होता है। अथवा शुक्ल, नील आदि भिन्न भिन्न गुण या वर्ण वाली नाडी रूपो मे जाकर अनुभव करने के कारण उसे जीव कहा जाता है। अथवा ज्ञानेन्द्रिय, कर्मेन्द्रिय, एव अन्तर् इन्द्रिय इन तीन गुणो से अन्वित होने से उसे जीव कहा जा सकता है।

साख्य सिद्धान्त के अनुसार तो यहा सत्त्व, रज, तम गुणो का सग्रह किया गया है। सत्व गुण की अधिकता से रजोगुण और तमोगुण को दबाकर ज्ञान रूप मोक्ष के लिये कर्म करता है। रजोगुण की अधिकता से स्वर्गादि के लिये तथा तमोगुण की अधिकता से नरकादि के लिये कर्म करता है। कर्म के प्रति रजोगुण तो सर्वत्र ही कारण होगा परन्तु सत्त्व परवशता या तम परवशता समझना चाहिये। यदि गुण वेदा को स्वीकृत होते तो यह अर्थ सगत हो सकता परन्तु वेदो मे ये साख्य गुण स्वीकार नही किये गये है।

२ फल की दृष्टि से फल प्राप्ति के लिये जो कर्म किये जाते हैं वे भोगने पडते हैं। ध्वनि यह है कि निष्काम बुद्धि से नित्य-नैमित्तिक कर्म फल को उत्पन्न नही करते। अथवा फल युक्त कर्मो का करने वाला। गुणो से युक्त होने के कारण ही फलेच्छा एव कर्म कर्तृत्व आता है, अत दोनो विशेषण हेतु गर्भ है। अथवा फल अर्थात् सुख दुःख, एव कर्म अर्थात् धर्माधर्म, इन दोनो का सम्पादक होने से उसका फल कर्म कर्ता कहा गया है।

३ अपने द्वारा अर्जित न कि दूसरो के द्वारा अर्जित का उपभोक्ता। यद्यपि ईश्वर भी कर्म करता हुआ देखा जाता है पर वह फलो का भोक्ता नही है।

४ जाग्रत मे सब विषयो को पाता है अत सर्व रूप या विश्वरूप है। अथवा कार्य-करण सघातो की अनेकरूपता के कारण भी उसको विश्वरूप कहा गया है। वेदान्त सिद्धान्त मे तो जाग्रत् अवस्था के

अभिमानी चेतन को विश्व कहते है। अथवा सुर, नर, तिर्यक् आदि नाना रूपो से तात्पर्य है।

५ टिप्पणी सख्या एक देखिये। अथवा काम, क्रोध और लोभ रूपी तीन गुणो वाला।

६ देवयान अर्थात् उत्तर मार्ग, पितृयान अर्थात् दक्षिण मार्ग एव जायस्व मृयस्व अर्थात् योनि मार्ग। अथवा शुभ, अशुभ, और मिश्र कर्मो के द्वारा होने वाले मार्ग भेद।

७ सभी इन्द्रिय, मन, प्राण आदि का स्वामी। अथवा प्राणो को अधिष्ठित करके उनका पालन करता है।

८ इह लोक और पर लोक मे घूमता रहता है। सञ्चरति मे परस्मैपद वैदिक प्रयोग है।

८

अंगुष्ठमात्रः रवितुल्यरूपः संकल्पाहंकारसमन्वितः यः। बुद्धेः गुणेन आत्मगुणेन च एव आराग्रमात्रः हि अपरः अपि दृष्टः ॥

य = जो (जीव)	**बुद्धे** = बुद्धि के
अगुष्ठमात्र = अगूठे जितना,[1]	**गुणेन** = गुणो द्वारा[4]
रवितुल्यरूप = सूर्य के समान स्वय प्रकाश,[2]	**च** = तथा
सकल्पाहंकारसमन्वित = सकल्प और अहकार मे युक्त,[3] (एव)	**आत्मगुणेन** = आत्मा के गुणो द्वारा[5]
आराग्रमात्र = आरे के दात की नोक के परिमाण[6] वाला	**हि** = (वह) ही
एव = ही	**अपर**[7] = अपर (जीव)[8]
	अपि = भी
	दृष्ट = अवगत होता है[9]।

१ हृदय सुषिर की अगुष्ठमात्रता से सूक्ष्म शरीर भी अगुष्ठ परिमाणी कहा गया है।

२ सूक्ष्म शरीर मे आत्म प्रकाश की बहुलता से उसे सूर्य के जैसा बताया गया है। यह तेजस्विता उसकी स्वच्छता के कारण है। चैतन्य और आनन्द रूप का प्रकाश तथा स्वय प्रकाशमानता का भान वही सम्भव होने से उसे रवि के तुल्य बताना समीचीनतर है। विवेकी तो ऐसा मानते है कि कुछ पदार्थों को **मै जानता हू**, इस रूप से एव उनसे अतिरिक्त सब को **नहीं जानता हूं** इस रूप से सकल ब्रह्माण्ड को विषय करता है एव ज्ञाता ज्ञान ज्ञेय सभी का ज्ञाता या अज्ञाता बना हुआ साक्षी होने के कारण उसे रवि तुल्य रूप कहा गया है। जैसे सूर्य पृथ्वी को धूप अथवा छाया दोनो मे से किसी न किसी भाव से विषय करता ही रहता है, वैसे ही इसे भी समझना चाहिये।

३ यह मेरा हो जाय इत्यादि सकल्प एव मै मनुष्य हूँ आदि अहकार। इसके द्वारा ईश्वर की व्यावृत्ति हो गई। क्यो कि ईश्वर को भी ध्यान के लिये अगुष्ठ मात्र कहा गया है परन्तु वह साकल्प और अहकार वाला नही है। कुछ लोग तो समन्वित का अन्वय **बुद्धेर्गुणेन** एव **आत्मगुणेन** के साथ भी लगाते है। तात्पर्य है कि बुद्धि के गुण काम-क्रोधादि से एव आत्मगुण अर्थात् देह के जरा मृत्यु आदि से भी समन्वित है। कुछ अन्य आत्मगुण से चित् आनन्द, आदि गुण जो अन्त करण मे प्रतिबिम्बित होते है उनका यहा ग्रहण करते हैं। कुछ अन्य लोग बुद्धि का गुण साकल्प-अहकार एव आत्मा का गुण रवितुल्यरूपता मानकर उनसे उपलक्षित जीव का ग्रहण करते है। परन्तु इसमे श्रुत त्याग, क्लिष्ट अन्वय, असम्भव आदि दोष होने से अरुचि है।

४ भाव है कि राजसर्षपादि (छोटी सरसो) की तरह अति सूक्ष्म ही उसका ज्ञान सभव है। उपाधि विशिष्ट होने के कारण इसमे परमेश्वर की अपेक्षा चिद्रूपता और आनन्दरूपता अत्यन्त न्यून है, यह भाव है।

५ लिङ्ग शरीर के गुण। अथवा प्रशस्तपादोक्त मन के धर्म।

६ आपस्तम्ब प्रतिपादित आत्मा के गुण।

७ अवर इति वा पाठ । न वर श्रेष्ठ इत्यर्थ ।

८ बुद्धि एव आत्मा के गुणो से जिस चेतन का ज्ञान है वह जीव ही है यह भाव है। तात्पर्य है कि यद्यपि वह अनन्त है फिर भी उपाधि मे उसका ज्ञान उपाधि के गुण अर्थात् परिच्छेद से पूर्ण रूप से नही हो पाता। महाकाश स्थानीय परमेश्वर के ज्ञान की अपेक्षा जलस्थ सूर्य का ज्ञान अपर ही हो सकता है।

९ शास्त्र युक्ति और अनुभव के द्वारा विद्वानो को पता लगता है।

९

बालाग्रशतभागस्य शतधा कल्पितस्य च।
भागः जीवः सः विज्ञेयः सः च आनन्त्याय कल्पते॥

स = वह
जीव. = जीव
वालाग्रशतभागस्य[1] = बाल के खडे सौवे टुकडे के[2]
शतधा = सौ बार खडे टुकडे रूप से
कल्पितस्य = निर्मित
च[3] = ही

भाग = अश जितना
विज्ञेय = समझा जाना चाहिये,
स = वह
च = ही
आनन्त्याय = अनन्तता को[4] (प्राप्त करने मे)
कल्पते = समर्थ हो जाता है[5]।

१ वालाग्रशतभागस्य इति वा पाठ ।

२ बाल अर्थात् केश का अग्र अर्थात् आगे का भाग, उसके सौ टुकडे मे से यदि एक टुकडा लिया गया तो वह वालाग्रशत भाग हो गया। उस एक टुकडे को सौ भागो मे बाटा फिर उस मे से एक टुकडे को लेकर पुन सौ भागो मे बाटा, उस बटे हुए भाग को पुन सौ बार टुकडो मे बाटा, एव इस प्रकार सौ बार करते रहे तो जो अन्तिम भाग आयेगा वह यहा इष्ट है। तात्पर्य है कि वह अति सूक्ष्म है।

३ तु इति वा पाठ ।

४. ज्ञान होने पर उपाधि द्वारा सूक्ष्मतम ऐसा जीव भी अपने अद्वितीय भगवत् रूपता को प्राप्त हो जाता है। तत् पदार्थ से तादात्म्य ही अनन्तता है। अविद्या के निवृत्त हो जाने पर उपाधि का अभाव हो जाता है, यह भाव है।

५ वस्तुतः बन्धन का अभाव होने से मोक्ष भी कल्पित है यह संकेत है।

१०

न एव स्त्री न पुमान् एषः न च एव अयम् नपुंसकः।
यत् यत् शरीरम् आदत्ते तेन तेन सः युज्यते ॥

(एषः) = (यह)	न = नहीं
स्त्री = स्त्री[1]	एव = ही है।
न = नहीं	यत् = जिस
एव = ही है,	यत् = जिस
एषः = यह	शरीर = शरीर को
पुमान् = पुरुष	आदत्ते = ग्रहण करता है[2]
न = नहीं है,	तेन = उस
च = तथा	तेन = उस (शरीर से)
अयं = यह	स = वह
नपुंसक = नपुंसक (हिंजडा)	युज्यते[3] = युक्त होता है[4]।

१ पूर्व मंत्र में प्रतिपादित अणुता से शंका हो सकती थी कि उसका लिङ्ग क्या है ? यदि जीव का लिंग माना जाय तो फिर पुरुष जीव हमेशा ही पुरुष एवं हिंजडा जीव हमेशा ही हिंजडा होगा। भाव है कि यदि शिव रूप जीव सूक्ष्म शरीर की उपाधि से हमेशा दूसरे जीवों से भिन्न ही रहता है यह माना गया है तो क्या स्थूल देह की उपाधि भी उसे इसी प्रकार अन्य से अलग रख सकेगी ? उत्तर

है कि गौणात्मा, मिथ्यात्मा और वास्तविक आत्मा रूप से आत्मा की त्रिविधता है। शरीर आदि गौणात्मा होने से ज्ञान के पूर्व ही उनसे एकता का अनुभव हट जाता है। सुषुप्ति, मूर्छा, मृत्यु मे यह अनुभव सिद्ध हैं। मिथ्यात्मा सूक्ष्म देह से तादात्म्य होने के कारण ज्ञान के पहले बाधित नही होता। नर मादादि स्थूल शरीर मे होने के कारण स्थूल देह की निवृत्ति के साथ ही निवृत्त हो जाते है। आधुनिक युग मे नर मादादि का परिवर्तन प्रत्यक्ष ही देखा जाता है।

२ अविद्या-काम कर्मादि के वशीभूत होकर जिस पुरुषादि शरीर मे मिथ्या अभिमान करके मै स्त्री, दुबली, गोरी, इत्यादि तादात्म्याध्यास कर लेता है वही बन जाता हैं।

३ स रुध्यते इति वा, स चाद्यते इति वा पाठ। विज्ञानात्मा रुध्यते तस्य भावपुष्टि क्रियते इत्यर्थ। स च अद्यते तिरोभूत क्रियते इत्यर्थ।

४ विज्ञानात्मा का कर्म फल के अनुसार सम्बन्ध कर दिया जाता है। अर्थात् शरीरो के द्वारा स्त्री आदि शब्द और प्रत्यय का विषय बना दिया जाता है।

११

शरीर ग्रहण का कारण प्रतिपादित करते है :—

संकल्पनस्पर्शनदृष्टिहोमैः ग्रासाम्बुवृष्ट्या च आत्मविवृद्धिजन्म। कर्मानुगानि अनुक्रमेण देही स्थानेषु रूपाणि अभिसम्प्रपद्यते।

देही = देहधारी जीव	**च** = तथा
संकल्पनस्पर्शनदृष्टिहोमै[1] = मनो व्यापार, स्पर्श, दृष्टि और होमो से[2]	**ग्रासाम्बुवृष्ट्या** = खाने पीने से[3]
	कर्मानुगानि = कर्म के अनुरूप[4]
	अनुक्रमेण = क्रम से[5]

स्थानेषु = योनियो मे[6] | और बढोतरी को[7]
रूपाणि = भिन्न भिन्न रूपो को (व) | अभिसम्प्रपद्यते = प्राप्त करता है[8]।
आत्मविवृद्धिजन्म = अपने जन्म |

१ सकल्पनस्पर्शनदृष्टिमोहै इति वा पाठ ।

२ पहले मन से सकल्प होता है तब सामग्री का स्पर्श करता है, फिर उनमे दृष्टि करके होम करता है। इस व्यावहारिक क्रम का ही यहा प्रतिपादन है। पाठ भेद मे भी पहले इष्ट अनिष्ट पदार्थ का मानसिक व्यापार रूपी सकल्प करके फिर उनका स्पर्श करता है तथा उनको सुख दु ख के जनक रूप से देखता है एव इसी से मोह मे पड जाता है। अथवा पदार्थों का सकल्पादि करके आत्माग्नि मे प्रक्षेप करके यह घडा मेरा हो, यह पत्नी मेरी न हो, मै देखता हू, सू घता हू, आदि कर्मों का अध्यास होता है होम से यहा सभी कर्मानुष्ठान ले लेने चाहिये।

मन का व्यापार अर्थात् मै सदा सत्य बोलू गा या मिथ्या बोलू गा इत्यादि रूप है। प्रथम सकल्प से पुण्य और दूसरे से पाप होता है। इसी प्रकार माता पिता का चरण स्पर्श पुण्य का जनक है, एव वेश्या स्पर्श पाप का। वेदपाठी ब्राह्मण का दर्शन पुण्य को और कन्जूस का दर्शन पाप को पैदा करता है। अग्निहोत्रादि पूजा पुण्य का व वशीकरणादि पूजा पाप का कारण है। इससे अन्य सभी कर्मों की उपलक्षणा कर लेनी चाहिये।

३ ग्रास की वृष्टि और अम्बु की वृष्टि ऐसा समास है। तात्पर्य है कि जैसे उपर्युक्त कर्म दिल, दिमाग, और दस्त तीनो को विषय करते है वैसे ही जो कुछ अपने शरीर के लिये भोगा जाता है वह भी धर्म अधर्म को उत्पन्न करता है। वृष्टि से भाव है कि जब तक भूख प्यास न मिट जाय तब तक किया हुआ खान पान। उससे अधिक आत्म विवृद्धि का कारण न होकर आत्म नाश का कारण होता है। अथवा

होमादि कर्मों के बाद पठित होने से ग्रास की वृष्टि अर्थात् अन्न दान एव अम्बु की वृष्टि अर्थात् उदक दान। उत्कृष्ट देश काल पात्र को आदर पूर्वक अतिदान पुण्य का हेतु होता है एव विपरीतों मे अतिदान पाप का हेतु होता है। अथवा ओ व्रश्चु छेदने से निष्पन्न वृष्टि का मतलब अनथकारियो के अनर्थ का उच्छेदन पुण्य हेतु एव अर्थ कारियो के अर्थ का छेदन पाप हेतु समझना चाहिये। भाव है कि इष्ट अनिष्ट की प्राप्ति परिहार की इच्छा होने पर भाति भाति के विषय एव उनसे होने वाले सुख दु ख की प्राप्ति तथा अन्न पानादि से तृप्ति होती है। इस तृप्ति के आत्मा मे अविद्या के कारण अध्यस्त कर लेने से पुण्य पाप बन जाता है।

४ धर्माधर्म रूप कर्म के पीछे पीछे चलने वाले स्त्री पुरुषादि देह। अर्थात् कर्म के द्वारा ही देह प्राप्ति नियन्त्रित होती है। कर्म अनेकविध होने से उनका भोग युगपत् नही हो सकता। एव परिपाक की अपेक्षा से क्रम पूर्वक होता है।

५ धर्म ज्ञान के बढने पर हिरण्यगर्भादि या ब्राह्मणादि योनि की प्राप्ति होती हैं एव अधर्म और अज्ञान के बढने से दानवादि या चाण्डालादि योनि की प्राप्ति होती है।

कुछ टीकाकारो ने तो जाग्रत् और स्वप्न को ही स्थान एव उनका अन्त करण एव उसके व्यापारो से सम्बन्ध क्रम पूर्वक होता है ऐसा प्रतिपादित किया है। वस्तुतस्तु यहा पञ्चाग्नि विद्या का साकेत होने से स्थान का अर्थ योनि लेना ही अधिक सगत है।

६ अध्यात्मादि भेद भिन्न ब्रह्मा से नर, पिपीलिका पर्यन्त सभी योनिया।

७ खान पान से तो आत्मा अर्थात् शरीर की वृद्धि और शुक्र-शोणित रूप से शरीर का जन्म अनुभव सिद्ध ही है। इन सभी कर्मों से जीव रूपी आत्मा का जन्म और विविध प्रकार की वृद्धि श्रुति

और युक्ति से सिद्ध है। अथवा हिरण्यगर्भादि योनियो मे जन्म विवृद्धि है। विवृद्धि से यहा पतन की भी उपलक्षणा कर लेनी चाहिये। वस्तुतस्तु आत्मा का ज्ञानोन्मुख होना विवृद्धि है एव अज्ञानोन्मुख होना जन्म है।

कुछ लोग यथा का अध्याहार करके जैसे ग्रासाम्बु से शरीर की वृद्धि होती है वैसे ही सकल्पनादि से जीव को भिन्न भिन्न योनियो की प्राप्ति होती है ऐसा अन्वय करते है।

८ अभि अर्थात् समष्टि व्यष्टि रूप समस्त कार्य-करणो मे भ्रान्ति से अहन्ता और ममता के अभिमान को सम् अर्थात् भली भाति, प्रपद्यते अर्थात् प्राप्त कर लेता है।

१२

जिन रूपो को प्राप्त करता है उसका विस्तृत वर्णन करते हैं —

स्थूलानि सूक्ष्माणि बहूनि च एव रूपाणि देही स्वगुणैः वृणोति। क्रियागुणैः आत्मगुणैः च तेषां संयोगहेतुः अपरः अपि दृष्टः ॥

देही = देहाभिमानी जोव
स्वगुणै = अपने गुणो से[१]
क्रियागुणै = क्रिया के गुणो से
च = और
आत्मगुणै = आत्मगुणो से
बहूनि = बहुत प्रकार के
स्थूलानि = स्थूल[२]
च = और
सूक्ष्माणि = सूक्ष्म[३]
रूपाणि = रूपो को
एव = ही
वृणोति = वरता है[४]।
तेषां = उनके[५]
संयोगहेतु = सयोग का कारण[६]
अपर[७] = जीव से भिन्न (शिव)[८]
अपि = भी
दृष्ट = देखा गया है[९]।

१. तमु एत विद्या कर्माणि समन्वारभेते पूर्वप्रज्ञा च के द्वारा

श्रुति में जो तीन जन्मान्तर के कारण बताये हैं उन्ही को यहा क्रम से स्वगुण अर्थात् उपासना, क्रियागुण अर्थात् कर्म, एव आत्मगुण अर्थात् पूर्व-प्रज्ञा समझ लेना चाहिये। यद्यपि अविद्या-काम-कर्म का भी सग्रह सभव है, परन्तु अविद्या एक होने से एव यहा गुण मे बहु-वचन श्रुत होने से वह उचित नही है। अथवा स्वगुण से भाव एव आत्मगुण से ज्ञान का ग्रहण करके भी सगति हो सकती है। अथवा स्व अर्थात् आत्मा के गुणो से अर्थात् तत् तत् उपाधि से अवच्छिन्न रूप से वर्तमान सत्ता स्फुरणादियो से, एव विहित प्रतिषिद्ध क्रिया गुणो से एव आत्मा अर्थात् लिङ्ग शरीर के गुण अर्थात् विहित प्रतिषिद्ध उपासनादियो से, अथवा अन्त करण के गुण स्वगुण एव वासनादि आत्मगुण से कहे गये है, अथवा स्वगुणों से ज्ञानेच्छा क्रिया गुणो से क्रिया शक्ति रूप प्राण और उसका गुण शरीर ईहादि एव आत्मगुण अर्थात् अन्त करण का अपनी आत्मा मे अध्यस्त तादात्म्यगुण रूप अदृष्ट इच्छा ज्ञानादि रूप। कुछ लोग चकार से क्रिया शक्ति ज्ञान-शक्ति का अथवा पूर्व प्रज्ञा का सग्रह करते है।

२ स्थूल शब्द एव स्थूल ज्ञान के विषय रूप से वर्तमान। ये भी अनन्त है। अथवा मनुष्य, पशु-पक्षी आदि स्थूल है।

३ सूक्ष्म शब्द और ज्ञान के विषय रूप से वर्तमान। अथवा तिर्यक्-स्थावर आदि मे जीवरूपता की प्रतीति न होने से उन्हे सूक्ष्म कह दिया गया। कुछ लोग तो स्थूल से पत्थर आदि, सूक्ष्म से हीरा सोना आदि, तथा बहूनि से देव मनुष्यादि का ग्रहण भी करते है। वस्तुतस्तु पार्थिव शरीरो की अपेक्षा जलमय, तदपेक्षया तैजस, वायव्य एव आकाशमय शरीर सूक्ष्म सूक्ष्मतर है। ब्रह्म लोक मे आकाश रूप शरीर ही होता है। यद्यपि सारे ही शरीरो का आरम्भ करने वाले महाभूत पञ्चीकरण प्रक्रिया से मिले होते है तथापि तत् तत् भूतो की प्रधानता से यह क्रम समझना चाहिये। अथवा हाथी आदि स्थूल

शरीर एव मच्छर आदि सूक्ष्म शरीर है। विवेक दृष्टि से तो यहा वरण का प्रकरण होने से स्थूल से स्थूल देह एव सूक्ष्म से सूक्ष्म देह लिया जाना चाहिये। भाव है कि जीव कभी मै हूँ, मैं चेतन हू आदि से स्वगुणो के साथ तादात्म्य करता है, कभी मै खाता हू, मै छूता हूँ के द्वारा क्रियागुणो से तादात्म्य करता है, एव कभी मै गोरा हू, मैं ब्राह्मण हूँ आदि के द्वारा आत्मगुण अर्थात् देह गुणो से तादात्म्य करता हैं। इस प्रकार के तादात्म्य मे कारण पूर्वोक्त विद्या, कर्म और पूर्व-प्रज्ञा ही है। इस प्रकार सर्वत्र **गुणै** मे जो तृतीया है वह करणार्थक और सहार्थक दोनो प्रकार से समझ लेनी चाहिये। अर्थात् स्वगुण क्रियागुण और आत्मगुण के द्वारा स्वगुण, क्रियागुण और आत्मगुण के साथ तादात्म्य करता है। विषय, उनका अनुभव और उनका सस्कार ही तादात्म्य के प्रति हेतु है।

४ स्वीकार करता है अर्थात् उनमे इष्ट बुद्धि करता है। अथवा **आवृणोति**, इन भावो से अपने आपको ढाक लेता है।

५ कार्य करण का स्वामी अर्थात् जीव, कार्य-करण सघात, एव उनके धर्मो के सयोग का।

६ प्राप्ति का निमित्त अर्थात् भोक्ता, भोग, उपकरण, भोगायतनादि भावो से युक्तता का प्रति रूप मे भेद रूप से अन्वय होने का कारण वह जीव स्वत नही है। तात्पर्य है कि कर्म इत्यादि करने पर भी, एवं वासना युक्त होने पर भी, मुझे अमुक शरीर प्राप्त हो ऐसा सकल्प न होने पर भी कर्म वासना वशात् नरक शरीर की प्राप्ति होती है। अत इस प्राप्ति का कारण कर्म एव फलो का सम्बन्ध बनाने वाला परमेश्वर ही हो सकता है।

देही अपर देह के सयोग का कारण होता है, ऐसा भी अन्वय सभव है। अर्थात् देहान्तर के सयोग की हेतुता यहा प्रतिपादित की गई है।

७ अवर इत्यपि पाठः। तस्मिन् पक्षे अवर जीवः अपिशब्दात् ईश्वरोपि इत्यर्थ ।

८ अपर ब्रह्म अर्थात् ईश्वर ही कर्म वासना आदि के अनुरूप क्रम से फल भुगवाता है। कर्म करने मे स्वतन्त्र होने पर भी जीव फल भोगने मे परतन्त्र है। शास्त्र से इस कर्म से इस फल को पाऊगा ऐसा विचार करके जीव प्रवृत्त होता है यह सब प्राणियो को प्रत्यक्ष है। अत जीव विषय सयोग का हेतु नही हे ऐसा कोई भी नही कह सकता। फिर भी जीव स्वतन्त्र कारण नही है। अदृष्ट से ईश्वर जिस वासना को व्यक्त करता है तद् अनुरूप हो जीव व्यवहार करता है।

९ वेदो मे प्रतिपादित है।

१३

अब मन्त्रद्वय से ससार चक्र से मुक्त होने का उपाय बताते हैं —

अनाद्यनन्तम् कलिलस्य मध्ये विश्वस्य स्रष्टारम् अनेकरूपम्।
विश्वस्य एकम् परिवेष्टितारम् ज्ञात्वा देवम् मुच्यते सर्वपाशैः॥

कलिलस्य = अव्यवस्था के[१]
मध्ये = बीच
विश्वस्य = विश्वरूपी व्यवस्था का
स्रष्टारम् = निर्माण करने वाले[२] (एव)
विश्वस्य = विश्वको (नियमो मे)
परिवेष्टितारम् = लपेट कर रखने वाले[३]
अनेकरूपम् = अनेक रूपो को धारण करते हुए भी
एक = अपनी एकता को बनाये रखने वाले[४]
अनाद्यनन्त = आदि और अन्त से रहित[५]
देवम् = देव को
ज्ञात्वा = जानकर
सर्वपाशै = सारे पाशो से
मुच्यते = छूट जाता है।

१ सत्-असत्, सावयव-निरवयव, भेद-अभेद, भाव-अभाव आदि किसी भी प्रकार से माया की व्यवस्था न बनने के कारण माया को

कलिल (chaos) कहा गया है। चेतन ब्रह्म ही इसमे व्यवस्था की सयोजना करता है। वस्तुत विश्व की प्रत्येक घटना बेजोड (unique) है। अत कोटिकरण (categorisation) केवल चेतन द्वारा निर्मित है। इसीलिये कोई भी कोटिकरण वास्तविक नही होता। एव भिन्न भिन्न दृष्टियो से एक ही पदार्थ भिन्न भिन्न कोटियो मे चला जाता है। खाद्य पदार्थ के दृष्टिकोण से चावल और चना अन्न की कोटि मे आने पर भी वर्ण की दृष्टि से दूध और स्वर्ण की कोटि में एव शकल की कोटि से गुल्ली और गेंद की कोटि मे क्रमश आ जायेगे। कोटिकरण ही व्यवस्था का मूल है। चू कि माया स्वरूप से अव्यवस्थित है अत वास्तविक दृष्टि से व्यवस्था असभव है। अत चेतन ही यहा व्यवस्था का सृजन करता हैं। यह व्यवस्था चेतन में निहित है क्योकि चेतन सदा व्यवस्थित है। सत्, अद्वितीय, चित्, निरवयव, अभिन्न आदि उसका व्यवस्थित रूप है। यूनानी पुराणो (greek mythology) मे कैओस देवता को अपदस्थ करके ज्यूस देवता देवराज बना कहकर यही बताया गया है।

पञ्चमी आहुति मे योषित् अग्नि मे जो प्रक्षेप होता है उसकी फेनिलावस्था को भी कलिल कहा गया है। जाग्रतावस्था मे जीव का नाम विश्व है। अत कलिल के बीच में जीव रूप से ब्रह्म ही प्रविष्ट होता है अत वह जीव का स्रष्टा कहा गया।

अथवा अतिगहन और गम्भीर होने से ससार को कलिल कहा। अर्थात् इस गहन ससार मे सृष्टि का निर्माण करने वाला केवल वही है। अथवा मायावी की तरह माया के मध्य मे रहकर माया का निर्माण करने वाला होने से दुर्ज्ञेय है। अर्थात् साक्षी रूप से स्थित होते हुए अपनी ही अविद्या शक्ति से स्वय ही मुग्ध हो जाता है, यह भाव है। इसमे आत्म मुग्धता (narcisstic complex) की जो ध्वनि है वह आधुनिक मनोवैज्ञानिको की दृष्टि मे महत्त्वपूर्ण है।

२ विश् धातु से बना हुआ विश्व शब्द सृष्टि की एकरूपता (universe) को प्रतिपादित करता है। वस्तुत देश और काल तथा कार्य कारण भाव अखण्ड जगत् रूपी ब्रह्म को अनन्त भेदो मे बाट लेते है अत यह अव्यवस्थित हो जाता है। दिक् काल हेतु गर्भ से रहित हाकर शिव का अखण्ड ज्ञान होने से जगत् अखण्ड अतएव व्यवस्थित हो जाता है। जिस प्रकार मानव देह के यकृत्, फेफडा, गुर्दा, रक्त, दिल, दिमाग आदि की क्रियाये अलग अलग देखने पर अव्यवस्थित (chaotic) लगते है, परन्तु समग्र मानव देह की दृष्टि से उनमे व्यवस्था नजर आने लगती है। इसी प्रकार सर्वत्र समझना चाहिये। माया चू कि इस दृष्टि को उत्पन्न नही होने देती इसीलिये उसे अव्यवस्था रूप ही माना गया है। सृज् धातु का अर्थ जो अपने मे हो उसको बाहर फकना ही होता है। अत जगत् की बाह्य प्रतीति ही शिव का शक्ति को अपने से बाहर करके देखन की तरह है।

३ प्रकृति और प्राकृत रूप विश्वको परित अर्थात् अन्दर और बाहर दोनो तरफ से व्याप्त करके नियन्त्रण मे रखना ही उसका परि-वेष्टन है। जैसे जिल्द से अलग अलग कागज नियन्त्रित हो जाते है एव वह उनको बाहर से भी घेर के रखती है इसलिये उसको परि-वेष्टन कहते है वैसा ही यहा समझना चाहिये। जिस प्रकार अपने द्वारा प्रदर्शित बाघ, हाथी आदि मायावी द्वारा ही नियन्त्रित और व्याप्त है वैसा ही यहा समझना चाहिये। अथवा स्वप्न के पदार्थो को जिस प्रकार स्वप्नद्रष्टा परिवेष्टित करके रखता है वैसे ही ईश्वर जगत् को रखता है, यह भाव है।

४ जिस प्रकार अग्नि तिकोन आदि लोहे के टुकडो मे घुसकर तिकोन आदि रूप से प्रतीत होती है, फिर भी वस्तुत. अनेक नही हो जाती वैसे ही विष्णु से तिनके तक कार्य-करण उपाधियो मे प्रविष्ट होकर भी चेतन अनेक नही हो जाता। तात्पर्य है कि अपनी अनेकता

को छोडकर जब एकता को समझता है तब अविद्या, काम, कर्म, फल, राग आदि अनन्त भारो से दबे हुए घोर जल मे डूबे हुए ढोल की तरह, देह से एक होने के निश्चय मात्र से जो प्रेत, देव मनुष्यादि योनियो मे घूम रहा था वहा से गुरु और ईश्वर की कृपा से विवेक वैराग्य प्राप्त होकर सारा भार उतर कर ससार समुद्र से ऊपर हो जाता है।

५ इसके द्वारा त्व पदार्थ को तत् पदाथ से अभिन्न बताया। आदि और अन्त से सभी विकारो का ग्रहण कर लेना चाहिये। अर्थात् **नेति नेति** के मार्ग से अशेष विशेषो का प्रतिषेध करने से जीव ही शिव हो जाता है। चिन्मात्र स्वभाव होने पर भी विशेष अर्थात् गुणो के द्वारा ही उसमे शिव से भेद प्रतीत हो रहा है।

१४

भावग्राह्यम् अनीड़ाख्यं भावाभावकरं शिवम्।
कलासर्गकरम् देवम् ये विदुः ते जहुः तनुम्॥

ये=जिन्होने
भावग्राहृयम्=प्रेम से जानने के योग्य,[1]
अनीड़ाख्यम्[2]=स्थान और नाम से रहित,[3]
भावाभावकरम्=भाव और अभाव को बनाने वाले[4]
कलासर्गकरम्=कलाओ की सृष्टि करने वाले,[5]
देवम्[6]=स्वय प्रकाश रूप,
शिवम्=शिव का
विदु=जान लिया[7]
ते=उन्होने
तनुम्=अल्प (परिच्छिन्न) भाव को[8]
जहु=छोड दिया।

१ उपाय और उपेय दोनो का सक्षेप मे आर्थिक उपसहार करने वाले मन्त्र मे सबसे पहले भाव अर्थात् प्रेम का प्रतिपादन उसकी अत्यधिक महत्ता-प्रतिपादन के लिये है। प्रेम की पूर्णता के विना

परमात्मा का ग्रहण असम्भव है। भाव अन्त करण का अत्यधिक शुद्ध हो जाने पर व्यापार विशेष हैं। लोक मे भी जहा किसी के प्रति वास्तविक भाव होता हैं वहा अन्त करण के रागद्वेषादि निवृत्त हो जाते है। परन्तु विषय भेद के कारण वहा किञ्चित् विक्षेप रूपी अशुद्धि भी रहती ही है। यहा तो उतनी भी अशुद्धि बाधक होती है। नारद शाण्डिल्य आदि इसीलिये इसको परानुरक्ति या परप्रेम कहते है। वस्तुत पूर्ण प्रेम आत्मा मे ही सम्भव है। अत जब श्रद्धा एव मनन निदिध्यासन से युक्त होकर गुरु के द्वारा वेदान्त महावाक्य का श्रवण करता है एव हृदयगम हो जाता है कि शिव मेरा ही स्वरूप है, तभी उसके प्रति परम प्रेम हो जाता हैं। जब तक परमेश्वर को द्वैत बुद्धि से अपने से भिन्न समझेगा तब तक यह पूर्ण प्रेम असभव हैं। अनेक अविचारी लोग ऐसा मानते है कि बिना दो के प्रेम सभव नही। परन्तु वास्तविकता तो यह है कि जब तक दूसरे को भी अपनत्व की परिधि मे नही ले आया जाता तब तक उससे प्रेम असम्भव है। परन्तु स्वरूप से दूसरा दूसरा होने के कारण वह अपनत्व की परिधि मे नित्य नही रह सकता एव जब जब उसका द्वितीयत्व व्यक्त होगा तब तब अपनत्व से अलग होकर वह प्रेम का विषय नही रह जायेगा। आत्मा अर्थात् अपनत्व जहा नित्य रहता है वहा ही प्रेम नित्य हो सकता है। इस प्रकार के विचार से यह सिद्ध हो जाता है कि प्रेम का मूल द्वैत नही अद्वैत है। द्वैत निवृत्ति जहा और जब तक है, वहा और तब तक प्रेम रहता है।

२ अनिलाख्यम् इति वा पाठ । तस्मिन् पक्षे नमस्ते वायो त्वमेव प्रत्यक्षं ब्रह्मासि प्राणस्य प्राणम् इत्यादि श्रुतयोऽनुकूला ।

३ नीड अर्थात् स्थान एव आख्या अर्थात् नाम। यद्यपि उपासना के लिये वेदो मे स्थान और नाम का निर्देश किया है परन्तु वे वास्तविक नही हैं यह भाव है। किसी भी शब्द का लक्ष्य ब्रह्म हो

सकता है वाच्य नही। नीड मे जो पक्षी के घर की ध्वनि है उसका पूर्व मे आये हुए हस और सुपर्ण का सकेत से सम्बन्ध है। अथवा नीड अर्थात् शरीर एव अनीड अर्थात् अशरीर। वेदो मे ब्रह्म को अशरीर नाम से कहा गया है अत अनीड ही उसकी आख्या अर्थात् नाम है। नीड का अर्थ आलम्बन भी होता है। ब्रह्म निरालम्ब है यह भाव है। सूक्ष्म रूप से यह ध्वनित किया गया है कि जैसे ब्रह्म नीड रहित है वैसे ही नीड रहित श्री परमहस बनने से ही उसका ज्ञान सम्भव है।

४ जो अनुभव का विषय होता है उसको भाव पदार्थ कहा जाता है, जैसे घडा, मकान, स्त्री, आदि। जो इस प्रकार के अनुभव का विषय नही होता उसे अभाव कहते है, जैसे काम द्वेष आदि। इन दोनो को परमात्मा ही बनाता है। तात्पर्य है कि प्रमाता रूप से घट का एव साक्षी रूप से रागादि का निर्माण करता है। अथवा भाव अर्थात् प्रतीयमान जगत् जो अविद्या का काय है। अविद्या के नाश से भाव का अभाव करने वाला होने से भी उसे भावाभावकर कहा गया है। अथवा भाव अर्थात् प्रेम एव अभाव अर्थात् अविद्या का अभाव। प्रेम और ज्ञान दोनो को वही करने वाला है यह भाव है। अथवा जगत् का भाव अर्थात् सृष्टि और अभाव अर्थात् सहार इन दोनो को वही करता है। यदि भाव मे प्रेम और अभाव से प्रेम का अभाव लिया जाय तो प्रेम से मोक्ष और अप्रेम मे बन्धन करने वाला भी वही है यह भाव हो जायेगा।

५ कला अर्थात् प्राण, श्रद्धा, पञ्च महाभूत, इन्द्रिय, मन, अन्न, वीर्य, तप, मन्त्र, कर्म, लोक, नाम ये सोलह (षोडश कलाये) जिसमे हो उसे पुरुष कहा जाता है। इनको बनाने वाला ईश्वर ही है। अथवा कला शक्ति को कहते है। अपनी कला अर्थात् शक्ति के द्वारा समग्र ब्रह्माण्ड की सृष्टि करने से उसे कलासर्गकर कहा गया है।

इसीलिये शक्ति को काम कला कहा गया है। अथवा समग्र कलाओ का अर्थात् नाटच, सगीत, चित्र, काव्य, दर्शन, स्थापत्य आदि का सर्व प्रथम प्रवर्तक होने से परमेश्वर ही उनकी सृष्टि करने वाले कहे गये हैं। अथवा कला = क् + अ + ल् + अ + अ। क् अर्थात् सुख, अ अर्थात् चेतन, अत क का अर्थ हुआ सुख उपलक्षित चेतन अर्थात् जीव। ओ क ब्रह्म इत्यादि श्रुतियो रो यह स्पष्ट है। ल् अर्थात् पृथ्वी। अत ल से तात्पर्य है पृथ्वी उपलक्षित चेतन यानी ईश्वर। पृथ्वी यहा सर्व महाभूतो को एव उसके द्वारा सारे जगत् को निर्दिष्ट करती है। इस प्रकार जीव और ईश्वर का प्रतिपादन करके ये दोनो ही अ अर्थात् शुद्ध चैतन्य हैं, इस तत्त्व का प्रतिपादन किया। वेद इसी तत्त्व का प्रतिपादन करने से कला कहे जा सकते है। वेद एव वेद जन्य ब्रह्म ज्ञान को ईश्वर ही सृजन करते है अत उन्हे कलासर्गकर कहा गया।

६. **लिङ्गम्** इति वा पाठ।

७ श्रवण के द्वारा अपरोक्ष कर लिया।

८ तनु का अर्थ शरीर भी होता हैं। वह भी आत्मा को शरीर परिच्छिन्न करता है इसीलिये कहा जाता है। देह मन आदि के द्वारा ब्रह्म को परिच्छिन्न भाव की प्राप्ति होती है। आत्म-ज्ञान से यह भाव निवृत्त हो जाता है और पुन अनन्तता की प्राप्ति हो जाती है। यदि तनु का अर्थ शरीर ही लेना इष्ट हो तो इस तनु को छोडने के बाद फिर तनु नही लेता यह भाव समझना होगा क्यो कि शरीर तो ज्ञानी अज्ञानी सभी का छूटता है। कुछ वेदान्त रहस्य के अनभिज्ञ लोग ज्ञान के अनन्तर देह पात इस मन्त्र के बल से मान लेते है। परन्तु ज्ञान अज्ञान के काय को बाधता है नष्ट नही करता। अत अभेद दर्शन से प्राकृत देह का बाध हो सकता है नाश नही। किञ्च ऐसा मानने से ज्ञान-सम्पदाय परम्परा ही लुप्त हो जायेगी एव ज्ञान असम्भव हो जायेगा। विवेकी तो ऐसा मानते है कि **तनोति विस्तार-**

यति धातु से निष्पन्न तनु का अर्थ प्रवृत्ति है। एव ज्ञान से ससार आस्था निवृत्त हो जाने के कारण, प्रवृत्ति का निरोध होकर सर्व **कर्म** निवृत्ति रूप विद्वत् सन्यास की प्राप्ति हो जाती है। अनीड के द्वारा विविदिषा सन्यास को बताया था जो ज्ञान के पूर्व आवश्यक है एव **तनु जहु** के द्वारा ज्ञानोत्तर विद्वत् सन्यास का प्रतिपादन किया। इसके बाद और कोई कर्तव्य शेष नही रहता। यही सारे उपदेश एव प्रतिपाद्य विषय समाप्त हो जाते हैं। इसके आगे शास्त्र की गति नही है।

इति पञ्चमोऽध्यायः।



षष्ठोऽध्यायः

प्रथम पाच अध्यायो मे समग्र वेदात के सार का प्रतिपादन करने के बाद अब शास्त्र परिसमाप्त करने के समय उपसहार रूप से सभी पूर्वोक्त बातो का सग्रह करते हुए साधनपक्ष पर अधिक बल देकर स्वानुभूति से उसको बतलाना ही अतिम अध्याय का उद्देश्य है।

सर्व प्रथम प्रथम अध्याय के आरम्भ मे किये हुए कारण विचार का ही पुन सक्षेप मे सकेत करते है –

१

स्वभावम् एके कवयः वदन्ति कालम् तथा अन्ये परिमुह्यमानाः। देवस्य एषः महिमा तु लोके येन इदं भ्राम्यते ब्रह्मचक्रम् ॥

एके=कुछ
कवय[1]=विद्वान्
स्वभावम्=स्वभाव को[2]
वदन्ति=(जगतका कारण) बताते है
तथा=और
अन्ये=दूसरे विद्वान्
परिमुह्यमानाः=अत्यत मोह मे पडे हुए
काल=काल को (बताते है)[3]।
तु[4]=(दोनो पक्षो को निराकृत करके) तो
लोके=ब्रह्माण्ड मे
देवस्य=महादेव की
एष=यह
महिमा=महिमा[5] (है)
येन=जिसके द्वारा
इद=यह
ब्रह्मचक्रम्=ब्रह्मचक्र
भ्राम्यते=घुमाया जाता है।[6]

१ कु शब्दे वक्तार इति यावत्।

२ यहा स्वभाव के पहले प्रथम अध्याय मे जितने भी पक्ष आये है, उन सबका ग्रहण कर लेना चाहिये। इतना भेद है कि प्रथम अध्याय मे ऋषि लोग उस तत्त्व को न जानने पर इन पक्षो पर विचार

कर रहे थे। परन्तु अब तात्पय है कि उपदेश देने पर भी अनेक लोग आग्रहवशात् अपने पक्ष को नही छोडते। वस्तुत इस प्रकार की आग्रहता भी परमेश्वर की माया के कारण ही होती है। यद्यपि स्वभाव शब्द का प्रयोग आचार्य गौडपाद ने भी किया है और कभी-कभी ऐसा लगता है कि सम्भवत यह मत्र कारिकाओ के विरुद्ध हो, परन्तु वस्तुत स्वभाव शब्द का अर्थ दोनो जगह अलग अलग है। ब्रह्म का स्वभाव जगत् रूप मे प्रतीत होना, यह आचार्य गौडपादो का सिद्धान्त है, एव जगत् के पदार्थो का स्वभाव सिद्ध होना, यह निराकृत किया गया है।

३. यद्यपि प्रथम अध्याय मे सर्व प्रथम काल को गिना था परन्तु यहा काल का वर्णन अनेक जगह वेदो मे भी सावादात्मक प्रजापति के लिये किया गया है तथा उसे जगत् का कारण भी बताया है। अत काल पक्ष मे वैदिकत्व सम्भव होने के कारण उसे अलग से गिनाया है। अपने पक्ष स्थापन के अभिनिवेश के कारण कर्कशवाद के द्वारा जिनका चित्त काला हो गया है वे या तो सम्यक् पक्ष को समझ नही पाते अथवा एक दूसरे के पक्ष का बाध कर देने के कारण उनके सच्चे पक्ष मे पक्षाभास प्रतीत होने लगता है। यही उनके मोह मे पडने का बीज है। वस्तुत काल परमात्मा का ही एक रूप है। अत थोडा भी विचार करने पर कालवादी परमात्मवाद मे पहुँच सकता है परन्तु **परित** अर्थात् **समन्तत** (भली प्रकार) मोह के अन्दर गये हुए होने से वे इतना सा साधारण भेद भी नही समझ पाते।

४. **नारायणस्तु नु इति पठति। नु वितर्के ग्राह्य।**

५ अविद्या की ही यह महिमा है, परन्तु अविद्या उस स्वय प्रकाश देव के द्वारा ही प्रकाशित होती है। अतः मैं अज्ञ हूँ, इस प्रकार प्रत्यक्ष भान होता है। विविध प्रत्ययो के द्वारा जो कुछ जाना जाता है, वह

सब अविद्या से ही प्रदर्शित है। जिस प्रकार आकाश मण्डल मे वायु मेघमण्डल को घुमाती है इसी प्रकार अविद्या जीव को घुमाती है। वस्तुत यह परमेश्वर की महिमा उसकी सामर्थ्य है। जहा कार्य प्रतीत हो वही कारण को मानना चाहिये। चू कि आत्मा मे ही जगत् कार्य की प्रतीति होती है इसलिये उसका कारण भी वही मानना पडेगा। जगत् के पदार्थों की प्रतीति सिवाय आत्मा के और कही नहीं होती। इसलिये दूसरा कारण मानना व्यर्थ है। लगता है कि काल आदि के द्वारा यह चक्र चल रहा है परन्तु काल इत्यादि सब उस परमात्म देव की महिमा रूप से ही स्थित है। उससे अलग होकर उनकी कोई भी स्थिति सिद्ध नही होती।

६ जीव समूह अथवा वादियो का समूह ब्रह्म चक्र का तात्पर्य हो सकता है। अथवा अनत योनिया ही यह चक्र है। वस्तुतस्तु जिस प्रकार रेहट मे डोल लगे होते है और रेहट के घूमने से वे डोल घूमते हैं, उसी प्रकार यह जगत् चक्र घूमता है एव इनके घूमने से काल, जीव, देव आदि सब घूमते हुए प्रतीत होते है। वादियो ने भ्रम से जिन कारणो को समझा है वे भी परमेश्वर की माया से ही कारण रूप प्रतीत होते हैं। सिद्धान्त है कि ब्रह्म अपनी अविद्या से विवृत भाव को प्राप्त होकर ससार चक्र रूप प्रतीत होता है। अत परमार्थ दृष्टि से अनेक मत आत्मा के अज्ञान से ही विकल्पित होते है, यह भाव है।

२

येन आवृतम् नित्यम् इदम् हि सर्वम् ज्ञः कालकाल[1]: गुणी सर्ववित्[2] यः। तेन ईशितम् कर्म विवर्तते ह पृथ्व्याप्य[3]तेजोनिलखानि चिन्त्यम्॥

य = जो[4]
सर्ववित् = सर्ववेत्ता,[5]
गुणी = गुण वाला,[6]
कालकाल = काल का भी काल,[7]
ज्ञ = ज्ञानस्वरूप है, (तथा)[8]
येन = जिसके द्वारा
इद = यह[9] (प्रत्यक्ष जगत्)
सर्वम् = सारा ही
नित्यम् = हमेशा (नियम से)
आवृतम् = व्याप्त किया हुआ है[10],
हि = एव
तेन = उसके ही द्वारा
ईशितम् = नियन्त्रित किया हुआ है[11],
पृथ्व्याप्य-तेजोनिल खानि = पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश रूपी
कर्म = कर्म
विवर्तते = प्रकट होते है[12]
ह = इस प्रकार
चिन्त्यम् = ध्यान करना चाहिये।[13]

१ पाठभेदस्तु कालकार ।

२ नारायणस्तु सर्वत्रायुरिति पठति ।

३ पृथ्व्यप्तेजो वा पाठ ।

४ महादेव की महिमा रूप से जगत् को बताया गया। उसी महादेव का रूप अब इस मत्र द्वारा बताया जा रहा हैं। भगवद्गीता मे भी भ्रामयन् सर्वभूतानि के द्वारा ईश्वर को ही चक्र प्रवर्त्तक अर्थात् चाक्रिक माना है। यद्यपि यत् पद प्रसिद्ध अर्थ का सकेत करता है परन्तु यहा पर पूर्व मत्र से ही प्रसिद्ध होने के कारण इसका प्रयोग है।

५ जो सबको जानता है, उसे सर्ववेत्ता कहा जाता है। सब समन्वयो को व्यक्ति प्राधान्य रूप से व्यक्तियो मे अतर्भूत करके सदा अपरोक्ष रूप से जानने वाले को ही सर्ववेत्ता कहा जाता है। अथवा अनत आनन्द की अनुभूति की विद्या जिसमे है, उसे भी सर्ववित् कहते है। तात्पर्य है कि विद्या अर्थात् श्रुति मे बताई हुई उपासनाये सुखो का कारण हैं। जिसमे ये सारी ही विद्यायें अर्थात् उपासनायें

विद्यमान रहती है, वह परमात्मा अनत सुखानुभूति वाला होने से सर्ववेत्ता कहा जाता है।

कही कही सर्ववायु ऐसा भी पाठ मिलता है वहा सबका प्राण अर्थात् सूत्रात्मा है, यह भाव है। या सबका प्रिय, यह भाव भी हो सकता है।

माया ही परमात्मा का गुण है। वेदात मे गुण और गुणी का तादात्म्य सम्बन्ध स्वीकार किया है। माया का ईश्वर से तादात्म्य है ही, अथवा जिस प्रकार गुण के द्वारा मनुष्य प्रसिद्ध या ज्ञात होता है उसी प्रकार माया के द्वारा ही ईश्वर की प्रसिद्धि अथवा ज्ञान होता है। मायालिंगक ही ईश्वरसत्ता सिद्ध है। वस्तुतस्तु अविद्या अर्थात् अध्यास से ब्रह्म मे रहना ही उसका गुणी बनना है। अविद्या-काम-कर्म का बीज ज्ञान, इच्छा, क्रिया है ही। अत ज्ञान, इच्छा, क्रिया के द्वारा उसका प्रकटीभवन ही गुणरूपता की प्राप्ति है। उपनिषदो मे साख्य की त्रिगुणात्मिका प्रकृति का तो स्पर्श भी नहीं अत इस प्रकार के मत्रों से साख्यवादियो का परिकल्पन तो सर्वथा असगत है। उपनिषदो मे बताये हुए अपहृतपाप्मा आदि गुण भी यहा इष्ट है।

७ सब चीजो को नष्ट करने वाला काल है। उसको भी महाकाल बाये पैर की ठोकर मात्र से खतम कर देता है। अत उन्हे कालकाल कहा जाता है। तात्पर्य है कि वह काल का नियत्रण करने वाला है। काल स्वय जड होने के कारण अपना नियमन स्वय नही कर सकता। अत उसके प्रेरक रूप से चेतन महाकाल को स्वीकार करना हो पडता है **काल सृजति भूतानि, काल संहरति प्रजा.। सर्वे हि काल-वशगा न काल कस्यचिद्वश** ॥ इत्यादि के द्वारा जो काल को सबका अधिपति माना है वह काल रूपी उपाधि वाले महादेव को लेकर के ही सम्भव हैं।

किसी-किसी पुस्तक मे कालकारः ऐसा पाठ भी मिलता है। वहा काल को भी बनाने वाला, यह भाव है।

८ परमात्मा की अचेतनता की निवृत्ति के लिये उसे बाध स्वरूप कहा गया हैं। अथवा जानाति अर्थात् जानता है, इस अर्थ मे ज्ञ समझ लेना चाहिये। **इक् उपधा ज्ञा प्रीकिरः क** से इसकी सिद्धि है अर्थात् वह सब कुछ जानता है। अत उसे ज्ञ कह दिया गया। सर्ववित् से इसका भेद यह है कि यह सामान्य मे व्यक्तियो का अन्तर्भाव करके सामान्य प्रधानता से सबको हमेशा जानता हैं। मैं ही सब हू, यह ज्ञ है।

९ समग्र परिदृश्यमान जगत को इद शब्द से कहा जाता है। यद्यपि यह विविध ज्ञानो का विषय बनता है परन्तु इसकी इदता कभी निवृत्त नही होती। इसका कारण यह है कि जब तक इद का अह से तादात्म्य नही हो जाता तब तक दृश्य और द्रष्टा भाव चलता रहता हैं। वस्तुतस्तु येन पद से माया के द्वारा ऐक्याध्यास से उपगत सत्, चित् रूप परमात्मा का ही ग्रहण है। उसके द्वारा ही यह आकाश आदि समग्र दृश्य जगत् स्फुरित होता रहता है क्योकि उसके द्वारा ही व्याप्त है। परमात्मा से भिन्न होकर न इद की कहीं कोई सत्ता है और न स्फुरत्ता।

१० आ अर्थात् चारो तरफ से एव वृतम् अर्थात् व्याप्त करके। अत जैसे आकाश सबको व्याप्त करके रहता है, ऐसे ही परमात्मा भी सब मे व्याप्त है। वस्तुतस्तु व्याप्ति का यह अर्थ है कि ईश्वर के साथ एकता के अध्यास से उपगत होना ही आवृत होना है। यहा रहस्य यह हैं कि सत्, चित् रूप परमात्मा माया से एक हुआ हमको प्रतीत होता है, दोनो को अलग-अलग करके समझना असम्भव है। वस्तुतस्तु माया ईश्वर की बाह्य शक्ति है और इच्छा शक्ति उसकी अतरग अथच अभिन्न है। इच्छा शक्ति का बहिर्विकास हमे माया का भान

कराता है। जिस प्रकार बाजीगर की अभिन्न शक्ति के द्वारा हमे उसका खेल दिखाई देता है, उन खेलो की अन्यथा अनुपपत्ति से हमे माया शक्ति माननी पडती है। अत इच्छा का बहिरुन्मेष हमारे मे एक भ्रान्ति ला देता हैं जिसका नाम माया है। इस माया से एक हुआ हुआ ईश्वर सारे जगत् का कारण बन जाता है, जबकि सत्यना यह है कि न वह कारण हैं और न वह कार्य है। वह तो नित्य एक रस ही है। इस ईश्वर के साथ फिर एकता को प्राप्त हुआ हुआ जगत् ऐसा बन जाना है कि हमे जगत् ही प्रतीत होता है, परन्तु जिस ईश्वर के साथ एक हुआ हुआ वह प्रतीत होता है वह ईश्वर प्रतीत नही हो पाता। इसी को यहाँ आवरण कहा गया है। वैसे वृञ्वरणे धातु का अर्थ चुनना है। हम लोग जगत् को चुन लेते है और इसीलिये परमात्मा आवृत हो जाता है। परन्तु वस्तुत जगत् के कण-कण और क्षण-क्षण मे सिवाय परमात्मा के और कुछ भी नही है। जड चेतन सब कुछ उसी का रूप है। कारण रूप परमेश्वर के द्वारा यह सब कुछ नित्य है, अर्थात् सदा ही महाप्रलय मे तो एक होकर के रहता है एव स्थिति अवस्था मे तादात्म्य भाव से रहता है। विचारशील तो इस प्रकार देखता है कि जिस प्रकार स्वर्ण देखते समय आभरण की प्रतीति नही एव आभरण देखते समय स्वर्ण की प्रतीति नहीं रह पाती, अत कहा जा सकता है कि स्वर्ण दृष्टिकाल मे आभरण का प्रलय है एव आभरण प्रतीतिकाल मे स्वर्ण तादात्म्य सम्बन्ध से स्थित है, उसी प्रकार ब्रह्मदृष्टि करते समय जगत् का महाप्रलय है, एव जगत् अनुभव काल मे ब्रह्म तादात्म्य सम्बन्ध से विद्यमान है। अतः नित्य ही दोनो अवस्थाये अखण्ड रूप से मौजूद है। किसी-किसी को शका हो सकती है कि ब्रह्म प्रतीति काल तक, सम्भवत किसी दूर भविष्य मे, ब्रह्माकार वृत्ति बनानी होगी परन्तु यह ठीक नही है। हर ज्ञान के अत मे जब ज्ञान साक्षीरूप महेश्वर मे लीन होता है तब एक

क्षण के लिये स्वभावत ब्रह्म स्वरूपसिद्ध है। यदि यह ब्रह्म स्वरूप सिद्ध न हो तो कर्मेन्द्रिय आदि की प्रवृत्ति असम्भव हो जाती है। जिस प्रकार प्रतिक्षण जब विद्युत यत्र चलता है तब उसके ऋणाणुओ का पुनरागमन विद्युताकार मे हो जाता है एव तत्काल ही धनाणुओ का आगम हो जाता है। यदि ऋणाणुओ के पुनरागमन एव धना-णुओ के आगमन मे क्षणमात्र भी विलम्ब होगा तो यत्र बन्द हो जायेगा। इसी प्रकार हमारे विषयज्ञान रूपी ऋणाणु महेश्वर मे लीन होते है और महेश्वर से शुद्ध ज्ञानरूपी धनाणुओ का आगमन होता है। इस आगम निर्गम भाव का ही नाम जीवन है। यही ईश्वर के प्रारब्ध फल भोग देने मे प्रतिक्षण स्वातत्र्य का स्वरूप है। यद्यपि सामान्य दृष्टि से कह दिया जाता है कि जन्म के साथ ही प्रारब्ध निश्चित है लेकिन अनुभवी ब्रह्मविद्वरिष्ठो की प्रतीति है कि प्रतिक्षण मानो ईश्वर नव सकल्प के द्वारा तत्तद् कर्मों के फल का उदय करता है। स्मृतियो मे भी जो यह कहा गया है कि अति उग्र पुण्य या पाप तीन दिन मे भी फल दे सकते है, उसका भी यही रहस्य है। श्रुति के अनुसार तो तीन क्षण के विलम्ब की अपेक्षा रहती है। जिस क्षण कर्म किया वह प्रथम क्षण है, कर्म की समाप्ति मे महेश्वर के साकल्प का क्षण दूसरा क्षण है और सत्य साकल्प का तुरत अनुभूति रूप मे परिणत हो जाना तृतीय क्षण है। आचार्य गौड ब्रह्मानन्द स्वामी लघुचन्द्रिका मे इसीलिये कहते हैं कि जिस परमेश्वर ने क्षणमात्र मे द्रौपदी की रक्षा की थी, वही हमारे ईश्वर की सर्व व्यापकता मे एकमात्र प्रमाण है।

अथवा यहा आवरण शक्ति कही गई है। आवरण शक्ति को नित्य इसलिये कहा गया कि सुषुप्ति मे विक्षेप शक्ति का लय होने पर भी आवरण बना रहता है। इसी प्रकार महाप्रलय मे भी विक्षेप शक्ति का अभाव होने पर भी आवरण शक्ति बनी रहती है। माया की आवरण और विक्षेप दोनो शक्तियो का प्रतिपादन इस श्लोक मे **आवृतम्** और **विवर्तते** के द्वारा किया गया है।

११ प्रेरणात्मक ही ईश्वर का नियत्रण छादोग्य उपनिषद् मे बताया गया है, अर्थात् जिसको ऊपर ले जाना होता है उसके हृदय मे सत्कर्म की प्रेरणा का उदय करता है, एव जिसे नीचे ले जाना होता है, उसमे असत् कर्म की प्रेरणा को उत्पन्न करता है। सैद्धान्तिक दृष्टि से इस प्रेरणा का कारण जोव के अपने ही शुभाशुभ कर्म फलो का उदय होना है। अथवा उस ईश्वर रूप के अधिष्ठाता अर्थात् ईश्वर के अधिष्ठान रूप से मौजूद होने के कारण ही सारी प्रवृत्तिया होती है। इस दृष्टि से भी उसे प्रेरक कहा जा सकता है। तात्पर्य यह है कि यदि वह न हो तो न चोर को चोरी करने के लिये सत्ता ज्ञान की उपलब्धि हो, और न ज्ञानी को ज्ञान के लिये सत्ता ज्ञान की उपलब्धि। अतः वह सबका अधिष्ठाता रूप से ईशन करता है। अथवा जीवो के कर्मो के फलस्वरूप प्रपचाकार मे अपनी माया के कारण बनना ही उसका ईशन है। जीव के कर्मो के फल प्रदान करने के लिये वह पदार्थाकार मे बनता है। अत वह जीव के अनुभव का नियामक माना जाता है।

अन्वय को बदलने पर तो ऐसा भी अर्थ हो सकता है कि इस प्रकार उस परमात्मा के द्वारा नियमित ही कर्म अर्थात् जो किया जाये वह कार्य समूह प्रतीत होता है। **तेन महेश्वरेण, ईशितम् नियमितम्, कर्म क्रियते इति कर्म कार्यजातम् विवर्तते** ऐसा अन्वय समझना। यहा **जो किया जाये** का तात्पर्य वैसा समझना जैसे माला सर्प बनती है।

१२ ईश्वर से प्रेरित होकर ही मनुष्यो के किये हुए धर्म अधर्म जगत् रूप से प्रकट होते है, यह भाव है। जीव के द्वारा क्रिया रूप से निष्पन्न धर्म अधर्म को भी कर्म कहा जाता है। एव धर्म अधर्म के फलस्वरूप जब जीव पदार्थनिष्ठ सुख दु ख आदि रूप को ग्रहण करता है तब भी उसे कर्म ही कहा जाता है। हर हालत मे क्रिया करते

समय पुरुष कर्त्ता नही बनता और फल भोगते समय भोक्ता नही बनता। इसलिये यहा स्पष्ट रूप से विवर्तवाद का प्रतिपादन किया गया है। पूर्व रूप को विना छोडे अन्य रूप को प्राप्त कर जाना विवर्त कहा जाता है, एव पूर्व रूप को छोड देने पर परिणाम कहा जाता है। अथवा शास्त्रीय दृष्टि से कह सकते है कि अतात्त्विक अन्यथाभाव विवर्त है तथा तात्त्विक अन्यथाभाव परिणाम है। यद्यपि सामान्य दृष्टि वाले लोगो को समझाने के लिये वेद प्राय परिणामवाद का ही प्रतिपादन करता है, लेकिन यहा श्रुति स्पष्ट करती है कि उनका तात्पर्य विवर्तवाद मे ही है। वस्तुत विवर्त्तवाद को आचार्य सर्वज्ञात्म महामुनि ने परिणामवाद की चरम परिणति ही मानी है। यह वह सीढी है जिसके द्वारा आरभवाद से छूटकर विवर्तवाद की तरफ जा सकते है। वस्तुत परमात्मा पचमहाभूत बनता नही, वरन् पच महाभूत की तरह प्रतीत होता है, यह श्वेताश्वतर महर्षि का तात्पर्य हैं। सारे ही प्रपच विवर्तरूप है एव साक्षात् ब्रह्म का ही विवर्त है। माया इत्यादि को माध्यमिक कारणता तो स्थूल बुद्धि वालो को समझाने के लिये है। परमेश्वर ही सर्व व्यापक होने से एकमात्र ज्ञाता और सर्वकर्त्ता है। विज्ञान भिक्षु तो प्रच्छन्नसाख्यवाद का आश्रयण करके तत्त्व विपरीत मिथ्या ज्ञान परिणाम विवर्त है ऐसा कहते है। परिणाम को विवर्त कहना उन जैसे पण्डितो से ही बन सकता है। मिथ्या ज्ञान का परिणाम कहकर यद्यपि वह प्रकृति को मिथ्या ज्ञानरूप प्रतिपादित करते है परन्तु वास्तविक परिणामता सत्य पदार्थ की ही हुआ करती हैं, मिथ्या ज्ञान की नही। इसके द्वारा जो भी माया को परिणामी कारण और ब्रह्म को विवर्त कारण मानते है एव इस प्रकार केवलाद्वैतवाद मे भी अभिनिवेश पूर्वक द्वैत को घुसाना चाहते हैं, उन सबका निराकरण समझ लेना चाहिये। सूत्रकार, भाष्यकार के सिद्धान्त मे अभिन्न निमित्तोपादान कारण केवल ब्रह्म

ही है। चूंकि शुरू में साधक को **जगत् की प्रतीति क्यों ?** ऐसा कार्य कारण भाव अभिनिविष्ट होता है, अतः कह दिया जाता है कि जगत् की प्रतीति माया से है। माया अर्थात् भ्रम से, तात्पर्य है कि जगत् की प्रतीति है ही नहीं। अतः माया का परिणाम जगत् नहीं वरन् जगत् प्रतीति को सामान्य साधक को समझाने के लिये 'नहीं है' के लिये कहा हुआ कारण विशेष है। इसको भली प्रकार न समझने के कारण द्वैत बुद्धि से आक्रान्त अंतःकरण माया की कल्पना कर लेता है। वेदांत सिद्धान्त में अज्ञात आत्मा से अतिरिक्त और कोई माया नहीं है।

१३. ध्यान का अर्थ यहां विचार है अर्थात् ये चीजें चिंतन करने के योग्य हैं। अथवा चिन्त्यम् माने दृश्यम्, अर्थात् इस प्रकार से दृष्टि बनाकर इसे ज्ञान रूप में परिणत कर लेना चाहिये। अथवा विवर्तवाद के आश्रयण से लय प्रक्रिया से प्रत्येक अनुभव को ब्रह्म में लीन करना रूपी चिंतन करना चाहिये। अथवा सीधे ही सत्ता स्फुरत्ता रूप से प्रत्येक विषय को ब्रह्म में लय करना चाहिये। किंच लोक में कारण रूप से प्रसिद्ध एवं वादियों में प्रसिद्ध काल, स्वभाव, भाग्य इत्यादि कारण केवल महेश्वर के ही विवर्तरूप से नामान्तर हैं, स्वतंत्र रूप से नहीं। इस प्रकार परीक्षण करते हुए एक महेश्वर में ही चित्त को स्थित करना चाहिये। भाव यह है कि सर्वज्ञ कर्मों का अधिष्ठाता परमेश्वर रहो, उससे हमें क्या ? इस संदेह का निराकरण करने के लिये कहा गया कि वह चिंतन के योग्य है अर्थात् उसके चिंतन से सकल क्लेशों की निवृत्ति हो जाती है। क्लेश मिथ्या ज्ञान निमित्तक हैं। चिंतन करने से जैसे ही महेश्वर की अभिन्न निमित्तोपादान कारणता प्रतीत होकर बाकी सभी कारणों की निवृत्ति हो जाती है, वैसे ही परमानंद की प्राप्ति हो जाती है। प्रथम अध्याय के द्वितीय मंत्र में अन्य कारणों को चिन्त्य कहा था, अब महेश्वर को चिन्त्य कहते है।

वहा तात्पर्य था कि ये कारण नही है, ऐसा विचार करना चाहिये अर्थात् अभावात्मक चितन था, और यहा परमेश्वर कारण है, इस प्रकार से भावात्मक चितन इष्ट है। अन्य कारणो की निवृत्ति पूर्वक ब्रह्म कारणता के द्वारा स्वरूप स्थिति होती है, यह रहस्य है।

३

तत् कर्म कृत्वा विनिवृत्य[1] भूयः तत्त्वस्य तत्त्वेन समेत्य योगम्। एकेन द्वाभ्यां त्रिभिः अष्टभिः वा कालेन च एव आत्मगुणैः च सूक्ष्मैः ॥

तत्=उस[2]
कर्म=कर्म को[3]
कृत्वा=करके,[4]
भूय=फिर[5]
विनिवृत्य=निवृत्त होकर[6]
तत्त्वस्य=अंत करण से उपलक्षित चेतन का[7]
तत्त्वेन=अविद्या से उपलक्षित चेतन के साथ[8]
योगम्=एकता को[9]
समेत्य=भली प्रकार अवगत करके[10],
च=तथा[11]
एकेन=एक से,[12]
द्वाभ्यां=दो से,[13]
त्रिभि=तीन से,[14]
वा=या
अष्टभि=आठ से[15]
च=एव
कालेन=काल के साथ,[16]
सूक्ष्मै=सूक्ष्म[17]
आत्मगुणै=आत्मगुणो के साथ[18]
एव=ही (मुक्त होता है)।

१. **पाठभेदस्तु विनिवर्त्य**।

२ इस मंत्र मे सम्यक् ज्ञान साधन की परम्परा तथा प्रकार का प्रतिरूपण किया गया है।

ईश्वर दृष्टि मे देखा जाये तो तत्कर्म का मतलब हो जायेगा ईश्वर के द्वारा किया हुआ पृथ्वी आदि सृष्टि क्रम, एव सृष्टि को करके वह प्रत्यवेक्षण रूपी विनिवर्तन करते है, तथा अपने प्रतिबिम्ब रूप आत्मा का पंचमहाभूतो से योग करते है फिर शिव रूप से, शिव शक्ति रूप से, त्रिदेव रूप से एव पुर्यष्टक रूप से, काल रूप से तथा अत करण के कामना आदि सूक्ष्म गुण रूप से विवृत करते है। तात्पर्य है कि सक्षेप मे यहा सृष्टि विस्तार का प्रतिपादन है जिसको पूर्व मत्र मे विवर्तते शब्द से कहा गया। इस अर्थ मे समेत्य का अर्थ सगमय्य णि लोप करके समझ लेना चाहिये। पुर्यष्टक की जगह गीतोक्त अष्ट अपरा प्रकृति भी कुछ कवियो ने ग्रहण की है। इस दृष्टि से तत् का अर्थ ऐश्वर रूप लेना पडेगा।

साधक की दृष्टि से इसी मत्र का अर्थ लेने से तत् अर्थात् उस ईश्वर के रूप को किस प्रकार हृदयगम किया जाये, इसका वर्णन है। तत् की प्राप्ति मन की अस्थिरता से कैसे हो सकती है। अत साधना का उपदेश किया गया। अथवा तत् अर्थात् मनुष्य शरीर साध्य भी इसका तात्पर्य हो सकता है। या तत् कर्म को एक पद मानकर चतुर्थी समास करके तत् अर्थात् ईश्वर के लिये जो कर्म किया जाता है, वह तत्कर्म है, ऐसा भी अर्थ किया जा सकता है। उस दृष्टि से कर्मी जो कुछ भी कर्म करता है, वह सब ईश्वरापण बुद्धि से करे, यह भाव है, एव उसके द्वारा अनुष्ठित कर्मपूर्णता से निर्मलान्त करण को प्राप्त करे। मन की अस्थिरता मे ईश्वर का चितन कैसे हो सकता है? इसका जवाब हो गया कि कर्म का अनुष्ठान ईश्वरार्पण बुद्धि से करने से हो सकता है। पूर्व मत्र मे जिसे चिन्त्यम् कहा था उसी का साधन बताने वाला इस प्रकार यह मत्र हो गया। तात्पर्य है कि यदि पूर्व मत्रोक्त ईश्वर की निवर्तक क्रिया का निरूपक यह मत्र माना जाये तो पूर्वोक्त अर्थ होगा एव यदि

चिन्त्यम् का विस्तार करने वाला माना जाये तो अपर अर्थ होगा। मन्त्र सूत्रात्मक होने से ऐसे स्थलो पर अनेकार्थता दोषावह नहीं मानी जा सकती।

३ ज्योतिष्टोम आदि श्रौत कर्म अथवा धर्मशाला निर्माण इत्यादि स्मार्त कर्म दोनो का ही सग्रह है। अथवा मनुष्य शरीर मात्र से होने वाले जो कर्म अर्थात् जिन कर्मो को शास्त्रो मे नरमात्राभिमानी के लिये बताया गया है, जैसे जप, तप दान, विवेक, विचार, शम, दम, तितिक्षा, श्रद्धा, देवपूजन आदि। इनको परमेश्वर समाराधन की बुद्धि से करने पर अत करण निर्मल हो जाता है अथवा जो कुछ भी किया जाता है वह सब कर्म है। अत शरीर, वाणी और मन से जो भी अनुष्ठित हो उन सबको ईश्वर के अर्पण कर देवे। **यत्करोषि यद्-श्नासि** इत्यादि गीता इसमे प्रमाण है। आचार्य शकर भी **सपर्या-पर्यायस् तव भवतु यन्मे विलसितम्** अथवा **पूजा ते विषयोपभोग-रचना** इत्यादि से यही कहते है।

४ शास्त्रोक्त विधि से भली प्रकार अनुष्ठान को ही यहा कहा जा रहा है निष्काम कर्म से जो आधुनिको का दृष्टिकोण है कि जैसे तैसे कर्म को निपटा देना, वह श्रुति का तात्पर्य नही हैं। सच तो यह है कि सकाम कर्म की अपेक्षा भी निष्काम कम मे सावधानी की अधिक आवश्यकता होती है। सकाम कर्म देवताओ को प्रसन्न करने के लिये है एव निष्काम परमात्मा को प्रसन्न करने के लिये। आय निरीक्षक की अपेक्षा केन्द्रीय वित्त सचिव के लिये बलि जैसे और अधिक देनी पडती है, वैसे ही यहा समझना चाहिये। लौकिक कर्म भी यदि ईश्वरार्पण बुद्धि से करने है तो उनमे भी पूर्णता लानी होगी। परमेश्वर की दृष्टि **कितना किया** पर कम होती है, **कैसे किया** पर अधिक। इसीलिये योगाभ्यासी के कर्म के परिमाण का न देखकर कर्मोन्नति को देखना चाहिये।

५ पहले सकाम कर्म किये हैं और अब उन्ही कर्मों को निष्काम बुद्धि से कर रहे है। इस दृष्टि से **भूय** कर्म का विशेषण भी हो सकता है अथवा अत्यधिक कर्म के अर्थ मे भी इसका प्रयोग हो सकता है। अथवा कर्म करने के बाद ही सन्यास बनता है, अत आगे के साथ भी इसका सम्बन्ध है। **न कर्मणामनारम्भान्नैष्कर्म्यम् पुरुषोश्नुते** इत्यादि गीता वाक्य इसमे प्रमाण है।

६ विशेष करके निवृत्ति करना ही विनिवृत्ति है। तात्पर्य है कि कर्म करते हुए बहिर्मुखता रहती है। बहिर्मुख व्यक्ति कैसे चिंतन अर्थात् श्रवण, मनन, निदिध्यासन कर सकेगा ? अत कहा कि जब कर्मानुष्ठान करके अत करण की निर्मलता सिद्ध हो जाये, तब सम्पूर्ण रूप से निवृत्ति करे। विशेषेण इसलिये कहा कि सामान्य कर्मफल रूपी निवृत्ति तो पहले भी हैं, परन्तु अब केवल फल ही नही, ससाधन कर्म से भी निवृत्ति है। निवृत्ति की तरफ अभिमुखता का अर्थ विविदिषा सन्यास से है। इस अध्याय के अत मे वेदात सुनने का अधिकारी स्पष्ट रूप से श्रौत परमहस सन्यासी ही बताया जायेगा। परमहस सन्यास ही एकमात्र वैदिक सन्यास हैं। इसके पुन दो भेद हैं विविदिषु और विद्वत् ज्ञान प्राप्ति के लिये जो बाह्य समग्र कर्मो का विधिवशात् त्याग किया जाता है, उसे विविदिषु सन्यास कहते है, एव ज्ञान के बाद जीवन्मुक्तावस्था मे जो स्वभाव से कर्म त्याग हो जाता है, उसको विद्वत् सन्यास कहा जाता है। कुटीचक, बहूदक आदि सन्यास तो वस्तुत स्मार्त सन्यास हैं, श्रौत नही। सन्यास के विना बहिर्मुखता की निवृत्ति व्यवहार मे सम्भव नही हैं। जिस ग्रन्थ मे तो विनिवर्त्य पाठ मिलता है, वहा मनन आदि व्यापारो के द्वारा निष्पन्न करक अथवा विवेक के द्वारा आत्मा को अनात्मा से अलग करके' ऐसा अर्थ कर देना चाहिये।

७ जोव अत.करण वाला हैं जिसे शास्त्रीय भाषा मे अत करणा-

वच्छिन्न चैतन्य कहते है। इस अत करण को उपहित करके वही चैतन्य ब्रह्म से एक भाव को प्राप्त हुआ हुआ है। तात्पर्य है कि शरीर आदि तथा इन्द्रिय आदि सघात का जो साक्षी है, वह जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति तीनो अवस्थाओ मे एक जैसा ही बना रहता है। अत वही तीनो अवस्थाओ का साक्षी है और तीनो अवस्थाओ का साक्षी होने के कारण ही उन अवस्थाओ से भिन्न है। यही तत्त्वमसि महावाक्य मे त्व पद का अर्थरूप है। इसी को प्रत्यगात्मा भी कहते है।

८ अत करण अविद्या का कार्य है। **कार्योपाधिरय जीव कारणोपाधिरीश्वर** इत्यादि स्मृति के आधार पर अविद्या रूपी कारण ईश्वर की उपाधि है एव अविद्या का कार्य अत करण जीव की उपाधि। अविद्याविशिष्ट ईश्वर एव उसी अविद्या को उपलक्षण मानने पर वह चैतन्य ब्रह्म कहा जाता है। तत्त्वमसि वाक्य मे तत् पद का अर्थ रूप जो परमात्मा, वही यहा भी इष्ट है। तात्पर्य हुआ कि अविद्या एव उसके कार्यों का परित्याग करने से जो सच्ची वस्तु बचती है, वह आनदस्वरूप प्रत्यगात्मा ही दोनो को मिलाने का फल है। यद्यपि भक्तिवादी भी जीव को ईश्वर मे मिलाना कही कही स्वीकार करते है लेकिन वहा अश-अशी-भाव हटता नही है। वेदात सिद्धान्त की दृष्टि से जीव और ईश्वर दोनो की वास्तविकता कवल चिदानद मे है। अत जैसे ही उपाधियो का परित्याग करके सच्ची चीज को देखा जाता है, वैसे ही **सोऽय देवदत्त** की तरह अखण्ड ब्रह्म का ज्ञान हो जाता है। लक्ष्यार्थो की एकता है, वाच्यार्थो की नही।

९ यद्यपि योग शब्द का अर्थ जोडना होता है, अत सामान्य दृष्टि से जीव और ईश्वर का एक होना, ऐसा समझा जाता है, परन्तु वास्तविक दृष्टि से विचार करने पर **वियोगम् योगसंज्ञितम्** के अनुसार जीव के जीवत्व भाव को निवृत्ति ही योग है। प्रतिबिम्ब भाव से हट जाना ही बिम्ब और प्रतिबिम्ब उभय उपाधियो की निर्मुक्ति के द्वारा

स्वरूपस्थिति हो जाना है। अथवा युजिर् समाधौ धातु से निष्पन्न हुआ योग शब्द उस निदिध्यासन अवस्था को बताता है जो श्रवण, मनन के द्वारा स्वभाववशात् प्राप्त होती है। तात्पर्य है कि श्रवण, मनन के द्वारा जिस आनदरूपी प्रत्यगात्मा मे स्थित हुए उसी के अन्दर तत् अह, शिवोह, सोह, इत्यादि रूप से स्थित हो जाना योग है।

१० एक लक्षण वाले पदार्थों की एकता को अपरोक्ष कर लेना ही भली प्रकार प्राप्त करना है। चू कि प्रत्यगात्मा अपना स्वरूप है, अतः देशभेद, कालभेद, अवस्थाभेद और वस्तुभेद रूपी प्राप्ति यहां सम्भव नही। अत भेद भ्रान्ति की निवृत्ति हो जाना ही उसका अपरोक्ष हो जाना है। खोई हुई गले मे पडी साकल की प्राप्ति की तरह यह प्राप्ति समझनी चाहिये।

११ कौन सा वह योग है जिससे इस एकता की प्राप्ति होती है, ऐसी जिज्ञासा होने पर आगे उपाय बताते है। वस्तुत अग्रिम श्लोक मे आया हुआ कर्मक्षय यहा अध्याहृत कर लेना चाहिये। तात्पर्य है कि कर्म के क्षय हो जाने पर श्रवण, मनन, निदिध्यासन जिसके सिद्ध हो गये हैं, वह मोक्ष को प्राप्त कर लेता है। परन्तु उस मोक्ष प्राप्ति का काल, एव अधिकार की अपेक्षा का प्रतिपादन करने वाली यह अर्द्धाली है। किन साधनो से जीव और ईश्वर की एकता का ज्ञान उत्पन्न होता है, इसके प्रतिपादन का तात्पर्य **साधक मुमुक्षु ऐसा करे** इस विधि से है।

१२ जहा योग का अर्थ वियोग किया है वहा इसका अर्थ होगा **एक अविद्या से वियुक्त होकर** अथवा मुख्य साधन रूप से श्रवण के द्वारा योग अर्थात् एकता को प्राप्त करके। दोनो पक्षा का तात्त्विक अर्थ तो एक ही है क्योकि श्रवण के द्वारा ही अविद्या निवृत्त होती है। एकेन का अर्थ एक जन्म मे भी हो सकता है। तात्पर्य है कि जो उत्तम साधक होते है वे एक जन्म मे ही मुक्त हो जाते है अथवा श्रवण मात्र से ही मुक्त हो जाते है।

इस अध्याय के अत मे गुरु भक्ति को भी साधनो मे अन्यतम माना है। इस दृष्टि से अर्थ हो जायेगा कि कोई साधक केवल गुरु भक्ति के द्वारा ही इस तत्त्व को प्राप्त कर लेता है। इसमे साक्षात् भाष्यकार भगवान् शकर के प्रिय शिष्य त्रोटकाचार्य का दृष्टात प्रसिद्ध है। वस्तुतस्तु वेदात सिद्धान्त मे गुरु मे ब्रह्मनिष्ठता पूर्ण होने के कारण वही ईश्वर का इहलोक मे प्रकट रूप है। अत गुरुभक्ति ही ईश्वर भक्ति का रूप है। **ईश्वरोपासनारूप तत् उपाय एव ईश्वरानुग्रहादेव** इत्यादि वाक्य इसमे प्रमाण है।

१३ धर्म एव अधर्म दोनो से वियुक्त होकर। तात्पर्य है कि जब तक मनुष्य धर्म और अधर्म दोनो से अपने आपको अलग नही कर लेता तब तक परमात्म रूप मे स्थित होता नही। कुछ साधक प्रतिबधक के कारण दो जन्मो मे मुक्त हो जाते है, यह भी सकेत है। द्वैतवाद की दृष्टि से तो यहा गुरु भक्ति और ईश्वर भक्ति के द्वारा ऐसा भी अर्थ किया जा सकता है। जिन साधको के चित्त विक्षिप्त नही होते, परन्तु असम्भावनाग्रस्त होते है, वे श्रवण एव मनन इन दो साधनो के सहारे ज्ञान प्राप्त करते है, यह भी सकेत है। अथवा योगवाशिष्ठोक्त योग और ज्ञान विकल्प यहा इष्ट है।

१४ पृथ्वी, जल, तेज रूपी छादोग्य मे कहे हुए प्रत्येक पदार्थ के रूपो का चितन करना। अथवा श्रवण, मनन, निदिध्यासन इन तीन साधनो का अभ्यास करना यहा इष्ट हो सकता है। कुछ लोग मानते है कि तीन जन्म मे मुक्त हो जाता है, यह भी यहा तात्पर्य हो सकता है।

१५ पचमहाभूत, मन, बुद्धि और अहकार, इन आठो से वियुक्त होना यहा इष्ट है। अथवा कोई साधक ब्रह्महत्या आदि पापो से ग्रस्त होने के कारण आठवे जन्म मे मुक्त होता है। यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान, समाधि रूप अष्ट साधनो का

अभ्यास करके अत्यत विक्षिप्त चित्त वाला साधक एकता को प्राप्त करता है। वस्तुतस्तु विवेक, वैराग्य शम, दम, उपरति, तितिक्षा, समाधान, श्रद्धा ये आठ साधन यहा कहे जा रहे हैं। वा का अर्थ समुच्चयात्मक समझ लेना चाहिये, अर्थात् इन आठ का अभ्यास करते हुए पूर्वोक्त तीन का अभ्यास करे एव धर्म अधर्म के कर्त्ता और भोक्ता रूप का परित्याग करते हुए एक अविद्या से निवृत्त हो जाये। यही वास्तविक श्रौत तात्पर्य है। कालवाचक अर्थ **बहूनां जन्मनामन्ते** इत्यादि स्मृतियो के आधार पर है।

१६ न केवल उपर्युक्त चीजो से ही वियुक्त होना है वरन् सृष्टि, स्थिति सहार काल से भी वियुक्त होना है। तात्पर्य है कि साख्य एव योग का अभ्यास करने वाला प्रकृतिलीन अवस्था को प्राप्त करके एव अहंग्रहोपासक ब्रह्मलोक मे जाकर प्रलयपर्यन्त यद्यपि स्थिर रहता है, तथापि अगली सृष्टि मे उसका पुनरागमन हो जाता है। अत उस मुक्ति से यहा कोई प्रयोजन नही, वरन् सृष्टि, स्थिति, सहार काल मे भी जो आवागम की निवृत्ति है, वही यहा इष्ट है। वस्तुतस्तु दीर्घकाल तक किये हुए उपयुक्त साधन ही सफल होते है। इस जन्म मे या जन्मान्तर मे ज्ञान के लिये किया हुआ साधन कलार काल आने पर ही पकता है, एव जब अधिकार सम्पत्ति पकती है तभी ज्ञानोत्पत्ति होती है। जिस प्रकार गर्भस्थ शिशु समग्र सामग्रियो के होने पर भी नौ महीने के काल मे ही पकता है, अथवा सस्य ६० दिन मे ही पकता है, उसी प्रकार ज्ञान का परिपाक भी काल से होता है।

१७ कारणावस्था को ही यहा सूक्ष्म कहा गया है। तात्पर्य है कि जगत् के उत्पन्न न होने पर कामना आदि आत्म गुण कहा रहेगे? ऐसी शका होने पर कहा गया कि प्रलयकाल मे अथवा सुषुप्ति काल में भी वे सूक्ष्म रूप मे रहते ही हैं। अथवा ब्रह्मरूपी सूक्ष्म वस्तु का प्रकाश करने मे समर्थ होने के कारण धर्म, ज्ञान आदिको को सूक्ष्म

कहा गया है। अथवा अनेक जन्मो मे ज्ञान के लिये अनुष्ठित पुण्य सस्कार अत करण मे सूक्ष्म रूप से ही सस्कार बने हुए रहते है। ये सस्कार चालीस माने गये है। चू कि ये अत करण मे सूक्ष्म रूप से स्थित रहते है, इसलिये उन्हे सूक्ष्म कह दिया गया।

१८ धर्म, ज्ञान, वैराग्य, ऐश्वर्य इन्हे आत्मगुण माना गया है। अथवा आत्मा अर्थात् अत करण के गुण अर्थात् कामना इत्यादि, इनसे वियुक्त होना। चू कि कामना आदि कारणावस्था मे है, अत उन्हे सूक्ष्म भी कह दिया गया। सूक्ष्म कामना आदिको मे वियुक्त होने मे तात्पर्य है। मूल श्लोक मे आया हुआ च यहा काल, आत्मगुण, एक, दो, तीन, आठ इन सबके समुच्चय के लिये भी समझा जा सकता है। अथवा चकार का तात्पर्य एक से लेकर के आत्मगुण पर्यन्त सारे कारण आत्मा मे अध्यस्त है, यह बताने के लिये है। अन्य पक्ष मे आत्मगुण धर्मशास्त्र मे कहे हुए दया, शान्ति, शौच, मागल्य, अस्पृहा, अकार्पण्य, अनायास, अनसूया नाम के आठ गुण हैं। तात्पर्य है कि इन साधन कलापों के द्वारा आत्मा और ईश्वर की एकता को अपरोक्ष करने से मुक्ति होती है। योग की दृष्टि से अष्ट ऐश्वर्यों से निवृत्ति भी यहा सग्राह्य है। किच ब्राह्मण, प्राजापत्य, ऐन्द्र, पैतृ, गाधर्व, याक्ष, राक्षस, पैशाच पुराणोक्त इन आठ देव सर्गो की निवृत्ति को यहा पुराणो की दृष्टि से लिया जा सकता है।

साख्य दृष्टि से तो ११ इन्द्रियवध, आठ और तीन के द्वारा लिये गये हैं। मदता, अधता, बधिरता, अजिघ्रता, कुण्ठिता, जडता, मूकता, कौण्य, पगुता, क्लैव्य एव उदावर्त ये इन्द्रियजन्य अशक्तिया इन्द्रियवध कही जाती हैं। एव बुद्धिवध अपने दो भेद तुष्टि विपर्यय तथा सिद्धि विपर्यय के रूप से एक और दो हो गये, अर्थात् बुद्धिवध एक और तुष्टि विपर्यय तथा सिद्धि विपर्यय दो। इस प्रकार साख्य सम्मत तात्पर्य हो जाता है। प्रकरण वश यह जान लेना चाहिये कि नव

तुष्टि विपर्यय है अनभ, असलिल, अनौघ, अवृष्टि, अपार, असुपार, अपारापार, असुमारीच, अनुत्तमाभय। एव सिद्धि विपर्यय आठ हैं अतार, असुतार, अतारतार, अप्रमोद, अप्रमुदित, अप्रमोदमान, अर म्यक, असदामुदित। एकेन से तुष्टि का ग्रहण किया जा सकता है जिसके भेद है अभ, सलिल, ओघ, वृष्टि, पार, सुपार, पारपार, अनुत्त-माभ, उत्तमाभ। इन सबका अर्थ सक्षेप मे इस प्रकार है —

ग्यारह इन्द्रियवध। **मदता**–बुद्धि का सुख आदि विषय को ठीक प्रकार से ग्रहण न करना, अथवा मन का कुण्ठन होकर साकल्पशक्ति का क्षीण हो जाना मदता है। **अधता**—आख का विषय ग्रहण करने मे असामर्थ्य। **बधिरता**—श्रोत्र इन्द्रिय की शक्ति का नष्ट होना। **अजिघ्रता**—घ्राण इन्द्रिय की शक्ति मे अपाटव होना। **कुण्ठता**–स्पर्श शक्ति मे कमी आ जाना अथवा भिन्न भिन्न स्पर्शो के भेद ग्रहण मे कमी आना। **जड़ता**–रसनेन्द्रिय की शक्ति मे न्यूनता अथवा अकुशलता आना जडता कही जाती है। **मूकता**–वाक् शक्ति का अभाव मूकता है। **कौण्य**–हाथ के द्वारा ग्रहण शक्ति मे कमी आना। **पगुता**–पैरो मे चलने की अकुशलता। **क्लैब्य**–उपस्थ इन्द्रिय मे रति की असामर्थ्य, अथवा मैथुन मे अपाटवता क्लैव्य कहा जाता है। **उदावर्त**–मलमूत्र अथवा अधोवायु के निस्सारण शक्ति का अभाव, अथवा उनपर नियत्रण की कमी जो पायु का दोष है, उदावर्त है।

बुद्धिवध। बुद्धि तो एक है परन्तु अनध्ययन, अशब्द, अनूह, असुहृद् प्राप्ति, अदान एव आध्यात्मिक, आधिदैविक, और आधिभौतिक दु ख बुद्धि विपर्यय है। प्रकृति स्वय मोक्ष देगी, इस प्रकार की उलटी तुष्टि होना, बुद्धि स्वय मोक्ष देगी, मन के लीन हो जाने पर स्वत मोक्ष होगा, भाग्य से ही मोक्ष होगा, इस प्रकार चार आध्यात्मिक, और शब्द आदि का अपने अपने विषयो से शान्त वृत्ति रूप शब्दो-परमता आदि इस प्रकार नव भेद बनते है। इनको शास्त्रातरो मे

असुवर्णा, अनिला, अमनोज्ञा, अदृष्टि, अपरा, सुपरा, असुनेत्रा, वसुनाडिका, अनुत्तमाभसिक इत्यादि नामो से भी कहा जाता है ।

नव तुष्टि विपर्यय **अनभ**–अनात्मा से आत्मा अलग है, इस प्रकार शास्त्र और गुरु के उपदेश से श्रवण करने के बाद भी प्रतारको के मिथ्या उपदेश से अनायास साध्य बातो पर मुग्ध होकर कृतकृत्य समझना ही इन तुष्टियो का रूप है । इन तुष्टियो के कारण कृतकृत्यता का अभिमान उत्पन्न होकर श्रवण, मनन, निदिध्यासन मे लगा नही रहता । आत्मज्ञान बुद्धि का परिणाम है । अत तुम्हे, जो बुद्धि से अलग हो, ब्रह्माकार वृत्ति बनाने के लिये प्रयत्न करने से कोई प्रयोजन नही । तुम तो बुद्धि के साक्षी हो, बुद्धि आत्माकार वृत्ति बनाये या अनात्माकार वृत्ति बनाये, उससे तुम मे कोई फरक नही आता । अत आत्मा के श्रवण, मनन, निदिध्यासन का अभ्यास करते रहने की कोई आवश्यकता नही, इस प्रकार सुनकर जो श्रवण, मनन, निदिध्यासन छोड देता है, उसे **अनम्भ** कहते है । अभ अर्थात् जल, जैसे जल डुबा देने मे हेतु होता है उसी तरह इस प्रकार का सतोष मनुष्य को ससार मे डुबा देने का हेतु बनता है, अत इसे अंभः कहते है । अथवा प्यासे को जल प्रसन्नता देने वाला होने से भी इसे अभ कहते है । कुछ विलक्षण प्रतिभासम्पन्न तो अ भि शब्दे धातु से असुन् प्रत्यय करके अभ शब्द निष्पन्न करते है । तब तात्पर्य होगा कि मीठे शब्दो के द्वारा जो सतोष प्राप्त होता है । इस प्रकार तू बुद्धि का साक्षी है, ये शब्द बडे मीठे लगते है । **असलिल**-किसी साधक को यह कहना कि सन्यास लेने मात्र से मोक्ष हो जाता है, अन श्रवण, मनन की आवश्यकना नही । **दण्डग्रहणमात्रेण नरो नारायणो भवेत्** सन्यास लेने मात्र से मनुष्य नारायण स्वरूप हो जाता है, त्याग से ही अमृत तत्त्व की प्राप्ति है, **त्यागेनैके अमृतत्वमानशु** इत्यादि शास्त्रवाक्य भी इसमे प्रमाण बन जाते है । इसी को सलिल नाम की तुष्टि

कहते हैं। जैसे सलिल अकुर के प्रति सहकारी कारण होता है, वैसे ही ज्ञान के प्रति सन्यास सहकारी कारण है। अत. उसे सलिल कहा। यह भी व्यक्ति को श्रवण आदि अभ्यास से हटा देता है एव जैसे सलिल मे प्रविष्ट होकर बाहर निकलने पर अपने मे शुद्धि रूप वैशिष्ट्य का अनुभव होता है, उसी प्रकार सन्यास ग्रहण करने के बाद अपने मे उत्तमत्व का बोध होकर जब दूसरा **ॐ नमो नारायणाय** करता है, तब सचमुच ही मैं नारायण हू, ऐसी भ्रान्ति पैदा हो जाती है। कही कही इसे उपादान नाम की तुष्टि भी कहा हैं क्योकि वृद्धावस्था मे जिस चीज का ग्रहण किया जाये, वह प्रव्रज्या धर्म है। यह तुष्टि ससरण का निमित्त है। **अनौघ**–सन्यास भी तत्क्षण मोक्ष नही देता, अत भोगो की समाप्ति होने पर ही समय आने पर अर्थात् काल परिपाक होने पर ही मोक्ष की प्राप्ति होती है। अत उत्ताप्त अर्थात् उतावला न.ी होना चाहिये। इस प्रकार जो काल की प्रतीक्षा मे सतोष होता है उसे ओघ कहते हैं। उहिर् अर्दने धातु से ओघ बनता है। काल प्र ीक्षा भी अर्दक होने से इसे ओघ कहा गया है। कृषि और वृष्टि के समायुक्त होने पर भी विना समय के फलसिद्धि नही होती, यह ठीक होने पर भी कोई कृषि को छोडकर केवल काल के भरोसे नही बैठा रहता। परन्तु साधारण साधक को इस प्रकार अभ्यास से निवृत्त कर दिया जाता है। वस्तुतस्तु फलसाधनता कृषि मे है, काल पकने के प्रति कारण है। इसी प्रकार असाधारण कारण तो श्रवण, मनन आदि ही हैं अतः काल की कारणता असत् उपदेश हैं। कुछ ओघ को मेघ भी कहते है क्योकि फलसिद्धि हेतुभूत वृष्टि की तरह ही यहा काल है। **अवृष्टि**–**भाग्यम् फलति सर्वत्र न च विद्या न च पौरुषम्** इस उक्ति के अनुसार सन्यास, काल, श्रवण आदि कोई कारण नही है, केवल भाग्य ही कारण हैं। भाग्य के कारण ही मदालसा के बच्चे को एक वर्ष की उमर मे ही तत्वज्ञ माँ से आत्म-

ज्ञान प्राप्त हो गया। अत सब चीजों की तरह मोक्ष के प्रति भी भाग्य ही कारण है। यह भाग्य अकस्मात् आत्मज्ञान की वृष्टि करता है, इसलिये इसे वृष्टि कहते हैं। वस्तुतस्तु

दैव पुरुषकारश्च कालश्च पुरुषोत्तम।
त्रयमेतन् मनुष्याणा पिण्डित स्यात् फलावहम्॥

के अनुसार भाग्य काल से सहकृत प्रयत्न ही फल का साधन होता है परन्तु कारणता तो प्रयत्न मे ही है। फिर भी विपरीत उपदेश से जो भाग्य के भरोसे बैठने की तुष्टि हो जाती है, उसे वृष्टि कहा गया। जैसे खेतिहर वृष्टि होने पर प्रसन्न हो जाता है एव वृष्टि मे उसकी कोई कारणता नही, उसी प्रकार भाग्य के प्रति कोई कारणता नहीं और भाग्य के भरोसे बैठने मे एक सतोष का अनुभव होता है। अपार–धन आदि भी अर्जन, रक्षण, क्षय, भोग भोग, हिंसा आदि दर्शन से धन व्यर्थ है, यह भावना होती है।

अर्थानामर्जने क्लेश तथैव परिपालने।
नाशे दु ख व्यये दु ख धिगर्थान् क्लेशकारिण॥

इत्यादि स्मृतिया भी इसमे प्रमाण बन जाती हैं। अर्जन अर्थात् कमाना, रक्षण अर्थात् चोर डाकुओ से बचाना, क्षय अर्थात् दाल रोटी खाने से खर्च होना, भोग अर्थात् स्त्री आदि का उपभोग, हिंसा अर्थात् धन के लिये दूसरे के प्रति प्रेम का अभाव होना। भिक्षा, कृषि, विद्या, व्यवहार, वणिक् कर्म, सेवा इत्यादि अर्जन के उपाय यहा ग्राह्य हैं। धनोपार्जन के उपायो मे आजकल सबसे प्रसिद्ध सेवा ही है जो सेवकों को बडा ही दु ख देती है। भिक्षा के दु ख का तो क्या कहना, अभिमानी दुष्ट धनपति के द्वार पर खडा, हाथ मे दण्ड लिये उस असहनीय अर्द्धचन्द्र से उत्पन्न प्रकाश का स्मरण करके कौन बुद्धिमान् भिक्षा के लिये प्रवृत्त होगा। इसी प्रकार कृषि इत्यादि सब मे समझ लेना चाहिये। धनार्जन दु ख से पार पहुँचाता है, इसीलिये उसे पारा कहते

है। किसी बुद्धिमान् ने कहा है कि हमने केवल ग्राहक को प्रसन्न करने के लिये उसके अपराधो को सहा, हृदय मे क्षमा लेकर नही, दुकान मे बैठे हुए घर के आराम को छोडा, सतोष से नही, अत्यत कठिन सर्दी और गर्मी के क्लेश को भी सहा परन्तु तप के लिये नही, रात दिन हिसाब का ध्यान रखा, भगवान शकर के चरणो का नही, इस प्रकार मुनि लोग जो जो साधन करते है, वे सब हमने किये परन्तु किये धनार्जन के लिये। **असुपार**–रक्षण मे दु ख हेतुता देखकर सुपार की प्राप्ति होती है। चोरी, बाढ, भूकम्प और कर आदि से कही धन नष्ट न हो जाये, इस भय से रात मे सोता तक नही। अत पदार्थो के प्रति जो एक वैराग्य आता है उसे सुपार कहते है। तात्पर्य है कि पार, सुपार आदि तुष्टियो से मनुष्य सोचता है कि उसे मोक्ष की प्राप्ति हो जायेगी अथवा सुख मिल जायेगा। वस्तुत धन आदि के अर्जन, रक्षण मे प्रवृत्ति बुरी नही है क्योकि जब तक अज्ञान है तब तक उसके लिये सभी कर्म और साधन भी करने ही चाहिये। ज्ञान की दृष्टि कुछ और है। ज्ञान से होने वाला वैराग्य ही सच्चा वैराग्य है। अर्जन मे दोष दिखाई देने पर भी भोग की अभिलाषा से विषयो मे प्रवृत्ति हो जाती है किन्तु अर्जित धन के रक्षण के भय से अर्जन की प्रवृत्ति होना अत्यत असम्भव है। इसीलिये इसको सुपार कहा है। **अपारापार**–कमाये हुए पदार्थो का भोग करने से सारा परिश्रम व्यर्थ हो जायेगा, इस चिता से विषयो का भोग न करने की जो उपरामता है उसे पारापार कहते है। वैश्यो मे प्राय धन एकत्रित करने पर भी खर्च करने की प्रवृत्ति इसीलिये नही होती। यह भी ज्ञान का साधक नही है। परन्तु बहुत से लोगो को यह सतोष हो जाता है कि चू कि हम विषय भोगो मे नही जाते, अत हम अच्छे है। इस प्रकार की भावना का न होना अपारापार है। **असुमारीच**–प्राणियो को दु ख दिये बिना भोग की प्राप्ति नही हो सकती, क्योकि जैसा सर्वज्ञ शकर

कहते है कि एक कौर अन्न भी ऐसा नही खा सकते जिसपर दूसरो की दृष्टि न लगी हो। अत जिस पदार्थ का भी भोग करोगे, उसमे दूसरो के भाव की हिंसा होती ही है। यह करुणा का ही एक रूप है। परन्तु वस्तुत यह करुणा अनुचित है। इस करुणा से ही अपने को कृतकृत्य समझना सुमारीच है एव इस करुणा मात्र से अपने मे उत्तमता का न होना असुमारीच है। **अनुत्तमाभय**–भोगाभ्यास के द्वारा विषय तृष्णा बढती है एवं साथ-साथ इन्द्रियो मे कुशलता भी आती है और फिर विषय के न मिलने पर उसको दु खी बनाती है। इस प्रकार जो विषयों के भोग मे दोष देखकर उपरामता है वह उत्तमाभय हैं। विषयो को निवृत्ति से मनुष्य मे एक तरह का अभय आ जाता है। परन्तु वस्तुत यह भी उत्ताम ज्ञान का साक्षात् साधन नही है। अत इस प्रकार की दृष्टि से अपने को कृतकृत्य न समझना अनुत्त-माभय हैं।

आठ सिद्धिविपर्यय **अतार**–गुरुमुख से अध्यात्मशास्त्रो का श्रवण करना एव इतने मात्र से अपने को कृतकृत्य समझ लेना तार है। भवसागर से उतरने का यह प्रथम सोपान होने से इसको तार कहते है। इसमे कृतकृत्यता को बुद्धि न होना अतार है। **असुतार**–शब्दो का अर्थज्ञान होने पर मनुष्य को लगता है कि मैने तत्त्व जान लिया। यह सुतार कहा जाता है। शब्द की अपेक्षा अर्थ का महत्त्व अधिक होने से शब्द बुद्धि को तार और इसे सुतार कहा है। यद्यपि अर्थज्ञान शब्दज्ञान से श्रेष्ठ है परन्तु अर्थज्ञान मात्र से कैवल्य ज्ञान की प्राप्ति सम्भव नही है। अत इससे सतुष्ट हो जाना भी एक बन्धन होने से असुतार भाव की प्राप्ति कही गई है। **अतारतार**–युक्ति, न्याय इत्यादि के द्वारा सशय रहित होना तार कहा जाता है। इसी को कही कही ऊह भी कहते है। कुछ शास्त्रज्ञ इसे मनन कहते है। मनुष्य को न्याय और युक्ति से सिद्ध शास्त्र पर अधिक श्रद्धा होने से

इसे तारतार कहा गया। परन्तु यह भी वास्तविक ज्ञान नही है। **अप्रमोद**–निश्चय किये हुए विषय को अपने सहपाठियो के साथ विचार करके अपने अर्थ को वे सभी स्वीकार कर लें तब जो प्रसन्नता होती है, वह प्रमोद है। त **शिष्यगुरु सब्रह्मचारिविशिष्टश्रेयोथिभिरनसुयुभिरभ्युपेयात्, ज्ञानग्रहणाभ्यासस्तद्विधैश्च सवाद** इत्यादि न्याय सूत्र इसमे प्रमाण है। अन्यत्र भी **शिष्यै परस्पर शास्त्रम् चिन्तनीयम् विचक्षणै**। इसे कही सुहृत्प्राप्ति भी कहा गया है क्योकि सुहृदो की उपस्थिति मे यह किया जाता है। इसमे आनन्द आता है, अत इसे कही-कही रम्यक भी कहा गया है। यद्यपि यह ज्ञान परिष्कृत ज्ञान है परन्तु फिर भी आत्मज्ञान नही। अत इसका भी परित्याग करना पडता है। **अप्रमुदित**–विषय सस्कारो से सयुक्त होने के कारण ज्ञान ही मे जो विजातीय प्रत्यय आते है एव उससे आनन्द नही हो पाता, उसमे यह समझना कि यह सस्कारो के कारण होने पर भी वस्तुत हमारे ज्ञान पर किसी भी प्रकार का प्रतिबध नही करते। इस प्रकार के भाव से रहित होने पर ही आत्मज्ञान की ओर बढ पाते हैं। अत इसे अप्रमुदित कहते है। **अप्रमोदमान**–आत्म विचार करने पर भौतिक दु खो के प्रति अनास्था होकर जो आधिभौतिक दु ख के अभाव का अनुभव है, वह प्रमोदमान है। यद्यपि यह भी साधक की श्रेष्ठ अवस्था हैं परन्तु फिर भी यहा अटकना नही चाहिये। **प्रमोदस्य मानं यत्र** ऐसी व्युत्पत्ति प्रमोदमान् की कर लेनी चाहिये। **अरम्यक**–ससार के पदार्थों मे जब मन नही रमता तो इस प्रकार के वैराग्य से एक सुख होता है। बहुत बार मनुष्य इसे ही आत्मज्ञान प्रसूत उपरति समझ लेता है। परन्तु वस्तुत यह आनद के उल्लास से रहित है। इस प्रकार का विचार रम्य होने के कारण रम्यक कहा जाता है परन्तु इसका भी त्याग करना इष्ट है। **असदामुदित**–अह मे वृत्ति के एकाग्र हो जाने से अथवा ओकार के लय चिंतन मे चित्त के एकाग्र हो जाने से दिन रात चित्त मे आनन्द

भरा रहता है, यह सदामुदित है, परन्तु यहा भी अटकना इष्ट नही है। इससे भी परे जाना चाहिये। अह को छोडकर साक्षी मे स्थिति होने पर ही वास्तविक तत्त्व की प्राप्ति होती है।

४

आरभ्य कर्माणि गुणान्वितानि भावान् च सर्वान् विनियोजयेत् यः। तेषां अभावे कृतकर्मनाशः कर्मक्षये याति सः तत्त्वतः अन्यः ॥

यः=जो (साधक)[1]
गुणान्वितानि=शास्त्र मे बताये हुए विहित[2]
कर्माणि=कर्मो को[3]
आरभ्य=प्रारम्भ करके,[4]
च=और[5]
सर्वान्=सब (कर्मफल तथा)
भावान्=भावो को[6]
विनियोजयेत्=परमेश्वर मे विनियुक्त कर देता है।[7]
तेषां=उन कर्म फलो के
अभावे=फलरूपता का अभाव होने पर[8]
कृतकर्मनाशः=किये हुए कर्मो का नाश[9] हो जाना है।
कर्मक्षये=कर्म नष्ट हो जाने पर
तत्त्वतः=स्वरूप से[10]
अन्य[11]=(जीव रूप से) भिन्न[12]
स=ईश्वर हुआ हुआ
याति=मोक्ष को प्राप्त करता है।

१ यद्यपि पूर्व मत्र मे भी साधनो का निरूपण किया था परन्तु पुन स्पष्ट करने के लिये यह मत्र है। वेद मे विषय की गम्भीरता के कारण पुनरावृत्ति दोष नही माना जाता।

२ कर्मों का मुख्य विनियोग यहा दिखाना है। अत नित्य नैमित्तिक कार्यों को प्रधान रूप से शास्त्र द्वारा यावज्जीवन विहित होने से बताना इष्ट है। परन्तु काम्य कर्म भी शुद्धि के साधन रूप से प्रयुक्त किये जा सकते है, ऐसा भगवान् सुरेश्वराचार्य इत्यादि के वचनो से

स्पष्ट है। इन कर्मो मे भी जो कर्म समष्टि के हित के होते हैं, वे और अधिक गुण से युक्त होने से यहा और विशेष रूप से कहे गये है। कर्म का मतलब होता है जिस चीज को मनुष्य इष्ट समझे। अपने लिये इष्ट समझने की अपेक्षा सब के लिये इष्ट की दृष्टि करना एक बहुत बडा साधन है। जो व्यक्ति जितना ही सर्वभूतहितरत रहता है, वह उतना ही परमेश्वर के समीप पहुँच सकता है। स्वार्थ और परमार्थ का आपस मे वैसा ही विरोध है जैसा अधकार और प्रकाश का। जब-जब किसी चीज को हम अपने लिये चाहते हैं, तब-तब ससार की तरफ जाते हैं और जब-जब किसी चीज को हम दूसरो के लिये चाहते है, परमेश्वर की तरफ जाते है। इस प्रकार के सर्व प्राणियो के कल्याण के लिये किये हुए कर्म हमारे अनेक जन्म के किये हुए कर्म और वासनाओ को समाप्त कर देते है। अत करण की शुद्धि ही कर्मों का वास्तविक फल है। साख्य प्रक्रिया से भी यदि देखा जाये तो सत्त्व से ज्ञान उत्पन्न होता है, रज से लोभ और तम से मोह। अत लोभ और मोह के द्वारा प्रवृत्त कर्म सत्त्व शुद्धि मे कारण नही बन सकते। शास्त्रो मे जो नित्य-नैमित्तिक कर्म बताये है, उनका भी वास्तविक तात्पर्य मनुष्य को साक्षात् या परम्परया सब प्राणियो के कल्याण मे प्रवृत्त करना है। इस प्रकार के कर्म परिपक्व होकर के मनुष्य को परमात्म प्राप्ति के योग्य बनाते है।

३ पूर्वोक्त मत्र के व्याख्यान मे बता आये है कि जीवन के सभी कम परमेश्वर को अर्पण करने से मोक्ष के कारण बन जाते है। अत यहा **कर्माणि** से सभी कर्मो का ग्रहण भी किया जा सकता है।

ब्रह्मण्याधाय कर्माणि सगन् त्यक्त्वा करोति य.।

लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा ॥

इत्यादि गीता इसमे प्रमाण है।

४ कर्म कभी स्वभाव से प्राप्त नही होते। अभ्यास पूर्वक ही उनमे

प्रवृत्ति करनी पडती है। अत जीव की स्वतन्त्रता कर्म करने मे सदा ही रहती है। इस स्वतन्त्रता को बताने के लिये ही यहा आरम्भ कहा है। प्राय मनुष्य यह सोचता है कि किसी के जीवन मे कोई मौका आया, इसलिये वह कार्य करने लगा। परन्तु वास्तविक स्थिति ऐसी नही है। स्वतत्र होकर के ही कर्म मे प्रवृत्ति बनती है। अत सर्व भूतहितरत व्यक्ति को दूसरे प्राणियो के कल्याण की तरफ प्रयत्न पूर्वक ही प्रवृत्ति करनी चाहिये।

५ जब इस प्रकार के कर्मो से मनुष्य के हृदय से स्वार्थ की भावना हट जाये, तब उसके बाद, यह यहा तात्पर्य है।

६. जब मनुष्य की इच्छा स्व से हट गई, तभी वह परमात्मा की तरफ जा सकता है। जो अपने लिये कुछ भी चाहता है, वह अपने आपको परमात्मा के समर्पण नही कर सकता। सभी भावो से यहा तात्पर्य **त्वमेव माता च पिता त्वमेव** इत्यादि की तरह अपने हृदय के सभी प्रेमा को एकसूत्र करके परमात्मा के अर्पण करने से ह। जब तक ससार के पदार्थो मे वह भाव बटा हुआ है तब तक परमात्मा के सूक्ष्मभाव मे उसका प्रवेश असम्भव होता है। यही भावो का अत्यत वैशिष्ट्य है। लोक मे भी यदि धागे का एक सूत भी बाहर पडा रहे तो सुई के छेद मे धागे का प्रवेश असम्भव हो जाता है। इसी प्रकार किंचित् भी वृत्ति परमात्मा से अतिरिक्त हो तो परमात्मा मे भावो का समर्पण असम्भव हो जाता है। आजकल जो एक प्रवृत्ति चली है कि बिना कर्मो को पूर्ण किये ही लोग भक्ति मे लगना चाहते हैं, वे इसीलिये सफल नही हो पाते क्योकि हृदय मे स्वार्थ अथवा वैषयिक पदार्थो के प्रति कुछ न कुछ अन्यमानता बनी ही रहती है। कर्म के साथ किया हुआ यह भाव तो धीरे-धीरे समष्टि भाव मे परिणत हो सकता है परन्तु कर्म को छोडकर के किया हुआ यह भाव मनुष्य को पथभ्रष्ट कर देता है। जहां कहीं शास्त्रो मे कर्म रहित

भक्ति का वर्णन आया है, वहा तात्पर्य ऐसे लोगो से है जिनका स्वार्थ समाप्त हो जाने से जिनके हृदय मे केवल परमेश्वर के प्रति ही प्रेम रह गया है। इसके पूर्व कर्म का परित्याग करके भाव पूर्णता को प्राप्त नही हो सकता।

अविद्या और उसके सम्बन्ध के अधीन उपाधिया एव उपाधियो के कार्य, ये सभी आत्मा मे अध्यस्त होते हैं। अत इन सबको भी भाव कहा जाता है अथवा चक्षुरादि को अपने अपने विषयो मे लगने को ही भाव कहते है। श्रुतियो मे बताया है कि रूप को आख मे, आख को सूर्य मे, सूर्य को अग्नि मे, अग्नि को वायु मे, वायु को आकाश मे, और आकाश को आत्मा मे, इस प्रकार लीन करे। इस प्रकार प्रत्येक कार्य का लय प्रक्रिया से अपने कारण ब्रह्म मे विलापन करना भाव का विनियोग कहा जा सकता है। अथवा सारे भाव पदार्थो को छादोग्य मे कथित प्रकार के द्वारा विलापन करना भी यहा इष्ट है। अग्नि का लाल रूप तेज का, सफेद रूप जल का और काला रूप अन्न का है। इस प्रकार अग्नि की अग्निता चली गई, केवल नाममात्र रह गया। इसी प्रकार प्रत्येक पदार्थ के साथ करने से स्थूल व्यष्टिजात स्थूल समष्टि मे लगा दिया जाता है। फिर स्थूल समष्टि का पचीकृत पच महाभूतो मे अभिन्न रूप से चितन करे। उनमे भी उत्तर उत्तर भूत को पूर्व पूर्व भूत मे लीन करते हुए तन्मात्राओ मे लीन करे। तन्मात्राओ को मूलक प्रकृति मे, मूलक प्रकृति को माया मे एव माया को सद् ब्रह्म मे लीन करे। वह सद् ब्रह्म मैं हूँ, इस प्रकार का जो आनन्द का स्फुरण है, उस अनंत अद्वितीय भाव मे विनियुक्त हो जाना ही यति के लिये मोक्ष प्राप्ति का साधन है।

७ सभी कर्मो के फल को परमात्मा मे अर्पण करे एव हृदय के सभी भावो को भी उन्ही से सम्बन्धित कर दे। फिर वह भाव और कर्म फल अपने से सम्बन्ध वाले नहीं रहते। अत कर्म और काम

दोनों सिद्ध हो जाते हैं। अविद्या, काम, कर्म ही बन्धन है, यह पहले भी कह आये हैं। अत कर्म और काम को परमेश्वरार्पण कर देने से केवल अविद्या को हटानामात्र बच जाता है। अथवा सृष्टि प्रक्रिया इत्यादि का चितन करके वेदात विचारो से जितने भी अनुभूयमान पदार्थ हैं, वे सब इस इस प्रकार से ब्रह्म के द्वारा ही प्रकाशित है, इस प्रकार उन पदार्थों का विनियोग करे। ब्रह्म दृष्टि से अर्थात् ब्रह्मभाव से फिर अज्ञान का अभाव ही सिद्ध हो जाता है और वही सभी कर्म और उनके फलो को समाप्त कर देता है। उत्तरोत्तर कार्य का पूर्व पूर्व कारण मात्र मे प्रविलापन करने से ईश्वर का स्वात्मरूप अपरोक्ष हो जाता है एव ईश्वर की एकता के अपरोक्ष से सभी प्रकृति और प्राकृत पदार्थो का अभाव हो जाने से सभी कर्म नष्ट हो जाते हैं। अनादि ससार मे अनादि काल से किये हुए पुण्य-पापो को नष्ट करने का और कोई उपाय नही है। जो कर्म प्रारभ नही किये गये है, उनका बाध होता जाता है। इस प्रकार सभी कर्मो के नष्ट हो जाने से एव प्रारब्ध के इस शरीर मे भोग करके नष्ट हो जाने से विदेह कैवल्य की प्राप्ति हो जाती है। देह, इन्द्रिय आदि को प्रतीत कराने वाली जो विद्या शक्ति उसका प्रतिबधक अविद्यालेश, वह भी चिन्मात्र रूप से विलापित होकर देह, इन्द्रिय आदि की प्रतीति भी नष्ट हो जाती है। यह ज्ञान दृढता ही प्राप्त करना उपनिषदो का वास्तविक तात्पर्य ह।

६ ईश्वरार्पण बुद्धि से अनुष्ठित कर्म अपने बधन भाव को प्राप्त नही करते। कर्म का एक फल है जो सुख दु ख रूप है एव दूसरा कर्म का सस्कार जो पुन प्रवृत्ति कराता है। ईश्वरार्पण बुद्धि के द्वारा यह पुन कर्म करने की शक्ति नष्ट हो जाती है एव उसका फल अत करण की शुद्धि के सिवाय और कुछ नही रहता क्योकि कर्म का फल विनियोगाधीन होता है। ईश्वर मे विनियुक्त होने पर कर्म ईश्वर की ही प्राप्ति कराने मे समर्थ हो सकता है, लौकिक नही। अविद्या आदिकों

के अभाव मे जो पहले के किये हुए सुकृत और दुष्कृत कर्म है, वे भी निष्फल व निष्प्रयोजन हो जाते है। **ज्ञानाग्नि सर्वकर्माणि भस्मसात् कुरुते** इत्यादि स्मृतिया भी इसमे प्रमाण है। अवस्थात्रय का साक्षी होने से मैं अवस्थात्रयातीत उससे भिन्न हूँ, इसके द्वारा सारे भावो का उपसहार होकर के वस्तुत साक्षी मै ब्रह्म हूँ, इस बुद्धि के फलक पर आरूढ हुआ हुआ बलपूर्वक जितने भी कर्म है, उन सबको नष्ट कर देता है।

१० प्रारब्ध कर्म क्षय होने पर यद्यपि प्रतिभास भो नष्ट हो जाता है परन्तु यहा तत्त्वत कहकर कहते है कि प्रारब्ध काल मे जगत् प्रतीत होने पर भी अपने आपको प्रकृति और प्राकृतो से सर्वथा भिन्न वैसे ही समझता है जैसे एक नट या अभिनेता रावण का अभिनय करते हुए अपने आपको तत्त्वत रावण से भिन्न ही समझता है। इस ज्ञान के बल से ही सब चीजो से वह असग बना रहता है अथवा अदृष्ट अर्थ मे प्रमाण भूत वेद ही तत्त्व है। अत तत्त्वत माने वेदत, वेद के द्वारा अपने आत्मस्वरूप को जानकर **मैं असंग हू** इस बात को जान लेता है। अथवा तत्त्वत का अर्थ तत्त्वेभ्य हो सकता है, अत प्रकृति, पच-महाभूत, तन्मात्रा इत्यादि तत्त्वो से मैं भिन्न हूँ, इस प्रकार का ज्ञान यहा इष्ट है।

११ **अन्यदिति वा पाठ** ।

१२ अविद्या और उसके कार्य से निर्मुक्त सच्चिदानद अद्वितीय परमात्मरूप ही यहा जीव का वास्तविक रूप होने से कहा गया है। अन्यत् ऐसा पाठ होने पर तत्त्वो से जो अन्य है उसको प्राप्त होता है, ऐसा अर्थ निकल आयेगा। याति का अथ जानाति अर्थात् जान लेता है, प्रसिद्ध ही है।

अथवा समग्र मत्र का रहस्य यह है कि यदि सभी भावो का विनियोजक ईश्वर ही है तो फिर कभी भी ससार समुद्र से पर पार

जाना नही बनेगा क्योकि यदि ईश्वर हमे पर पार ले जाता तो अब तक ले गया होता। अत कहा गया कि वेदप्रामाण्य से (तत्त्वत) भिन्न मृषाविदो (अन्य) का वचन यथार्थ कथित से भिन्न होने के कारण नही मानना चाहिये। अर्थात् ईश्वर जो हमको अब तक पर पार नही ले गया तो उसमे कारण यह है कि अविद्या, काम, कर्म का अभाव हुए बिना जीव आणव, मायिक और मल दोषो से युक्त होने के कारण अपने जीव भाव को छोड नही पाता। अत ससार के पर पार नही जा पाते, इसमे ईश्वर की विनियोजकता की कोइ हेतुता नहीं है। तब तात्पर्य है कि अविद्या, काम, कर्म से तत्त्वत अन्य हुआ हुआ अर्थात् अविद्या के नाश हो जाने पर स्वरूप से अवस्थित हो जाना ही पर पार जाना है।

अथवा भावा का अर्थ भावना ले लेना चाहिये अर्थात् विषय की अभिलाषाओ को आत्माग्नि मे होम कर देने पर कामनाओ के अभाव से कृतकर्म नष्ट हो जाते है एव पहले किये हुए कर्म भोग से नष्ट हो जाते है। तात्पर्य है कि सारे दोषो से अनास्पन्दित निर्मल ईश्वर तत्त्व परमार्थ रूप से जैसे ही अपना स्वरूप हो जाये, वैसे ही ज्ञान को प्राप्त कर लेता है। अपने ईश्वर भाव का विवर्द्धन करने वाला अनेकत्व ज्ञान सर्वैकता के ज्ञान से तत्त्व मे स्थिति करा देता है।

५

ईश्वरार्पण बुद्धि से कर्म और भावनाओ को नष्ट करने का उपाय बताया। परन्तु वह ईश्वर ही असिद्ध है और यदि सिद्ध भी है तो उसकी उपासना का प्रकार अज्ञात है, इस शका को दूर करते हुए कहते हैं —

आदिः सः संयोगनिमित्तहेतुः परः त्रिकालात् अकलः अपि दृष्टः। तम् विश्वरूपम् भवभूतम् ईड्यम् देवम् स्वचित्तस्थम् उपास्य पूर्वम् ॥

स =वह (परमेश्वर)[१]
आदि =(सबका) कारण,[२]
सयोगनिमित्तहेतु =सयोगो के निमित्त का कारण,[३]
त्रिकालात्=तीनो कालो से[४]
पर =परे,
अपि=(होते हुए) भी
अकल =कलारहित[५]
दृष्ट =(ब्रह्मवेत्ताओ द्वारा) देखा गया हैं,[६]
तम्=उस
विश्वरूपम्=सर्वरूप[७]
भवभूतम्=भवरूप[८]
ईड्यम्=स्तुति के योग्य[९]
देवम्=स्वय प्रकाश महादेव को[१०]
स्वचित्तस्थम्=अपने हृदय मे स्थित करके[११]
पूर्वम्=(ज्ञान के) पूर्व[१२]
उपास्य=भज करके[१३] (ज्ञान प्राप्त करता है। इस अगले मत्र के पद से अन्वय है।)

१ विषयाध लोग यद्यपि ब्रह्म को अपने से अतिदूर समझते हैं तथापि वह उनका अपना ही आत्मा है। वह परमात्मा ही अविद्या और अविद्या के सम्बन्धो का स्वतत्र रूप से एकमात्र नियामक है। अत उसे यहा परोक्ष रूप से कहा गया। परोक्ष ब्रह्म को ही स पद अर्थ से कहा जाता है। सम्यक् ज्ञान की सिद्धि के लिये अधिकार तभी आता है जब कि पहले व्यक्ति परमेश्वर की उपासना कर ले। अत इस मत्र मे उपास्य ब्रह्म का प्रतिपादन किया गया है। चू कि उपास्य ब्रह्म निर्गुण भी हो सकता है और सगुण भी, अत इस मत्र मे दोनो का ही ग्रहण किया गया है।

२ सभी सृष्टि स्थिति लय का वही सर्व प्रथम कारण है। वह सबका आदि है और उसका कोई आदि नही है। अतः वही निरवच्छिन्न आदि कहा जाता है अर्थात् सबका हेतु हुआ हुआ भी उसका कोई हेतु नही है। निर्गुण पक्ष मे स्वरूप स्फुरणप्रद होने से वह सब का अधिष्ठान है। अत सबका आदि है।

३ सभी जीवो के शरीरो का सयोग कराने मे निमित्त उसका अपना कर्म होता है परन्तु उन कर्मो को फलोन्मुख करना ईश्वर के अधीन होने से उसे सयोग निमित्तो का हेतु कहा गया। अथवा शरीर आदि में आत्मा के अध्यास होने से ही उनसे सयुक्त होना है। इस अध्यास का निमित्त अविद्या है और इस अविद्या का अधिष्ठाता होने से वह उसका हेतु कहा गया। निर्गुण पक्ष मे अविद्या का अधिष्ठान होने से उसे हेतु कहा जायेगा अथवा शरीर आदि की प्राप्ति का निमित्त शुभ अशुभ कर्म है। **एष एव साधु कर्म कारयति** इत्यादि श्रुतिप्रमाण से परमेश्वर ही कर्मो के प्रति सामान्य कारण है। अत वह शरीर प्राप्ति के कारण कर्मो का हेतु कहा जाता है। निर्गुण पक्ष मे सयोग को अविद्या सम्बन्धी कहा गया। अविद्या विशिष्ट ही जीव है। चिदात्मा इस अविद्या का आश्रय और विषय होने से उसका निर्वाहक है एव अविद्या के स्वातन्त्र्य का निषेध करने के लिये सयोगनिमित्त हेतु कह दिया गया। अथवा प्रथम अध्याय के दूसरे मत्र मे कहे हुए काल, स्वभाव इत्यादि का सयोग ही निमित्त है एव उसका सर्वोत्कृष्ट हेतु होने से परमेश्वर को ऐसा कहा गया। उसकी सर्वोत्कृष्टता इन्द्रियो से परे विषय, विषयो से परे मन, मन से बुद्धि, बुद्धि से महत्, महत् से अव्यक्त और अव्यक्त से परे होना **पुरुषान्नपरं किंचित् सा काष्ठा सा परागति** इत्यादि यजुर्वेद इसमे प्रमाण हैं। अथवा सम्यक योग. सयोगः अर्थात् जीव का परमात्मा से एक हो जाना रूपी आत्मस्थिति ही सयोग है। उसका निमित्त ज्ञान है एव ज्ञान का कारण साक्षात् या उपायो के द्वारा परमेश्वर ही है। अतः उसे सयोगनिमित्त हेतु कहा गया। उपाय (१, २, इत्यादि) पूर्व मत्र मे आ ही चुके हैं।

४ भूत, भविष्य, वर्तमान तीन काल हैं। इन सबसे परे है क्योकि वेद कहता है **यस्मात् अर्वाक् सवत्सरोऽहोभिः परिवर्तते तद्देवा**

ज्योतिषां ज्योतिरायुर्होपासतेऽमृतम्। अर्थात् जिससे परे ही दिनो के द्वारा सवत्सर का निर्माण होता है, वह ज्योतियो का भी ज्योति आयु रूप से उपस्थित होकर मृत्यु के पार ले जाता है। इस प्रकार इस अध्याय के प्रथम श्लोक मे जो वैदिको की तरफ से काल की जगत् कारणता का पक्ष उत्थापित किया गया था, उसे निवृत्त करने वाला यह हेतु वाक्य हो गया।

कुछ लोग पचमी से ही अपादान लेकर त्रिकाल से भिन्न अर्थ कर लेते है तथा पर से उसकी सर्वोत्कृष्टता का प्रतिपादन मानते हैं अर्थात् वह निरजन देव है।

५ प्राण से लेकर नाम पयन्त बताई गई अथर्ववेद की सोलह कलाओ का वरण कर लेना चाहिये। अथवा सभी कालो से रहित होने के कारण उसे अकल कहा जाता है। यद्यपि ये कलाये भी उसमे है फिर उसे अकल कैसे कहा जाता है ? यह शका की जा सकती है। परन्तु समाधान यह है कि आध्यासिक सम्बन्ध से उसमे होने पर भी पारमार्थिक दृष्टि से उसमे न होना भी उसे अकल कहे जाने का कारण है। अथवा कला का अर्थ टुकडे भी होता है। अत वह निरवयव होने से अकल कहा जाता है।

६ यद्यपि अविद्या सागर मे पडे हुए लोग उस परमात्मा को **सर्वथा नहीं है** ऐसा समझते है परन्तु स्वय प्रकाश रूप से सभी ज्ञानो मे उसका अपरोक्ष होता ही है। इसीलिये यजुर्वेद भी उसे **यत्साक्षात् अपरोक्षात्** ब्रह्म कहता है। इस प्रकार वेदो मे एव ब्रह्मवेत्ताओ मे तो वह नित्य ही प्रकाशित है। ऊपर कही हुई युक्तियो के प्रभाव से भी उसकी सिद्धि होती है। सावयव पदार्थ बिना किसी कर्त्ता के एकत्रित नही हो सकता तथा बिना एक सत्ता ज्ञान के

सभी पदार्थों मे सत्ता स्फुरता को प्रतीति नही हो सकती। इस प्रकार श्रुति, युक्ति और अनुभव तीनो से परमात्मा का सगुण और निर्गुण रूप सिद्ध होना है।

७ यद्यपि वह स्वरूप से एक है परन्तु उपासको के भाव के अनुसार अनेक रूपो को धारण करता है। जिस जिस रूप से उपासक उसकी उपासना करता है, उन सब रूपो को धारण करने वाला होने से उसे सर्वरूप कह दिया गया। निर्गुण पक्ष मे तो ब्रह्मा से लेकर चीटी तक एव आकाश से लेकर अणु पर्यन्त सभी रूपो का धारण करने वाला होने से उसे विश्वरूप कहा जाता है।

८ जिससे सब कुछ उत्पन्न हो उसे भव कहते हे। **भवति अस्माद् इति भव भूतम्** अर्थात् जिसका स्वरूप कभी न बदले। अत परमात्मा स्वय अपरिवर्तित रहते हुए ही समग्र जगत् का उत्पन्न करता है। इस प्रकार विवर्त कारणता को बताने के लिये भवभूत शब्द है। अथवा भव ससार को भी कहते है। अत भवभूत अर्थात् ससार रूप। सारा ससार ही उनका रूप है। भव भगवान् शकर का भी नाम है। अत भवभूत का मतलब होता है शिव रूप। निर्गुणपक्ष मे तो **भवश्च असौ भूतश्च** ऐसा द्वन्द्व समास कर लेना चाहिये। जो भू रूप हो अर्थात् सत्ता हो और भूत अर्थात् चैतन्य रूप हो, ऐसे सत् चित् रूप परमात्मा को ही यहा कहा गया है।

९ सभी लोगो से श्रेष्ठ होने के कारण वह परमात्मा ही सब के द्वारा स्तुत्य है। परमात्मा स्तुति के योग्य है, यह भावना ही वस्तुत उपासना है। यद्यपि आधुनिक युग मे लोगो ने उपासना का तात्पर्य केवल मूर्ति के सामने बैठकर पुष्पोपहार आदि का अर्पण समझ लिया है परन्तु यह वैदिक उपासना नही है। हृदय मे परमात्मा की श्रेष्ठता का भाव रहना ही वास्तविक उपासना है। जहा परमात्मा को स्तुत्य माना वहा ससार के बाकी सब पदार्थ अपनी श्रेष्ठता से गिर जाते

हैं। अत परमेश्वर को स्तुत्य कहने का मतलब है कि परमेश्वर से अतिरिक्त और किसी की स्तुति नही करना अर्थात् उनके अन्दर किसी भी प्रकार से श्रेष्ठता की भावना का न रह जाना। वस्तुत ससार के प्रति वैराग्य ही परमेश्वर की स्तुति है। बाह्य पूजा इत्यादि केवल दम्भ मात्र है। यदि वह परमात्मा की स्तुति रूपता के प्रतिपादन के साधन के रूप से की जाये तो ठीक है अन्यथा यदि वह साध्य रूप हो जाये तो मनुष्य को परमात्मा की तरफ ले जाने मे असमर्थ हो जाती है।

१० जो सबका प्रकाश करे एव स्वय किसी से प्रकाशित न हो, उसको ही देव कहा जाता है। स्वय प्रकाश होने से ही वह नित्य अपरोक्ष भी है। अहं इस ज्ञान मे चैतन्य रूप से उसका ही प्रकाश है। अह बाकी सब चीजो को प्रकाशित करता है। अत. अह का भी प्रकाशक होने से वह उसका भी साक्षी हैं। यही उसकी देवरूपता हैं। साक्षी ध्यान को ही उपनिषदो मे ईश्वर ध्यान माना है।

११ चित् लिंग शरीर को कहते है। उसमे परमात्मा प्रत्यग् रूप से रहता है अत **मैं ब्रह्मरूप हूं** इस प्रकार का जो अपरोक्ष ध्यान है, वही ज्ञान का उत्कृष्ट साधन है। सगुण पक्ष मे तो अपने चित् अर्थात् हार्दाकाश मे शास्त्र के द्वारा प्रतिपादित जो परमात्मा का रूप है, उसका निवेश करके विजातीय प्रत्ययो से बिना व्यवहित हुए सजातीय प्रत्यय प्रवाह रूप करना ही परमात्मा की उपासना है। ईश्वर' सर्वभूतानां इत्यादि वाक्य इसमे प्रमाण हैं।

१२ अखण्ड वाक्यार्थ के ज्ञान के उदय के पूर्व यह उपासना अपेक्षित होती है अर्थात् अहं का साक्षीरूप ब्रह्म है और वह साक्षी ही हमारी वास्तविकता हैं। इस भाव मे अत करण को समाहित करने पर अत मे वाक्यार्थ के ज्ञान का उदय होता हैं। अथवा सगुण पक्ष मे वह सबसे पूर्व है, इस प्रकार की उपासना बन जाती है। ध्यान मे

आरूढ होने के पहले भाव करना भी उपासना कही जाती हे। अत ध्यान स्थित होने के पहले, ऐसा इस पूर्व का अर्थ हो सकता है। ज्ञानोत्पत्ति के पहले यह आराधना करके अत मे ज्ञान को प्राप्त करता है, यह भाव है। निर्गुण पक्ष मे तो **मैं ब्रह्म हू** इस प्रकार अत करण की गुफा (चित्त गुफा) मे पहले (पूर्वम्) जो जीव रूप से स्थित था, वही अब **मैं परमात्मा हू** इस प्रकार समझकर मुक्त होता है यह भाव है। इस प्रकार निर्गुण दृष्टि से सम्यक् ज्ञान के पहले, सम्यक् ज्ञान के अधिकार की प्राप्ति के लिये यह तात्पर्य भी सम्भव है एव **मोक्ष के पूर्व** यह तात्पर्य भी सम्भव है। सम्यक् ज्ञान अधिकार की प्राप्ति के बाद सम्यक् ज्ञान का प्रतिपादन पूर्व मत्र से समझ लेना चाहिये।

१३ परमात्मा को अपने समीप अनुभव करना ही वास्तविक उपासना है। शाब्दिक अर्थ यद्यपि समीप बैठना है परन्तु परमात्मा भौतिक पदार्थ न होने से समीपता भाव सम्बन्धी ही हो सकती है। निर्गुण पक्ष मे अह का साक्षी सबसे समीप है। सगुण पक्ष मे हृदय मे बैठा हुआ वह प्रेरक हुआ ही सबसे समीप है, क्योकि जब तक उसकी प्रेरणा नही होगी, तब तक न ज्ञानेन्द्रिया ज्ञान कर सकती हैं और न कर्मेन्द्रिया कर्म और न अत करण वृत्ति का ही निर्माण कर सकता है। इस प्रकार उसकी समीपता का अनुभव कार्य करण सघात मे किया जाता है। विश्व के प्रत्येक कार्य के पीछे भी उसी का सकल्प कार्य कर रहा है। अत प्रत्येक पदार्थ व घटना के अनुभव काल मे जो उसी को देखा जाता हैं, उसकी इच्छा मे अपनी इच्छा को समाहित किया जाता है, वह उसको समीप अनुभव करना है।

६

सः वृक्षकालाकृतिभिः परः अन्यः यस्मात् प्रपंचः परिवर्तते अयम्। धर्मावहम् पापनुदम् भगेशम् ज्ञात्वा आत्मस्थम् अमृतम् विश्वधाम ॥

स =वह
पर =परमेश्वर
वृक्षकालाकृतिभि =वृक्ष, काल आदि आकृतियो से[१]
अन्य =भिन्न है[२]
यस्मात्=जिससे[३]
अयम्=यह
प्रपंच =ससार
परिवर्तते=घूमता है।

धर्मावहम् = (उस) धर्मप्रदाता,[४]
पापनुदम्=पापनाशक,[५]
भगेशम्=भगो के ईश्वर को[६]
आत्मस्थम् = अपने अन्दर स्थित[७]
ज्ञात्वा = अनुभव करके[८]
अमृतम्=मृत्यु से परे[९]
विश्वधाम=ब्रह्मधाम को[१०]
(याति)=(जाता है। चतुर्थ मत्र से अन्वय है।)

१ वृक्षाकृति और कालाकृति यह समास है। यहा **ऊर्ध्वमूलो अवाक् शाख** इत्यादि कठोपनिषद् मे बताया हुआ ससार वृक्ष लेना चाहिये। अथवा मनुष्य शरीर ही वृक्ष है क्योकि ऋग्वेद मे **समाने वृक्षे** कहा है। शरीर और काल अर्थात् क्रिया के द्वारा अथवा शरीर, काल, क्रिया, आकृति, जाति इत्यादि के द्वारा उपलक्षित हुआ हुआ भी परमेश्वर असग ही रहता है, यह तात्पर्य है। परमेश्वर ससार दोष से अस्पृष्ट रहता है एव अस्पृष्ट रहते हुए ही सारी द्वैत कल्पनाओ का अधिष्ठान बनता है अथच सभी धर्माधर्मो को देता है। यही उसका निरकुश ऐश्वर्य है।

वृक्ष अर्थात् ससार वृक्ष। लव निमेष आदि सर्वकाल विशेष मे यह अनुस्यूत रहता है। अत काल तत्त्व यहा कहा गया। **आ समन्तात् कृति क्रियत इति** इस व्युत्पत्ति से महद् आदि समष्टि कार्य रूप से इसे माया करती है अथवा परमेश्वर रूपी अधिष्ठान से प्रेरित होती है। अत उसे आकृति कहते है। अथवा सर्व व्यापक होने से माया को आकृति कहा गया है। इस अर्थ मे **वृक्षकालाकृतिभि** मे तृतीया पचमी के अर्थ मे है, ऐसा समझना चाहिये। तात्पर्य हुआ कि कार्य

और ससार वृक्ष, काल एव भूत आदि प्रत्ययो का आलम्बन आकृति तथा अविद्या से जो **पर** अर्थात् परे है।

२ प्रपच से अस्पृष्ट अर्थात् असग अर्थात्, उससे विलक्षण स्वभाव वाला। **अन्य पर** इस प्रकार पद व्यत्यय मे स्वयं उत्कृत यह अर्थ हो जाता है। यद्यपि शरीर मे मस्तिष्क को उत्कृष्ट अ ग कहा जाता है परन्तु वह अवयव विभाग के द्वारा है। परमेश्वर की उत्कृष्टता इस प्रकार विश्व के उत्तम अग रूप से नही, वरन् इनके अ गी भाव को भी पीछे छोडकर रहने के कारण है।

३ भिन्न कहने से अत्यत भिन्नता के द्वारा असत् अर्थ भी आ सकता है अथवा उसका ससार से कोई सम्बन्ध ही नही है, ऐसी प्रतीति हो सकती है। अत कहा कि उस परमात्मा से ही यह सारा प्रपच चलता है। इस प्रकार वेदात शास्त्र मे परम शिव केवल उत्कृष्ट (Transeondental) ही नही वरन् व्यापक (Imm·nant) भी है। **अत्यत सुख चिन्मात्र वपु** ईश्वर से ही यह प्रपच वैसे ही घुमाया जाता है जैसे स्वप्नद्रष्टा के द्वारा व्याघ्र आदि प्रपच। चक्र की तरह गोल गोल घूमने के कारण इसे परिवर्त शब्द से कहा गया है।

अथवा **यस्मात्** का अर्थ आत्मा से कर लेना चाहिये। वृक्ष आदि से व्यतिरिक्त आत्मा से यह भूत भौतिक सघातरूप प्रपच परि अर्थात् चारो तरफ से वर्तते अर्थात् निकलता है। तब अयम् का अर्थ हो जायेगा **विविधप्रत्ययगम्य**। तात्पर्य है कि अनत प्रत्ययो के द्वारा जो **है** रूप से जाना जा रहा है, वह असत् कैसे हो सकता है।

४ जैसे हम उपासना करके उसे जानते है क्योकि वह अपने भक्तो को ज्ञान देता है, वैसे ही दूसरो को भी उसके द्वारा धम दिया जाता है अर्थात् मल का नाश किया जाता है। धर्म ही सुख का एक मात्र कारण है और वह भक्तो को चारो तरफ से वहन करके देता है,

इसलिये उसे धर्मावह कहा गया। अथवा वह स्वय ही धर्म रूप है। अत वह स्वय ही धर्म रूप से उनके पास आकर उनका मल नष्ट करता है। **तस्मै धर्मात्मने नम** इत्यादि स्मृति वाक्य इसमे प्रमाण हैं। यज्ञ, दान, तप, आदि का समाराध्य वही है और उनका फल वही देता है, यह भाव हैं।

५ पापो को नष्ट करने वाला अर्थात् स्मरण मात्र से भक्तो के दुष्कर्मो का नाश कर देता है। पाप ही दु ख का एकमात्र कारण है। अपने भक्तो के पाप को वह नुदति अर्थात् नष्ट करता है।

६ भग का स्वामी होने से वह भगेश कहा जाता है। भग जिसके पास हो, वह भगवान् है। अत भग का ईश होने से वह भगवानो का ईश्वर है, यह तात्पर्य है। ऐश्वर्य, धर्म, यश, श्री, ज्ञान, वैराग्य इन छ को भग कहते है। वही इनका नियत्रण करता है। अन्य सब देवताओ को जैसे देव कहा जाता है, महादेव कभी भी नही। उसी प्रकार रुद्र को छोडकर अन्य किसी देवता को भगेश नहीं कहा जाता। यहा शिवमूर्ति के वैशिष्टच को बताया गया है अर्थात वह कोई ऐश्वर्य वाला नही है। इसी को दिखाने के लिये पौराणिक शिव मे किसी भी ऐश्वर्य यश, इत्यादि का प्रतीक आभरण, ठाठबाट इन्यादि नहीं दिखाया जाता।

भग का अर्थ कही कहीं भाग्य भी होता है। अत सभी के भाग्य का एक मात्र अधिपति है अर्थात् कर्म फल प्रदाता है। अत उसे भगेश कहा गया। जो दो टुकडो मे बटे उसे भी भग कहते है। माया के द्वारा चैतन्य जीव ईश्वर भाव मे बटता है। इस भेद का वह ईश्वर अर्थात् शासक बना रहता है और जीव शास्य हो जाता है, इसलिये भी उसे भगेश कहा जाता है।

७ यद्यपि यह पद मूलमत्र मे विशेष रूप से वर्णित है परन्तु सिद्धान्त के लिये हमने उसे क्रिया वाचक बनाया है। आत्मा से अर्थ

देह, इन्द्रिय आदि संघात है और उसमे भी प्रधान रूप से बुद्धि। वहा प्रत्यग् रूप से स्थित होने से उसे आत्मस्थ कहा। अथवा सब जड चेतन प्रपच के आत्म रूप से स्थित होने के कारण उसे आत्मस्थ कहा है। तात्पर्य हुआ कि **अह ब्रह्म, सर्वम् खल्विद ब्रह्म** इन दोनो की अनुभूतियो का द्योतन किया जा रहा है। आत्म रूप से ही बुद्धि मे स्थिति करना ध्यान है। अतः तात्पर्य हुआ कि इस प्रकार से उसका ध्यान करके। अथवा आत्मा माने जीव, अत जीवात्मा मे भगेश रूप से वर्तमान परमात्मा का ध्यान यहा बताया जा रहा है।

८ यहा श्रवण, मनन, निदिध्यासन के फलस्वरूप जो साक्षात् अनुभव होता है, उससे तात्पय है। **अह ब्रह्म** इसका अखण्ड वाक्यार्थ बोध यहा समझना चाहिये।

६ मृत्यु अर्थात् ससार क्योकि जन्म मृत्यु से ही ससार उपलक्षित होता है। जन्म मृत्यु से सर्वथा रहित होने से ही उसे यहा अमृत कहा गया। अथवा विनाश शून्य होने से भी तात्पय हो सकता है। विनाश रहित मे अभयता स्वाभाविक होती है।

१० सर्प आदि का जिस प्रकार रज्जु आदि आधार होता है, वैसे ही विश्व का आधार होने से उसे विश्वधाम कहा। अथवा विश्व ही अर्थात् जगत् ही उसकी प्राप्ति का धाम अर्थात् ठिकाना है। अत उसे विश्वधाम कह दिया। इस ज्ञान से ससार रूप उसका बीज जल जाता है, यह तात्पर्य है। धाम का अर्थ कही-कही तेज भी होता है। अत समग्र विश्व का तेज वही है एव उसके तेज से ही हमको सारे विश्व का भान होता है।

७

तम् ईश्वराणाम् परमम् महेश्वरम् तम् देवतानाम् परमम् च दैवतम्। पतिम् पतीनां परमम् परस्तात् विदाम देवम् भुवनेशम् ईड्यम् ॥

तम्=उस[1]
ईश्वराणाम्=ईश्वरो के[2]
परमम्=परम[3]
महेश्वरम्=महेश्वर को,[4]
तम्=उस[5]
देवतानाम्=देवताओ के[6]
परमम्=परम
दैवतम्=देवता को,
च=और
पतीनाम्=पतियो के[7]
परमम्=परम
पतिम्=पति को,
परस्तात्=सबसे परे[8]
देवम्=देव को,[9]
भुवनेशम्=भुवनो के अधिपति को,[10]
ईड्यम्=स्तुति के योग्य को[11]
विदाम=अनुभव करे।[12]

१ परमात्मा की एकता एव उस एकता का अनुभव करने वाले की कृतकृत्यता का प्रतिपादन ब्रह्मवेत्ता के अनुभव को दिखाते हुए ऋषि दृढ करते है।

२ ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र, यम, वैवस्वत आदि, विराट्, हिरण्यगर्भ आदि ईश्वर कहे जाते है। परन्तु ऋषि उसके ज्ञान की प्रार्थना करते हुए इन सबको भी महेश्वर की अपेक्षा सामान्य ही मानते है अर्थात् जिसका प्रकरण चला हुआ है, उस परमात्मा की अपेक्षा जगत् की उत्पत्ति, स्थिति, लय करने वाले ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र भी नगण्य ही है।

३ उत्कृष्ट अथवा सबका शासन करने वाला होने से ही उसे उत्कृष्ट कहा जाता है। वह उन्हे अंतर्यामी बनकर शासित करता है लेकिन वे उसके स्वरूप को भी जानने मे असमर्थ है, यही उसकी परमता है।

४ जो महान् हो और ईश्वर अर्थात् नियता हो, उसे महेश्वर कहते है। ईश्वरों का भी वह नियता है, यह भाव है। अथवा उनसे भी ज्यादा गौरव वाला होने से उसे महा कहा गया है।

५ दो बार तम् पद का प्रयोग करके इस प्रशसा की औपचारिकता का निराकरण किया गया है अर्थात् यहा परम दैवत्, परम

महेश्वर, परम पति इत्यादि वास्तविक रूप से प्रतिपादित है, गौण रूप से नही ।

६ इन्द्र आदि अथवा इन्द्रिय आदि को देव कहते है क्योकि वे ज्ञान के साधक है। परन्तु इन्द्र आदि प्राप्त भी वही कराने वाला है। इसलिये वह उनका भी दैवत् है। इन्द्रिय आदि को भी वही प्रकाश देता है, अत उनका भी दैवत् है, यह भाव है । यद्यपि ईश्वर कहने से देवताओ का भी सग्रह हो सकता था, तथापि लोक मे ईश्वर और देवता मे कुछ भेद किया जाता है। ईश्वर का ईश्वर देवदेव नही हो जाता, इसी के अनुरोध से यह भी भेद कर लिया गया ।

७ प्रजापतियो को पति कहते है अथवा दक्ष, कश्यप आदि भी प्रजापति कहे जाते है । यह परमेश्वर उनका भी स्वामी है । अथवा ऐश्वर्य और मोक्ष की सिद्धि के लिये जिसे भजा जाता है वह पति कहा जाता है। समष्टि कार्य करण उपाधि होने से सभी व्यष्टि कार्य करण उपाधि वालो का वह पति है। अर्थात् जैसे लोक मे पत्नी के लिये पति ही एकमात्र उपास्य होता है, वैसा ही परमेश्वर ही मोक्ष कामना के लिये एकमात्र उपास्य है । अत उसे परम पति कहते है। मोक्ष कामना के पूर्व अन्य ज्ञानो के लिये हिरण्यगभ, प्रजापति, कश्यप इत्यादि की उपासना प्राप्त थी। विविदिषु को भी इनकी उपासना कर्त्तव्य नही है, यह बताने के लिये यहा उसे पति का भी परम पति कहा गया।

८ अक्षर को पर कहा जाता है, क्षर अर्थात् अविद्या। यह अविद्या से भी परे होने से परस्तात् कहा जाता है। अनत आनद स्वभाव वाला होने से समष्टि भेदो से रहित है। अत प्रकृति सभी रूप से परे हैं। देव, मनु, आदित्य आदिको को जो असत् कर देता है, ऐसा दिव्य प्रकाश होने से भी उसे परस्तात् कह दिया गया है।

९ स्वय प्रकाश होने से ही परमेश्वर को देव कहा जाता है अर्थात् उदय और अस्त से रहित चित् प्रकाश रूप ।

१० भावनाओ का ईश अर्थात् नियता । तात्पर्य है कि निखिल कार्यजात का वह शासन करने वाला है ।

११ ईड्य के अधिकार मे पुन ईड्य का ग्रहण अतीड्य बताने के लिये है । अथवा वेद, इतिहास, पुराण, आगम आदिको के द्वारा वह स्तुत्य है ।

१२ इस प्रकार उस परमात्मा को आत्म रूप से अपरोक्ष करना चाहिये, यह भाव है । अथवा लडर्थ मे लोट् समझना चाहिये अर्थात् सारे पुरुषार्थ सम्बन्धी और मोक्षरूप पुरुषार्थ को अपने आप मे आविर्भाव करके हम कृतकृत्य हुए अपने आपको जानते है । अथवा कृतकृत्यावस्था मे रहते है, इस प्रकार ब्रह्मवेत्ताओ का अनुभव बताया गया । अथवा प्रार्थना मे लोट् समझना चाहिये एव गुणाभाव छादस् मानना चाहिये अर्थात् ऋषि उस परब्रह्म के ज्ञान के लिये प्रार्थना करते है । अथवा हम साक्षात्कार करे, इस प्रकार मत्र द्रष्टा ने शिष्यो को शिक्षा देने के लिये लोट् का प्रयोग किया है । मत्र दर्शन से पूर्व ही मत्र द्रष्टा को स्वय तो आत्मज्ञान उत्पन्न हो ही गया । तात्पर्य यह है कि यदि मत्र द्रष्टा का वचन है तो लोट् का लट् रूप समझ लेना चाहिये ।

८

न तस्य कार्यम् करणम् च विद्यते न तत्समः च अभ्यधिकः च दृश्यते । परा अस्य शक्तिः विविधा एव श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च ॥

तस्य = उस (परमशिव) का[1]
कार्यम् = शरीर[2]
च = तथा
करण = इन्द्रिया और मन
न = नही
विद्यते = है,[3]
च = और
तत्सम = उसके समान,[4]
च = तथा
अभ्यधिकः = बडा[5]
न = नही
दृश्यते = दिखता है।
अस्य = इस (परमात्मा) की
परा = उत्कृष्ट,[6]
स्वाभाविकी = स्वभावसिद्ध,[7]
च = तथा
ज्ञानबलक्रिया = ज्ञान, इच्छा, क्रिया रूप[8]
शक्ति = शक्ति[9]
विविधा = अनेक प्रकार की[10]
एव = ही
श्रूयते = वेदो मे कही गई है।

१ बिम्ब प्रतिबिम्ब भेदशून्य, मुखमात्र सम्बन्धी जो दपरण रूपी उपाधि, उसके द्वारा मुख मे बिम्ब प्रतिबिम्ब भाव की प्राप्ति कराई जाती है। बिम्ब मुख को छोडकर प्रतिबिम्ब पक्षपातिता ससार की तरफ ले जाती है। इसी प्रकार जीव एव ब्रह्म भेद से शून्य अनत सुख रूप सम्बन्धी अविद्या कार्य और कारण रूपी उपाधि मे जीवपक्षपातिता लाती है। कार्य कारण उपाधि जीव पक्षपाती होती है। परन्तु यदि इस प्रतिबिम्ब रूपी पक्षपात को छोडकर बिम्ब स्थानीय परमात्म पक्षपातिता को प्राप्त कर लिया जाये तो काम बन सकता है। पारमार्थिक दृष्टि से यह भेदशून्य चैतन्य कार्य और कारण से रहित है, यह प्रतिपादन करना इस मत्र का तात्पर्य है। तस्य के द्वारा उस भेदशून्य चैतन्य का ही परामर्श किया जा रहा है जिसे पूर्व मत्र मे कहा गया है।

२ शरीर आदि परिच्छेद होने पर उसकी महेश्वरता बन नही सकती। अत शरीर के द्वारा समग्र परिच्छेदों का निषेध है। अथवा कार्य का अर्थ अविद्या के द्वारा जो विक्षेप उत्पन्न होता है, उसे कहा

गया है एवं तब कारण का अर्थ इस विक्षेप का असाधारण कारण अविद्या हो जायेगा। इन दोनों से भी वह रहित है। अथवा कार्य अर्थात् फल और कारण अर्थात् साधन। परमात्मा साधन और फल दोनों से निरपेक्ष है। अथवा कार्य व्यष्टि है और कारण समष्टि। परमेश्वर में व्यष्टि समष्टि दोनों भावों का अभाव है। अर्थात् न उसका समष्टि व्यष्टि शरीर अर्थात् विश्व और विराट् उपाधि रूप से स्थित है और न व्यष्टि अंतःकरण और समष्टि हिरण्यगर्भ ही उसकी उपाधि है। अद्वैत आनन्द अनुभूति रूप होने से उसमें इसकी सम्भावना नहीं है, यह तात्पर्य है।

३. आध्यासिक सम्बन्ध होने पर भी उसके स्वरूप में विद्यमान नहीं है, यह तात्पर्य है।

४. अद्वितीय होने से उसके तुल्य कोई नहीं हो सकता, यह श्रुति और युक्ति दोनों से सिद्ध है। अथवा न वेदों में, न वेदानुयायी दर्शनों में, न स्मृति, पुराण आदि में अथवा न्याय, मीमांसा इत्यादि में उसके समान किसी को कहा गया है।

५. जब उसके जैसा ही कोई दूसरा नहीं है, तब उससे बड़ा तो हो ही कहां से सकता है। अनेक ईश्वरों से अधिष्ठित होने पर तो एक साथ ही जगत् की उत्पत्ति और विनाश का संकल्प करने पर सब अव्यवस्थित हो जायें। अतः अनेक ईश्वरवाद संगत नहीं है। पौराणिक कथाओं में इस प्रकार का प्रतिपादन अविचार के कारण ही है। वस्तुतस्तु वहां आने वाली विविध शक्तियों को ही शक्ति और शक्तिमान् के अभेद से उपचरित करके कह दिया गया है जिससे लोगों को संदेह हो जाता है। पुराणकार का तात्पर्य अनेकेश्वरवाद में नहीं है।

कुछ लोग आगे आने वाले दृश्यते और श्रूयते का युगपत् सम्बन्ध करके **दृश्यते श्रूयते वा** ऐसा भी अर्थ कर लेते हैं। इस पक्ष में शक्ति के बारे में भी दृश्यते श्रूयते वा ऐसा अन्वय बन जायेगा। इसमें कोई विरोध नहीं है।

६ जिसके समान और अधिक कोई दूसरा नही है, ऐसा यदि वह एक ही है तो फिर उसमे जगत् कर्तृत्व आदि शक्ति भी नही होगी एव यदि उसमे शक्ति है भी तो हम लोगो की तरह ही वह शक्ति होगी। इन दोनो का निषेध करने वाला परा शब्द है अर्थात् उसमे वह उत्कृष्ट शक्ति है, अत वह हमसे भिन्न भी हे और परा होने के कारण उसमे सद्वितीयता भी नही लाता। सद् के कारण आत्मा की ही सर्व कार्य उत्पन्न आदि को सामर्थ्य और अघटितघटनापटीयसी अविद्या ही सबसे परे होने से परा कही जाती है। यह शक्ति सर्वव्यापक है एव इसे ही प्रथम अध्याय मे जीवात्मशक्ति के नाम से कहा है।

७ स्वभाव अर्थात् अपना ही स्वरूप। स्वभाव किसी भी चीज मे द्वितीयता नही लाता। **देवस्यैष स्वभावोऽयम्** कहकर आचार्य गौडपादो ने भी यही बताया है। रस्सी का स्वभाव ही है सर्प आदि रूप मे प्रतीत होना। अथवा अध्यास भाष्य के नैसर्गिक अर्थ मे यह स्वभाव समझना चाहिये अर्थात् अनादि सिद्ध होने से ही स्वभावतः सम्बद्ध कही जाती है। इसी को लौकिक भाषा मे सहज सिद्ध भी कहते है। तात्पर्य यह है कि **नेति-नेति** के द्वारा प्रतिषिद्ध अशेष विशेष परमेश्वर का प्रकृति और प्राकृत रूप स्वभाव नही हो सकता। फिर इसकी स्वाभाविकता क्या है ? सर्व ज्ञेय विषय सर्वज्ञ लक्षणानुभूति ज्ञान क्रिया है। वह सर्वज्ञेयाकार सर्व अत करण परिणामरूप क्रिया के द्वारा अभिव्यक्त होकर क्रिया की तरह प्रतीत होता है। यह ज्ञान और क्रिया ईश्वर का स्वभाव होने से स्वाभाविकी है। यहा स्वाभाविकी का तात्पर्य अन्याधीन नही होना है अर्थात् जहा कही, जिस किसी जगह पर, जिस किसी अत करण की वृत्ति मे ज्ञान होता है, वह ज्ञान परमात्मा का ही रूप वहा प्रतीत होता है। परमात्मा के अतिरिक्त ज्ञान और किसी अन्य के अधीन नही है अत यह परमेश्वर

की स्वाभाविकी शक्ति कही है। इसी प्रकार जहा कही भी आनद की प्रतीति है, वह परमात्मा की ही स्वसन्निधि मात्र से शान्त वृत्ति मे प्रतीत होने वाली क्रिया विशेष है। अपनी सन्निधिमात्र से समग्र प्रकृति और प्राकृत जगत् को वह वश मे रखता है एव उसके नियम से प्रवर्त्तन करता है। यह सब उसकी इच्छा के अधीन होने के कारण और यह इच्छा और किसी के अधीन न होने के कारण बल या इच्छा भी उसकी स्वाभाविक शक्ति है। सर्वकल्पनाधिष्ठानभूत ईश्वर का अनत पदार्थो मे सत्ता रूप से प्रतीत होना उसकी क्रिया-शक्ति है। वह भी उसमे स्वाभाविकी है। उसके कारण ही सभी पदार्थ सत्ता वाले बनते है और सत्ता वाले बनने पर ही क्रिया की प्रतीति हो सकती है। अत समग्र धातुओ का वाच्य जो क्रिया, उसका मूल **भू सत्तायाम्** वह उसका रूप होने से उसकी क्रिया स्वाभाविकी है। तात्पर्य है कि ज्ञानबल क्रिया उसकी निरपेक्ष है। इसी को लौकिक भाषा मे सच्चिदानद कहते है। प्रातिपदिक का अर्थ सत्ता ही होता है, ऐसा वैयाकरण मानते है। अत सर्व परि-च्छेदो को छोडकर अनत सत्ता ईश्वर की स्वाभाविक शक्ति है एव वह और किसी के अधीन नही है।

८ ज्ञान, बल और क्रिया ऐसा एक अर्थ सम्भव है। तब बल का अर्थ इच्छा होता है। भगवान् भाष्यकार आचार्य शकर ने भी बल का अर्थ रागद्वेष आदि रहितता किया है। किन्ही टीकाकारो के मत में तो ज्ञानक्रिया और बलक्रिया ऐसे दो ही माने गये है। सर्व विषय-ज्ञान, प्रवृत्ति ज्ञानक्रिया है एव सन्निधि मात्र से सबके ऊपर नियमन करना बलक्रिया है। अथवा ज्ञान अर्थात् अविद्या रूप अत करण की वृत्ति जो वस्तुओ का प्रकाश करती है। बल अर्थात् प्राण उत्साह या प्रयत्न, क्रिया अर्थात् व्यापारमात्र (Activity)। एक वचन होने पर भी नपु सक का प्रयोग न करना तो आर्ष प्रयोग हैं। यद्यपि वेदात मे

प्राय ज्ञानशक्ति और क्रियाशक्ति का ही अधिक विचार होता है। परन्तु उसका कारण यह है कि इन ही दोनो का विचार सफल है, मीमासक सिद्धात को मानने वाला वेदाती निष्फल प्रयास नही करता। इच्छा चू कि परमात्मा का स्वतन्त्र विलास है, अत उसका विचार निरर्थक है। फिर भी श्रुति ने उसके पूर्ण रूप को बताने के लिये यहा उसका निवेश कर दिया। इसको मानने से वेदात का कोई विरोध नही है। कामस्तदग्रे, सोऽकामयत् तदैक्षत् आदि अनेक वेद वाक्य इच्छा को परमात्मा की स्वरूप शक्ति बताते ही हैं। आचार्य शकरानद स्वामी तो केवल इतने से ही सतुष्ट न होकर चकार के द्वारा सस्कार शक्ति, सम्बन्ध शक्ति इत्यादि का भी ग्रहण कर लेते है। कुछ अन्य आचार्य बलशक्ति को क्रिया शक्ति के ही अतर्भुक्त मानते हैं। कुछ लोग ज्ञान और बल से युक्त क्रिया को ही क्रियाशक्ति मानते है अर्थात् एक ही क्रियाशक्ति के अन्दर ज्ञान और बल का भी समावेश कर लेते है। हर हालत मे तात्पर्य तो एक ही है।

१ दो प्रकार की शक्तिया होती है—एक औपाधिक और दूसरी स्वाभाविकी। परमेश्वर मे माया उपाधि बनकर रहती है तथा निर्विकल्प चैतन्य मे स्वाभाविक बनकर। शक्ति और शक्तिमान् का सम्बन्ध अनिर्वचनीय ही माना जा सकता है क्योकि शक्तिमान् जिस समय शक्ति को कार्य रूप मे परिणत नही कर रहा होता है, उस समय मे भी बना ही रहता है। शक्ति क्रिया के द्वारा अनुमेय होती है। शक्ति का साक्षात्कार बनता नही है। अत. कार्य को देखकर जिसका अनुमान किया जाता है, वह कार्य न दीखने पर अनुमेय नही रहती। इस दृष्टि से शक्ति लीन हो गई, ऐसा कह सकते हैं। परन्तु वह लीनता पुनः उत्पन्न होने के लिये है, अर्थात् व्यक्त शक्ति (manifest) अव्यक्त शक्ति (unmanifest) मे परिणत हो जाती हैं, ऐसा माना जाता है। परन्तु वस्तुत जब तक पुनः वह व्यक्त नही हो जाती है तब तक उसके

पहले अव्यक्त थी, इसमे भी कोई प्रमाण नहीं है। व्यक्त होने पर अव्यक्त नही थी, ऐसा कहना भी नही बनता। शक्ति शक्तिमान् से भिन्न होकर कभी उपलब्ध नही होती। इन सब कारणो से शक्ति और शक्तिमान् का सम्बन्ध अनिर्वचनीय ही माना जा सकता है। विद्या का ब्रह्म से सम्बन्ध भी इसीलिये वेदातो मे आविद्यक ही कहा गया है। **मोह च कार्यम् च बिभर्ति मोहो तथैव मोहान्तरमन्तरेण** इत्यादि वाक्य इसमे प्रमाण है। भगवान् सुरेश्वराचार्य ने भी **इच्छाज्ञान-क्रियारूपमायया ते विजृम्भिता** इत्यादि के द्वारा इसी को बताया है। इसी को पुनः उन्होने श्रुति के विविध पद का व्याख्यान करते हुए **ईश्वरोनतशक्तित्वात्, स्वतत्रोन्यानपेक्षक** कहा है। शक् का अर्थ सकता होता है। जैसे गम् से गति बनता है, वैसे ही शक् से शक्ति बनता है अर्थात् सकने का जो भाव है और वह पुन कार्य रूप हो, तब उसे शक्ति कहेगे। चैतन्य होने से उसकी सब शक्तिया भी चैतन्य ही है। अत अज्ञान भी भावरूप ज्ञात पदार्थ ही है, ऐसा वेदातो मे बार-बार प्रतिपादित किया गया है। इस दृष्टि से ही शाक्तागमो ने शक्तिपूजा पर जोर दिया था एव वैदिक कर्मकाण्ड मे भी देवता देव का शक्ति रूप से ही माने गये है। इन्द्र, वरुण, यम आदि सब उस एक परब्रह्म देव की ही शक्तिया है, यह भाव है। उसको चेतन मानकर इन देवताओ की चेतनता भी सिद्ध हो जाती है। पुंस्त्व, स्त्रीत्व तो सर्वथा कल्पित है। अत गौण है। अत्यत अविचार शील लोग ही स्त्री देह को शक्ति मानते है। वस्तुत जो कुछ भी दीखता है वह परमात्मा की शक्ति से दीखता है वह उसकी परा शक्ति है और जो दीखता है, वह उसकी अपरा शक्ति का विलास है। पूज्यता परा शक्ति मे होती है, अपरा शक्ति मे नही। अपरा शक्ति परा शक्ति को समझने का सोपान मात्र है। अत यहा सहजा शक्ति को ही कहा गया है। अपरा शक्ति का प्रतिपादन यहा इष्ट नही है। यदि इष्ट ही

माना जाये तो शंकरानन्दोक्त रीति से चकार द्वारा संगृहीत किया जा सकता है। तब स्वाभाविकी उसका विशेषण नहीं रहेगा।

१० अविद्या शक्ति का आवरण और विक्षेप दो भाव तो स्फुट ही है। अथवा अपने विक्षेप विलासो से वह अनेक रूप वाला प्रतीत होता है, ऐसा वेद आदि सच्छास्त्रो से पता लगता है। विधा का अर्थ प्रकार होता है। अत विशेष प्रकार की विधा या विशेष प्रकार यहा इष्ट है। यद्यपि ससार के यावत् पदार्थ उस शक्ति का ही विलास है परन्तु उनको किसी भी दृष्टि से जब सग्रहीत किया जाता है तब उसे विधा कहेगे। समग्र भौतिक शास्त्र (Material sciences) उसको दृश्य जगत् की दृष्टि से भिन्न-भिन्न प्रकार से बाटते है, समग्र दर्शन मानस जगत् के रूप मे बाटते है तथा आध्यात्मिक शास्त्र आत्मदृष्टि से बाटते है। परन्तु वास्तविकता तो यह है कि उस शक्ति का प्रत्येक विलास अपने आप मे पूर्ण है और इसीलिये अनेको विधाओ मे बटने पर भी वह उन सबको छोडकर विश्व परा (Transcendent) बना ही रहता है। जीवन का प्रत्येक अनुभव अपने मे इतना पूर्ण है कि यदि उसको हम विधाओ मे न बाटें तो वह हमे परमेश्वर तक पहुँचाने के लिये पर्याप्त है। हम अपने अनुभवो को विधाओ मे बाट बाटकर अनुभव की पूर्णता से छूछे रह जाते है। किसी आग्ल कवि ने कहा था कि प्रत्येक बिन्दु मे समग्र विश्व प्रतिबिम्बित होता है। यह घटना पूर्ण सत्य है क्योकि प्रत्येक बिन्दु मे जल अपनी पूर्णता के साथ ही उपस्थित रहता है। जल का भाग नही किया जा सकता क्योकि जब तक उसमे जलता है तब तक वह जल नहीं है जल का खण्ड है, यह कैसे कहा जा सकता है। इसी प्रकार परमेश्वर की शक्ति के प्रत्येक विलास मे परमेश्वर अपनी पूर्ण शक्ति से विद्यमान है। उसमे किसी भी प्रकार के खण्ड की कल्पना बनती नहीं। इसीलिये वह आगतुक नही, वरन् स्वरूपभूत ही है। अनत कार्य करणों

का बीज होने से तत्तद् रूपो मे वह विविध प्रकार से प्रतीत होता है और प्रत्येक प्रतीति मे बीज रूप से पुन अनतता को अपने अन्दर धारण करता है, यही उसकी वास्तविक विविधता है।

९

न तस्य कश्चित् पतिः अस्ति लोके न च ईशिता न एव च तस्य लिंगम्। सः कारणम् करणाधिपाधिपः न च अस्य कश्चित् जनिता न च अधिपः॥

तस्य=उस (परमात्मा) का
कश्चित्=कोई
पति =पति[1]
न=नही
अस्ति=है।
च=तथा
लोके=ससार मे
ईशिता=नियमन करने वाला[2]
न=नही है।
च=तथा
तस्य=उसका
लिंगम्=लिंग[3]
न=नही
एव=ही है।[4]

स =वह
कारणम्=कारणरूप है,[5]
करणाधिपाधिप =इन्द्रियो के अधिपति का अधिपति है।[6]
च=तथा
अस्य=इसका
कश्चित्=कोई
जनिता=पैदा करने वाला[7]
न=नही है।
च=और
अधिप =अधिपति[8]
न=नही है।

१ शक्ति वाले दक्ष आदि प्रजापतियो का हिरण्यगर्भ अधिपति देखते है। इससे अनुमान होता है कि इसका भी कोई पति होगा। उसकी निवृत्ति करने वाला यह वाक्य है। तात्पर्य है कि परमेश्वर सारी शक्तियों वाला होने के कारण उसका और कोई पति नही हो

सकता। अथवा पति का अर्थ पालन करने वाला भी होता है। परमेश्वर सबका पालन करने वाला है, उसका पालन करने वाला कोई नही है।

२ ससार मे देखा जाता है कि अनाथ शिशु का कोई पालन करने वाला न होने पर भी उसका नियत्रण करने वाला तो होता ही है। अत परमेश्वर का कोई नियत्रण करने वाला होगा, इस सदेह का निवर्तक यह वाक्य है।

३ जिस प्रकार धुआ आग का लिग होता है, उसी से आग का अनुमान होता है। उस प्रकार परमात्मा का कोई लिग नही है। यद्यपि ईश्वर की सत्ता के विषय मे लोग अनुमान करते है परन्तु कोई ऐसा अव्यभिचारी लिंग होता तो अवश्य ही आज तक ईश्वर के विषय मे सदेह निवृत्त हो जाता। अत अनुमिति का साधन ईश्वर के विषय मे नही मिलता। वैसे भी परमेश्वर सब धर्मों से रहित है। अत परमात्मा के विषय मे किसी भी धर्म को लिग बनाया ही नही जा सकता। ब्रह्मसूत्र आदि मे स्पष्ट ही उसे वेदातवेद्य माना है। नैयायिक यद्यपि पृथ्वी इत्यादि कार्य लिगो से ईश्वर की सिद्धि करने का प्रयत्न करते है परन्तु वे वस्तुत ईश्वर का साधन नही कर पाते। प्रपच रूपी कार्य के दर्शन से कारणमात्र का अनुमान किया जा सकता है। उस कारण की किसी विशेषता का अनुमान सम्भव नही होता। अत सर्वज्ञ ब्रह्म जगत् का कारण है, यह केवल वेदो मे ही जाना जाता है। अत उसे लिग हीन कहा।

कारण मे समग्र कार्य लीन होते है। अत कारण को लिग कहते हैं। उस ईश्वर का कोई कारण नही है और न उससे किसी कार्य की उत्पत्ति हुई हैं।

कार्य लिंगक अनुमान से परमात्मा को यदि सिद्ध भी करे तो उसमे सशरीरता की सिद्धि हो जायेगी एव सशरीरी ईश्वर का पतित्व

एव ईशिता भी सिद्ध हो जायेगी। अत उसे कार्यलिग से साधा नही जा सकता। अथवा लिग अर्थात् शरीर जिसके द्वारा आनदरूप परमात्मा लिग्य अर्थात् गम्य हो, वह शरीर लिग कहा जाता है। **लिंग्यते गम्यते अस्मिन् अनेन वा अयम् इति लिंगम् शरीरम्** इस प्रकार व्युत्पत्ति कर लेनी चाहिये अर्थात् वह स्थूल सूक्ष्म दोनो शरीरो से रहित है।

शिव का पूजन प्राय लिग मे होता है। इसका कारण यह है कि यह रूप अरूप ध्यान का साधक है। विष्णु आदि विग्रह मूर्त है एव आत्मा अमूर्त। लिंग इनके मध्य मे है। न यह मूर्ति की तरह व्यक्त है और न सर्वथा अव्यक्त है। कृष्ण यजुर्वेद के तैत्तिरीय आरण्यक मे हिरण्य लिग इत्यादि के द्वारा इनका विस्तार से प्रतिपादन है। इस लिये लिग ही शिव है, ऐसी भी सभावना हो जाती है। उसकी निवृत्ति के लिये यह कहा गया कि यह भी उसकी वास्तविकता नही है। पौराणिक दृष्टि से दारुकावन मे जब भगवान् शकर गये थे, तब उन्होने भिक्षाटन लीला की थी। सोलह वर्ष के युवा होकर नगे ही भिक्षा के लिये जाने से एव मुनि पत्नियो के द्वारा सेवित होने से वे मुनि क्रोध मे आ गये तथा उन्होने उनके लिग को गिरने का श्राप दिया। वह गिर गया और शिव अन्तर्ध्यान हो गये। बाद मे विष्णु ने उस लिग के १२ टुकडे किये तथा उन्हे द्वादश ज्योतिर्लिंग के रूप मे स्थापित किया क्योकि वह लिंग ज्योति रूप था। यह कथा वस्तुत किसी आध्यात्मिक रहस्य को बताने के लिये है। शिव वस्तुत अलिग है परन्तु घट ज्ञान, पट ज्ञान आदि ज्ञानो मे ज्ञान रूपी लिंग प्रतीत होता है जिससे अखण्ड ज्ञान का बोध सम्भव है। अत विश्वज्ञान, विश्व सत्ता इत्यादि लिग उस परमात्मा मे कल्पित है। बुद्धि वृत्ति रूपी मुनिपत्निया इसका सेवन करती है अर्थात् सत्ताज्ञान इत्यादि लिगो के द्वारा परमात्मा की अखण्ड सत्ता और चित्ता को समझती

है। कर्मजड मुनि लोग इसको पसन्द नही करते। सर्वत्र परमात्म-दृष्टि करने वाले को कर्मकाण्डी लोग भ्रष्ट ही समझते है। प्रवृत्ति और निवृत्ति मार्गो का झगडा तो अनादि है ही। जब उस लिग रूपी मत्ता चित्ता को गिराया जाता है तब शिव अव्यक्त हो जाते है। तात्पर्य है कि लिग के द्वारा ही यद्यपि शिव का ज्ञान बुद्धि वृत्तियो के द्वारा होता है परन्तु अत मे घटज्ञान, पटज्ञान आदि लिगो को छोडकर निर्विकल्प समाधि मे पहुँचने पर लिग अव्यक्त हो जाता है। वह लिग पुन पाच कर्मेन्द्रिया, पाच ज्ञानेन्द्रिया, मन और बुद्धि इन १२ भागो मे बटा हुआ रह जाता है। यही विष्णु के द्वारा द्वादश ज्योतिर्लिगो का स्थापन करना है अर्थात् जीवन्मुक्तिकाल मे ज्ञान इन १२ इन्द्रियो से ही प्रकट होता है। सामान्य व्यक्ति का ज्ञान भी इन्ही १२ के द्वारा प्रकट होता है क्योकि शिव के अव्यक्त हो जाने पर भी उनका लिग यहा १२ रूप मे रह ही गया। सामान्य व्यक्ति के लिये शिव अव्यक्त है। अत ईश्वर है या नही, इसका भी उसे ज्ञान नही है। जीवन्मुक्त के लिये इसके विपरीत इन १२ के अन्दर शिव की ही लिगना का बोध रहता है। इस प्रकार वस्तुत शिव का कोई लिग नही, यह कहना इष्ट है।

४ पारिलक सत्ता को हटाने के लिये यह एवकार है।

५ परमेश्वर को छोडकर सभी चीजे किसी का कार्य है और किसी का कारण है। अत- उन्हे शुद्ध कारण नही कहा जा सकता। एकमात्र परमात्मा ही किसी का कार्य नही। अत वही सबका कारण होने से शुद्ध कारण कहा जा सकता है।

कही, कही **सकारणम्** ऐसा भी पाठ मिलता है। तब अर्थ होगा कि कारण सहित लिग नही है। तात्पर्य है कि वह परमात्मा जगत् का कारण (लिंग) किसी अन्य कारण से नही है। भाव है कि यदि ईश्वर की कारण रूपता का कोई भी कारण माना जायेगा तो ईश्वर

जगत् के प्रति परतन्त्र होकर कार्य हो जायेगा तथा जिस कारण से ईश्वर सृष्टि करता है, वह कारण ही वास्तविक कारण बन जायेगा। उस कारण का भी वह जड है या चेतन, ऐसा विकल्प आ जायेगा। जड होने पर स्वत प्रवृत्ति नही होगी। चेतन होने पर उसी को कारण मानना पडेगा। उसका पुन कारण मानने पर चक्रिका, अन्योन्याश्रय, अनवस्था आदि दोष अनिवार्य हो जायेगे। अत परमात्मा की कारणता स्वतत्र होकर ही है। उस कारण का और कोई कारण नही है। वेदो मे इसीलिये सृष्टि का कारण परमात्मा की इच्छा ही माना गया है। जो लोग सृष्टि के प्रति जीव के कर्मो को कारण मानते है, उनका भी यहा खण्डन समझ लेना चाहिये।

६ करण अर्थात् इन्द्रिय आदि। उनके अधिप है अग्नि, इन्द्र इत्यादि। उनको भी अधिष्ठित करके परमेश्वर पालन करने वाला होने से वह **करणाधिपाधिप** कहा जाता है। आध्यात्मिक दृष्टि से इन्द्रियो का अधिप अत करण हो गया एव उसका अधिप अत करण की वृत्तियो का प्रातिभासिक चेतन। अत उसको यहा कहना ठीक ही है। पाठातर मे तो करण से अत करण लेने पर अत करण की वृत्ति का अधिपति चन्द्र, बृहस्पति आदि एव उनका भी अधिपति शिव, ऐसा तात्पर्य हो जायेगा। वस्तुतस्तु अपनी माया से शिव सारे जगत् का कारण होते हुए समष्टि विज्ञान शक्ति और क्रियाशक्ति रूप लिग देह को उपाधि बना लेता है। अत यह लिग देह ही करणाधिप हो गया। उसका भी अधिपति माया उपाधि वाला ईश्वर है।

अथवा करणाधिप और अधिप इस प्रकार द्वन्द्व समास कर लेने से अनत आनद परमेश्वर का ही जीव रूप से स्थित होकर इन्द्रियो का आधिपत्य करना उसका करणाधिप बन जाना है। **अनेन जीवेन आत्मना अनुप्रविश्य** आदि श्रुति इसमे प्रमाण है। माया रूपी उपाधि से सबका वह अधिप, लोक मे कारण रूप से प्रसिद्ध होने से हिरण्य-

गर्भ आदि का भी वह अधिप है। अत उसे अधिप भी कहते है। इस प्रकार वही जीव रूप से देह, इन्द्रिय का मालिक है एव ईश्वर रूप से हिरण्यगर्भ आदि का, यह कहना यहा इष्ट है।

७ जनयिता की जगह जनिता यह णि लुक् से सिद्ध कर लेना चाहिये। तात्पर्य है कि परमात्मा को उत्पन्न करने वाला कोई नही है। परमात्मा आनन्द रूप है। नित्य होने से आनद कभी उत्पन्न नही हुआ करता। ससारी लोग जिसे आनद समझते है वह तो उनके किसी दु ख की निवृत्ति का ही नाम है। आनद एक भाव पदार्थ है, दु ख निवृत्ति रूप नही। यदि आनद भी उत्पन्न होने वाला होगा तो विनाशी हो जायेगा। अत उसका कोई जनक नही माना जा सकता। मूल कारण होने से, अपनी सिद्धि अपने अधीन होने से एव अद्वितीय होने से परमेश्वर का कोई जनक नही है। इन सब हेतुओ का यहा सग्रह कर लेना चाहिये।

८ कोई उत्पादक न होने पर भी जिस प्रकार अविद्या अनुत्पन्न हो कर भी किसी के द्वारा अधिष्ठित हुई हुई ही पालित होती है, उस प्रकार ईश्वर का भी कोई पालक हो जायेगा। अथवा अधिष्ठान हो जायेगा। उसकी निवृत्ति के लिये यह कहा गया है। अथवा इसके द्वारा सभी अनुक्त ससार धर्मो के अभाव का प्रतिपादन है, अर्थात् अधिप अध्यक्ष को कहते है। अध्यक्ष किसी भी वादी और प्रतिवादी के कार्य मे अग नही होता। केवल तटस्थ भाव से देखता रहता है। इसी प्रकार ससार के सब धर्मो के प्रति वह कूटस्थ होने के कारण अध्यक्ष की तरह निर्विकार रूप से असग हुआ अध्यक्षता करता रहता है। मत्र का तात्पर्य है कि इस प्रकार परमात्मा को अपनी आत्मा मे अनुभव करना चाहिये जिससे ससार दु ख समुद्र से पार हुआ जा सके।

१०

यः तन्तुनाभः[1] इव तन्तुभिः प्रधानजैः स्वभावतः देवः एकः स्वम् आवृणोत्[2] । सः नः दधात्[3] ब्रह्म अप्ययम्[4] ॥

तन्तुनाभ =मकडी[5]
इव=की तरह
प्रधानजै =प्रधान से उत्पन्न[6]
तन्तुभि =रेशो से[7]
स्वभावत =स्वभाव से[8]
य =जो
एक =अद्वितीय
देव =स्वय प्रकाश शिव ने
स्वम् = अपने आपको[9]
आवृणोत्=आवृत कर लिया[10]
स =वह
अप्ययम्=अविनाशी[11]
ब्रह्म=ब्रह्म
न =हमारी
दधात्=रक्षा करे ।[12]

१ **यस्तूर्णनाभ इति पठति नारायण ।**

२ **समावृणोति इति दीपिकापाठ ।**

३. **दधात्विति वा पाठ ।**

४. **अव्ययम् इति शंकरानन्दः ।**

५ मकडी के पेट से लारा के द्वारा तन्तु बनते है, अत उसे तन्तु-नाभ कहा जाता है । अथवा जहा से तन्तु निकले वही तन्तुनाभ हो गया । अत धागे के गोले को भी तन्तुनाभ कहा जाता है । यहा चू कि बनाने वाले को देव और बनने वाले को तन्तु, इस प्रकार निमित्त और उपादान कारण का भेद रूप से प्रतिपादन किया जा रहा है, अत सम्भव है कि तन्तुनाभ का द्वितीय अर्थ ही इष्ट हो । अधिकतर व्याख्याताओ ने तूर्णनाभि के साथ सगति लगाने के लिये एव अभिन्न निमित्तोपादान कारण को स्पष्ट करने के लिये मकडी वाला अर्थ ही ग्रहण किया है । हर हालत मे द्वितीय पाद मे अज्ञात आत्मा को ही

उपादान कारण बताते है। अत अभिन्न निमित्तोपादान कारण तो धागे का गोला मानने पर भी सिद्ध हो ही जाता है।

८ प्रधान अर्थात् जिसमे सब कुछ रखा जाये अथवा आहित किया जाये। **प्रकर्षेण धीयते अस्मिन्** इस व्युत्पत्ति से सारा ससार जिसमे आहित है, उस अविद्या को ही प्रधान कहा जाता है। यद्यपि यह सब साख्य प्रक्रिया की प्रकृति मे साख्य सिद्धात न रूढ कर लिया है। परन्तु वस्तुत साख्य भी वैदिको के द्वारा प्रसूत होने के कारण वैदिक ग्रन्थो का अर्थ साख्य परिभाषाओ से नही वरन् साख्य परिभाषाओ का कारण वैदिक शब्द समझने चाहिये। प्रधान को ही अव्यक्त कहते है जिससे नाम रूप कर्म उत्पन्न होते है।

माया प्रधानमव्यक्तमविद्या ज्ञानमक्षरम्।
अव्याकृत च प्रकृतिस्तम इत्यभिधीयते ॥

आदि वाक्य इसमे प्रमाण है। वस्तुत ब्रह्म ही जगत् का अभिन्न निमित्तोपादान कारण है। ब्रह्म को निमित्त कारण मान लिया जाता है। इसी दृष्टि से यहा भी कह दिया गया है। अथवा आत्मा का जो आवरण है वही अविद्या का वास्तविक रूप होने से अज्ञात आत्मा ही जगत् का कारण है। भगवान् सुरेश्वराचार्य कहते है—

तस्मादज्ञात आत्मैव शक्तिरित्यभिधीयते।
नातोन्यथा शक्तिवाद प्रमाणेनावसीयते॥
नहि वेदान्तसिद्धान्ते ह्यज्ञातात्मातिरेकत।
साख्यानामिव सिद्धान्ते लभ्यते कारणान्तर॥

(वार्तिकामृत ४-३ १७८४ से ८७ तथा ४-४-१८६)

वेदात सिद्धान्त मे अज्ञात आत्मा से भिन्न और कोई भी जगत् का कारण नही है। जैसे साख्यो के यहा पुरुषो से प्रकृति भिन्न होती है, वैसा कुछ यहा नही है। अज्ञात आत्मा ही भाष्य ग्रन्थो मे शक्त्यात्मा से कही गई है। प्रमाण से विचार करने पर इससे भिन्न और कोई

भी शक्तिवाद सिद्ध नही होता। अतः अज्ञात आत्मा से ही जगत् उत्पन्न होता है। अज्ञात आत्मा ही प्रधान है। इस दृष्टि से विचार करने पर प्रधान शब्द की वास्तविकता का रहस्य स्पष्ट हो जाता है क्योकि सामान्य दृष्टि से परमात्मा ही सबसे अधिक प्रधान है। उसकी यह प्रधानता जगत् का कारण किसी अन्य पदार्थ को मानने पर गौण हो जाती है। अत प्रधान की पूर्णता का प्रतिपादन वेदात मे ही सम्भव होता है। अथवा प्रकृति से यहा वासनाये भी ली जा सकती है। मनुष्य की प्रकृति का प्रधान कारण वासनाये ही होती है। अतः उनका ग्रहण भी सगत ही है।

७ प्रध्वस्त अखिल द्वैत स्वय प्रकाश वपु वाला ईश्वर मकडो की तरह ततुओ के द्वारा अपने ही आपको ढाकता है। जैसे तन्तु के द्वारा मकडी ढाकती है, वैसे ही इश्वर नाम रूप कर्म के द्वारा अपने को ढाकता है, यह भाव है। वस्तुतस्तु सभी द्वैत कल्पनाओ का अधिष्ठान होने के कारण अद्वैत कल्पनाओ के द्वारा स्वय आवृत होता है। जिस प्रकार मकडी अपने जाले को अपने मे से ही बनाती है। उपादान कारण भी वही है, निमित्त कारण भी वही है, बीच मे फसने वाला भी वही है। इसो प्रकार नाम रूप कर्म का उपादान कारण भी परमात्मा ही है, निमित्त कारण भी वही है और फसने वाला जीव भी वही है। तन्तुभि मे बहुवचन कल्पनाओ के अनेक भेदो को लेकर है। जिस प्रकार एक ही मशाल कभी चक्र, कभी गोल, कभी तिकोन इत्यादि रूपो से प्रतीत होती है, वैसे ही यहा पर भी ये सब रूप उत्पन्न हुए हुए दीखते है। परन्तु वास्तविक नही होते।

ऋजुवक्रादिकाभासम् अलातस्पन्दितम् यथा।
ग्रहणग्राहकाभासम् विज्ञानस्पन्दितम् तथा॥

इत्यादि के द्वारा यही कहा गया है। अथवा तन्तुओ के द्वारा स्थूल, सूक्ष्म कार्यों को ले लेना चाहिये अर्थात् जैसे मकडी के जाल का

सम्बन्ध मकडी से लगा ही रहता है। इसीलिये कई बार देखोगे कि छत पर से जब मकडी लटकती है तो पुन उसी तन्तु के सहारे ऊपर भी चढ जाती है। इसी प्रकार सभी स्थूल, सूक्ष्म प्रपञ्च मे सत्ता और चित्ता रूप से वह अनुस्यूत है। तात्पर्य हो गया कि प्रधान से उत्पन्न होने वाले स्थूल, सूक्ष्म मे उसकी अनुस्यूतता बनी रहती हैं। अथवा जैसे तन्तु जाल मे अनुस्यूत होता है, वैसे ही प्रधान के द्वारा उत्पन्न नाम रूपो मे अविद्या अनुस्यूत रहती है।

८ मकडी जाले को कीडे पकडने के लिये बनाती है। इसीलिये वैष्णव लोग मुण्डकोपनिषद् अथवा इस उपनिषद् के आधार पर यह सिद्ध करना चाहते है कि जीवो को पकडने के लिये परमेश्वर ने यह जाल बिछाया है। परन्तु यहा स्वय अतिधन्य वेद ही कह रहा है कि परमेश्वर का ऐसा कोई प्रयोजन नही है। परमेश्वर यदि इस प्रकार किसी प्रयोजन वाला होगा तो अनाप्तकाम हो जायेगा एव जो अनाप्त काम होता है उसे परमेश्वर माना ही नही जा सकता क्योकि जो कामना उसे अनाप्त है, उसमे उसका स्वातन्त्र्य और ऐश्वर्य खडित हो जायेगा। इसलिये वेदात के मुख्य सिद्धान्त का प्रतिपादन करते हुए यहा भगवती श्रुति कहती है कि स्वभाव स अर्थात् बिना किसी प्रयोजन क वह सृष्टि करता है। स्वभाव के विषय मे प्रश्न नही हुआ करता। जैसे अग्नि का स्वभाव गरम है, वैसे ही यहा समझना चाहिये। तात्पर्य है कि जो स्वभाव होता है वह स्वतत्र होता है। किसी दूसरे के अधीन नही होता। परमेश्वर केवल मात्र अपनी इच्छा से ही सृष्टि करता है, किसी अन्य के अधीन होकर नही करता। भगवान् गौडपादाचार्य कहते है **देवस्यैष स्वभावोयम् आप्तकामस्य का स्पृहा**। यद्यपि भगवान् वेदव्यास ने **लोकवत्तु लीलाकैवल्यम्** लिखकर सृष्टि को कारण निष्प्रयोजनता बताते हुए लीला कहा हैं परन्तु उसके भाष्य मे सर्वज्ञ शकर ने स्पष्ट कर दिया है कि अधीश्वरो

की लीला मे कोई प्रयोजन सिद्ध हो भी सकता है परन्तु परमात्मा की सृष्टि का तो प्रयोजन है ही नही । अत प्रयोजन रहितता बताने मे ही सूत्रकारो का तात्पर्य है, लीला के प्रतिपादन मे नही । अविद्या से अतिरिक्त इस सृष्टि का और कोई भी कारण नही है, चाहे वह प्रयोजन रूप कारण हो क्यो न हो । पाश्चात्य दार्शनिको मे अनेक लोगो ने प्रयोजन को एक प्रधान कारण माना है जिसे वे प्रयोजन हेतुवाद (Pragmatism) कहते है । सृष्टि मे एक विकास देखने मे आता है । विकास का अर्थ ही होता है किसी प्रयोजन की तरफ गति । जब तक किसी ने इस सृष्टि का एक महत् प्रयोजन एव उसका विवरण अपने आपमे स्पष्ट न कर लिया हो तब तक इसका विकास सम्भव नही होता । अत जगत् के विकास से ईश्वर की सिद्धि होती है । यह जगत् जिसके प्रयोजन के लिये विकसित हो रहा है, वही परमेश्वर है । इस प्रयोजन मे ईश्वर स्वतत्र है एव किन्ही भी अन्य कारणो से प्रभावित होकर वह सृष्टि नही करता । इसलिये इसे उसका स्वभाव कहा जाता है । अत ईश्वर की दृष्टि से प्रयोजनता की सिद्धि है और अधिष्ठान ब्रह्म की सिद्धि से प्रयोजनाभाव की सिद्धि है । भगवान् गौडपादाचार्य ने **इच्छामात्रम् प्रभो सृष्टि** और **देवस्यैष स्वभावोयम्** इस प्रकार का भेद करके इसी को स्पष्ट किया है ।

९ आवरण का आश्रय भी शिव ही है और वह आवरण विषय भी उसी को करता है । जैसे कोई पानी के आश्रय मे भी है और पानी को ही विषय भी करती है अर्थात् ढाकती भी है । यद्यपि उपलब्ध सभी टीकाकारो ने **समावृणोत्** या **समावृणोति** पाठ माना है परन्तु हमने प्राचीन हस्तलेखो के आधार पर **स्वमावृणोत्** ही स्वीकार किया है । किंच, इसमे जो परमात्मा का स्वय अपने आपको ढाकने का स्पष्ट निर्देश मिलता है, वह भी इस पाठ को स्वीकार करने मे एक बहुत बडा कारण है । वस्तुत आगे आने वाली जो प्रार्थना है वह

तब और भी सगत हो जाती है क्योकि हम परमात्मा के ढके हुए रूप है और इस ढक्कन को हटाने के लिये ही हमारी प्रार्थना है । इसका पौराणिक रूप सप्तशती मे विष्णु का अपनी ही निद्रा के द्वारा सोना और पुन निद्रा के हट जाने पर राक्षसवध मे प्रवृत्त होना बताया गया है ।

१० यद्यपि पाठान्तर मे आवृणोति मान लेने पर वह अपने आपको सच्छादित करता है, यह अर्थ स्पष्ट ही बन जाता है तथापि **आवृणोत्** के अन्दर जो अतिम उत् प्रत्यय का प्रयोग उसमे ब्रह्म अर्थ का आपादन कर देता है उसे वैदिक सधि स्वीकार कर लेना चाहिये । तात्पर्य हुआ कि मुण्डकोपनिषद् मे कहे हुए **तपसा चीयते ब्रह्म** को यहा ध्वनित किया जा रहा है । परमात्मा अपने आपको ढाकता है । उसका एक प्रयोजन है और वह प्रयोजन अपने अनत भावो को व्यक्त करते हुए पुन उन अनत भावो के सवरण के द्वारा अपनी एक बृहत्ता का स्पष्टीकरण करना है । यद्यपि जीव आदि कोई दूसरी चीज नहीं है जिसके लिये वह इस प्रकार का विस्तार करता हो परन्तु स्वय अपने ही लिये करता है । जिस प्रकार कोई दूसरा व्यक्ति न होने पर भी सभ्य मनुष्य अपने वस्त्र आदि को पहनकर अपने शरीर को ढाकता भी है एव उसके सौन्दर्य को दर्पण मे देखता भी है तथा यदि आभरण ठीक न हो तो उन्हे ठीक भी करता है । ठीक इसी प्रकार से परमात्मा स्वय अपनी अनन्त शक्तियो को जगत् रूप मे फैलाता है, उनके द्वारा अपने निरुपाधिक सत् चित् रूपो को ढकता है एव पुन उनको अपने मे लीन कर लेता है और इस प्रकार अपनी अनत शक्तियो का प्रकाश और विमर्श होता ही रहता है । यदि एक ही प्रकार से परमात्मा पडा रहता अर्थात् विमर्श शून्य होता तो उसमे और जड पदार्थ मे फरक ही क्या रह जाता । अत यहा पर आवृणोत् के द्वारा आवरण और आवरण का प्रयोजन दोनो का प्रतिपादन श्वेताश्वतर महर्षि को इष्ट है ।

११ अब ऋषि अपने अभिप्रेत अर्थ को प्रार्थना रूप मे प्रकट करते है। इसके द्वारा मन्त्रद्रष्टा बताते है कि ब्रह्मज्ञान की उत्पत्ति प्रार्थना के द्वारा सरलता पूर्वक सम्भव होती है। यहा पर ब्रह्म मे सब कुछ अप्यय होता है, इसलिये उसे अप्यय अर्थात् विद्या के द्वारा व्यवधान डालने वाला कहा गया। अविद्या के लीन हो जाने पर उसका कार्य भी लीन हो जाता है। केवल एक अखण्ड ब्रह्म ही रह जाता है। इस प्रकार ब्रह्म ही सबके लय का साधन होने से स्वय अप्ययरूप है।

पाठान्तर मे **ब्रह्माव्ययम्** पाठ मानने पर **ब्रह्म च तत् अव्यय च** ऐसा द्वन्द्व कर लेना चाहिये अर्थात् वही ब्रह्म भी है और वही अव्यय भी है। इसी प्रकार ब्रह्म स्वात्म रूप से हमे धारण करे अर्थात् हम उसे आत्मरूप से जान ले अथवा वह हमारे हृदय मे बैठ जाये।

अथवा **ब्रह्म अप्ययम्** को कर्म भी माना जा सकता है अर्थात् धारण क्रिया का इष्टतम अप्यय ब्रह्म है।

१२ **दधात्** का अर्थ **ददातु** होता ही है अर्थात् वह देव अपने स्वरूप को हमे देवे, यह भाव है। स्वय वह भेदगत शून्य है और व्यापक है। अत भेदनिवृत्ति करना ही अपने आपको दे देना है। दधातु पाठ स्वीकार करने पर तो सीधा ही अर्थ हो जाता है कि वह हमे धारण करे अर्थात् वह देव हमको ब्रह्मसाक्षात्कार करावे। तात्पर्य है कि स्वभाव के द्वारा ही उसने अपने आपको गुप्त कर लिया है और हम उससे अलग जैसे हो गये है। अब पुनः वह अपने स्वभाव के कारण ही हमारे लिये अपने स्व स्वरूप को प्रदान करे। अथवा हमे शम, दम आदि साधन सम्पन्न बनाये जिससे हम उसे धारण करने के योग्य बने। वस्तुत विद्या और अविद्या दोनो परमेश्वर का स्वभाव ही है। अत वह जिस प्रकार बिना किसी कारण के जीव और जगत् रूप धारण करके भोग करता है, उसी प्रकार बिना किसी कारण के जीव जगत् को अपने मे लीन करके मुक्त की तरह भात होता है।

११

एकः देवः सर्वभूतेषु गूढः सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा ।
कर्माध्यक्षः सर्वभूताधिवासः साक्षी चेता केवलः निर्गुणः च ॥

एक = एक[1]
देव = महादेव,[2]
सर्वभूतेषु = सारे प्राणियो मे
गूढ = छिपा हुआ,[3]
सर्वव्यापी = सर्वत्र व्यापक,[4]
सर्वभूतान्तरात्मा = सब प्राणियो का अन्तरात्मा,[5]
कर्माध्यक्ष = कर्मो का फल देने वाला,[6]
सर्वभूताधिवास = सब प्राणियो का बास,[7]
साक्षो = साक्षी,[8]
चेता = चेतन करने वाला,[9]
केवल = निरुपाधिक,[10]
च = और
निर्गुणः = गुणरहित है ।[11]

१ अनेक देववाद का निराकरण करके अद्वितीय परमात्मा को बताने के लिये यह पद है । तात्पर्य है कि वही प्रधान कर्म एव उसके अधीन फलो का साक्षात् अव्यवहित रूप से अपने मे अध्यस्त करके अथवा फलों के विश्वरूप को देखता है । वस्तुत इस प्रकार का समग्र द्वैत प्रपच होने पर भी वह भेदगध से शून्य है । पूर्व मत्र की प्रार्थना से ऐसा सदेह हो सकता था कि प्रार्थ्य, प्रार्थना आदि भेद सम्भवत वास्तविक हो, उसका निषेध करने वाला यह एक पद है ।

२ साख्य, नैयायिक आदि की तरह वह परमात्मा जड रूप नही है, यह बताने के लिये स्वय प्रकाश वाचक देव शब्द का प्रयोग किया गया । नैयायिक आत्मा को जड स्वभाव मानते है एव बौद्ध असत् स्वभाव । दोनो का निराकरण यहा इष्ट है । वह चिदेक रस होने के कारण उसमे जडता या असत्ता की कल्पना ही नही हो सकती ।

३ साख्य इत्यादि वादी आत्मा को चित् रूप मानकर के भी प्रति शरीर आत्मभेद भी स्वीकार करते है । उनका तात्पर्य है कि एक शरीर मे एक आत्मा होती है । इस प्रकार के आत्मभेद के पक्ष का

निरसन करने के लिये सारे भूतो मे वह एक ही है, यह कहा। यदि वह एक है तो उसकी एकता का भान क्यो नही होता? इसलिये उसे गूढ भी कह दिया। तात्पर्य है कि सारे प्राणियो मे एक रूप से स्थित हुआ हुआ भी उनके कार्य करण सघात के द्वारा आच्छादित होने के कारण उसका उस प्रकार भान नही होता। अथवा **सर्वभूतेषु** के द्वारा अण्डज, स्वेदज, उद्भिज, जरायुज आदि सभी जीवो के जातिभेदो का सग्रह कर लेना चाहिये। तात्पर्य है कि आकाश मे स्वय प्रकाश ग्रह, नक्षत्रो के होने पर भी उनमे सुख, दु ख आदि का अभाव है। इससे कोई यह शका न करे कि परमात्मा भी हमारे सुख दु खो से असम्बद्ध होगा। अत चाहे आकाश मे सुख आदि न हो परन्तु प्राणियो मे स्वय प्रकाश साक्षी चेतन्य मे सुख, दु ख आदि की अनत रूप मे उपलभ्यमानता देखने से उसकी ज्ञानरूपता प्रकट ही है। अत स्वय प्रकाश साक्षी चैतन्य नही है, ऐसा नही मान सकते। प्रश्न हो सकता है कि फिर सामान्य जन को भी उसकी प्रतीति होनी चाहिये। उत्तर है कि अनादि अविद्या के द्वारा उत्पन्न जो अहता और ममता है, उसके अभिमान से यह ज्ञान ढका रहता है। इसीलिये सारे प्राणियो मे विद्यमान रहने पर भी उसका भान नही हो पाता।

४ जो चीज आच्छादित होती है, वह परिच्छिन्न हुआ करती है। जैसे हीरे का प्रकाश कपडे से ढाका जा सकता है तो हीरा परिच्छिन्न होता है, इसी प्रकार क्या परमात्मा भी परिच्छिन्न है? इस शका को दूर करने के लिये सर्वव्यापी पद दिया गया। अर्थात् आकाश की तरह सर्वत्र व्याप्त होकर के वह विद्यमान है। रहस्य यह है कि जैसे सूत के बने मणि और माला मे सर्वत्र सूत रहने पर भी वह मणि रूप से आच्छन्न हुआ हुआ सूत इस बुद्धि का विषय नही बनता। उसी प्रकार परमात्मा भी कण-कण मे व्याप्त होने पर भी उसी के अन्दर आरोपित नाम रूपो के द्वारा वह स्वय अपने ज्ञान का विषय

नही बन पाता । जिस प्रकार मोतियो की माला मे धागा होता है, वहा तो धागा कही छिपा हुआ है और कही खुला हुआ है क्योकि वह मणियो के एक देश मे ही रहता है, वैसा यहा नही है अन्यथा परिच्छिन्न दोष को प्राप्ति हो जाती। आकाश की तरह अन्दर, बाहर सब जगह व्याप्त करके रहना ही जिसका सम्बन्ध हो, उसे सर्वव्यापी कहा जाता है।

५ व्याप्य व्यापक भेद वाला होने से आत्मा मे पुन सद्वितीयता की प्राप्ति हो जाती है जिसको हटाने के लिये यह पद दिया गया। सप, चादी आदि मे जिस प्रकार रस्सी सोप इत्यादि अपने अज्ञान से कल्पित रूप से भिन्न लगते है, अत व्याप्य व्यापक भाव कहा जाता है। परन्तु फिर भी वहा व्याप्य व्यापक भाव सच्चा नही है। उसी प्रकार अध्यात्म आदि भेद शिव मे कल्पित है। अत. अध्यात्म आदि भेदो मे वह व्यापक है, ऐसा कहने पर भी अध्यात्म आदि भेद उसमे सद्वितीयता लाने मे समर्थ नही होते है। अपने स्वरूप अध्यात्म आदि भेदो मे ही वह उनके अन्दर आत्मा बना हुआ स्वरूप से वर्तमान है। इसीलिये उसे सर्वभूतान्तरात्मा कहा गया। तात्पर्य है कि व्याप्य व्यष्टियो का व्यापक शिव स्वरूप से अतिरिक्त स्वरूपाभाव है। अत वे आत्मा मे सद्वितीयता नही ला सकते। व्यापकता से अनात्मा की प्राप्ति हो सकती थी। जैसे आकाश व्यापक है तो अनात्मा है। उसको निवारण करनेवाला भी यह पद है अर्थात् सभी प्राणियो की बुद्धि के भीतर जो मैं इस ज्ञान और व्यवहार के योग्य अतरात्मा है वह वस्तुत शिव ही है। केवल सर्वभूतात्मा न कहकर बीच मे अतर पद दे दिया है। वह बुद्धि की व्यावृत्ति के लिये है अर्थात् वह बुद्धि नही बल्कि बुद्धि मे रहने वाला और उसे प्रकाशित करने वाला है। यदि वह बुद्धि मे रहता है तो सुख-दु ख का भोक्ता भी होगा और सुख-दु ख का भोक्ता होने के कारण ससारो होगा, ऐसी शका को दूर करने वाला यह पद है।

६ शुभ और अशुभ फल देने वाले धर्म और अधर्म रूप कर्मों का वह अध्यक्ष अर्थात् नियन्त्रण करने वाला है। अर्थात् परमेश्वर ही कर्मों का फल देता है एव वही उनका प्रवर्तक भी है। उसके बिना कोई भी कर्म नही हो सकता। **यस्मान्न ऋते किंचन कर्म क्रियते** आदि शिव सकल्प सूक्त भी इसमे प्रमाण है। चेतन, अचेतन और जगत् वैचित्र्य का बीज भिन्न-भिन्न प्रकार के पुण्य पाप आदि कर्म ही हैं, मीमासा का यह कथन उपयुक्त है। परन्तु मीमासा उस कम के आदि कारण पर विचार नही करती। यहा श्रुति कह रही है कि उन सब कर्मों का अधिष्ठान आत्मा ही है। अत वही उनका प्रवर्तक भी है। कर्म फलदाता रूप से ही वेदात सूत्रो मे ईश्वर की सिद्धि की गई है। जड कर्म स्वत फल देवे, यह मीमासा का सिद्धान्त हृदय स्पर्शी नही है। किंच, कर्म को करने की सामर्थ्य स्वत कर्म मे तो निहित है नही एव उसे पूर्व पुण्य का फल मानो तो अन्योन्याश्रय दोष हो जायेगा। अत परमेश्वर को ही एकमात्र कर्म का प्रवर्त्तक माना जाता है। अथवा सर्वभूतातरात्मा का तात्पर्य सब प्राणियो का स्वरूपभूत है। चू कि वह सब प्राणियो का स्वरूपभूत है, इसलिये तत्तत् स्वरूप से जो कर्म करेगा उसका भोग भी तत्तत् स्वरूप से ही भोगेगा। जीव की वास्तविक सत्ता इस पक्ष मे है ही नही। वह तो केवल ईश्वर का प्रतिबिम्बमात्र है।

७ सब प्राणियों मे वही रहता है। तात्पर्य है कि यदि उसे केवल कर्माध्यक्ष मानते है तो नैयायिकों की तरह तटस्थेश्वरवाद सिद्ध हो जायेगा। उस शका को दूर करने के लिये सारे प्राणियो को अपने आत्मरूप से अधिकृत करके रहता है, इसलिये उसे सर्वभूताधिवास कहा। अर्थात् वह सबका आत्मस्वरूप है, यह भाव है।

जिस की कृपा से सभी कुछ असुषुप्ति अवस्था को प्राप्त होता है, वह आत्मा यदि द्वैत कल्पना के अधिष्ठान रूप से सचमुच आच्छन्न

हो जायेगा तो सारा जगत् ही अधकारमय हो जायेगा। ऐसी शका होने पर इतरेतराध्यास को स्वीकार करने के लिये सर्वभूताधिवास पद है। इतरेतराध्यास के द्वारा इस दोष की निवृत्ति हो जाती है। तात्पर्य है कि सारे प्राणियो मे रहता है। अपनी अविद्या से अपने मे आरोपित सभी पदार्थों मे स्वय भी अध्यस्त हुआ हुआ रहता है। अतः जगत् के अधकारमय होने के दोष की प्रसक्ति नही होती। वह यदि सर्वथा ढका होता तो जगदान्ध्य प्रसक्ति हो जाती परन्तु वह अपने स्वरूप से ढका हुआ होने पर भी पदार्थो मे अध्यस्त रूप से प्रतीत हो रहा है। तात्पर्य है कि जैसे साप मे रस्सी की लम्बाई और मोटाई का भान होता है, वैसे ही जगत् मे उसके सत् और चित् रूप का भान होता है। साप की मोटाई मे यद्यपि रस्सी की मोटाई का भान होता है परन्तु साप की मोटाई स्वय अध्यस्त ही है। इसी प्रकार जगत् मे जो सत्ता और चित्ता का भान होता है, वह घटसत्ता और घटज्ञान स्वय अध्यस्त है। परन्तु फिर भी वास्तविक सत्ता और ज्ञान का प्रकाश लेकर के ही यह व्यवहार होता है।

सारा चराचर जगत् उसी में बसता है। इसलिये वह सब प्राणियो का बासा है, यह अर्थ तो स्पष्ट ही है। यदि वह अधिष्ठान न हो तो ये सब अध्यस्त किस के आधार पर रहे।

८ यदि परमात्मा सब चीजो का अवभासक है तो विकारी, जड, विनाशी इत्यादि दोषों से ग्रस्त भी होगा। जैसे अग्निसयोग के द्वारा कर्पूर गध आदि का अवभास होता है तो कर्पूर गध आदि विकारी, जड और विनाशी होते हैं। ऐसी शका होने पर कहते हैं कि वह साक्षी है। साक्षी अर्थात् साक्षात् ईक्षते। तात्पर्य है कि किसी भी परिणाम और व्यवधान के बिना ही अपनी सन्निधिमात्र से सबको असुप्त रूप से व्यवहार योग्य बनाते हुए भी वह उनको देखता रहता है। जैसे सूर्य प्रकाश सबको प्रकाशित करता है परन्तु उनके विकार आदि दोषो से

ग्रस्त नही होता, वैसे ही यहा भी समझ लेना चाहिये। अथवा चुम्बक के दृष्टात मे जिस प्रकार चुम्बक लोहे को परिभ्रमित करता हुआ भी स्वय निर्विकार रहता है वैसे ही यहा भी समझ लेना चाहिये।

सर्वरूप होने पर वह कर्त्ता भोक्ता होगा एव जब उसका कर्त्ता भोक्ता रूप मे अनुभव हो रहा है तब उसे स्वय प्रकाश कैसे माना जाये ? इसके जवाब मे भी साक्षी पद है। अर्थात् मैं सुखी, मै दुखी, इन ज्ञानो का भी वह केवल द्रष्टा है। लोक मे भी सुख-दुख का अनुभव करने वाले से भिन्न ही सुख-दुख रहते है। असम्बद्ध ही विवादो का निर्णायक साक्षी माना जाता है, अर्थात् जो स्वय किसी घटना से सम्बन्धित हो उसे साक्षी नही माना जाता परन्तु जो घटना से असम्बद्ध हो, उसी को साक्षी माना जाता है। इसी प्रकार यहाँ भी परमेश्वर प्राणियो के कर्तृत्व, भोक्तृत्व, सुख, दुख आदि से अलग रहने के कारण ही साक्षी है। यहा साक्षी मे जो कर्त्ता वाचक प्रत्यय है, वह **साक्षाद्द्रष्टरि संज्ञायाम्** से सिद्ध कर लेना चाहिये, अर्थात् साक्ष्य करने वाला नही वरन् साक्ष्य रूप है।

६ यदि आत्मा साक्षी होगा तो इन्द्रियो वाला भी होगा क्योकि बिना इन्द्रियो के किसी भी चीज का साक्षी बनना सम्भव नही। ऐसी शका होने पर कहा गया कि वह चेता है। अर्थात् बिना किसी करण के ही स्वय चेतन रूप है अर्थात् सबको चेतना प्रदान करने वाला है। चूकि उनको चेतना प्रदान करता है, इसीलिये उनका साक्षी भी रहता ही है। जिस प्रकार बैंक व्यापारी को रुपया देता है, उनके लाभ, अलाभ से उसको कोई मतलब नही, निश्चित व्याज ही उसे लेना है। परन्तु फिर भी उनके व्यापार की तरफ बैंक दृष्टि रखते ही है क्योकि बैंक के रुपये से ही वह व्यापार चल रहा है। ऐसे बैंक की साक्षी भी मिल जाती हैं कि यह व्यापारी ठोस है तो उसकी यह सच्चिता प्रामाणिक मानी जाती है। ठीक इसी प्रकार सबको चेतना

रूपी धन देने वाला होने से परमेश्वर साक्षी है। इन्द्रिय आदि के द्वारा वह साक्षी नही बनता। वह बोधमात्र है, यह तात्पर्य है।

अथवा **चिङ् चयने** से चेता शब्द बना लेना चाहिये अर्थात् वह सारे ससार को सचित करता है। अत उसे चेता कहा जाता है।

१० यदि आत्मा चेता है तो नित्य ही ज्ञेय आदि सापेक्ष्य होगा अर्थात् ज्ञेय रहने पर ही तो वह ज्ञाता बन पायेगा। फिर उसका मोक्ष कभी सिद्ध नही होगा। ऐसी शका न हो, इसलिये उसे केवल भी कह दिया। आत्मचैतन्य को अभिव्यक्त करने वाली बुद्धि वस्तुत विषय आदि साधनो से उत्पन्न होने वाली होती है। अतः वह बुद्धि विषय आदि सापेक्ष्य होती है। उस बुद्धि के उदय अस्त होने से आत्मा मे उदय अस्त की भ्रान्ति होती है अर्थात् विषय से बुद्धि का उदय अस्त एव बुद्धि के उदय अस्त से आत्मा की उदय अस्तता प्रतीत होती है। परन्तु आत्म चैतन्य स्वय उदय अस्त रहित है। अतः वह विषय के सापेक्ष्य नही है। वह तो विषय आदि से निरपेक्ष आनद चित् प्रकाश रूप है। जिस प्रकार अपना प्रकाश्य सब विषयो से रहित होने पर भी सूर्य आकाश मे प्रकाश रूप मे ही स्थिर रहता है, उसी प्रकार यहा समझना चाहिये।

११ जैसे अग्नि मे अग्नि की शक्ति हमेशा रहती है, वैसे ही आत्मा मे यदि शक्ति रूप से स्रष्टृत्व अध्यक्षत्व आदि रहेगे तो मोक्ष मे भी बने रहेगे क्योकि वह उसका स्वभाव होगा एव जब वे बने रहेगे तो फिर उसका कार्य भी कभी न कभी उत्पन्न होकर अनिर्मोक्ष्य की प्राप्ति हो जायेगी। इसको हटाने के लिये निर्गुण पद दिया गया। अर्थात् नेति नेति के द्वारा जब सारे विशेषो का प्रतिषेध कर दिया तब उसमे स्वरूप से कहा शक्ति रहेगी। परमात्मा को कर्माध्यक्ष इत्यादि न मानने पर कोई दूसरा कर्माध्यक्ष होगा ऐसी शकाये होती है, उनकी निवृत्ति के लिये ही इन गुणो का उसमे आपादन किया जाता

हैं। वस्तुत तो वह अनत शक्तियों का अधिष्ठान है और अविद्या के कारण एकता के अध्यास से उसमे शक्तिमत्ता की प्रतीति है। वस्तुतस्तु वह गुण गुणी आदि भेदो से रहित है एव स्वय प्रकाश आनन्द रूप है। वस्तुत कूटस्थ ब्रह्म ही मूलाविद्या के योग से ईश्वर रूप से सब प्राणियो को अपने कर्म का फल देता है। अत उससे भिन्न कोई कर्म फलदाता ईश्वर नही है। सर्वभूताधिवास होने से सूत्रात्मा भी उससे भिन्न नही हैं। ईश्वर ही सूक्ष्म उपाधि के द्वारा सारे प्राणियो मे सूत्रात्मा रूप से रहता हुए उनका नियता है। स्वभास्य साध्यता की निवृत्ति होने पर साध्यता से निरूपित साध्यत्व भी नही रह जाता क्योकि वह विशेष सामान्य शून्य है। इस प्रकार उसकी निर्गुणता सप्रतियोगिक नही वरन् निष्प्रतियोगिक है। तात्पर्य है कि अभाव प्राय सप्रतियोगी होता है। घटाभाव का प्रतियोगी घट है। जहा घट होगा, वहा घटाभाव नही रह सकता। इसी प्रकार परमात्मा मे गुणाभाव यदि सप्रतियोगिक होता तो परमात्मा से अन्यत्र कही गुणो की सत्ता होती। वस्तुतस्तु अन्यत्र कही गुण है ही नही और यदि भासते है तो परमात्मा से अभिन्न होकर के ही भासते है। यही परमात्मा की निर्गुणरूपता है। इसलिये यहा द्वैतवादियो का प्रवेश असम्भव है।

१२

यदि वह एक देव है तो वह अकेला कर ही क्या सकता है एव उसके ज्ञान से क्या लाभ और उसके न जानने वालो को क्या हानि होती है, इत्यादि का निरूपण करते है —

एकः वशी निष्क्रियाणाम् बहूनाम् एकं बीजम् बहुधा यः करोति। तम् आत्मस्थम् ये अनुपश्यन्ति धीराः तेषाम् सुखम् शाश्वतम् न इतरेषाम् ॥

य =जो
एक =एक[1]
बहूनाम् =बहुत[2]
निष्क्रियाणाम् =निष्क्रियो को[3]
वशी=वश मे रखने वाला,[4]
एकम् =एक[5]
बीजम्=बीज को[6]
बहुधा =बहुत प्रकार का[7]
करोति=बनाता है[8]
तम्=उस[9]

आत्मस्थम्=आत्मा मे स्थित को[10]
ये=जा
धीरा =बुद्धिमान्
अनुपश्यन्ति=अनुभव करते है[11]
तेषाम् =उनको[13]
शाश्वतम् =शाश्वत[14]
सुखम्=सुख होता ह[15]
इतरेषाम्=दूसरो को[16]
न=नही होता ।

१ भेद रहित अद्वितीय ।

२ यद्यपि सिद्धान्त मे आत्मा एक ही है, जीवा की बहुतता को लेकर अर्थात् कार्य करण सघात की अनेकना से जो आत्मा की अनेकत्व प्रतीति है उसको लेकर यहा बहुत शब्द समझना चाहिये । अथवा जड पदार्थो की बहुतता भी यहा पर इष्ट है ।

३ जड आकाश आदि एव बुद्धि आदि उपाधि सब उस चेतन आत्म तत्त्व के बिना कार्य नही कर सकते । इसलिये स्वरूप से वे निष्क्रिय है । चित् सन्निधि के बिना अचेतन मे क्रिया सम्भव नही होती । चित् सन्निधि के द्वारा अर्थात् परत उनमे प्रवृत्ति होती है । विचार दृष्टि से देखने पर तो कार्य करण सघात अथवा आकाश आदि महाभूत परमार्थत कूटस्थ चिदेकरस ही है । अत इस दृष्टि से भी उनमे क्रिया सम्भव नही है । विश्व मे सृष्टि के आदि क्षण से अतिम क्षण पर्यन्त ईश्वर का एक ही अखण्ड सकल्प चित्रित होता रहता है । जिस-जिस चित्रण के सामने बुद्धि वृत्ति पहुँचती है, वहा वहा क्रिया का अवबोध होता है । यह स्मरण रखना चाहिये कि बुद्धि वृत्ति का

पहुँचना स्वय भी एक चित्रण ही है। अत जिस प्रकार चलचित्र के गोटे मे सारे चित्र पहले से ही खिचे होते है। द्रष्टा को प्रतीत होता है कि उनमे पूर्वापर सम्बन्ध है परन्तु वस्तुत वे युगपत् सिद्ध है। इसी प्रकार विश्व सृष्टि को भी समझना चाहिये। अतः परमार्थतः चेतन अचेतन दोनो ही दृष्टि से व्यापार रहितता ही सिद्ध होती है।

४. स्वतत्र अर्थात् किसी अन्य के वश मे न होकर के बाकी सबका वशीकरण करने वाला। परमात्मा ही एकमात्र अपनी इच्छा शक्ति से सभी व्यापारो को करता है, यह भाव है अथवा सबकुछ इसके वश मे रहता है, इसलिये यह वशी है। अर्थात् सब कुछ उसके अधीन है। प्रकृति का नियामक होने से उनका वशी है एव चेतनाओ का स्वरूप होने से उनका वशी है। इसलिये जडो मे परतत्रता और चेतनो मे स्वतत्रता की अनुभूति होती है। स्वतत्रता ही वस्तुत चेतन का लक्षण है।

५ जैसे शिव एक अद्वितीय है वैसे ही उसको शक्ति भी उससे अभिन्न होने के कारण एक अद्वितीय ही है। शिव और शक्ति का भेद साधनता मे स्वीकृत नही किया गया है। यदि भेद है तो इतना ही कि शक्ति बहु भवन का द्वार है एव शिव एक भवन का द्वार। जिस प्रकार एक ही दरवाजा बाहर जाने और अन्दर आने दोनो का काम करता हैं, उसी प्रकार वह एक ही परम तत्त्व सृष्टि की दृष्टि से शक्ति और सहार की दृष्टि से शिव प्रतीत होता है। पूर्व अध्याय मे इसीलिये **अजाम् एकाम्** कहा था। इस इच्छा शक्ति मे भी किसी प्रकार के भेद की सम्भावना नही होने से इसे त्रिगुणात्मिका प्रकृति मानने की भूल नही करनी चाहिये।

६. अज्ञान शक्ति आत्मा को विषय करते हुए जड पदार्थो की सृष्टि करती है एव पुन उसी आत्मा को आश्रित करते हुए जीव की सृष्टि करती है। वस्तुत दोनो की अभिन्नता होने से जीव और जगत् दोनो

तद्रूप ही है। इसी को बीज कहा जाता है। अज्ञान ही जीव जगत् समस्त सृष्टि का बीज है। कही कही **एकम् रूपम्** ऐसा पाठ भी उपलब्ध होता हैं। तब तात्पर्य होगा कि एक रूप अपने आपको वह बहुत बनाता हैं। अथवा जो बहुत प्रकार का बना हुआ है उसको ज्ञान शक्ति से पुन एक बनाता हैं।

इस प्रकार आवरण रूप भेद शून्य अविद्या ही उस बीज का स्वरूप है, यह कहकर वह किस प्रकार नियत्रण करता है, इसे बता दिया। अनेक विक्षेप वाले अकुरो के द्वारा ससार वृक्ष को उत्पन्न करने के कारण ही इसे बीज कहा गया है। तात्पर्य है कि सारी क्रियायें कार्य करण सघात से समवेत है, आत्मा से नही। आत्मा कूटस्थ हुआ हुआ अनात्म धर्मो का आत्मा मे अध्यास कर के कर्ता, भोक्ता, सुख, दु ख, मोटा, दुबला, मनुष्य आदि अभिमानो को करता रहता ह। यह जो बहुत प्रकार की प्रतीति है, उसका बीज अपने स्वरूप को नहीं जानना ही ह।

७ अनेक प्रकार के भूत भौतिक प्रपच अथवा कामनायें अथवा अदृष्ट आदि अथवा ब्रह्मा, विष्णु, आदि देव आदि आदि उसके बहुत रूप है। दूसरी जगह भी वेद मे **स एकधा भवति, त्रिधा भवति पंचधा भवति** इत्यादि कहा गया है। एक ही शिव अनादि ससार मे अनेक जन्मो मे सचित, विहित, प्रतिपिद्ध कर्म और उपासनाओ का अविद्या के द्वारा करके भिन्न-भिन्न प्रकार की लहरो का प्रेरक बन गया है एव उनको अपने से एक समझकर उनका भोक्ता बनता है। इस प्रकार माया के द्वारा एकता के अध्यास से चित् धातु मे समष्टि और व्यष्टि कार्य करण उपाधि के द्वारा जोव और ईश्वर की कल्पना होती है यही उसका बहुभवन है। **तदात्मानम् स्वय अकुरुत** इत्यादि श्रुतिया एव **स्वयमेव जगत् भूत्वा प्राविशत् जीवरूपत** इत्यादि श्रुति इनमे प्रमाण है।

सामान्य दृष्टि से विचार करने पर तो कह सकते है कि एक ही परमेश्वर प्रलय काल मे अपने मे लीन और उस समय मे भोग और मोक्ष दोनो के प्रति निष्क्रिय, प्राणियो के भोग और मोक्ष के लिये क्रिया सिद्धि की दृष्टि से उन्हे पुन ब्रह्मा विष्णु आदि देव, यम आदि पितृ गण एव ऋषि, मनुष्य आदि रूपो को बहुत प्रकार का बना देता है। अध्यात्म दृष्टि से कह सकते है कि सुषुप्ति काल मे इन्द्रिया, मन, आदि सभी भेद आत्मा मे लीन होते हैं। पुन. भोग के लिये जाग्रत्, स्वप्न काल मे उनकी सृष्टि कर देता है, यह भी बहुधाकरण ही है।

८ इसमे **स्वतन्त्र कर्त्ता** इस पाणिनि सूत्र के द्वारा यह स्पष्ट होता है कि आत्मा यह सब करने मे पूर्ण रूप से स्वतन्त्र है। यह बहुत रूप बनाने मे किसी भी प्रकार की परतंत्रता के वश मे नही होता। इतना स्मरण रखना चाहिये कि इच्छा ही तन्त्र है। अत अपनी इच्छा से जो किया जाता है, उसी का नाम स्वतन्त्रता है। इच्छा क्यो? यह प्रश्न ही मूर्खतापूर्ण है।

९. ऊपर के श्लोको मे बताये हुए परमात्मा के सभी रूपो का सग्रह करने के लिये यह सर्वनाम है।

१० बुद्धि मे स्थित को ही **आत्मस्थ** कहा गया है। परमात्मा हमेशा ही बुद्धि मे प्रकट होता है। प्रत्येक ज्ञान मे बुद्धि वृत्ति भी होती है और उसमे प्रतिबिम्बित परमात्मा भी होना है। अत. प्रत्येक बुद्धि की वृत्ति मे वह वर्तमान है, इस प्रकार से उसको जानना उसकी वास्तविकता को जानना है। शरीर वस्तुत आत्मा का आधार नही है क्योकि शरीर मूर्त है, तथापि वही पर परमात्मा का भान सम्भव होता है। जब चेतन शरीर ही आत्मा का आधार नही तब बाह्य मूर्ति इत्यादि के रूप मे आत्मध्यान तो सुतरा सम्भव नही हैं। अतः परमात्मा का ध्यान और परमात्मा की प्राप्ति अपने हृदय मे ही हो सकती हैं। अन्य देवता इत्यादि की दृष्टि से बाह्य उपासना होता है।

परमात्म प्राप्ति के मार्ग मे लगे हुए पथिको को इसीलिये अनेक श्रुति, स्मृति, पुराण वचनो मे बाह्य पूजा के परिहार की ही विधि की गई है। अथवा आत्मा से यहा कार्य करण सघात सारा ही ले लिया जाये तो इसमे जीव रूप से उसकी अवस्थिति माननी पडेगी। अर्थात् जीव को ही परमात्मा का प्रतीक मानकर जीव मे जो परमात्मा है, उसकी तरफ दृष्टि करने का विधान है। इस दृष्टि मे अह इस अनुभूति के साक्षी की तरफ दृष्टि करना ही इष्ट होता है।

११ क्रोध, लोभ, मोह, दभ, राग, द्वेष इत्यादि को छोडने मे बडे धैर्य की आवश्यकता पडती है। जिन लोगो ने इनको नही छोडा है, उनके लिये आत्मदर्शन वैसा ही है जैसा जन्माध के लिये सूय दर्शन। धीर का अर्थ बुद्धिमान् भी होता है। उस दृष्टि से अन्वय व्यतिरेक द्वारा तत् पदाथ और त्व पदार्थ का शोधन करके विवेक ज्ञान के द्वारा त्वं पदार्थ मे स्थित राग, द्वेष आदि दोषो का परित्याग करना तथा उस शुद्ध त्व पदार्थ को अनुसृत करके तत् त्व ह। इस प्रकार के अखण्डार्थ का बोध भी इष्ट है। जिसमे धैर्य नही होता, ऐसा अधीर पुरुष थोडा सा विवेक करके ही उसमे पर्याप्त बुद्धि कर लेता है और वराग्य पकने तक उसमे स्थित नही रहता। इस प्रकार केवल अह के स्थान मे ही आत्मज्ञान मानना बुद्धि की कमजोरी है। बाह्य पदार्थो मे जिनकी बुद्धि आसक्त हे, वे यद्यपि अपने को पटु बुद्धि वाला समझने है परन्तु वास्तविक दृष्टि से वे अत्यत स्थूल बुद्धि हैं क्योकि स्थूल ससार ही उनकी बुद्धि का विषय है। जो लोग ससार समुद्र की महान् लहरो के द्वारा उत्पन्न काम, क्रोध आदि वेग मे अवगमित आत्मस्वभाव वाले रहते हुए अपनी इन्द्रियो को जीते रहते हैं वे ही वस्तुत धीर है और वे ही वेदात वाक्यो के श्रवण के अनतर अपने स्वस्वरूप को समझ पाते है।

१२ अनु का अर्थ है पश्चात्। अत मनन, निदिध्यासन सहकृत श्रवण के पश्चात् पश्यन्ति अर्थात् आत्म स्वरूप मे स्थित होते है। यहा किसी पदार्थ का दर्शन नही समझना चाहिये परन्तु अज्ञान के द्वारा वेदात वेद्य ब्रह्म मुझे नही दीख रहा है, इसकी निवृत्ति होना ही देखने का तात्पर्य है। अर्थात् साक्षात् अपरोक्ष से यहा मतलब ह।

१३ मैं ब्रह्म हूं इस प्रकार के आत्मज्ञानियो को जिन्हे जीव, जगत् और ईश्वर की एकता का ज्ञान स्फुट हो गया है, उनसे मतलब है। सब प्राणियो को अपने मे और सब प्राणियो मे अपने को जो देखता है, वही वस्तुत देखता है।

१४ नित्य सिद्ध को ही यहा शाश्वत कहा गया है। उपासना, कर्म या किसी भी योग आदि साधन से जो प्राप्त किया जाता है, वह चू कि प्राप्त किया जाता है, अत नित्य पुरुषार्थ नही है। जहा प्राप्ति होती है, वहा खोना भी अवश्यभावी है। मै ब्रह्म हू यह अनुभव नवीन प्राप्त नही होता है, वरन् पहले ही सिद्ध है। अत अविनाशी आनन्दात्मस्वरूप केवल आविर्भूत होता है, उत्पन्न नही होता। इसीलिये उसे शाश्वत कहते है। सामान्य भाषा मे यद्यपि बहुत अधिक लम्बे समय से चले आने वाले पदार्थ को शाश्वत कहते है परन्तु यह केवल गौण प्रयोग है। निरतर वर्तमानता ही शाश्वत मे भाव है।

१५ यद्यपि अनुकूल वेदनीय को लोक मे सुख कहते है एव अनुकूलता स्वय शोभनाध्यास से उत्पन्न होती है परन्तु वह सुख शाश्वत नही होता। अत यह इष्ट नही है। सुषुप्ति मे समग्र कार्य करण सघात के लीन हो जाने से विक्षेप का अभाव होकर परमेश्वर की अनेक बार जो एकता की प्राप्ति होती है, वहा भी सुख ही है। इस सुख का स्वरूप समझा जा सकता है क्योकि वह सुख भी किसी कारण

अथवा विषयो से उत्पन्न नही होता। चू कि उसमे उत्पत्ति नही है, इसलिये उसको आविर्भूत होने वाला सुख नही कहा जा सकता है।

१६ अनात्मवेत्ता अर्थात् मै ही ब्रह्म हू इस प्रकार की जिनकी बुद्धि नही है, उनमे इस सुख का आविर्भाव कभी नही हो सकता। यद्यपि ब्रह्मा, विष्णु, राम, कृष्ण आदि रूपो के दर्शन से भी सुख होता है एव वैकुण्ठ आदि लोको मे गमन से भी सुख होता है परन्तु वे सब सुख इहलोक के सुख से उत्कृष्ट होने पर भी वस्तुत विषय विषयी भाव से सम्बद्ध होने के कारण शाश्वत सुख भी नही है और अन्यजन्य ही है। अत यहा कैवल्य सुख से ही तात्पर्य है।

१३

नित्यः नित्यानाम् चेतनः चेतनानाम् एकः बहूनाम् यः विदधाति कामान्।[1] तत् कारणम् सांख्ययोगाधिगम्यम् ज्ञात्वा देवम् मुच्यते सर्वपाशैः॥

य =जो
नित्यानाम्=नित्यो मे[2]
नित्य =नित्य,[3]
चेतनानाम्=चेतनो मे[4]
चेतनः=चेतन,[5]
बहूनाम्=बहुनो मे[6]
एक =एक,[7] (तथा)
कामान्=कामनाओ को[8]
विदधाति=देने वाला है।[9]
तत्=उस[10]
कारणम्=सबके कारण,[11]
साख्ययोगाधिगम्यम्[12] =ज्ञान एव उपासना के द्वारा जाने जाने वाले[13]
देवम्=महादेव को
ज्ञात्वा=जानकर[14]
सर्वपाशै =सारे पाशो से[15]
मुच्यते=छूट जाता है[16]।

१ दीपिकयो तु नित्यो नित्यानाम् चेतनश्चेतनानामेको बहूनां यो विदधाति कामान्। तमात्मस्थम् येऽनुपश्यन्ति धीरा तेषाम् शान्ति.

शाश्वती नेतरेषाम् । तदेतदिति मन्यन्ते निर्देश्यम् परमम् सुखम् । कथनु तद्विजानीयाम् किमु भाति न भाति वा । तत्कारणम् सांख्य-योगाधिगम्यम् ज्ञात्वा देवम मुच्यते सर्वपाशै' इति उपलभ्यते । काठकश्रुत्यनुरोधेन पठितमिदमिति तु समीचीनतरम् भाति ।

२ प्रलय पर्यन्त बने रहने के कारण ही जड चेतन जगत् को नित्य कह दिया जाता हैं । अथवा न्याय शास्त्र के अनुसार आकाश, काल आदि तथा परमाणु आदि पदार्थ नित्य हैं । उनके अनुरोध से इन्हे नित्य कह दिया गया । तात्पर्य है कि जिसे नित्य माना गया है, वह नित्य पद वाच्य है । कुछ लोग तो नित्यो नित्यानाम् के बीच मे एक अवग्रह निकालकर अनित्य पदार्थों मे नित्य ऐसा अर्थ करना चाहते है क्योकि वेदात राद्धान्त मे ब्रह्म से अतिरिक्त सब वस्तु अनित्य है । परन्तु वस्तुत बृहदारण्यक उपनिषद् मे कथित सत्यस्य सत्यं इत्यादि की तरह यहा व्यवस्था होने से पदपाठ का अतिक्रमण करना असाम्प्र-दायिक और निर्हेतुक है । वस्तुत प्रत्येक शब्द का एक वाच्यार्थ होता है और फिर उसकी लक्षणा की जा सकती है । सत्य, नित्य, ज्ञान आदि पदार्थ पहले ससार के पदार्थों मे हो प्रसिद्ध होगे जो उनका वाच्यार्थ होगा । अन्य मब चीजो के नष्ट होने पर भी आकाश परमाणु आदि नष्ट नही होते, इसलिये स्थायी पदार्थ मे नित्य शब्द की वाच्यार्थता हैं । इस नित्य को फिर अपरिच्छिन्न नित्यता मे लक्षणा हो जाती है अर्थात् बाकी नित्य परिच्छिन्न नित्य हैं और परिच्छिन्नता का त्याग करने से जो नित्यता आई, वह लक्ष्यार्थ हो गई । यदि नित्य पद को ससार के किसी पदार्थ मे पहले रूढ ही नही करेगे तो जिसका वाच्यार्थ ही नही , उसका लक्ष्यार्थ ही नही बनेगा और नित्य पद निरर्थक हो जायेगा ।

३. नित्य पदार्थों में नित्यता देने का जो हेतु है अर्थात् जिसके कारण से उसमे नित्यत्व प्रतीति होती है, उससे तात्पर्य है । अथवा

जिन्हे नित्य माना जाता है एव बीज मे जो साक्षात् नित्य है। परमार्थत जिसका बिनाश सम्भव नही, यह तात्पर्य हैं।

४ जीव से तात्पर्य है। प्रमाता मे चेतनता की प्रतीति होती है परन्तु वह नित्य ज्ञान स्वरूप नही है क्योकि सोपाधिक हैं। अथवा चेतन से बुद्धि इत्यादि लिंग शरीर का ग्रहण है जो लोक मे चेतन की तरह समझे जाते है।

५ जिसके बिना प्रमाता, बुद्धि इत्यादि किसी मे भी चेतनता की प्रतीति नहीं हो सकती, उस तत्त्व से तात्पर्य है। अथवा जिसे चेतन समझा जाता है उनमे यह साक्षात् चेतन स्वरूप है। जिस प्रकार दूसरी जगह आख का आख कहा गया है, उसी प्रकार यहा समझना चाहिये।

६ ब्रह्मा से लेकर चीटी पर्यन्त एव हिमालय से लेकर आकाश पर्यन्त इन सबमे वह एक विद्यमान रहता है। देव, जीव आदि सबका बहुत्व यहा विवक्षित है। अथवा **एक बहूनां कामान् विद्धाति** ऐसा अन्वय कर लेना चाहिये अर्थात् वह एक देव ही बहुत से जीवो की कामनाओ को पूर्ण करता है। सभी जीवो की कामनाओं को पूर्ण करने वाला वह एक परमात्मा ही है, चाहे वह रसगुल्ला आदि अध्यस्त रूप लेकर कामना को पूर्ण करे अथवा शात वृत्ति को कामना रहित अवस्था मे लाकर के।

७. अभिन्न अद्वितीय तत्त्व। अथवा नित्यो मे जो नित्य है, वही चेतनो मे चेतन हैं, इस प्रकार अन्वय कर लेना चाहिये। **नित्यत्वेन चेतनत्वेन प्रतिपन्नानाम् अयम् नित्यश्चेतनश्च इति एक**। तात्पर्य है कि जड पदार्थों मे जो सत्ता रूप से नित्य है, वही चेतन पदार्थो मे चित्ता रूप से नित्य है। सत्ता और चित्ता का भेद नही है।

८ जिसकी कामना की जाये उसे काम कहते हैं। **काम्यन्त इति कामा.** अत करण मे सुख के प्रतिबिम्ब को ही कामना कहते हैं।

पुण्य के कारण परमात्मा जीव को इन सुख प्रतिबिम्बो को देता है। तात्पर्य है कि सुखाकार वृत्ति मे चतन के प्रतिबिम्ब से ही सुख-रूपता का भान होता है। अत उसके बिना सुखाकार वृत्ति भी सुख-रूप नही बन सकती। इसीलिये उसे सुख देने वाला कहा। ग-वा जिनकी कामना की जाये ऐसे भोगो को भी काम कह दिया जाता है। परमेश्वर ही जीव को सुख-दु ख प्रद भोगो को देता है। कर्मफल प्रदाता परमात्मा है, यह तात्पर्य है।

९. क्रम सृष्टि मे पुण्यपाप के अनुसार देता है एव अक्रम सृष्टि मे स्वेच्छा से, दोनो का यहा ग्रहण है। पाप पुण्य के काल मे भी वह स्वतत्र होकर देता है पाप पुण्य तो निमित्त मात्र है। अत. स्वतत्र कर्त्ता सदा ही सिद्ध है।

१० तत् यह ब्रह्म का नाम है। अथवा अति प्रसिद्ध होने से उसे तत् कहा जाता है।

११ जगत्, सृष्टि, स्थिति, सहार सबका वही कारण है। अत बाकी सब कभी कार्य और कभी कारण होते है। वह केवल कारण ही है, कार्य कभी नही होता। जगत् रूपी कार्य से ईश्वर रूपी कारण का अनुमान होता है। इस प्रकार कार्य को देखकर कारण का चितन करे, यह भी कहना यहा इष्ट है।

१२ **सांख्य च योगश्च सांख्ययोगौ ताभ्याम् अधिगम्यम् इति यावत्।**

१३. वेदान्त महावाक्य तात्पर्यज्ञान से उत्पन्न होने वाले मै ब्रह्म हू इस आकार वाले को सम्यक् ज्ञान कहते है। साख्य का अर्थ सम्यक् ज्ञान होता है एव इसका साधन श्रवण, मनन, निदिध्यासन योग कहा जाता है। तात्पर्य है कि साख्य और साख्य के लिये किया हुआ योग इनके द्वारा परमात्मदेव को जाना जाता है जो बोधैकरस है। अथवा जिस विज्ञान के द्वारा आत्मतत्त्व भली प्रकार ख्यायते

अर्थात् प्रख्यान किया जाता है, वह साख्य है। एव इस विज्ञान रूपी फल को पैदा करने वाले शम, दम, आदि एव कर्मानुष्ठान आदि साधन योग है। इन दोनो के द्वारा **मै ब्रह्म हू** इस प्रकार **अधि** अर्थात् अधिक रूप से या अतिशय रूप से **गम्यम्** अर्थात् साक्षात् ज्ञान होना सम्भव है। कही कही **साख्ययोगाभिपन्नम्** ऐसा भी पाठ मिलता है। अर्थ तो वहा भी प्राय ऐसा ही है। परमात्मा की लक्ष्यार्थताओ का सुनते सुनते कई बार यह शका हो जाती है कि वह जब किसी भी प्रमाण का विषय नही, तब मुमुक्षा व्यर्थ है। अत इस पद के द्वारा कहा जा रहा है कि शाब्द प्रमाण से ब्रह्माकाररूपिणी अत करण वृत्ति उत्पन्न होती है। यद्यपि आत्मा कभी भी घट, सुख आदि की तरह शब्द व अन्य किसी प्रमाण का विषय नही बनता, इससे साधक मे मुमुक्षा के प्रति दृढ आस्था उत्पन्न करना श्रुति का तात्पर्य है। गीता मे इसी श्लोक के आधारपर **एकम् साख्य च योग च** कहा है। इसके भाष्य मे सवज्ञ शकर ने स्पष्ट किया है कि साख्य ज्ञान है एव योग उसका उपाय। अत ज्ञान प्राप्ति के उपाय रूप से अपने समग्र कर्मों का ईश्वर मे समर्पण करना रूपी योग का साधन करने से फल मिलता है।

१४ **मैं ही ब्रह्म हू** इस प्रकार का अपरोक्ष ज्ञान ही यहा इष्ट है।

१५ अविद्या, काम, कर्म रूपी पाशो से।

१६. ससार एव उसके बीज का बाध हो जाता है। वेदान्त शास्त्र मे मुक्ति किसी चीज की प्राप्ति नही है वरन् अज्ञान बधन का छूट जाना ही मुक्ति है। विचारशील देखेगे कि वस्तुत मुक्ति का तात्पर्य छूटना ही हुआ करता है। इसलिये बौद्ध, नैयायिक, वैशेषिक, साख्य एव योग सभी अज्ञान से छूटने को ही मोक्ष मानते है। अज्ञान किस विषय का है, इसको लेकर कुछ मतभेद है परन्तु अज्ञान की निवृत्ति ही मोक्ष है और उसका साधन केवल ज्ञान है, इसमे कोई मतभेद नही है।

१४

महेश्वर के विषय मे ध्वनित स्वय प्रकाश का स्पष्ट करते है —

न तत्र सूर्यः भाति न चन्द्रतारकम् न इमा विद्युतः भान्ति कुतः अयम् अग्निः । तम् एव भान्तम् अनुभाति सर्वम् तस्य भासा सर्वम् इदम् विभाति ।

तत्र=उस (परमात्मा) के विषय मे[१]
सूर्यः=सूर्य[२]
न=प्रकाश नही
भाति=करता है,[३]
चन्द्रतारकम्=चन्द्र एव तारे भी
न=नही (प्रकाश करते हैं),
इमा=ये
विद्युतः=बिजलिया भी[४]
न=प्रकाश नही
भान्ति=करती हैं,
अयम्=यह[५]
अग्नि=अग्नि
कुत=कहा से (प्रकाश करेगी) ।[६]
तम्=उसके
एव=ही
भान्तम्=प्रकाशमान होने पर[७]
सर्वम्=सब
अनुभाति=प्रकाशित होता है ।
तस्य=उसके[८]
भासा=प्रकाश से[९]
इदम्=परिदृश्यमान
सर्वम्=सभी कुछ
विभाति=प्रतीत होता है ।[१०]

१ वस्तुओ मे विचित्र शक्तिया देखी जाती है । काल एव निमित्त आदि के सयोग से वही वस्तु तरह-तरह के फल देती है । जैसे सूर्य के प्रकाश से सब देश प्रकाशित होते है परन्तु उसी सूर्य के प्रकाश से चन्द्र इत्यादि की प्रकाशता घट जाती है एव वह घट पट आदि का प्रकाश करने मे असमर्थ हो जाता है अर्थात् सूर्य का प्रकाश एक तरफ तो अप्रकाशमान पदार्थों को प्रकाशित करता है एव दूसरी तरफ प्रकाशमान पदार्थो को प्रकाशहीन करता है । सूर्य के डूबने पर पुन

चन्द्र आदि स्वय प्रकाश वाले भी हो जाते है और घट आदि का प्रकाश भी करने लगते है। इसी प्रकार आत्मा मे, जो कि स्वय प्रकाश है एव वाणी और मन से अतीत है, आत्माकार वृत्ति मे प्रतीयमानता ही आ जाती है। यदि कोई शका करे कि फिर सूर्य आदि भी उसको आत्माकार वृत्ति बनने पर प्रकाशित करने मे समर्थ हो जाये, तो उसकी निवृत्ति के लिये यह स्पष्टीकरण है। अर्थात् आत्माकार वृत्ति मे ब्रह्म का ही प्रकाश प्रकाशित हो सकता है, उसमे सूर्य आदि प्रकाशो की कोई आवश्यकता नही है। तात्पर्य है कि स्वप्रकाश ब्रह्म मे दूसरे प्रमाणो का कोई अवतरण नही बन सकता।

२ सबसे अधिक प्रकाश वाला होने से सबका अवभासक है। अत इसको ही सर्वप्रथम कहा गया। चन्द्र, ग्रह आदि मे तो इसी का प्रकाश है। अत आगे के सब पद तो कैमुतिक न्याय से ही सिद्ध है। इसका रहस्य यह है कि सूर्य जड पदार्थो का प्रकाशक है एव नेत्र ज्योति के द्वारा उपकृत होकर के ही प्रकाश करने मे समर्थ है। परमात्मा नेत्रज्योति का भी प्रकाशक है एव चेतन होने से जड प्रकाश सापेक्ष्य नही है। फिर भी लोक मे सूर्य की प्रकाशता को देखकर ही उपासना समुच्चय मे सूर्य को हिरण्यगर्भ का प्रतीक मानकर परमेश्वर रूप से उपासना का प्रतिपादन किया गया है। जो सूय को देखता है एव जो मेरी आख मे है, एक है इत्यादि उपासनाये इसमे प्रमाण हैं। **यश्चायम् पुरुषे यश्चासावादित्ये स एक**। तात्पय है कि यद्यपि सूर्य के प्रकाश से ससार के सारे ही रूप प्रकाशित होते है परन्तु सूर्य का प्रकाश स्वय अपने को प्रकाशित करने मे समर्थ नही अर्थात् स्वय नही जानता। परन्तु आत्मा का प्रकाश सबको प्रकाशित करते हुए अपने को भी प्रकाशित करता है।

३ सबका अविषय होने से, सबका आत्मा होने से एव रूप आदि रहित होने से ब्रह्म को सूर्य प्रकाशित नही कर सकता। अपने योग्य

सब चीजो का प्रकाश करता है परन्तु स्वय सूर्य का प्रकाश परमात्मा के अधीन है। सूर्य स्वय अपनी महिमा से प्रकाश नही करता। इसलिये जिसकी महिमा से वह प्रकाश कर रहा है उसको वह प्रकाशित कैसे कर सकता है।

४ प्रत्यक्ष मेघमण्डल मे स्थित नील आदि वर्ण वाली एव जिसकी प्रभा क्षणिक होती है।

५ भूमि मे प्रत्यक्ष होने वाली अग्नि होने से उसे अयम् कहा अर्थात् जो हमारे द्वारा उत्पन्न की जाती है।

६ जब देव रूप मे से अज्ञान सूर्य चन्द्र ही उसका प्रकाश नही कर सकते तो हमारी निर्मित अग्नि का तो क्या कहना। लट्टुओ मे जलने वाली बिजली भी हमसे उत्पन्न होने के कारण अग्नि शब्द वाच्य ही है।

७ प्रत्यक्ष आदि प्रमाणो से निरपेक्ष स्वय प्रकाशरूप होने से वह स्वरूप स्वय ही प्रकाशित होता है, यह भाव है। तात्पर्य है कि सारे जगत् के प्रकाशित होने से भी पहले वह दीप्त होता ही है। आत्मा के प्रकाश के बिना और कोई प्रकाश सम्भव नही है। जिस प्रकार जल या मशाल अग्नि के सयोग से अग्नि को जलाने पर जलाने वाली प्रतीत होती है, यद्यपि जल या मशाल स्वय जलाने मे समर्थ नही है, उसी प्रकार सभी वृत्तिया उस ज्ञानरूप आत्मा के द्वारा सम्बन्धित होकर ही जानने मे समर्थ होती है। अत उसके बाद ही उनका प्रकाश होता है, यह स्फुट है। अनुभाति का तात्पर्य वास्तविक दृष्टि से तो यही है कि यद्यपि सब चीजो का प्रकाश करने वाला आत्मा है परन्तु वृत्ति में अध्यास के कारण हमे वृत्ति ऐसा करते हुए प्रतीत होती है। वृत्ति मे आत्मा का अध्यास स्वरूपाध्यास नही, वरन् ससर्गाध्यास है, यह बात दूसरी है। सूर्य चन्द्र आदि उसका प्रकाश नही कर सकते। इससे जो उसकी अत्यत तमरूपता प्रतीत हो सकती

थी, उसको इन्होने दूर कर दिया। अर्थात् सूर्य आदि का अविषय हुआ हुआ भी वह प्रकाशरूप ही है। जिस प्रकार राजा के जाने पर उसके अनुगत भृत्य आदि अनुगमन करते ही है तो फिर राजा का गमन तो स्वतन्त्र स्पष्ट ही है। इसी प्रकार आत्मा के प्रकाश करने पर सूर्य आदि का प्रकाश होता है तो वह स्वतत्र प्रकाशक है, इसमे कहना ही क्या।

८ सूर्य आदि जडो का स्वतत्र प्रकाशक रहो एव आत्मा चेतन प्रकाशक रहो, इस प्रकार दोनो की समानता प्राप्त होने पर कहा जा रहा है कि सूर्य आदि का प्रकाश स्वतत्र नही है। अथवा यदि सूर्य आदि का प्रकाश वह कर सकता है तो जडो का भी सीधा ही प्रकाश वह कर देवे, इसकी निवृत्ति के लिये कहा जा रहा है कि वह सूर्य आदि का प्रकाशक है एव सूर्य आदि के द्वारा बाकी सबका प्रकाशक है।

९ ब्रह्म के बोध से व्याप्त हुआ हुआ ही। **दीप्त्या तद्बोधव्याप्त्या** तात्पर्य है कि प्रकाश्य और प्रकाशक सबको ही वह अपने ज्ञान से प्रकाशित कर देता है। चाहे वह सूर्य आदि हो अथवा प्रत्यक्ष घट, पट, आदि इन सारे दिव्य प्रकाशो का स्वतत्र प्रकाशक होने से किसी भी प्रकार की भेद शका व्यर्थ है। **यदादित्यगतम् तेजो जगत् भासयतेऽखिलम्** इत्यादि गीता भी यहा उदाहरणीय है।

१० सारे जगत् के अवभास के पूर्व ही वह विभात होता है। उसके साथ एकता का अध्यास करके ही भास के आभास को आदित्य आदि प्राप्त करते है एव फिर आगे प्रकाश करते है। अत परमेश्वर के भास मे परिमितता नही है। स्वरूपभूत चैतन्य प्रकाश से सारा जगत् विभात होता है, यह इस मंत्र का रहस्य है। **येन सूर्यस्तपति तेजसेद्ध** इत्यादि वाक्य इसमे प्रमाण है।

१५

परमात्मा का रूप बताते है —

एकः हंसः भुवनस्य अस्य मध्ये सः एव अग्निः सलिले सन्निविष्टः । तम् एव विदित्वा अति मृत्युम् एति न अन्यः पन्था विद्यते अयनाय ॥

एक = एक
हस = हस रूप परमात्मा[१]
अस्य = इस
भुवनस्य = भुवन के
मध्ये = मध्य मे है,
स = वह[२]
एव = ही
अग्नि = अग्नि है[३] (तथा)
सलिले = जल मे
सन्निविष्ट = घुसा हुआ हे ।
तमेव } **अयनाय** } = तीसरे अध्याय के आठवे मत्र का उत्तरार्द्ध देख लीजिये ।

१ हति अर्थात् नष्ट करता है, बधन के कारण अविद्या आदियो को, अत उसे हस कहते है । अथवा आत्मज्ञान से भेद को नष्ट करता है । अत उसे हस कह दिया । अथवा जाग्रत् को नष्ट करके स्वप्न मे जाता है एव स्वप्न को नष्ट करके सुषुप्ति मे जाता है अत मे उसको भी नष्ट करके **मै ब्रह्म हू** इस प्रकार के ज्ञान फलक पर आरूढ होकर अपने आत्मस्वरूप को ढाकने वाले द्वैत भ्रम के कारण अविद्या को नष्ट करके प्रत्यग भाव को जाता है, अत उसे हस कहा गया । उसमे किसी भी तरह का सजातीय, विजातीय स्वगत भेद नही है, यह प्रतिपादन करने के लिये एक पद दिया गया है । तात्पर्य है कि सूर्य आदि प्रकाशको का सजातीय विजातीय स्वगत भेद देखा जाता है, अत आत्मा मे भी प्रकाशक होने के कारण इसकी प्राप्ति कराई जा सकती थी, परन्तु एक पद से उसकी व्यावृत्ति करके हस पद से उसकी व्यवस्था बनगई कि दूसरे प्रकाश इस प्रकार के हस नही है ।

२ इस सारे विश्व मे उसके सिवाय और कोई हस नही है। भावना को तालाब की तरह समझ लेना चाहिये। जैसे तालाब मे हस ही एकमात्र शोभा होती है, वैसे ही इस भावना की शोभा उस एक हस से ही है। एकमात्र परमात्मा ही इस जगत् की शोभा है। अथवा इस प्रत्यक्ष सिद्ध भावना अर्थात् कर्मफल रूपी पदार्थो मे एकमात्र वही प्रतीत होता है। तात्पर्य है कि कर्मफल के अनुसार जो भी पदार्थ भोग मे आता है, वह भावना या लोक कहा जाता है एव उस कर्म फल के भीतर वास्तविक दृष्टि से सत्‌रूप परमात्मा ही एक मात्र स्थित होता है। अथवा कर्मफल को देखकर कर्मफल दाता रूप से हसेश्वर का पता लग जाता है। उससे भिन्न और कोई त्रैलोक्य मे कर्मफल दाता नही है, यह भाव है।

३ चैतन्य की अग्नि और जल मे विशेष सन्निधि रहती है, इसको बताने वाला अगला वाक्य है। प्रायश सभी मत-मतातरो मे या तो दीपक, सूर्य, अग्नि आदि रूपो की प्रधानता होती है अथवा कूप, तालाब इत्यादि जलो का धार्मिक दृष्टि से अत्यधिक उपयोग होता है। हिन्दू धर्म मे तो गगा इत्यादि नदियो की परमात्मरूपता पर बहुत ही अधिक बल दिया गया है। प्रत्येक पूजनके प्रारभ मे जल आदि का प्रयोग किया जाता है। वस्तुतस्तु अग्नि रुद्र है और जल नारायण, तथा हिन्दू धर्म नारायण और रुद्र के आधार पर ही ग्रथित है। अत इसमे किसी न किसी प्रकार की विशेष शक्तियो को मानना ही पडता है। ऐसा लगता है कि अग्नि या सलिल मे परमात्मा की रुद्ध हुई हुई शक्ति समाविष्ट है। अथवा परमात्मा रुद्र होकर इनमे प्रविष्ट हाता है।

४ यहा प्रधान रूप से परमात्मा के रुद्र रूप का ही विस्तृत वर्णन होने के कारण रुद्ररूप अग्नि को समानाधिकरण के द्वारा

कहा जा रहा है एव सलिल मे अर्थात् नारायण मे अतर्यामी रूप से कहा जायेगा ।

परमेश्वर अग्नि की तरह होने से यहा अग्नि कहा गया है । जैसे लकडी मे अग्नि तिरस्कृत होती है परन्तु फिर भी लकडी मे रहती है और मथने के द्वारा प्रकट हो जाती है । प्रकट होकर अपने को तिरस्कृत करने वाली लकडी के टुकडो को जलाकर उन्हे अपने निज शरीर के रूप मे बना देती है । इसी प्रकार अविद्या के द्वारा तिरस्कृत हुआ हुआ, अविद्या मे अनुगत परमेश्वर उत्तरावर अरणिस्थ गुरु शिष्य के सघर्ष रूप मथन से श्रवण, मनन आदि जन्य सम्यक् ज्ञानफलक में आरूढ हुआ हुआ अपने तिरस्कार करने वाले अविद्या तत्त्व को जलाकर अपने अद्वितीय रूप मे स्थिर कर लेता है इसीलिये इसे अग्नि कह दिया गया ।

५ सब पदार्थो मे स्वरूप स्फुरणप्रद हुआ हुआ भली प्रकार घुसा हुआ होने से उसे सन्निविष्ट कह देते है । परन्तु उन अविद्या तत्कार्यों से वह सस्पृष्ट रहता है । यहा पर सलिल से नारायण का ग्रहण होने से सगुण ब्रह्म इष्ट है । तात्पर्य है कि सगुण ब्रह्म मे ही वह निर्गुण ब्रह्म प्रविष्ट हुआ हुआ उसके स्वरूप को सिद्ध करता है । वस्तुतस्तु एक ही ब्रह्म सगुण और निर्गुण उभय रूप मे प्रतीत होता है ।

अथवा जलो का जनक तेजरूप होने से अग्नि कारण है एव सलिल अर्थात् जल कार्य । अत कारण अपने कार्य रूप मे प्रविष्ट है, यह भाव है ।

६ **नान्यो हेतुर्विद्यत ईशनाय इति दीपकायाम्** । उससे भिन्न कोई भी कारण रूप नही है जो मोक्ष देने मे समर्थ हो । ईशनाय का अर्थ ईश्वरत्वाय अर्थात् मोक्ष देने मे ईश्वर अथवा समर्थ, यह भाव है ।

१६

सः विश्वकृत् विश्ववित् आत्मयोनिः ज्ञः कालकारः गुणी सर्वावित् यः। प्रधानक्षेत्रज्ञपतिः गुणेशः संसारमोक्षस्थिति-बंधहेतुः ॥

य =जो[1]
विश्वकृत्=संसार बनाने वाला[2],
विश्ववित्=संसार को जानने वाला[3],
आत्मयोनि=स्वय ही अपना कारण[4],
ज्ञ =ज्ञानस्वरूप,
कालकार =कालकर्ता,[5]
गुणी=गुणी,[6]
सर्वावित्=सर्ववेत्ता एव[7]
गुणेश =गुणो का ईश्वर,[8]
स =वह[9]
प्रधानक्षेत्रज्ञपति =प्रकृति और जीव का पति है (तथा)[10]
ससारमोक्षस्थितिबंधहेतु =संसार, मोक्ष, स्थिति और बध का कारण है।[11]

१ सर्व वेदातो मे प्रसिद्ध विशेषणो के द्वारा उसके गुण कर्मा का प्रतिपादन किया जा रहा है।

२. अपनी माया से विश्व का विनिर्माण करता है, यह भाव है।

३ साक्षी होने के कारण अपरोक्ष रूप मे सबको जानता है।

४ सुर, नर आदि शरीर आत्मा कहा जा सकता है, उनका कारण होने से उसे आत्मयोनि कहा। अथवा खुद ही (आत्मा) सब का योनि होने से आत्मयोनि है। अथवा आत्मा और योनि ऐसा द्वन्द्व समास कर लेना चाहिये। आत्मा अर्थात् अहं पद का वाच्य और लक्ष्य प्रत्यगात्मा। तथा योनि अर्थात् जगत् का कारण रूप ब्रह्म पद का वाच्य और लक्ष्य। अथवा आत्मा का अर्थ है अत करण, समष्टि अत करण ही ज्ञान, क्रिया शक्ति वाला हिरण्यगर्भ है। उसका भी वह कारण है। सबका आत्मा भी है और सबका योनि भी है, यह अर्थ भी सम्भव है।

५ घट, पट आदि ज्ञान काल से ग्रस्त होते है। अत ज्ञान रूप होने से यह भी काल स ग्रस्त होगा, इस शका को दूर करने के लिये कहा कि वह काल का भी बनाने वाला होने से काल का भी नियामक है। अथवा जल की तरह यज्ञ, दान आदि के द्वारा जो अत करण स्वच्छ हो गया है, उसमे वेदात वाक्य के अखण्डार्थ रूपी सम्यक् ज्ञान फलक पर आरूढ अविद्या तत्कार्य को जलाने वाली अग्नि जिस प्रकार प्रविष्ट होती है ऐसा समझ लेना चाहिये।

६ माया शक्ति रूप गुण वाला अथवा अपहतपाप्मत्वादि गुण वाला। साख्य प्रक्रिया को स्वीकार करने पर तो सत्त्व, रज, तम इत्यादि गुणो का आश्रय है। कालकार- कहने से काल, अग्नि रुद्र इत्यादि का ग्रहण सम्भव था। अत गुणी पद देना आवश्यक था।

७ यदि गुणो का आश्रय है तो कोई विशिष्ट जीव होगा, इस शका की निवृत्ति मे कहते है कि वह सर्वज्ञ है। यहा सर्ववित्त्व प्रयोग उपचार नही माना जा सकता क्योकि पहले विश्ववित् के द्वारा ही इसको कह दिया गया था। अत दो बार कहने का तात्पर्य ही यह है कि वह वस्तुत सर्वज्ञ है। चतन्य ज्योति स्वरूप तो वह है ही, यह ज्ञ पद से कहा गया।

८ जहा कही भी जो कुछ भी गुण पाया जाता है उन सब गुणो का शासन करने वाला वही है।

९ जो ऋग् आदि विद्याओ का एकमात्र अधिष्ठान है एव उनका प्रवर्त्तक है।

१० प्रधान अर्थात् माया एव क्षेत्रज्ञ अर्थात् जीव, इन दोनो का पति है अर्थात् मालिक भी है और पालन करने वाला भी है। तात्पर्य है कि माया और जीव यदि स्वतत्र होते तो प्रयुक्त सभी विशेषण परमात्मा मे वास्तविक नही हो सकते थे। अत इसके द्वारा बता दिया कि वह स्वतत्र नही, वरन् उनके शासन मे ही चलता है।

अथवा जो प्रधान हो, क्षेत्रज्ञ हो और पति हो, ऐसा द्वन्द्व समास कर लेना चाहिये। अर्थात् वह शिव ही प्रकृति रूप में भी भात होता है, जीव रूप मे भी और ईश्वर रूप मे भी। प्रधान को स्वरूपप्रद अथवा अधिष्ठान रूप से शिव कहा जायेगा एव क्षेत्रज्ञ को बिम्ब रूप से। बिम्ब होकर उस प्रतिबिम्ब का साधक है।

११ ससार आदि चारो का कारण वह अकेला ही है, यह भाव है। तात्पर्य है कि यह शका हो सकती थी कि बधमोक्ष स्थिति का कारण जो होता है वही वस्तुत निरकुश नियता होता है। अत इनका नियता न होने पर उसका नियतृत्व वास्तविक नही है। ससार अर्थात् एक शरीर से दूसरे शरीर मे सरकना, जब तक महाप्रलय नही होता तब तक विश्व के पदार्थो का कारण रूप से हमेशा विद्यमान होना स्थिति कहा जाता है। मोक्ष अर्थात् अविद्या निवृत्ति के द्वारा स्वस्वरूप का आविर्भाव हो जाना, बध अर्थात् अविद्या के कारण स्वातत्र्य का भान न होना।

जीव की दृष्टि से पहले कहा। ससार जीव ही है एव जिसको वह चाहता है वह ससार से मोक्ष है। अत इस द्वन्द्व को इकट्ठा रखा गया। जब तक स्थिति है तब तक बधन है। महाप्रलय मे अथवा व्यष्टि दृष्टया सुषुप्ति मे विश्व की स्थिति नही है तो दु:ख का भी अनुभव नही है एव उससे मुक्त होने की इच्छा भी नही है। अत इन दोनों को एकत्रित रखा गया। तात्पर्य है कि अध्यात्म और अधिभूत पदार्थो मे मै और मेरा अभिमान ससार है तथा आनन्दात्मा की अभिव्यक्ति मोक्ष है। इसके बाद भी लेशाविद्या स्थित रहती है। उसको भी स्थिति पद से समझा जा सकता है। उसके नष्ट हो जाने पर ससार बध सर्वथा समाप्त हो जाता है। अज्ञात ब्रह्म ही ससार, बध और स्थिति का हेतु है। एव ज्ञात ब्रह्म ही मोक्ष का हेतु है।

उसमे भी ससार के हेतु रूप अज्ञान से बधन का हेतु है एव अज्ञात रूप से उस ससार मे स्थिति होना स्थिति रूप वाला बधन का हेतु है, यह भाव है। जब सस्कार अविद्या का भी अपने कार्यो के साथ प्रारब्ध समाप्ति पर शेष हो जाता है फिर कभी भी उसका उत्थान नही होता। जैसे अहता ममता और अभिमान की दृढता ही ससार बन्ध है, जो अपनी आनदरूपता के ज्ञान से रहित होने पर प्रकट होता है एव मै सुखी, मै दुखी आदि प्रत्यय सतान सामान्य बधन है, उसी प्रकार लेशाविद्या की निवृत्ति हो जाने पर मोक्ष की स्थिति है और लेशाविद्या की स्थितिकाल मे मोक्ष का अनुभव। इसी प्रकार मे मोक्ष की स्थिति, बध की स्थिति, ससार की स्थिति, ससार का बध आदि सब प्रकार से इस समास का नियाजन कर लेना चाहिये।

१७

सः तन्मयः हि अमृतः ईशसंस्थः ज्ञः सर्वगः भुवनस्य अस्य गोप्ता। यः ईशे अस्य जगतः नित्यम् एव न अन्यः हेतुः विद्यते ईशनाय ॥

स =वह[1]
तन्मय =विश्वरूप,[2]
अमृत =अमर,
ईशसस्थ[3] =शासकरूप स भली प्रकार स्थित,[4]
ज्ञ =ज्ञानरूप,[5]
सर्वगः = सर्वव्यापक,[6]
अस्य=इस परिदृश्यमान
भुवनस्य=भुवन का[7]
गोप्ता = रक्षक है,[8]
हि=क्योकि
य =जो
ईशे=शासन करता है
अस्य =(वही) इस[10]
जगत =जगत् का
नित्यम् =नित्य[11]
एव=ही
ईशनाय=शासन करने के लिये[13]
विद्यते = होता है।
अन्य =उससे भिन्न[12]
हेतु =कोई कारण
न = नही है।

१ यदि प्रधान और क्षेत्रज्ञ का पति है तो उनसे भिन्न होगा, इस शंका को हटाने के लिये वह प्रसिद्ध ईश्वर ही है, इन सबका शासक भी है एवं इन सबका रूप भी है, यह कहने का तात्पर्य है।

२ तत् अर्थात् प्रधान एवं क्षेत्रज्ञ। मयट् यहां विकार रूप मे ले लेना चाहिये। अर्थात् प्रधान और क्षेत्रज्ञ उसका माया से विकृत रूप है। अथवा तत् ब्रह्म का वाचक होने से ईश्वर ब्रह्ममय है। अथवा चौदहवें मंत्र मे कहे हुए **तस्य भासा** का परामर्श करके वह ज्योतिर्मय है, यह कहा जा रहा है। अथवा मयट् का अर्थ प्राय कर लेना चाहिये। व्यष्टि जगत् मे पंचकोषमय होने से वह तन्मय कहा जायेगा। अथवा पंचकोश प्राय होने से वह तन्मय कहा गया। समष्टि दृष्टि से व्यवहार क्षेत्र मे वह ब्रह्म संसार रूप मे ही प्रतीत होता है। अत वह मानो प्राय संसारी ही है। वस्तुतस्तु तत् पद शुद्ध और माया विशिष्ट दोनो का परामर्शक है। अत वह परमात्मा अज्ञात रूप से या ज्ञात रूप से कारण होने से तन्मय कहा गया।

विचार की दृष्टि से तो तत् पद साक्षात् ब्रह्म का ही प्रतीक होने से तन्मय का तात्पर्य आनंदमय ले लेना चाहिये अर्थात् वह आनन्दमय हैं, इस विषय मे आनन्दमय अधिकरण प्रमाण है। इस पक्ष मे स्वार्थ मे मयट् समझना चाहिये अर्थात् वह आनंदघन है यह भाव है। अंत करण की वृत्ति तन्मय होकर के ही उसे विषय करती है, अत तन्मय वृत्ति का विषय होने से भी उसे तन्मय कहा जाता है।

३ **ईशे सम्यक् स्थितिर यस्य इति यावत्। ईशे आत्मस्वरूपे भूम्नि स्वे महिम्नि सम्यक् स्थिति यस्य स ईशसस्थ इति वा। ईशत्वेन सम्यक् अवस्थितः इति वा। नारायणस्तु ईशसञ्ज्ञ इति पठति ईशनामा इत्यर्थ।**

४ ईशे अर्थात् ईश्वर मे जिसकी सम्यक् स्थिति हो, उसको ईशसस्थ कहते है। तात्पर्य है कि जिसमे ईश्वरभाव नित्य रहे अथवा ईशे अर्थात् आत्मस्वरूप मे या स्वरूप महिमा रूपी भूमा मे सम्यक् अवस्थान जिसका हो, वह ईशसस्थ है। अथवा ईश्वर रूप से **सम्यक् अवस्थिति ईश्वरसंस्थान**। पाठातर मे तो ईश उसका नाम है, यह भाव है।

५ चित् प्रकाश। इसके द्वारा अचेतनता का वारण किया गया।

६ ज्ञानैकस्वभाव होने पर भी जीव की तरह परिच्छिन्न होगा, इसकी निवृत्ति के लिये यह पद है। तात्पय है कि वह तीनो परिच्छिन्नताओ से रहित है। अथवा जो सब जगह जाता है, वह सर्वग है। अथवा सबके साक्षी रूप से सबको जानता है, इसलिये सर्वग है।

७ परिदृश्यमान जगत् कर्मफल रूप है। अत भवन धर्म युक्त जो दृश्य प्रपच है, उसी को यहा कहा गया है।

८ आनदप्रद रूप से उनका पालन अथवा रक्षण करता है।

९ ईशे माने ईष्टे अर्थात् शासन करता है। रक्षक प्रजापति इत्यादि भी हो सकता है परन्तु ऐसे रक्षको का भी वह नियत्रण करने वाला है। अथवा बहुत से रक्षक नियत्रण करने मे असमर्थ होते है। जैसे पिता पुत्र का पालन और रक्षण करने पर भी उसका शासन करने मे असमर्थ हो जाता है, ऐसे ही परमेश्वर हो, इस शका की व्यावृत्ति के लिये यह पद है।

वस्तुतस्तु यह ईशे हेतु वाक्य है। अर्थात् उसकी ईशता ही प्रयुक्त सब चीजो मे असली कारण है। वह विश्वरूप है क्योकि विश्व बनने की उसमे सामर्थ्य है। अथवा वह उन्हे प्रकाशित करने मे समर्थ हैं। मृत्यु का शामन करने से अमृत है। ब्रह्मा, विष्णु आदि मे स्थित

होकर उनका भी शासन करता है। ज्ञान मे समर्थ है। सर्वत्र जाने या सब को जानने मे समर्थ है। इस प्रकार प्रयुक्त सभी विशेषण ईश के द्वारा ही सिद्ध होते हैं। इसीलिये परमात्मा को शास्त्रो मे प्राय ईश्वर शब्द से ही कहा गया है। यद्यपि लक्षणा के द्वारा अन्यत्र भी कही कही ईश्वर शब्द का प्रयोग है परन्तु वस्तुत केवल शिव ही ईश्वर पद के वाच्य है। **ईश्वर सर्व ईशान शकर चद्रशेखर** ।

१० प्रत्यक्ष दृश्यमान विविध प्रत्ययगम्य सर्वकार्य जात।

११ वह परमात्मा क्योकि आनद स्वरूप है एव आनद ही जगत् की सारी प्रवृत्तियो के प्रति कारण है। इसीलिये वह आनदरूप परमात्मा सबका शासक नियामक बना रहता है। आनद उसका नित्य स्वभाव है। अत कहा जाता है कि इस सारे जगत् का वह नित्य अर्थात् नियम पूर्वक शासन करता है। आनंद के सिवाय और कोई भी नियामक नियम पूर्वक उपलब्ध नही होता। अथवा नियम पूर्वक उत्पत्ति, स्थिति, प्रलय इत्यादि सब होता है। अत उसे नियम से शासन करने वाला कह रहे हैं। अथवा वह ही सदा शासन करने वाला बन जाता है। अथवा किसी के ऊपर शासन करता है तो कही शासित हो जाता है। अथवा दूसरे के द्वारा नियन्त्रित किया जाता है।

अथवा **नित्यम् अन्य हेतु न विद्यते** ऐसा भी अन्वय होता है। तब अर्थ होगा कि परमेश्वर के सिवाय सदा अथवा नियम से शासन करने वाला और कोई दूसरा नही हो सकता।

१२ हिरण्यगर्भ आदि की तरह कर्म और उपासना से जन्य भी ऐश्वर्य हो सकता है। उसको निवृत्त करने के लिये यह पद है। तात्पर्य है कि उसका ईश्वर भाव सहज सिद्ध है, किसी कारण वशात् नही है। अत सर्वत्र ईशन क्रिया का वही कर्त्ता है, उससे भिन्न कोई

नही । जहा प्राण आदि पचकोशमयता मे अथवा विराट हिरण्यगर्भ ब्रह्मा, विष्णु आदि मे शासनत्व देखा जाता है, वहा पर भी वही उनके भीतर बैठा हुआ वस्तुत शासन कर रहा है। अत वह एकदेशीय ईश्वर नहीं ।

१३ इस आत्मा से भिन्न हुआ हुआ कोई भी कुछ भी नही कर सकता । तात्पर्य है कि कोई शका कर सकता है कि चाहे वह शासन करने वाला हो, लेकिन घट, पट आदि अन्य कार्यो के प्रति कुम्हार आदि का भी ईशन सम्भव है । इस की व्यावृत्ति के लिये यह कहा गया कि जहा कुम्हार घडा इत्यादि बनाता है, वहा भी कुम्हार रूपी उपाधि मे परिच्छिन्न शिव ही वस्तुत घडे का बनाने वाला है। सवरूप होने से ईश्वर ही एकमात्र नियामक है, यह भाव है। इस ज्ञान की दृढता से कर्त्तृत्व भाव की निवृत्ति हो जाती है । कर्त्ता भाव की निवृत्ति होते ही भोक्ता भाव की निवृत्ति स्वभावत होती है। कर्त्तृत्व भोक्तृत्व ही ससार है, अत कर्त्तृत्व भोक्तृत्व की निवृत्ति ही ससार की निवृत्ति है। शाकर वेदात परिच्छिन्न प्रविलयवादी तो कभी नही रहा अर्थात् यह परिच्छिन्नता कही चली जाती हो, ऐसा नही है, वह अपने कर्त्तृत्व भोक्तृत्व की निवृत्ति से शोक, मोह आदि की निवृत्ति हो जाती है । इस प्रकार जो साधन का प्रकरण प्रारभ किया था, वह यहा समाप्त हुआ ।

१८

चू कि परमात्मा ही एकमात्र मोक्ष का कारण है, अत उसकी शरण मे जाना ही साधक का परम कर्त्तव्य है —

यः ब्रह्माणम् विदधाति पूर्वम् यः वै वेदान च प्रहिणोति तस्मै । तम् ह देवम् आत्मबुद्धिप्रकाशम् मुमुक्षुः वै शरणम् अहं प्रपद्ये ॥

य =जो[१]
पूवम्=पहले
ब्रह्माणम्=ब्रह्मा को[२]
विदधाति=बनाता है,[३]
च=तथा
य =जो
वै=निश्चित रूप से[४]
तस्मै=उसे
वेदान्=वेदो को[५]
प्रहिणोति=देता है,[६]
तम्=उस
ह=प्रसिद्ध
आत्मबुद्धिप्रकाशम्=अपनी बुद्धि के साक्षी[७]
देवम्=महादेव को
अह=मै
मुमुक्षु =मोक्ष की इच्छा वाला[८]
वै=पूर्ण रूप से
शरणम्=शरण को[९]
प्रपद्ये=प्राप्त होता हू ।[१०]

१ शासन करने वाले रूप से प्रसिद्ध एव आनन्दघन रूप से वेदों द्वारा उक्त जो ब्रह्म सगुण निर्गुण उभयरूप है, उसी को यहा कहा जा रहा है।

२ सर्वजीव समष्टि रूप हिरण्यगर्भ जो अवातर सृष्टि करने वाला है, सबसे पहले इसकी सृष्टि होने पर भी आगे यह पचमहाभूत इत्यादि की सृष्टि करता है, यह प्रसिद्ध है। यद्यपि हिरण्यगर्भ पद उसी का होता है जो पूर्व कल्प मे ज्ञान प्राप्त कर चुका है, परन्तु तप आदि के वैशिष्ट्य से उसमे आधिकारिकता होती है और वह भी माया का नियामक बन सकता है।

३ माया से बनाता है अर्थात् सचमुच बनाता है, ऐसा नहीं समझना चाहिये।

४ वेद को परमात्मा ही महाप्रलय के बाद सर्वप्रथम ब्रह्मा को देता है और उस वेदज्ञान से ही ब्रह्मा सृष्टि करने मे समर्थ होता है। निश्चित रूप के द्वारा यह भी बताया गया कि केवल वेद की शब्द-राशि ही नही वरन् अर्थराशि भी देता है। प्रश्न हो सकता है कि

फिर मन्त्रों के ऋषि इत्यादि क्यो कहे गये ? ब्रह्मा जिस ऋषि को जिस मन्त्र के सिद्ध ज्ञान को देते हैं, वह ऋषि ही उस मन्त्र का द्रष्टा हो जाता है। परन्तु वस्तुत शिव के द्वारा ब्रह्मा को और ब्रह्मा के द्वारा विष्णु को दिया गया, ऐसा क्रम है। वेदार्थ का ज्ञान ही ब्रह्मा को विविध सामर्थ्ययुक्त बनाता है। अत पूर्व कहे हुए विदधाति का भी इसके साथ सम्बन्ध है। तात्पर्य है कि वेद के मन्त्रो के ज्ञान से हिरण्यगर्भ मे सामर्थ्य आती है जैसी कि हम लोगो मे भी आती है। परन्तु उसके लिये वेद के समग्र मन्त्र सिद्ध होने के कारण वह समग्र शक्तियो वाला है और हम लोगो को एक-दो मन्त्र सिद्ध होने के कारण हम लोग उतनी ही शक्ति वाले बनते है।

५ प्रसिद्ध स्मर्यमाण ऋग्वेद आदि। यद्यपि वेद का मूल अर्थ ज्ञान ही है, परन्तु ज्ञान बिना शब्द के असम्भव है। अत जब ब्रह्मा के हृदय मे ज्ञान का आधान होता है तो तदनुरूप शब्दो का आधान भी हो ही जाता है। यद्यपि वेद नित्य है परन्तु महाप्रलय मे सम्प्रदाय का विच्छेद हो जाता है। हिरण्यगर्भ ही योग्य अधिकारी होने से शिव उसे ही सर्वप्रथम वेदो का अधिकार देते हैं जिससे सम्प्रदाय की सिद्धि हो। **स पूर्वेषामपि गुरु कालेनानवच्छेदात्** इत्यादि शास्त्र-वाक्य भी स्पष्ट कहते हैं कि सबका आदिम गुरु ईश्वर ही है। किंच, यह भी समझ लेना चाहिये कि जब-जब वेद सम्प्रदाय विच्छिन्न होता है तब-तब परमेश्वर पुन योग्य आत्मवेत्ताओ को उसका ज्ञान देकर सम्प्रदाय पुन प्रारंभ कर देता है। उनका यह सम्प्रदान जैसा सृष्टि के आदिकाल मे था, वैसा ही आज भी है और हमेशा ही रहेगा। योग्य अधिकारी यदि उनकी शरण मे जाता है तो अन्य साधनों के न रहने पर भी वे कृपामय उसे वेद का ज्ञान दे ही देते हैं। इस विषय मे याज्ञवल्क्य का प्रमाण स्मरण रहना चाहिये जिन्होने साक्षात् हिरण्यगर्भ से ही पुन शुक्ल यजुर्वेद संहिता को प्राप्त किया

था। जिस समय गुरु शिष्य को मत्रोपदेश करता है, उस काल मे वह अपने आपको इस ईश्वर तत्त्व से अभिन्न समझ कर के ही करता है अर्थात् गुरुमूर्ति के द्वारा शिव ही उपदेष्टा होते है, यह निगम रहस्य है। यहा पर **प्रहिणोति** मे वर्तमानकाल का प्रयोग नित्य ही ईश्वर के द्वारा उपदेश होता है, इस बात का प्रतिपादन करने के लिये है।

६ **प्रकर्षेण समर्पयति।** उसको वेद का समर्पण करता है। तात्पर्य है कि न केवल वेदमत्र और अर्थो का उपदेश करता है वरन् उन मत्रो के सिद्ध ज्ञान और साधन ज्ञान को भी देता है। ब्रह्मा को उन मत्रो को सिद्ध करने के लिये अलग से प्रयत्न नही करना पडा। यही समर्पण है। इसी को लौकिक भाषा मे गुरुकृपा एव आगम भाषा मे शक्तिपात कहा जाता है।

७ आत्मा मे कल्पित रूप से बुद्धि उसी को साक्षी रूप से प्रकाशित करती है, इससे परमेश्वर को आत्मबुद्धि प्रकाश कहा जाता है। अथवा आत्मा ही बुद्धि है। तात्पर्य है कि बुद्धि वृत्ति मे ही आत्मा का ज्ञान होता है परन्तु उस बुद्धि वृत्ति का आत्मा स्वय आत्मा ही है। अत आत्मा ही बुद्धि अर्थात् आत्माकार वृत्ति, वही प्रकाश है। वही प्रकाश है जहा, वह परमात्मा आत्मबुद्धिप्रकाश है। तात्पर्यार्थं हुआ कि आत्माकार वृत्ति के द्वारा आत्मज्ञान होता है उसे आत्मबुद्धि कहा गया और आत्मबुद्धि के द्वारा क्योकि अज्ञान नष्ट होता है, इस लिये उसे प्रकाश कहा गया **आत्मैव बुद्धिः स एव प्रकाश अस्य इति आत्मबुद्धिप्रकाशः।** अथवा परमात्मा अपनी बुद्धि से ही जाना जाता है अर्थात् कोई दूसरा हमारे लिये आत्मज्ञान नही कर सकता। अथवा वस्तुत वह शास्त्र आदि का भी या उपदेश आदि का भी अविषय ही है। अत खुद अपने अन्दर खुद ही जान सकता है। **मनसैवानुद्रष्टव्यम्** इत्यादि श्रुतिया इसमे प्रमाण है। अथवा आत्मबुद्धि

अर्थात् मै ब्रह्म हू इस प्रकार आत्म विषयक बुद्धि, उसको जो प्रकाशन करता है वह आत्मबुद्धिप्रकाश हुआ। अथवा बुद्धि माने ज्ञान अर्थात् स्वानुभव वही प्रकाश है जिसका, वह आत्मबुद्धिप्रकाश है।

कही कही आत्मबुद्धिप्रसादम् ऐसा पाठ भी मिलता है। तब आत्मविषयक बुद्धि को प्रसाद कर, यह अर्थ होगा। अर्थात् निर्मल अन्त करण से, उसकी कर्त्तारूप से स्थित जो बुद्धि, उस स्वाभाविकी बुद्धि का प्रसादन करने वाला प्रत्यग् आत्मा आत्मबुद्धिप्रसादन से कहा गया। अथवा वह देव, ज्योतिर्मय आत्मा मे लगी हुई जो बुद्धि है उसपर प्रसाद अर्थात् कृपा करती है। अथवा आत्मा मे लगी हुई बुद्धि ही प्रसन्न अर्थात् मल आदि दोषो से रहित हो जाती है। जैसे लहर और मैल रहित तालाब को प्रसन्न सर कहा जाता है, वैसे ही यहा समझना चाहिये। परमेश्वर के प्रसन्न होने पर बुद्धि भी निष्प्रपचाकार ब्रह्म रूप से स्थिर हो जाती है, यही प्रमा है जो सारे अज्ञान को नष्ट कर देती है।

८ कैवल्य मोक्ष को चाहने वाले के लिये ईश्वर शरणागति से भिन्न दूसरा कोई उपाय नही है। वै इसके साथ अन्वय करके मुमुक्षु हुआ हुआ ही, अर्थात् मोक्ष के सिवाय और किसी भी फल की इच्छा को समाप्त किया हुआ ही परमेश्वर की शरण मे वस्तुत जा सकता है। अथवा आत्मा के आवरण रूप अविद्या तथा शरीर अत.करण इत्यादियो को जो प्रकाशित करता है, वह मुमुक्षु है। 'मैं अज्ञानी हू, मैं काला हू, मैं मूर्ख हूं' आदि अनुभूतिया जिसमे है और जो इन अनुभूतियो से छूटना चाहता है वही मुमुक्षु है। यद्यपि श्वेताश्वतर महर्षि आत्मज्ञानी होने से मुमुक्षु पद के वाच्य नही हो सकते तथापि यहा साधक की शरण लेने की प्रकारता को बता रहे है। अथवा ज्ञान की दृढता मे तो यावत् अतःकरणो मे अपना ही प्रतिबिम्ब देखकर प्रतिबिम्ब द्रष्टा, ऐसा प्रयोग बन सकता है। मुमुक्षुत्व आदि अधि-

कार सम्पन्न अनुभव सिद्ध होने पर ही यह बात बनती है । यहां मुमुक्षु हेतुगर्भ विशेषण है अर्थात् चूंकि तुम मोक्ष के इच्छुक हो, इसलिये मोक्ष की सिद्धि के लिये ही परमेश्वर की शरण लेता हू, यह भाव है ।

९ रक्षा करने वाले को शरण कहा जाता है अर्थात् वह हमे मोक्ष देने मे समर्थ है और ससार समुद्र से हमारी रक्षा करने मे समर्थ है ।

१० प्र माने भली प्रकार और पत् माने गमन । अत मैंने भली प्रकार आप रक्षक को प्राप्त कर लिया है । ससार मे बाकी सब चीजो का परीक्षण करने के बाद जब और कोई भी सहारा नही मिला तब मोक्ष की कामना वाले मैंने अन्य सब सहारो को छोडकर केवल आपका सहारा पकडा है । प्रपत्ति का वास्तविक अर्थ होता है अन्य सब पत्तियो को छोडना, चाहे वह विपत्ति हो चाहे सम्पत्ति । जब सम्पत्ति विपत्ति दोनो को छोडकर परमेश्वर की तरफ जाते हैं तभी प्रपत्ति है ।

१६

निष्कलम् निष्क्रियम् शान्तम् निरवद्यम् निरञ्जनम् ।
अमृतस्य परम् सेतुम् दग्धेन्धनम् इव अनलम् ॥

निष्कलम् = कला रहित,[1]
निष्क्रियम् = क्रिया रहित,[2]
शान्तम् = शान्त,[3]
निरवद्यम् = दोषरहित,[4]
निरञ्जनम् = कालिखरहित,[5]
अमृतस्य = मोक्ष का
परम् = श्रेष्ठ
सेतुम् = पुल,[6]
दग्धेंधनम् = जले हुए इंधन[7]
इव = की तरह
अनलम् = आग ।[8]

१ पूर्वोक्त १६ कलाओं से रहित । इसके द्वारा परिणाम करने

वाली उपाधि का अभाव बताया। तात्पर्य है कि किसी भी प्रकार के परिणाम के लिये क्या अवयवो का परिणाम माना जाये या अवयवविशिष्ट का। अवयवी द्रव्य का परिणाम मानने पर तो निरश का भी परिणाम मानना पड जायेगा। अवयवविशिष्ट का माना जाये तो भी अवयव निरश होगा, उसका परिणाम प्राप्त हो जायेगा। अवयवो से प्रारम्भ होकर अवयवी मे प्रमाण परिणाम को यदि माना जाये तो तत्तद् अवयवविशिष्ट अवयवी म उसकी प्रमाणता अगीकार करनी पडेगी। अवयव और अवयवी मे प्रमाण परिणाम का तत्तद् अवयवविशिष्ट अवयव वाले अवयवी मे इस प्रकार अतिम अवयव और परमाणु मे पहुँचने पर फिर पहले निरश का ही परिणाम मानना पडेगा। इसी प्रकार निरश ब्रह्म मे भी महद् आदि रूप से परिणामिता हो जाये, ऐसी शका होने पर श्रुति ने उसे निष्कल बता दिया। तात्पर्य है कि अवयवी के परिणामी मान लेने पर अवयव का विशेषण रूप से उपकारकत्व नही रह जायेगा। उपाधि रूप से उपकारकता स्वीकार करने पर उपाधिभूत अवयव सम्बन्धो का अभाव होने से ब्रह्म की वरीयता नही बनेगी अत निष्कल का तात्पर्य हो गया परिणाम वाली उपाधि के अभाव वाला परमात्मा।

२ आरम्भ एव परिणाम दोनो प्रकार की क्रियाओ का अभाव कहा जा रहा है। अधिकारी होने से ही वह पूर्ण है, यह भी भाव है। क्रिया वाला होने पर ही कला वाला भी होता है। अत यह निष्कलत्व मे हेतु भी है। अथवा अपनी महिमा मे प्रतिष्ठित अर्थात् कूटस्थ होने से उसे निष्क्रिय कहा गया।

३. सारे विकारो का उपसहार हो जाने से वह शात कहा गया। अथवा परिणाम होने से ही क्रिया होती है, ऐसा मानकर उसे अपरिणामी कह दिया। देह आदि परिणामी वस्तुयें पूर्वावस्था को छोडकर उत्तर अवस्था मे जाती हैं एवं उसको भी छोडकर उससे भी

उत्तरावस्था को जाती है। इस प्रकार वे हमेशा व्यापार करती रहती है, इसी का नाम अशान्ति है। इसी को परिणाम भी कहते है। ब्रह्म मे इस प्रकार का व्यापार नही है, यह भाव है। तात्पर्य है कि ब्रह्म मे परिणाम क्रिया का अभाव होने से परिणाम के फलरूप क्रियात्मकता की उसे प्राप्ति नही है। विचार से देखने पर परिणामिता में यदि जडत्व को प्रयोजक माने तो चित्ता नही होगी एव चित्ता को प्रयोजक माने तो जडता नही होगी। इस प्रकार अन्योन्य व्यभिचार से दोनो की प्रयोजकता असम्भव हो जाती है। अत एक को ही प्रयोजक मानना पडेगा। तब सबको सम्मत जड की ही परिणामिता अगीकार करनी होगी। एव जड रूप न होने से ब्रह्म की परिणामिता असम्भव है। यह शान्त पद के द्वारा बता दिया।

४ वस्तुतस्तु निर्दोष रूप होने से ही ब्रह्म मे जडरूपता नही है एव जडरूप न होने से ही वह परिणामी भी नही हैं। सहकारी साधन सयुक्त शक्त्य पदार्थ की ही परिणामिता देखी जाती है। ब्रह्म मे तो शक्ति सहकारी सम्बन्ध से भी नही है, यह निरवद्य का तात्पर्य है। रहस्य है कि अविद्या दोष दूषित मानकर उसमे परिणामिता की प्राप्ति कराई जा सकती थी, उसका निषेध कर दिया गया कि अविद्या आदि और दोष भी उसमे नही हैं। अथवा वह अविद्या अर्थात् दोष रहित है। अत गर्हा के योग्य नही है, यह भाव है।

५ गर्हा रहित पदार्थ भी किसी लेप के द्वारा गर्हा वाला बन जाता है। अत निरजन है अर्थात् निर्लेप है। किसी लेप से भी वह गर्हणीय नही बन सकता यह भाव है। अजन का अर्थ आख मे लगाने वाला काजल भी होता हैं जो सौन्दर्य या आख की ज्योति को बढाने वाला माना जाता है। परमात्मा को कोई भी चीज सुशोभित नही कर सकती। अत उसे निरजन कह दिया। अजन का अर्थ कारण भी होता है, अत. कारण रहित होने से भी वह निरजन है।

६ ससार और उसका कारण अविद्या मृत कही जाती है। यह न होने से मोक्ष अमृत कहा गया। यहा पुल का मतलब कोई भौतिक पुल नही समझना चाहिये बल्कि पुल की तरह होने से उसे पुल कहा जाता है। मै ब्रह्म हू इस प्रकार का जो ज्ञान है, वह मृत अर्थात् अह और अमृत अर्थात् ब्रह्म का मानो पुल है। ब्रह्माकार वृत्तिविशिष्ट ब्रह्म बुद्धिसम्पृष्ट हुआ हुआ अविद्या और उसके काय की निवृत्ति कर देता है। इस प्रकार निवृत्ति स्वरूप हुआ हुआ यह सेतु कहा जाता है। इसे उत्कृष्ट सेतु इसलिये कहा गया कि अन्य सेतु सर्वथा नवीन प्रकार की अनुभूति के हेतु नही बनते परन्तु यह तो सब अनुभूतियो से सर्वथा भिन्न अखण्ड ब्रह्म मे ले जाता है।

अथवा बृहदारण्यक मे कहे हुए प्रकार से जो सब चीजो को धारण करता है एव सब चीजो को मर्यादित रखता है उसे सेतु कहा गया। लोक मे भी धर्म सेतु का अर्थ यही होता है कि जो धर्म को धारण करे और धर्म की मर्यादा को स्थिर रखे। तब अर्थ होगा कि अविनाशी मोक्ष को धारण करने वाला वही है एव मोक्ष की मर्यादा बनाने वाला भी वही है। हर हालत मे ससार समुद्र से उतरने का उपाय एकमात्र ब्रह्म ही है।

७ जब ईंधन धधक उठती है तब जैसे तीव्र प्रकाश होकर के अधकार नष्ट हो जाता है उसी प्रकार परमेश्वर भी धधकती हुई अग्नि के समान है एव अविद्या अधकार को नष्ट कर देता है।

अथवा जिस प्रकार बहुत लकडियो का समुदाय भस्म हो जाता है तब अग्नि शात हो जाती है। इसी प्रकार परमेश्वर परम शान्त रूप है। अविद्या और तत्कार्य के अभाव वाला हैं, यह भाव है। बुद्धि सम्बन्ध से उपलक्षित शिवोह तत्त्व अपने तिरस्कार करने वाले अविद्यारूप द्वैत प्रपच को शिवोह रूप से ही बना लेता है। जिस

प्रकार लकडी जलती हुई अग्निरूप ही हो जाती है। अत मे अनत सुख चिन्मात्र रूप से मोक्ष मे अवस्थित हो जाता है, यह भाव है।

पूर्वोक्त श्लोक से शरण प्रपद्ये का अध्याहार कर लेना चाहिये। इस प्रकार परमेश्वर देश, काल, वस्तु से अपरिच्छिन्न अविकारी, नि सग, सच्चिदानद और प्रत्यगात्मरूप ही अध्यास के द्वारा अपनी माया से सर्वज्ञ सृष्टि, स्थिति, लय का कर्त्ता और सर्वान्तर्यामी बने हुए को मुमुक्षु अपने से अभिन्न रूप से समझ कर उससे द्वैत भ्रम को नष्ट करके अपने ही स्वरूप मे स्थित कर लेता है। इसके सिवाय और कोई उपाय उसकी प्राप्ति का नही है। यह इन मत्रो मे प्रतिपादित कर दिया।

८ अग्नि को अनल कहते है क्योकि अग्नि कभी भी अलम् अर्थात् पर्याप्त हो गई, ऐसा नही कहती। तात्पर्य है कि जितनी भी आहुति डाली जाये वह बढती हो जाती है। परमात्मा भी पूर्ण होने के कारण कभी भी अलम् अर्थात् परिच्छिन्न बुद्धि का विषय नही बनता, इसीलिये उसे अनलम् कह दिया गया।

२०

यदा चर्मवत् आकाशम् वेष्टयिष्यन्ति मानवाः।
तदा शिवम्[1] अविज्ञाय दुःखस्य अन्तः भविष्यति ॥

यदा = जब[2]	शिवम् = शिव का[5]
मानवा = मनुष्य[3]	अविज्ञाय = साक्षात्कार किये बिना[6]
आकाशम् = आकाश को	दु खस्य = दु ख का[7]
चर्मवत् = चमडे की तरह	अन्त = आत्यन्तिक नाश[8]
वेष्टयिष्यन्ति = लपेट लेगे,	भविष्यति = होगा।
तदा = तब[4]	

१ देवम् इति वा पाठ।

२ यदा का अर्थ यद्वत् भी होता है अर्थात् जिस प्रकार। जिस प्रकार चमडे के आसन इत्यादि को मनुष्य गोल करके लपेट लेता है वैसे ही यदि अमूर्त व्यापी आकाश को कोई मोडमाड सके, इस प्रकार का असम्भव द्योतन श्रुति का तात्पर्य है। अथवा जिस काल मे ऐसा असम्भव काम हो सकेगा उस काल मे ज्ञान बिना मोक्ष जैसा भी असम्भव काम होने लगेगा। कुछ आचार्यो ने तो ऐसा भी माना है कि जिस काल मे मनुष्य दिगम्बर होकर रहेगा, उस काल मे ज्ञान के बिना भी केवल त्याग के सहारे मोक्ष हो सकेगा। परन्तु ऐसा कथन उपहासास्पद है क्योकि यदि दिगम्बरता मोक्ष मे कारण हो तो सभी पशु स्वभाव से ही मुक्त हो जाये। तथापि यदि इसका भाव समुच्चय मे मान लिया जाये अर्थात् जब मनुष्य शरीर को छोडकर और किसी भी चीज का परिग्रह नही रखेगा, तब ज्ञान सहकारी कारण बन सकेगा तो कोई हर्ज नही है। अथवा जैसे चमडा सारे शरीर को वेष्टन करके रहता है, उसी प्रकार भूतल सन्निहित आकाश का वेष्टन किया जायेगा अर्थात् ऊर्ध्वहस्त होकर भूतल मे विचरण किया जायेगा। तब ईश्वर अप्राकृत प्रलय जीव विश्राम के लिये करेगा। महाप्रलय मे दुःख का अत हो जाता है। इसीलिये इस मत्र मे आनद की प्राप्ति नही बताई है वरन् दुःख की निवृत्ति ही बताई है। न्याय इत्यादि मतो मे तो दुःख की समाप्ति को ही मोक्ष माना जाता है। अत प्रकृति लय आदि अवस्था बताने वाला यह मत्र है, ऐसा भी आचार्यो को सगत लगता है।

अथवा कर्म आदि साधनो के द्वारा परमात्मा को न जानकर मुमुक्षु जब चर्म की तरह आकाश को शरीर पर पहन लेंगे अर्थात् सवकर्म सन्यास करके केवल अम्बर मात्र का परिग्रह रखेंगे तभी आत्मज्ञान सम्भव हो सकेगा। अथवा परिग्रह अभाव से दुःखाभाव हो जाता है क्योकि परिग्रह से ही दुःख है, यह बताने के लिये यह मत्र

है। **न कर्मणा न प्रजया धनेन** इत्यादि श्रुतिया भी यहा अनुसधेय है। वस्तुतस्तु इन सब अर्थों की कल्पना आयासमात्र ही है। श्रौत तात्पर्य तो अमूर्त आकाश की चर्मवत् परिधानता को असम्भव बताकर शिव के ज्ञान के बिना मोक्ष असम्भव बताने मे ही है। अतः शिव की प्रसन्नता के लिये ही प्रयत्न करो, यह तात्पर्य है।

३ मनु की सतति को मनुष्य कहते है। इसके द्वारा जो भी मनु के सिद्धान्तो को स्वीकार करता है, उन सबका आत्मज्ञान मे अधिकार माना जा रहा है। वस्तुतस्तु जिसमे भी धर्म अधर्म आदि विवेक करने का सामर्थ्य है वे सभी मन वाले होने से मनुष्य पद के वाच्य है। अत आत्मज्ञान मे मानव मात्र का अधिकार है। **न कर्म लिप्यते नरे** इत्यादि श्रुतियो मे भी नरमात्राभिमानी का अधिकार माना है। आत्मज्ञान एव उसके साधन क्रिया योग तथा तप, स्वाध्याय, ईश्वर-प्रणिधान मे मानवमात्र का अधिकार है।

४ यह सम्भावित काल वचन समझना चाहिये क्योकि वस्तुतस्तु ऐसा काल कभी आता हो नही है।

५ क्लेश, आदि रहित, सकृत् विभात ज्ञान रूप से अवस्थित, अशनायादि असंस्पृष्ट, स्वय प्रकाश, प्रकृति एव प्राकृत मलों से अनास्कदित स्वरूप, प्रत्यगात्मा से अभिन्न है। यही उसकी शिवता है। ये सारे ही उपनिषद् परमात्म तत्त्व का शिवरूप मे ही वर्णन करते हैं। कही तद्-वाच्य रुद्र शब्द का भी प्रयोग है। वस्तुतस्तु औपनिषद् सिद्धान्त मे चरम तत्त्व को शिव नाम से ही कहा गया है। एव इसीलिये वेदात सम्प्रदाय मे शिव का ही प्रधान रूप से पूजन किया जाता है।

६ यहा केवल परोक्ष ज्ञान न लेकर मनन, निदिध्यासन सहकृत ज्ञान लेना चाहिये जहा इतिकर्त्तव्यता शम, दम आदि के द्वारा प्राप्त होती है। अनुभव रूप ज्ञान ही विज्ञान कहा जाता है। अत मै शिव हू इस विशेष ज्ञान को ही यहा बताया जा रहा है। **शिव को अपने**

से भिन्न जानकर जो परोक्ष ज्ञान होता है वह दु ख को आत्यतिक निवृत्त करने मे समर्थ नही होता, चाहे समाधि इत्यादि की तरह किंचित् काल के लिये या प्रलय पर्यन्त दीर्घकाल के लिये, दु ख का निवारण कर सके।

७ आध्यात्मिक, आधिदैविक, आधिभौतिक इत्यादि भेदो से भिन्न प्रतिकूल वेदनीयता को दु ख कहा जाता है। अज्ञात आत्मा ही ससार का निमित्त है। अत ज्ञात आत्मा ही ससार का नाशक हो सकता है। जब तक आत्मा ज्ञात नही होता तब तक राग आदि मगरो के द्वारा इधर उधर खिचा जाकर प्रेत, पशु आदि योनियो मे अज हुआ हुआ भी अपने आपको मोह मे पडकर ससरित हुआ हुआ अनुभव करता है। जब वेदात वाक्यो के द्वारा अपने पूर्ण आनन्द-स्वरूप को जानता है तब अज्ञान और उसके कार्य से छूटकर पूर्ण आनन्दरूप ही हो जाता है।

८ यद्यपि सुषुप्ति मे भी दु ख की निवृत्ति है परन्तु वह अविद्या-ग्रस्त होने के कारण तथा काल से परिच्छिन्न होने के कारण यहा इष्ट नही है। काम्य विषयो की प्राप्ति काल मे भी इच्छा के उपशमन मे दु ख का अन है परन्तु वह भी क्षणिक होने से यहा इष्ट नही है। महाप्रलय पराधीन होने से यहा इष्ट नही। अत इन सभी चीजो से निर्मुक्त पूर्ण आनन्दस्वरूपता की प्राप्ति और सर्वविध दु ख की आत्यन्तिक निवृत्ति ही यहा इष्ट है। इसके बाद किसी भी देश, काल और वस्तु से दुःख होना सम्भव नही रह जाता।

२१

तपःप्रभावात् देवप्रसादात् च ब्रह्म ह श्वेताश्वतरः अथ विद्वान्। अत्याश्रमिभ्यः परमम् पवित्रम् प्रोवाच सम्यक् ऋषिसंघजुष्टम् ॥

अथ=बाद मे[२]
ह=प्रसिद्ध है कि[३]
विद्वान्=विद्वान्[४]
श्वेताश्वतर =श्वेताश्वतर ने[५]
तप प्रभावात्=तप के प्रभाव से[६]
च=तथा
देवप्रसादात्=महादेव की कृपा से[७]
ऋषिसघजुष्टम्=ऋषिसघ से सेवित[८]
परमम्=परम[९]
पवित्रम्=पवित्र[१०]
ब्रह्म=ब्रह्म को[११]
अत्याश्रमिभ्य =आश्रमातीतो के लिये[१२]
सम्यक्=भली प्रकार[१३]
प्रोवाच=बताया ।[१४]

१ शकरानन्द ब्रह्मवित् इति पठति ।

२ शिव के उद्देश्य से बहुत जन्मो तक परमेश्वर की आराधना करके एव शुद्ध आत्मतत्त्व के अधिकार सिद्धि को प्राप्त कर अपने अनुभव के दृढ होने के बाद । यदि इसका सम्बन्ध अत्याश्रमिभ्य के साथ लगाये तो साधनचतुष्टय सम्पत्ति प्राप्त करने के बाद, ऐसा भी अर्थ हो सकता है । वस्तुतस्तु सम्प्रदाय परम्परा के द्वारा ही प्राप्त ब्रह्मविद्या मोक्ष रूप फल उत्पन्न करने मे समर्थ होती है । अत यहा दोनो अधिकारो का प्रतिपादन समझा जा सकता है ।

३ श्वेताश्वतर महर्षि वैदिक ऋषियो मे एक अतिमहत्त्वपूर्ण स्थान रखते है । एक पूरी की पूरी वैदिक शाखा के ऋषि होने के नाते उनका वैदिक ऋषियो मे वही स्थान है जो याज्ञवल्क्य का अथवा पिप्पलाद का । यह स्मर्तव्य है । याज्ञवल्क्य, पिप्पलाद एव श्वेताश्वतर तीनो ही अद्वैत वेदात के प्रधान आचार्यो मे है । वस्तुतस्तु ऋग्वेद मे सर्वाधिक मत्रो के द्रष्टा वशिष्ठ इत्यादि भी वेदात के माननीय आचार्य रहे हैं । इससे सिद्ध होता है कि वेदो का सिद्धान्त अद्वैत है, यह केवल परवर्ती मान्यता नही वरन् वैदिक काल से ही प्रत्यक्ष सिद्ध है ।

४ जीव ब्रह्म की एकता को जानने वाले को ही वेदात शास्त्रो मे विद्वान् कहा जाता है। केवल किसी परोक्ष पदार्थ के ज्ञाता को यहा विद्वान् नही माना जाता। अथवा विद्वान् विदन् सन् अर्थात् जाने हुए। इस ज्ञान को जानते हुए ही उन्होने उपदेश दिया। अत अनुभूति से युक्त होने के कारण इसकी उपादेयता को बताने मे तात्पर्य है। जहा तो ब्रह्म ह की जगह ब्रह्मवित् ऐसा पाठ मिलता है, वहा विद्वान् से अर्थत. पुनरावृत्ति हटाने के लिये ब्रह्म का अर्थ सागवेद कर लेना चाहिये एव उसको जानने वाले ब्रह्मविन् ईश्वर के समान श्वेताश्वतर, ऐसा तात्पर्य हो जायेगा।

साधनचतुष्टयसम्पन्नता के बाद स्वय प्रकाश परमात्मा का साक्षात्कार करने वाला, इस प्रकार अथ विद्वान् अन्वय करने पर बन जाता है तथा विद्वान् अथ ऐसा अन्वय करने पर अनुभव प्राप्ति के अननर उपदेश किया, ऐसा तात्पर्य बन जाता है। प्रथमार्थ मे विद्वान् का विद्वन् सन् अर्थ अधिक उपयुक्त होता है। वस्तुतस्तु मत्रो की अनेकार्थता के द्वारा दोनो ही अर्थो का सग्रह कर लेना चाहिये। समग्र विद्या एव योग की प्राप्ति कर लेन पर भी अनेक लोगो मे ब्रह्मज्ञानशून्यना होने से यह सब व्यर्थ श्रम ही रह जाता है। ऐसे ही श्वेताश्वतर महर्षि होगे, इस सम्भावना का निराकरण करने वाला यह विद्वान् पद है।

५ यद्यपि यह ऋषि का नाम है तथापि योगरूढि के द्वारा श्वेत अर्थात् दोष रहित, अश्व अर्थात् इन्द्रिय जिसको हो, वह श्वेताश्वतर हुए। अतिशय से श्वेताश्व श्वेताश्वतर हुआ। तात्पर्य हुआ कि सदा अन्तर्मुख रूप से एव विषय प्रवृत्ति से रहित ही उनका कार्यकरण सघात था, इसीलिये वह श्वेताश्वतर कहे जाते थे। यद्यपि अश्वतर का अर्थ लौकिक सस्कृत मे खच्चर होता है एव सफेद खच्चरो वाले, ऐसा भी इसका अर्थ हो सकता है। तब यह मानना होगा कि सफेद

खच्चरों पर सामान इत्यादि ढोने के कारण उन्हे श्वेताश्वतर कहा जाता रहा होगा। जैसे आजकल भी काली कमली वाले बाबा, गुदडी वाले बाबा इत्यादि।

६. पूर्व काल मे किये हुए कृच्छ्र चान्द्रायण आदि तपो का यद्यपि यहा निर्देश हो सकता है परन्तु वस्तुत वेदात शास्त्र मे इस प्रकार के तप का कोई स्थान नही है। अनेक जगहो पर भाष्यकार स्पष्ट कहते है कि मन और इन्द्रियो की एकाग्रता ही परम तप है जो परमेश्वर प्राप्ति का साधन है। अथवा हित, मित, ऋत अशन ही तप है। अत्यधिक भूखा रहना और अत्यधिक खाना दोनो ही श्रवण, मनन के उपयोगी नही हैं। न खाने से धातुवैषम्य होकर तरह तरह के रोग उत्पन्न होते है। शरीर, सिर इत्यादि मे वेदना होती है एव चित्त परमात्मा मे लगाना असम्भव हो जाता है। अत सन्यासी के लिये ये सब न केवल अनावश्यक है वरन् हानिकारक भी है। गीता मे भी **नात्यश्नतस्तु योगोस्ति** इत्यादि कहकर इसी का समर्थन किया है। शतपथ ब्राह्मण मे भी लिखा है कि **यत् भूय हिनस्ति तत् यत् कनीय न तदवति** अत ठीक भोजन करना ही वास्तविक तप है। अथवा **यस्य ज्ञानमयं तप** इत्यादि अथर्ववेद के आधार पर वेदात विचार स्वय ही एक तप है। वस्तुतस्तु वेदाध्ययन और वेदार्थ विचार से उत्तम और कोई तप है ही नहीं। तैत्तिरीय आरण्यक मे स्पष्ट ही लिखा है कि स्वाध्याय और प्रवचन से महत्तर और कोई भी साधन नही है। **तद्धि तप तद्धि तप** इत्यादि के द्वारा अतिधन्य वेद दो बार कहकर इसी को परम तप बताता है। सामान्य दृष्टि से नित्य नमित्तिक कर्मो का विधिवत् अनुष्ठान करके उनका परम गुरु मे समर्पण भी तप ही माना गया है। **स्ववर्णाश्रमधर्मेण तपसा** इत्यादि वाक्य इसमे प्रमाण है। इस प्रकार के सभी तप श्वेताश्वतर

महर्षि मे नियम से रहा करते थे एव उसके प्रभाव अर्थात् सामर्थ्य से ही वह इस उपनिषद् मे प्रोक्त विद्या बताने मे समर्थ हुए थे।

७ अनेक जन्मो मे परमेश्वर की आराधना बुद्धि से किये हुए कर्मों के फलस्वरूप जो मोक्ष अधिकार की सिद्धि हुई, वही उस महादेव का प्रसाद है। किंच, अनेक लोग इससे सिद्धि भी प्राप्त कर लेते हैं एव ज्ञान सिद्धि भी प्राप्त कर लेते है परन्तु फिर भी महादेव की कृपा के बिना सम्प्रदाय परम्परा का पालन करने मे असमर्थ होते है। अत परमात्मा की कृपा के बिना ऐसा ज्ञानदाढ्र्य जो दूसरो मे भी ज्ञान सचरित कर सके, आना सम्भव नही है। तप के प्रसाद का अर्थ तो तप का सफल हो जाना है अर्थात् तप का स्वभाव हो जाना है परन्तु देवप्रसाद का अर्थ चेतन होने से देव का साक्षात् अनुग्रह ही है। अथवा यदि देव का अर्थ अत करण ले लिया जाये तो अत करण की निर्मलता देव प्रसाद होगी, इस अर्थ मे वेदानुवचन यज्ञ, दान का सग्रह हो जायेगा। द्योतनात्मक होने से अन करण को देव कहना तो ठीक ही है।

८ वामदेव, सनक, नारायण, नारद आदि ऋषियो के समूह को ऋषिसघ कहते है। उनके द्वारा जुष्ट अर्थात् सेवित अर्थात् आत्मरूप से भावना किया हुआ या जाना हुआ प्रतीयमान आनन्दघन परमेश्वर **ऋषिसघजुष्टम्** कहा गया। **आत्मनस्तु कामाय सर्वम् प्रियम् भवति** इत्यादि श्रुतिया इसमे प्रमाण है। अथवा ऋषि अर्थात् इन्द्रिया और इन्द्रियसघ के द्वारा अर्थात् समग्र इन्द्रियो के द्वारा प्रीतान्त करण से सवित् आत्मा। तात्पर्य है कि जब ब्रह्मज्ञान होता है तो सभी इन्द्रिया तृप्त हो जाती है।

९ पवित्र करने वाले पदार्थों को भी यही पवित्र करता है, इसी लिये यह परम पवित्र कहा जाता है। **पवित्राणा पवित्रम् यो इत्यादि**

वाक्य इसमे प्रमाण है। उत्कृष्ट पुरुषार्थरूपी मोक्ष प्राप्ति का हेतु होने से भी इसे परम कहा गया।

१० अविद्या और उसके मलो से असम्बन्धित होना ही उसकी पवित्रता है। अथवा वह समग्र अशुद्धियो के बीच अविद्या को नष्ट कर देता है, इसलिये वह पवित्र है। विशेषणो के सामर्थ्य से विशेष्य ब्रह्म ज्ञान को समझ लेना चाहिये। अथवा ब्रह्म स ब्रह्मज्ञान की उपलक्षणा समझ लेनी चाहिये। **नहि ज्ञानेन सदृशम् पवित्रमिह विद्यते** इत्यादि गीता इसमे प्रमाण है।

११ यद्यपि अह ब्रह्मास्मि इत्यादि वाक्यो मे ब्रह्म तत् पद का वाच्यार्थ कहा गया है लेकिन यहा पर लक्ष्यार्थ समझना चाहिये। अपरिच्छिन्न महत्ता बताने पर उसकी पत्यगात्मस्वरूपता अर्थत प्राप्त हो ही जाती है। इस प्रकार जैसे आत्मा शब्द से ब्रह्म का ग्रहण हो जाता है वसे ही काल मे भी ब्रह्म का ग्रहण हो ही जाता है। ब्रह्म है ऐसा अन्वय करने पर ऐतिह्य बताना इष्ट है अर्थात् श्रुति यह कहना चाहती है कि इस ब्रह्मज्ञान को असम्भव समझकर कोई छोड न दे। श्वेताश्वतर महर्षि, नारायण, वामदेव, वशिष्ठ. इत्यादि अनेक महर्षियो के मुख से अनुभव रूप से सुन करके उसमे अतीव श्रद्धा उत्पन्न करना ही प्रयोजन है। परम्परा से प्राप्त एव गुरुमुख से सुनकर मनन निदिध्यासन के साथ आदर और नैरन्तर्य तथा सत्कारपूर्वक श्रवण का अभ्यास करने से ही अपरोक्षीकृत अखण्ड साक्षात्कार उत्पन्न होता है। श्वेताश्वतर ब्रह्म ऐसा अन्वय करने पर **ब्रह्मवेद ब्रह्मैव भवति** इत्यादि श्रुति के अनुसार श्वेताश्वतर महर्षि स्वय ही ब्रह्म हो गये थे, यह कहने का तात्पर्य है। सूक्ष्म दृष्टि से विचार करने पर वेद राद्धात मे ब्रह्मनिष्ठ ही सगुण ब्रह्म का प्रतीक है। अत सगुण ब्रह्म की उपासना एव प्रसाद वस्तुत परमेश्वर की सेवा और परमेश्वर का प्रसाद है। इसी दृष्टिकोण से यहा श्वेताश्वतर और ब्रह्म को

समानाधिकरण सम्बन्ध से कहा गया है। अथवा अपरिच्छिन्न महत्ता को श्वेताश्वतर ने प्राप्त कर लिया ऐसा सम्बन्ध समझ लेना चाहिये।

१२ **अथ श्वेताश्वतर** और **अथ अत्याश्रमिभ्यः** ऐसा सयोग विभाग करके ज्ञान प्राप्ति के अनन्तर श्वेताश्वतर महर्षि ने साधन चतुष्टय सम्पन्न शिष्यो को प्राप्त करके, जो अत्याश्रमी थे, ब्रह्मविद्या का उपदेश दिया। जब तक साधन चतुष्टय सम्पत्ति विशिष्ट अधिकारी नही मिलता तब तक ब्रह्म विद्या का उपदेश न केवल व्यर्थ है वरन् हानिकारक भी है। किच, साधन चतुष्टय सम्पत्ति हीन पुत्र मे ब्रह्म विद्या का उपदेश ठहरता भी नही, साधन चतुष्टय सम्पत्ति वाले मे वैदिक परमहस सन्यास अर्थत सिद्ध है। इसस भिन्न जो स्मार्त सन्यास है, वह तो लिगो को लेकर होता है परन्तु मुख्य परमहस सन्यास सर्वकर्म सन्यास को कहते है, किसी कर्मान्तिर ग्रहण को नही। श्रौत सन्यास चाहे विविदिषु हो, चाहे विद्वत्, दोनो हो अवस्थाओ मे सर्वकर्मसन्यासरूप ही है। यहा तक कि भिक्षाचर्या, श्रवण, मनन आदि भी उसके लिये दृष्टफलक ही है, अदृष्टफलक नही। सारे अदृष्ट फलो को छोडने के कारण ही वह शिखा, यज्ञोपवीत आदि का भी त्याग करता है क्योकि ये भी अदृष्ट के प्रयोजक ही हैं। स्नान, आचमन, शौच आदि सभी उसके लिये दृष्ट प्रयोजन वाले है, अदृष्ट प्रयोजन का कोई भी कर्म वह नही करता। इसका मुख्य कारण है कि सभी अदृष्ट प्रयोजन के लिये देहविशिष्ट आत्मा मे अभिमान करना आवश्यक होता है। कर्मो का विधान केवल जीव के लिये कही नही किया गया है। ब्राह्मण, क्षत्रिय, आदमी, औरत, पति, पुत्र, नागरिक, राष्ट्र आदि भेदो को लेकर के ही कर्म का विधान है। इन सभी भेदो से अतिरिक्त जो अपने को समझने का प्रयत्न भी कर रहा है, उसके लिये भी कर्म का विधान बनता नही तो जो अपने

को इनसे भिन्न समझता हो, उसके लिये तो कर्मो की प्राप्ति हो ही कसे सकती है। इसीलिये उसे किसी भी स्मार्त आश्रमो मे नही रखा जा सकता। यहा आश्रमातीत कहकर इसी बात को ध्वनित कर रहे है। सर्वकर्मसन्यासी और वेदिक परमहस ही ब्रह्मज्ञान का मुख्य अधिकारी है। लिंगधारण आदि तो दृष्ट प्रयोजक हो भी सकते है, परन्तु उनमे अदृष्ट प्रयोजकता स्वीकार करने पर स्मार्त सन्यास सिद्ध हो जाता है। **अति पूजायाम्** जो चीज पूजा के लायक होती है, उसे अति शब्द से कहा जाता है। अत पूज्य आश्रम होने से भी इसको अत्याश्रम कहा गया। कृष्ण यजुर्वेद भी **तानि वा एतानि अवराणि तपांसि न्यास एवात्यरेचयत् न्यास इति ब्रह्म** के द्वारा यही प्रतिपादित करता है कि बाकी सब तप निकृष्ट कोटि के तप है। सन्यास ही श्रेष्ठ तप है। वस्तुतस्तु सन्यासी ब्रह्म ही है। नारायण अपनी दीपिका मे **अन्त्याश्रमिभ्य** ऐसा पाठ मानते है। तब तो तात्पय होगा कि चार प्रकार के भिक्षुओ मे जो अतिम परमहस गिना गया है, उसका यहा ग्रहण है। परन्तु श्रुतियो मे कही भी इस प्रकार के सन्यासो को कहा भी नही गया है एव लोक मे भी इन सन्यासो को स्मार्त सन्यास ही माना गया है। सर्वज्ञ शकर तो स्पष्ट ही भाष्य मे लिखते है कि **इदम् एकमेव पारिव्राज्यम् वेदोक्तम्** अर्थात् वेद मे कहा हुआ परमहस एक ही सन्यास है। बाकी सब इससे भिन्न स्मार्त सन्यास है। अत स्मार्त सन्यास का विनियोग ब्रह्मज्ञान मे आवश्यक नही है। यदि नारायण का पाठ ही ठीक माना जाये तो भो स्मार्त परमहस सन्यास एवं श्रौत परमहस सन्यास मे कुछ धर्मो की समानता लेकर इसका प्रयोग हो सकता है। अथवा वेदो के चार आश्रमो मे से यह अतिम आश्रम होने से वैदिक परमहस सन्यास का ग्रहण हो सकता है।

जब तक ससाधन कर्मसन्यास नही किया जाता तब तक अहकार का अनुवर्तन रह ही जाता है। अहकार के अनुवर्तित होने पर ईश्वर प्रसाद की प्राप्ति असम्भव है। ईश्वर प्रसाद के बिना ज्ञान की सम्भावना नही। तात्पर्य है कि दो प्रकार से ब्रह्मान्वेषण मे प्रवृत्ति हो सकती है एक जीव के शुद्ध रूप को जानने के लिये एव दूसरी ब्रह्म के शुद्ध रूप को जानने के लिये। इसमे जीव के शुद्ध रूप को जानने के लिये प्रवृत्त का सर्वथा अपना ही सहारा मिलता है, ब्रह्म के यथार्थ रूप का जानने मे जो प्रवृत्त होता है, उसको परमेश्वर की कृपा प्राप्त होने से शीघ्र सहारे की प्राप्ति हो जाती है। सर्वज्ञ शकर भगवत्पादो ने भी इसीलिये ब्रह्मरूपानुसधान और स्वात्मरूपानुसधान इस प्रकार दो माग प्रतिपादित किये है। ब्रह्मसूत्रो मे भी ब्रह्म जिज्ञासा से प्रारम्भ करके ब्रह्म ही सार है, इस प्रकार के मार्ग को विस्तृत किया है। उपनिषदो को देखने पर भी यह प्रतीत होता है कि अधिकतर स्थलो मे ब्रह्म का विचार करते-करते उसका अपरोक्ष आत्मा से ऐक्य प्रतिपादित किया गया है, एव कही कही ही अपवाद रूप से जीव का विचार करते हुए उसे फिर ब्रह्म रूप प्रतिपादित किया गया है। ऐतिहासिक दृष्टि से देखने पर साख्यवादी और योगवादी जीवतत्त्व के विचार मे प्रवृत्त हुए और अततोगत्वा केवल जीवचैतन्य मे अटक गये और बहुपुरुष वाद को मान गये। वेदान्त मे भी जहा-जहा साख्य का प्रभाव आया, वहा-वहा ऐसी प्रवृत्ति देखी जाती है। परन्तु वास्तविक दृष्टि से देखने पर वेदात ईश्वरवादी है, अत ईश्वर के तत्त्व का विवेचन करते हुए ही वेदाती इस बात को जान पाता है कि वह ईश्वर मैं ही हू। यही राजमार्ग है। जब मनुष्य इस प्रकार ईश्वर की तरफ प्रवृत्त होता है और सन्यास के द्वारा उसकी अहता नष्ट हो जाती है तब ईश्वर उसमे शक्तिपात करता है और इसी से ज्ञान की दृढता होती हैं। अत. अति अर्थात् जाग्रत,

स्वप्न, सुषुप्ति को अतीत करके जहा पर स्थिति हो जाये, वही अत्याश्रम है। विद्वत् सन्यास की दृष्टि से स्थिति और विविदिषु सन्यास की दृष्टि से स्थिति के लिये श्रम. इस प्रकार वैदिक सन्यास के दोनो ही लक्षण यहा घट जाते है। परमेश्वर की कृपा की महिमा से ही अपने शरीर आदियो मे एव जीवन, मरण, भोग आदि सबमे अनास्था हो जाना ही सन्यास का बाह्य लक्षण है यदि इस प्रकार वैराग्य पूर्ण रूप से उदय नही होता तो **वैराग्यम् पुष्कलम् न स्यात् निष्फलम् ब्रह्मदर्शनम्। तस्मात् रक्षेत विरतिम् बुधो यत्नेन सर्वदा** इत्यादि स्मृतियो के आधार पर ब्रह्मदर्शन ही जिस जीवन्मुक्ति फल को देने वाला होता है, वह प्रतिबद्ध हो जाता है। अत प्रयत्नपूर्वक यह सरक्षणीय है। अन्यत्र भी कहा है—

यदा मनसि वैराग्यम जायते सर्ववस्तुषु।
तदैव सन्यसेत् विद्वान् अन्यथा पतितो भवेत्॥

मन मे समग्र ससार के प्रति वैराग्य होने पर ही सन्यास करना उचित है अन्यथा आश्रम मर्यादा मे गिर जाता है। सर्वज्ञ शकर भी **वैराग्यस्य फल बोध बोधस्योपरति फल** के द्वारा यही बताते है कि वैराग्य ज्ञान के आगे और पीछे दानो तरफ रहता ही है। इसका परस्पर उपकार्य-उपकारक भाव सम्बन्ध है अर्थात् जैसे-जैसे वैराग्य बढता है वैसे वैसे ज्ञान पुष्ट होता है और जैसे-जैसे ज्ञान बढता है वैसे-वैसे वैराग्य पुष्ट होता है। इस दृष्टि से ही इसको अत्याश्रम कहा गया है।

भास्कर आदि आचार्य तथा अन्य अनेक लोग भी परमहस सन्यासी को शिखा यज्ञोपवीत आदि रहित देखकर वैदिक स्वीकार नही करते। प्रत्यक्ष श्रुतियो को भी वह प्रक्षिप्त मानने जैसा जघन्य अपराध भी करते है। इसका कारण केवल परमहस आश्रम से विद्वेष के अतिरिक्त और कुछ नही है। कर्मों की प्राप्ति जिस प्रकार

विधि से होती है, उसी प्रकार कर्मो का त्याग भी विधि से ही होता है। पुरुषमेध के अत मे भी यजुर्वेद मे स्पष्टत कहा है कि शिखा यज्ञोपवीत आदि का त्याग करके जगल मे चला जाये और वापिस लौटकर न आये। यहा भी आध्यात्मिक तात्पर्य जो भी रहा हो, परन्तु स्पष्ट श्रुति तो यज्ञोपवीत आदि त्याग की मिल ही जाती है। अग्नि होत्र आदि के बारे मे भी जिस प्रकार दो वर्ष या तीन दिन का भी विकल्प मिलता हैं तब **यावज्जीवेत् अग्निहोत्र जुहुयात्** इत्यादि श्रुतियो मे व्यवस्थित विकल्प मानना ही पडता है तो फिर केवल परमहम के लिये इन श्रुतियो के सकोच मे स्वीकृति न देना विद्वेषमूलक हठधर्मिता के अतिरिक्त और कुछ नही है। जब तक परमहस आश्रम को ग्रहण नही किया जायेगा तब तक अदृष्टमूलक कर्मों को न करना प्रत्यवाय का जनक हो जायेगा। कर्मछिद्रो मे ब्रह्म का अन्वेषण करके ब्रह्मसस्थना प्राप्त करना असम्भव है। कर्त्तृत्व और अकर्त्तृत्व एक दूसरे का बाधक होने से दोनो का सहसमुच्चय असम्भव है। मन कोई बिजली का बटन नही है कि जब चाहो दबाओ और जब चाहो छोड दो। अत यदि अकर्तृत्व भाव दृढ होता जायेगा तो कर्म ठीक प्रकार से नही कर पायेगा और यदि कर्तृत्व भाव दृढ होगा तो अपने को अकर्त्ता नही समझ पायेगा। तर्पण, देवपूजा इत्यादि कर्म करता भी रहे और ज्ञान की स्थिति भी होती रहे, यह कैसे सम्भव है। भिक्षा इत्यादि दृष्टफलक कर्म हैं एव शरीर सधारण मात्र के लिये है। अत जिस समय प्रारब्ध जबरदस्ती कर्तृत्वभाव का आपादन करता है तब कर लिया जाता है। अपने से कर्तृत्व भाव को बनाना नही पडता, उल्टा बने हुए कर्तृत्व भाव का बाध करना पडता है। इस प्रकार से प्रारब्ध कर्म जबरदस्ती सध्या अग्निहोत्र के समय मे प्रवृत्त करें यह सम्भव नही है। यदि ऐसा होता तो सभी ब्राह्मण स्वत अग्निहोत्र आदि करते लम्बी शास्त्रीय विधि

की आवश्यकता नही होती। भोजन आदि मे तो पशुओ की भी प्रवृत्ति होती है, अत॰ उसमे किसी विधि की अपेक्षा नही होती। सन्यासी के भोजन आदि के व्यवहार से उसमे अन्य किसी भी प्रकार के विहित कर्मो को प्राप्त कराना इसीलिये सर्वथा निषिद्ध है और न्यायविरुद्ध है। श्रवण आदि तो .उसके सन्यास का उद्देश्य होने से ही एव वहा पर भी विधि अधीनता न होकर के ईश्वर के गुणो से मुग्ध होकर प्रवृत्ति होने से विधि दोष से दुष्ट नही है। इसपर कुछ लोगो को सदेह होता है कि क्या तीन आश्रमो को लेकर के ही चतुर्थ आश्रम मे प्रवेश यहा अत्याश्रम पद से कहा गया है? उत्तर है कि यदि ऐसा इष्ट होता तो अन्त्याश्रम पाठ ही स्वीकृत होता या तुरीयाश्रम कहा गया होता। अत्याश्रम शब्द के प्रयोग से ही बता रहे हैं कि यहा चतुथ आश्रम तीन आश्रमो के अनन्तर होने वाला नही कहा जा रहा है। श्रुति तो इस विषय मे स्पष्ट हैं **ब्रह्मचर्याद् एव प्रव्रजेत्** अर्थात् ब्रह्मचर्याश्रम के बाद ही सान्यास लेना चाहिये। बाद मे विकल्प किया है कि गृहस्थाश्रम और वानप्रस्थ आश्रम से भी किया जा सकता है। अतः मुख्य सान्यास तो ब्रह्मचर्याश्रम से सीधा सन्यास लेना ही है। वस्तुतस्तु स्वाध्याय, अध्ययन के बाद मनुष्य के सामने दोनो रास्ते खुलते है या धर्म जिज्ञासा करे एव गृहस्थाश्रम मे प्रवेश करके धमपालन करे, इसे प्रवृत्तिमार्ग कहते है। अथवा ब्रह्मजिज्ञासा करे एव तदथ सन्यास आश्रम मे प्रवेश करे। इसे निवृत्ति मार्ग कहते है। प्रवृत्ति और निवृत्ति ये दो ही वैदिक धर्म हैं एव साक्षात् या परम्परा से नि श्रेयस् के रास्ते है। यद्यपि मनु ने कहा है—

ऋणानि त्रीण्यपाकृत्य मनो मोक्षे निवेशयेत्।
अनपाकृत्य मोक्षन्तु सेवमानो व्रजत्यध॰ ॥

पितृऋण, ऋषिऋण और देवऋण तीनो ऋणों को चुका कर

के ही मन को मोक्ष मे लगावे। पुत्रोत्पत्ति के द्वारा पितृ ऋण, यज्ञ के द्वारा देव ऋण चुकता है एव वेद के अध्ययन-अध्यापन तथा तर्पण आदि के द्वारा ऋषिऋण चुकता है। इन ऋणो को चुकाये बिना मोक्ष की तरफ जाने वाला नरक को जाता है। पुराणो मे इस प्रकार के अनेक दृष्टात भी दिये गये है परन्तु साक्षात् श्रुति का विरोध होने के कारण ब्रह्मा के अवतार भगवान् सुरेश्वराचार्य वार्तिक मे लिखते है कि—

प्रत्यक्षवेदवचनप्रामाण्यापाश्रयादत ।
आदौ सन्याससंसिद्धि ऋणानीति ह्यपस्मृति ॥

प्रत्यक्ष श्रुति के वाक्य और प्रमाण से निराकृत होने के कारण ब्रह्मचर्य आश्रम से ही सन्यास सिद्ध हो जाता है। अतः मनु का ऋणानि इत्यादि वाक्य अपस्मृति है। अर्थात् भ्रम, प्रमाद अथवा विप्रलिप्सा दोष के द्वारा लिखा गया है। भगवान् पद्मपादाचार्य भी यही लिखते है **ऋणापाकरणद्वारेणापि नियमेन पूर्ववृत्तत्वम् प्रत्युक्तम्** इस प्रकार ब्रह्मचय से सन्यास लेने वाला मुख्य अधिकारी ही अत्याश्रम पद का वाच्य है लेकिन तत्समानधर्मी होने से गृह अथवा वन से सन्यासाश्रम मे जाने वाला भी गौणवृत्या वेदात का अधिकारी होता है।

१३ जैसा कि इस उपनिषद् की व्याख्या को पढने से स्पष्ट हो गया होगा कि वेदात के सार, विषय, साधन सभी इसमे बता दिये गये है। अत वाच्यार्थ, लक्ष्यार्थ, युक्ति, चित्त एकाग्रता के साधन सभी का वर्णन करने से इसको सम्यक कहना ठीक ही है। जिस प्रकार मनुष्यको परमात्मा का अपरोक्ष हो जाये उसी प्रकार का उपदेश करना ही सम्यक् कथन है। इसके द्वारा गुरु की उपदेशकुशलता को भी बता दिया गया। काकाक्षिन्याय से सम्यक् शब्द का **ऋषिसंघजुष्टम्** के साथ भी अन्वय हो सकता है तब तात्पर्य होगा कि

ऋषिसघ के द्वारा आत्मरूप से भली प्रकार प्रेम का विषय बना हुआ ब्रह्म। अथवा सम् अर्थात् समीचीन स्वय प्रकाश आनदात्मा को अचति गच्छति प्राप्त करता है, अत उसे सम्यक् कहा गया। इस पक्ष मे यह ब्रह्मज्ञान का ही विशेषण है। तात्पर्य है कि वामदेव, सनकादि ऋषियो के द्वारा सम्यक् रूप से आनद और प्रियतम होने के कारण आश्रित किया गया।

१८ दयार्द्र चित्त होकर ससार सागर से परे जाने के उपाय को कहा। तात्पर्य है कि अन्य लोग कोई भी उपदेश किसी न किसी साक्षात् या परम्परा से स्वप्रयोजन की सिद्धि के लिये करते है। आत्मज्ञानी के सारे प्रयोजन पूर्ण होने के कारण उपदेश आदि कर्त्तव्यो मे उसका स्वप्रयोजन कुछ भी नही है, फिर भी शिष्य के ऊपर करुणा करके अहैतुकी दया करते हुए उसे ससार सागर से पार ले जाता है। यही प्रकर्ष है। यद्यपि यहा इतिहास रूप से श्वेताश्वतर महर्षि का वर्णन है परन्तु जैसा कि भाष्यकार अन्यत्र भी कई जगह कहते है कि आख्यायिका वेदो मे प्ररोचन के लिये ही होती है। अत वास्तविक रहस्य तो यह है कि इस प्रकार का आत्मज्ञान प्राप्त करने के बाद योग्य शिष्य को प्राप्त करने पर आचार्य के लिये भी यह नियम है कि वह शिष्य को ससार समुद्र से पार उतारे। जिस सम्प्रदाय परम्परा से अपने को ज्ञान प्राप्त हुआ है, उसके उच्छेद को बचाने के लिये प्राण जाने की भी चिन्ता न करे। सक्षेपशारीरक के अत मे सर्वज्ञात्म महामुनि भी यही कहते है कि हे गुरुदेव आपके बिना यह प्राप्त ज्ञान भी मेरे लिये अप्राप्त सा था। अत जब तक एक भी श्वास अवशिष्ट है तब तक आपकी सेवा मे ही लगा रहूगा। गुरु ज्ञान रूप ही होते है। अत ज्ञान सम्प्रदाय का प्रचार प्रसार ही वास्तविक गुरुसेवा है। जब तक ज्ञान की प्राप्ति नही होती तब तक ज्ञान रूपी गुरु का परिचय नही होता। अत सगुण ब्रह्मरूप गुरु की

शारीरिक सेवा भी की जाती है। परन्तु वास्तविक सेवा तो गुरु के ज्ञान देह की ही सेवा है। भगवान् श्रीकृष्ण भी इसीलिये अपनी सर्वोत्कृष्ट भक्ति का वर्णन करते हुए कहते है कि

य इमं परमम् गुह्यम् मद्भक्तेष्वभिधास्यति।
न च तस्मान् मनुष्येषु कश्चिन्मे प्रियकृत्तम ॥

जो मेरे इस ज्ञान को मेरे भक्तो मे स्थापित करेगा, उससे अधिक मेरा प्रिय कार्य करने वाला तीनो लोको मे कोई नही है। अतः प्रोवाच के द्वारा इस सम्प्रदाय परम्परा की अनवच्छिन्न प्रवाहता की विधि भी कर देते है।

२२

आत्मज्ञान का उपदेश किस अधिकारी को करना चाहिये, इसका निर्देश करते है —

वेदान्ते परमम् गुह्यम् पुराकल्पे[1] प्रचोदितम्। न अप्रशान्ताय दातव्यम् न अपुत्राय अशिष्याय[2] वै[3] पुनः ॥

पुरा=पूर्व[4]
कल्पे=कल्प मे[5]
परमम्=परम
गुह्यम्=गोपनीय[6]
वेदान्ते=वेदान्त मे[7]
प्रचोदितम्=कहा गया[8] (तत्त्व)
अप्रशान्ताय=अप्रशात व्यक्ति के लिये[9]
न=नही
दातव्यम्=देना चाहिये[10]
पुन=फिर (नियम करते है कि)
व=निश्चित रूप से
अपुत्राय=जो पुत्र नही है,[11]
अशिष्याय=जो शिष्य नही है,[12]
न=(वह भी अधिकारी) नही है।

१ पुराकल्पप्रचोदितम् इति तु शकरानन्द।

२ नापुत्राय नाशिष्याय इति वा पाठ।

३ वा इति विवरणे पाठ ।

४ पूर्व अर्थात् प्राचीन। अथवा पूर्व शास्त्र जैसे उत्तर मीमासा और पूर्व मीमासा।

५ कल्प शास्त्र। शास्त्र का वह अग है जिसमे मत्र और ब्राह्मणो के आधार पर किस प्रकार किस कर्म को क्रमश करना चाहिये, उसका निरूपण किया गया है। अत प्राचीन कल्प सूत्रो के अनुसार इस वेदात विद्या को परम गुह्य माना गया है, यह कहा जा रहा है। यहा कल्प का अर्थ कालवाचो नही लिया जा सकना जो यद्यपि लौकिक सस्कृत मे प्रसिद्ध है परन्तु वैदिको मे वेदाग रूप से कल्प की अधिक प्रसिद्धि है। यदि यहा कल्प का अर्थ पूर्व कल्प ले लिया जायेगा तो फिर वेद नित्य होने से यह मत्र जिस समय मे भी कहा गया, उस समय मे भी उसके पूर्व कल्प मे कहा जाये, ऐसा अनवस्था दोष प्रसक्त होकर आत्मज्ञान का उपदेश कभी भी किसी को भी नहीं बन सकेगा। अथ च **पुराकल्पे अगुह्यम्** के साथ अन्वय करने से पहले गुह्य था परतु अब गुह्य नही रहा, अत सबको प्रकाशित कर देना चाहिये, यह अनुरोध प्राप्त होगा। यदि कल्प का अर्थ कालवाची करने मे ही आग्रह हो तो श्वेताश्वतर महर्षि का वाक्य मानकर यह अर्थ हो जायेगा कि आज से पहले यद्यपि यह तत्त्व अत्यत गुह्य था परन्तु मैने इसको सरल करके स्पष्ट कर दिया है, यह भाव होगा। वस्तुतस्तु कल्प नियमवाचक ग्रन्थो को कहते है। अत पुरा कल्पे वेदान्ते ऐसा अन्वय कर लेना चाहिये। अर्थात् प्राचीन उपनिषदो के अन्दर इस तत्त्व का प्रतिपादन किया गया है। प्रश्न हो सकता है कि श्रुति किस को प्राचीन कहेगी। यह समझ लेना चाहिये कि श्रुति भविष्य मे आने वाले ग्रन्थो को दृष्टिकोण मे करके कहती है कि आत्मज्ञान का साधन तो पुराकल्प वेदात ही है अर्थात् जो वेदो मे आये हुए उपनिषद् है, वे

ही है, परवर्ती ग्रन्थ वेदात के साधन होने पर भी साक्षात् ब्रह्मज्ञान की उत्पत्ति करने मे भी साधन नही है। तब स्पष्ट अर्थ हो जायेगा कि प्राचीन उपनिषदो मे ही इस गुह्य विद्या का उपदेश किया गया है। आध्यात्मिक दृष्टि वाले कुछ विचारशील पुरुषो की तो यह मान्यता है कि वेदातो मे सृष्टि इत्यादि की प्रक्रिया ही पुराकल्प है क्योंकि उसमे कल्प के आदि का वर्णन है। प्रत्येक उपनिषद् मे सृष्टि के आदि का विस्तार से वर्णन किया है जिसके दो नतीजे हो जाते है। एक तो उन ग्रन्थो मे सृष्टि प्रक्रिया की बहुलता से सारे विचारक उपनिषदों को सृष्टि प्रतिपादक मानकर सृष्टि ज्ञान के लिये उस मे प्रवृत्त होकर उसमे छिपे हुए रूप से बताये हुए जीव शिव ऐक्य ज्ञान को नहा देख पाते। साथ ही दूसरे विवेकी सृष्टि प्रक्रिया के द्वारा समग्र जगत् का कारण आत्मा को समझकर आत्मनिष्ठा भी प्राप्त कर लेते है। इस प्रकार मानो सृष्टि प्रक्रिया अथवा कल्प प्रक्रिया मे वेदातो का रहस्य छिपा हुआ है। अथवा प्राचीन काल से ही प्रवृत्त कल्पनाओ मे (पुराकल्पे) जो जीव शिव की वास्तविकता का ज्ञान है, वह छिपा पडा है।

६ यद्यपि वेदो मे अनेक विद्यायें रहस्यमयी होने से उन्हे सबको बताना निषिद्ध है परन्तु सबसे अधिक गुह्य ब्रह्मज्ञान ही ह क्योंकि योग्य अधिकारी के पास न जाने पर वह स्वय अपनी भी हानि करता है और समाज की भी हानि करता है। अनेक गोपनीय विषय केवल व्यक्ति की अपनी ही हानि करते है। गीता मे भी भगवान् ने इसीलिये इसे **गुह्यतमम् प्रवक्ष्यामि** कहकर निर्देश किया है। किंच, गुह्य का अर्थ रहस्य भी होता है, तब तात्पर्य है कि यह अत्यत एकान्त मे बैठ कर केवल गुरु और शिष्य के बीच मे ही आदान प्रदान की चीज है। जहा चित्तवृत्ति की थोडी सी भी एकता कम हुई, वहा इसका ज्ञान असम्भव हो जायेगा। अथवा जो गुहा मे हो, उसे गुह्य कहते हैं।

हृदय रूपी गुफा मे ही इसका ज्ञान होने से इसे गुह्य कहा जाता है। वस्तुतस्तु गुहा उसे कहते है जिसमे प्रवेश का रास्ता तो हो परन्तु दूसरो तरफ दरवाजा निकल न गया हो। दूसरी तरफ निकल जाने पर उसे सुरग नाम दे दिया जाता है। इसी प्रकार ब्रह्म मे प्रवेश तो किया जा सकता है परन्तु फिर उसका कभी भी बहिर्गमन नही होता। अत वह वास्तविक गुह्य है।

७ वेदात अर्थात् वेद का सिद्धान्त। ब्रह्म वेद के द्वारा ही जाना जाता है और यही वेद का रहस्य है। यहा वेदात मे जाति मे एक वचन समझना चाहिये। अर्थात् सभी उपनिषदो मे। पूर्व मत्र मे जो विशेषण कहे गये है, वे साध्य आदि फलो मे भी हो सकते है। अत वेदात के द्वारा उसकी अत्यत असाधारणता बताते है। **वेदानाम् अन्ता प्राप्यानि** अर्थात् ऋक् आदि शाखा भेदो मे भिन्न जो प्राप्त करने के योग्य पदार्थ, वह वेदात है। यद्यपि वेदातो मे भी हजारो उपासनाये विस्तार से बताई गई है परन्तु वे सब साधन रूप से है, साध्य रूप से नही। ब्रह्म ही वेदातो का साध्य है। अथवा वेद के अतिम भाग मे मिलने के कारण इसको वेदान्त कहा गया है, यह बात यद्यपि आशिक रूप से ही सत्य है तथापि ईशावास्य, महातैत्तिरीय, बृहदारण्यक, छादोग्य इत्यादि कुछ बृहत्तम उपनिषदो के बारे मे तो यह बात सत्य है ही। इनसे उपलक्षणा अन्य उपनिपदो की भी कर लेनी चाहिये। परन्तु यह मत कुछ सगत प्रतीत नही होता क्योकि मत्र सहिताओ मे इतस्तत अनेक मत्र वेदात के है एव रुद्रसूक्त, पुरुषसूक्त, नासदीय सूक्त, शिव सकल्प सूक्त आदि पूरे के पूरे सूक्त ही वेदात प्रतिपादन करते है। अत आधुनिक भाषा मे यह अर्थ प्रचलित होने पर भी विद्वानों को सगत प्रतीत नही होता। वेद का अर्थ ज्ञान भी होता है अत वेदात का अर्थ अतिम ज्ञान भी सम्भव है। तब तात्पर्य ब्रह्माकारवृत्ति से है। अर्थात् ब्रह्माकार वृत्ति ही वास्तविक

वेदात है एव उसको उत्पन्न करने के साधन शब्दसमूह को भी वेदात कह दिया जाता है। यह अर्थ सर्वज्ञ शकर एव सुरेश्वर दोनो को इष्ट है। जहा-जहा जीव ईश्वर की एकता का वचन मिलता है, वे सभी वेदवाक्य वस्तुत वेदात है। यही मत्र, सूत्र, पद, वाक्य, प्रमाण, पारावारियो का अभिमतार्थ है।

८ सम्प्रदाय परम्परा के द्वारा बताना ही प्रकर्ष है। अथवा पुरा कल्परूपेण प्रचोदितम् अर्थात् प्राचीन काल मे कर्त्तव्य रूप से विहित किया गया था। यद्यपि ब्रह्मज्ञान का विधान बनता नही है परन्तु यहा वेदात श्रवण की विधि समझनी चाहिये। तात्पर्य है कि प्राचीन काल मे जब तक त्रेतायुग नही आया था, तब तक लोग बाह्य यज्ञ आदि का विस्तार न करके वेदो के आध्यात्मिक रहस्य को समझकर उसी का पालन करते थे **तानि धर्माणि प्रथमानि आसन्** आदि वेद वाक्य इसमे प्रमाण है। बाह्य यज्ञो का विस्तार त्रेतायुग मे हुआ है। इसे भी अथर्ववेद मे कहा है **तानि त्रेतायाम् बहुधा सततानि**। यद्यपि वेदो मे काल विभाग नही है, अत. यहा त्रेतायाम् का भाष्य मे वैकल्पिक अर्थ भी किया है परन्तु वहा भी तात्पर्य वही है। जब मनुष्य परमेश्वर की तरफ चलता है तब उसे कृतयुग या सत्ययुग मे माना जाता है। उस तरफ चलने के पूर्व खडे होने की अवस्था को त्रेता कहते हैं। अत परमेश्वर की तरफ चलते समय आध्यात्मिक अर्थ और आध्यात्मिक साधना ही की जाती है। जब तक उस पथ का पथिक नही होता तब तक त्रेतायुग मे होने के कारण बहिर्यज्ञो का अनुष्ठान करना पडता है। धर्मसूत्रकारो ने भी **आत्मयाजी श्रेयान्** कहकर इसी तत्त्व का प्रतिपादन किया है। अथवा कल्प के आदि मे हिरण्यगर्भ के लिये ईश्वर ने इसका प्रचोदन अर्थात् उपदेश किया था। अथवा **प्रचोदितम्** का अर्थ **सम्यक् ज्ञातम्** भी हो सकता है क्योकि ज्ञान भी एक प्रकार की प्रेरणा ही है। दहरोपासना आदि

की अपेक्षा इसकी श्रेष्ठता होने से **चोदितम्** न कहकर **प्रचोदितम्** कहा है।

पुराकल्पप्रचोदितम् पाठ स्वीकार करने पर तो पुराकल्प अर्थात् अर्थवाद, जो पाच प्रकार का है। सृष्टि, लय, प्रवेश, नियमन आदि पाचो प्रकार के अर्थवादो मे एकमात्र परमेश्वर का प्रतिपादन ही किया है और ये पाचों प्रकार के अर्थवाद प्रकर्ष रूप से ब्रह्म को ही उपादेय बताते है। अत अर्थवाद के द्वारा उत्कृष्ट रूप से उसकी तरफ जाने की प्रेरणा की गई। अत. उसे **पुराकल्पप्रचोदित** कह दिया गया। वैसे भी अर्थवाद स्तुति करने वाला वाक्य होता है एव नियम है कि **यत् स्तूयते तद् विधीयते** जिसकी स्तुति की जाती है, उसका विधान होता है। अथवा **पुराकल्पप्रचोदितम्** अर्थात् प्राचीन काल से भी सम्प्रदाय परम्परा के द्वारा ही यह तत्त्व उपदिष्ट होता रहा है। इस प्रकार से सम्प्रदाय प्रदर्शन के लिये यह पद दिया है।

६ अब भगवती श्रुति आग्रह पूर्वक उनको विषय करके नियम बनाती है जिन्होने ब्रह्मज्ञान प्राप्त कर लिया है। प्रकर्ष रूप से जिनका मन शान्त नही हो गया है वे इस ज्ञानप्राप्ति के अधिकारी नही हैं अर्थात् जो शम, दम आदि से युक्त नही है, उनको श्वेताश्वतर महर्षि द्वारा कहे हुए वेदसार सर्वस्व अतिम पुरुषार्थ और आत्मज्ञान का दान वैसे ही होगा जैसे कुत्ते का श्राद्ध की खीर खिला देना। पाठान्तर मे तो **प्रशान्ताय पुत्राय एव प्रशान्ताय शिष्याय** ऐसा अन्वय नही हो पाता, अत वहा अर्थ हो जाता है कि जो पुत्र होकर के शिष्य बने, वही इस ज्ञान का अधिकारी है। यह अर्थ छांदोग्य बृहदारण्यक इत्यादियो से विरुद्ध पड जाता है, इसीलिये हमने उस पाठ को स्वीकार नही किया है। स्वीकृत पाठ मे तो जो पुत्र या शिष्य प्रशात हो, वही इस ज्ञान का अधिकारी है। समग्र राग आदि मलो से रहित

चित्त का होना ही प्रशान्त है। तात्पर्य है कि अशात चाहे पुत्र हो चाहे शिष्य, उसको स्नेह आदि के कारण ब्रह्मविद्या का उपदेश नही देना चाहिये। कुछ लोगो ने तो पुन शब्द के आधार पर यहा पर विधि मानकर इस प्रकार के उपदेश करने वाले को प्रत्यवाय की प्राप्ति भी स्वीकार कर ली है। परन्तु ब्रह्मवेत्ता मे विधि स्वीकार करना सर्वश्रुतिविरुद्ध होने से अमान्य ही हो सकता है। फिर यदि ऐसा अर्थ माना जाये तो भी उसका तात्पर्य यही होगा कि जो व्यक्ति ऐसा कार्य करेगा, वह ब्रह्मवेत्ता हो नही सकता एव ब्रह्मवेत्ता न होने पर ब्रह्मज्ञान कहने की इच्छा करने वाला गुरु अवश्य प्रत्यवाय का भागी होता है।

१० यद्यपि देने का अर्थ यहा कहना ही हो सकता है परन्तु केवल मुख से कहने से होता नही। गुरु जब तक अपने हृदय मे दक्षिणा-मूर्ति को स्थापित करके स्पार्शी, चाक्षुषी, वैधी या मानसिक दीक्षा के द्वारा शिष्य के हृदय मे ब्रह्मविद्या का सचार नही करता, तब तक ब्रह्मविद्या की प्राप्ति होती नही। जिस प्रकार एक दीपक दूसरे दीपक को जलाता है, उसी प्रकार ब्रह्माकार वृत्ति रूपी दीपशिखा जब तक शिष्य के अन करण को उद्दीप्त न करे, तब तक वहा वह ज्ञान उत्पन्न होता नही। इसीलिये यहा **दा** धातु का प्रयोग कर लिया। इसी को तत्र की भाषा मे शक्तिपात कहा जाता है। आजकल जो मन आये जैसा उछलना कूदना शक्तिपात माना जाने लगा हैं वह तो एक तरह की भूतलीला मात्र है। ब्रह्मविद्या को बताने वाला गुरु दीर्घकाल तक शिष्य को अपने पास रखकर उसकी भली प्रकार परीक्षा करके उसमे शिष्य के सारे गुणो को जब देख ले या साधनान्तरो से उन गुणो का आधान करा ले, तभी उसको ब्रह्म विद्या दे, यह भाव है। अन्यत्र भी श्रुति ने **भूयस्तपसा ब्रह्मचर्येण श्रद्धया संवत्सरम्** अर्थात् एक वर्ष पर्यन्त तप, ब्रह्मचर्य और श्रद्धा के

साथ रहे, इत्यादि कहा। अन्यत्र भी श्रुतियो मे इन्द्र ने प्रजापति के समीप १०१ वर्ष का ब्रह्मचर्य का पालन किया, इत्यादि प्रसिद्ध है। **पुराकल्पे** का अर्थ यदि पूर्व सृष्टि माना जाये तो **पुराकल्पे प्रचोदितम्** का तात्पर्य हो जायेगा कि पूर्व सृष्टि मे भी यही चला आया है। अत अनादि परम्परासिद्ध है, इस अनादि परम्परासिद्ध ज्ञान का दान किस प्रकार हो, इसे बताने के लिये दातव्य कह दिया। क्योकि जा चीज बिना किसी मूल्य के दी जाती है, उसे दातव्य कहते है। विद्या प्राप्ति क छ उपाय है। उनमे यहा केवल पुत्र या शिष्य ही शान्त होने पर गृहीत है क्योकि आत्मज्ञान केवल ईश्वर और गुरुभक्ति से ही प्राप्त हो सकता है, और किसी उपाय से नही। यह अगले मत्र मे स्पष्ट कहेगे।

११ प्रशान्त होने पर भी जो पुत्र न हो, उसे उपदेश न दिया जाये। ब्राह्म विवाह से केवल परमात्मप्राप्ति के निमित्त गृहीत पत्नी के द्वारा जो औरस पुत्र होता है, वह पुत्र कहा जाता है और वही हमारे पितृलोक के जय का कारण बनता है। ऐसे पुत्र मे पिता मरते समय हृदयालभन के द्वारा ज्ञान प्रतिष्ठापन करता है और कहता है कि मेरे चित्त मे जो ज्ञान है, वह तुम्हारे चित्त मे भी आ जाये, और मेरे सभी व्रत तुम्हारे व्रत बन जाये। इस प्रकार का पुत्र ही यहा इष्ट है। अथवा यहा पुत्र दृष्टात है अर्थात् जैसे पुत्र मे स्वाभाविक अनुराग होता है, वैसा ही अनुराग यदि किसी अधिकारी को देखकर हृदय मे उत्पन्न हो जाये, तभी वह अनुशासन के योग्य होता है। जहा इस प्रकार का प्रेम न हो, उसके प्रति किया हुआ उपदेश भी व्यर्थ हो जाता है। शास्त्रो मे इसीलिये गुरुशुश्रूषा पर इतना बल दिया गया है क्योकि शुश्रूषा के द्वारा ही गुरु मे इस प्रकार की वृत्ति उत्पन्न होती हैं और वह वृत्ति उत्पन्न होने पर ही ब्रह्मविद्या का उपदेश किया जा सकता है। आजकल एक घण्टे का सत्सग सुनकर अथवा

धन आदि के द्वारा कुछ सहायता करके लोग अपने आपको ब्रह्मविद्या का अधिकारी समझने लग जाते हैं। ब्रह्मविद्या माग के नहीं मिलती। जब तक गुरु के हृदय मे पुत्र की तरह उसके प्रति प्रेम न उत्पन्न हो जाये तब तक उसका देना नही बनता। अथवा पुम् का अर्थ नरक होता है। नरक से जो त्राण करे, वह पुत्र है। तात्पय है कि जिस व्यक्ति न अपने को नरक रूपी पाप से बचा लिया है, वही व्यक्ति ब्रह्मविद्या का अधिकारी होता है। अथवा जो गुरु के कष्टों का निवारण करने मे लगा रहता है और इसमे किसी कष्ट को कष्ट ही नही मानता, उसके ऊपर गुरु की कृपा होती है। आचार्य आनन्दगिरि एव आचार्य पद्मपाद इसके ज्वलन्त दृष्टात हैं।

१२ शम, दम आदि अधिकार सम्पत्ति युक्त भी हो, उसके प्रति प्रेम भी हो परन्तु वह शिष्य भाव से ब्रह्मविद्या के लिये इच्छुक न हो तो भी उसे उपदेश देना ठीक नही है। बिना इच्छा के दिया हुआ उपदेश व्यर्थ हो जाना है। अत प्रशान्त, दीर्घकाल तक सेवा करने वाले जिज्ञासु शिष्य को ही यह आत्मज्ञान देना चाहिये। अनधिकारी को देने पर विद्या वीर्यहीन हो जाती है, यह हमेशा याद रखना चाहिये। अर्जुन के प्रति भगवान् का पूर्ण प्रेम होने पर भी, अनेको वर्षों तक एक ही बिछौने पर सोने पर भी जब तक उसने **शिष्यस्तेह शाधि मां** इस प्रकार शिष्यत्व ग्रहण नही किया, तब तक उसे जगद्गुरु कृष्ण ने भी आत्मविद्या का उपदेश नही दिया। अथवा शिष्य पद से यहा भिन्न-भिन्न शास्त्रो मे कहे हुए शास्त्रीय लक्षणो का यथा योग्य सग्रह कर लेना चाहिये अर्थात् जहा शिष्य के लक्षण मिले, ऐसे पुत्र को ही उपदेश देना चाहिये, अन्यथा नही। सयोग विभाग स जिसमे प्रशान्तत्व न हो, ऐसे पुत्र शिष्य को अथवा जिसमे पुत्रवत् प्रेम न हो, ऐसे प्रशान्त शिष्य को अथवा जिसमे शिष्य के गुण न हो, ऐसे प्रशान्त पुत्र को ब्रह्मविद्या देने के निषेधो की प्राप्ति कर लेनी

चाहिये । पुन शब्द को किसी अर्थ मे अपि समझ लेना चाहिये और किसी अर्थ मे एव । अथवा प्रिय (वै) शिष्य भी हो फिर भी अप्रशान्त हो तो भी उसे नही देना चाहिये । अधिकारी पुत्रवत् प्रिय को ही देना चाहिये, यह सारे मत्र का तात्पर्य हुआ ।

२३

यस्य देवे परा भक्तिः यथा देवे तथा गुरौ ।
तस्य एते कथिताः हि अर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः ॥

यस्य=जिस (साधक) को[1]
देवे=महादेव मे[2]
परा=परा[3]
भक्ति=भक्ति है, एव[4]
यथा=जैसी
देवे=महादेव मे
तथा=वैसी
गुरौ=गुरु मे है ।[5]
तस्य=उस
महात्मन=महात्मा को[6]
एते=ये
कथिता.=उक्त[7]
अर्था=विषय[8]
हि=निश्चय रूप से[9]
प्रकाशन्ते=ज्ञात होते है[10] ।

१ परमात्मा मे परा भक्ति होना स्वय परमात्मा की कृपा से ही होता है । परमात्मा और गुरु मे भक्ति वालो को हो गुरु के द्वारा कही हुई विद्या अनुभव मे आ सकती है । बृहदारण्यक भाष्य मे सर्वज्ञ शकर ने लिखा है कि ईश्वर की प्रसन्नता का रूप ही यह है कि परमेश्वर मे श्रद्धा हो । अत यहा साधक का अर्थ वह उत्कृष्ट कोटि का साधक है जिसमे तीव्र शक्तिपात हो चुका है ।

२ यहा सगुण और निर्गुण, परमेश्वर के दोनो ही भावो का सग्रह हैं जो इस उपनिषद् मे प्रतिपादित है । अखण्ड एकरस परज्योति शिव मे ही वास्तविक पर प्रेम सम्भव है । पूर्व मत्र मे कहा गया था कि जो शिष्य उपसन्न हो, उसे आत्मविद्या देनी चाहिये ।

अत. प्रश्न हो सकता था कि यहा उपसत्ति किस प्रकार की होती है अथवा इसका प्रयोजन क्या होता है। उसी को बताने वाला यह मत्र है। उपसत्ति हमेशा किसी न किसी आरोपित रूप मे सम्भव है। उपसत्ति का अर्थ होता है कि यह आरोपित रूप ही मेरे को सारे पुरुषार्थों को दे देगा एव इसके सतुष्ट होने पर मै कृतकृत्य हो जाऊगा। अथच, इसके असतुष्ट होने पर मेरा सर्वस्व चला जायेगा। इस प्रकार की दृढ भावना को उपसत्ति कहते है। इसका प्रयोजन स्वय परमात्मा ही हुआ करता है। जिस प्रकार शालिग्राम मे विष्णु का आरोप किया जाता है, उसी प्रकार अह इस स्फुरण मे उस महादेव का आरोपण किया जाता है। यदि तीव्रतर शक्तिपात के प्रभाव से निर्गुण परमेश्वर मे निरुद्देश्य प्रेम उत्पन्न हो जाये, तब तो बिना आरोप के भी साक्षी भाव मे स्थित हुआ जा सकता है। अत दोनो प्रकार का अर्थ यहा ग्रहण कर लेना चाहिये। यद्यपि कुछ लोग भगवान् और भगवद्देह की समान रूप से चिदानदमयता का प्रतिपादन करते है, पर रूप मे किसी भी प्रकार के ब्रह्मत्व की कल्पना न श्रुतिसिद्ध है, न विचारसह। श्रुति स्पष्ट ही कहती है कि विकारो नामधेयम् नाम मात्र ही विकार हैं। युक्ति के आधार पर जो भी रूप होगा, वह अवश्य परिच्छिन्न होगा और परिच्छिन्न को ब्रह्म कहना तो वदतोव्याघात है। इसी दृष्टि से नित्य और चिन्मयी लीलाओ का कथन भी सगत नही होता। वस्तुत इन सबको आरोप ही स्वीकारा जा सकता है। आरोप मानकर उसके प्रति प्रेम करने मे कुछ लोग यह दोष बताते हैं कि असत्य पदार्थ से प्रेम नही हुआ करता। परन्तु यह शका अति तुच्छ है। प्राय. करके मनुष्य अपने कल्पित रूप से ही प्रेम करता है। लोक मे एक ही वर एक कन्या को पसन्द आता है और दूसरी को नही। अथवा अपना पुत्र टेढी नाक वाला होने पर भी सुन्दर लगता है। इसी प्रकार आरोपित धर्मो मे

ही प्रेम होता है। विचार दृष्टि से शोभनाध्यास ही अनुकूल वेदनीयता का कारण है। पदार्थ की शोभनता ही आकर्षण के प्रति कारण हो, ऐसा नियम नही है। इसलिये भक्ति के लिये इन चीजो को आवश्यक मानना सर्वथा अकारण ही है। तात्पर्य यही है कि चाहे आरोपित भाव से उस महादेव मे, चाहे शुद्ध भाव से उसी मे तीव्र शक्तिपात के कारण यदि प्रेम का उदय हो गया तो अधिकार की प्राप्ति हो गयी।

३ निरुपचरित ही परा है। अचचलता और श्रद्धा इसकी बाह्य प्रतीति है। तीव्र शक्तिपात को ही परा भक्ति कहा जा सकता है। वस्तुत परमात्मा के प्रति जीव स्वय किसी भी प्रकार से गति करने मे असमर्थ है, जब तक उसमे प्रातिभ ज्ञान उत्पन्न न हो जाये। हृदय मे सत्तर्क अथवा शुद्ध विद्या का प्रकाश होना ही इसका रूप है। इसके द्वारा शिव मे निश्चल और निश्छल प्रेम उत्पन्न होता है एव अनुभूत तत्त्व को स्वायत्त करने की सामर्थ्य आती है। एव कभी जो शास्त्र नही पढा, उसका भी अर्थज्ञान हो जाता है। विवेक की वृद्धि से यद्यपि अनेक सिद्धिया प्रकट होती है परन्तु चित् भाव मे उपरामता होने के कारण उन सिद्धियो के प्रति राग नही रहता। वह लडको के खेल अथवा स्वप्न के समान प्रतीत होता है। जिस प्रकार छोटे से दर्पण मे सारे पर्वत का प्रतिबिम्ब पड जाता है, वैसे ही प्रातिभ ज्ञान के आलोक मे अनतकोटि ब्रह्माण्ड प्रतीत हो जाते है। सारा विश्व आनन्दघन की तरह भान होने लगता है। हेय उपादेय का ज्ञान नही रहता। शाप तथा अनुग्रह की सामर्थ्य स्वभावत हो जाती है। परन्तु प्रातिभ का योग होने के कारण बिना परमात्मा की आज्ञा के इनका प्रयोग वह कभी नही कर पाता।

४ यद्यपि गीतोक्त प्रकार से चार प्रकार की भक्ति मानी गई है लेकिन उसमे से तीन प्रकार तो अपराभक्ति है। परा भक्ति तो केवल

ज्ञाननिष्ठा को ही कहते हैं क्योकि इसी को भगवान् ने अपना अभिन्न रूप बताया है। **ज्ञाननिष्ठालक्षणया भक्त्या** इत्यादि शाकरभाष्य इसमे प्रमाण है। प्रश्न हो सकता है कि ज्ञान उत्पन्न होते ही जब अज्ञान की निवृत्ति कर देता है तो फिर यह ज्ञाननिष्ठा किम् रूप है। आवृत्ति रूप मानने पर तो प्रसख्यानवाद प्राप्त हो जायेगा जो वेदात सिद्धान्त को मान्य नही है। वस्तुतस्तु ज्ञान उत्पन्न होना ही यद्यपि अज्ञान को नष्ट कर देता है परन्तु वह असम्भावना और विपरीत भावना से ग्रस्त होने के कारण अपने फल नित्यानद की स्थिति नही करा पाता। अत ज्ञान के परिपाक के सहकारी कारण शुद्ध अत करण के साथ सर्वकर्म सन्यास के अवस्थान को ही यहा भक्ति शब्द से कहा गया है। जिस प्रकार गगा सागर को जाने वाला व्यक्ति एव भृगुकच्छ को जाने वाला व्यक्ति सर्वथा विपरीत मार्ग के पथिक होते है, उसी प्रकार अविक्रिय प्रत्यगात्मा के स्वरूप मे निष्ठा करने की इच्छा वाला व्यक्ति, एव ससार के प्रति जो क्रियास्वरूपता उसकी तरफ जाने वाला व्यक्ति एक मार्ग के पथिक नही हो सकते। **प्रत्यगात्मविषयप्रत्ययसंतानपरिणामनिवेश ज्ञाननिष्ठा** कहकर सर्वज्ञ शकर यही बताते है कि प्रत्यगात्मा की प्रतीति के सतत बने रहने मे अभिनिवेश करना हो ज्ञाननिष्ठा है। उसके लिये जब-जब बाह्य पदार्थों की वृत्ति बनेगी, तब-तब उन्हे निवृत्त करने मे स्वत प्रवृत्ति होगी एव यदि अविद्या लेश के बल से स्वत नही होगी तो नियमविधि से तो अवश्य ही हो जायेगी। अत यहा पराभक्ति का असली अर्थ प्रत्यगात्मा की सतत वृत्ति को बनाना है जो केवल परमहस मे ही सम्भव हैं।

गीता मे भगवान् ने परम गुरु की सेवा मैं कर रहा हू, ऐसा समझकर उनके सिद्धान्त का प्रचार और प्रसार करना परा भक्ति बतायी हैं। अतः यहा पर उसका भी सग्रह समझ लेना चाहिये।

५ गुरु और देव मे एकता की बुद्धि ही यहा बताई जा रही है क्योकि वेदात सिद्धान्त मे ब्रह्मनिष्ठ गुरु सगुण परमात्म रूप ही है। यह पहले भी प्रतिपादित किया जा चुका है। देवभक्ति और गुरुभक्ति को अतरग साधन बताना इस मत्र का प्रधान तात्पर्य है। आस्तिक्य बुद्धि से युक्त होकर शरीर, इन्द्रिय, मन, को इष्ट मे समपरण करना ही वास्तविक भजन क्रिया है। ब्रह्मज्ञान उपदेष्टा ही वास्तविक गुरु पद का वाच्य होता है। जिस प्रकार सिर के ऊपर अगारा जल रहा हो तो जलराशि के अन्वेषण को छोडकर और कोई दूसरा उपाय करने मे मनुष्य प्रवृत्त नहीं होता। उसी प्रकार भूखा व्यक्ति भोजन को छोडकर और किसी साधन को करने मे प्रवृत्त नही होता। जैसे ये दोनो दृष्टात है, वैसे ही परमात्म प्राप्ति की इच्छा वाले मुख्य अधिकारी साधक की गुरु की कृपा को छोडकर और किसी साधन मे प्रवृत्ति नही होती। ससार ताप से तपने वाला व्यक्ति भी छोटी चीजो की तरफ प्रवृत्त न होकर के आत्मज्ञान को बताने वाले आचार्य की तरफ ही प्रवृत्ति करता है क्योकि उसके सिवाय और किसी उपाय से ब्रह्म विद्या दुर्लभ है। उत्तम साधक को ही ऊपर कहे हुए श्वेताश्वतर महात्मा कवि के उपदेश स्वानुभव को उत्पन्न करने मे समर्थ होते है, यह तो स्पष्ट ही है। तात्पर्य यह हो गया कि जो महानुभाव इस उपनिषद् मे बताये हुए ज्ञान को प्राप्त करना चाहे, उनके लिये महादेव रूप गुरु विषयक निरुपाधिक भक्ति ही प्रधान रूप से कर्त्तव्य है। गुरु कार्य का साधन ही वास्तविक दृष्टि से आतरिक सेवा है। **देवे रुष्टे गुरुस्त्राता गुरौ रुष्टे न कश्चन** इत्यादि वाक्यो के अनुसार महादेव के रुष्ट हो जाने पर भी गुरु त्राण कर सकते है, परन्तु गुरु के रुष्ट होने पर महादेव भी त्राण नही कर सकते। अत. देव की अवज्ञा करके भी गुरु की आज्ञा का पालन करना चाहिये। स्पष्ट ही अनादि काल से परमात्मा विद्यमान है परन्तु गुरु के अभाव में ससार बधन की

निवृत्ति नही कर पाता। अत इस प्रकार की गुरुभक्ति ही उपाय है एव ऊपर कहा हुआ तत्त्व उपेय है।

६ आत्मज्ञान को प्रत्यक्ष की तरह जो अनुभव करना चाहता है अर्थात् आत्मा जिस ज्ञान का विषय है एव मोक्ष जिसका प्रयोजन हैं, इस प्रकार का अपरोक्ष साक्षात्कार करना चाहता है, उसे ही महान् अनुभव वाला होने के कारण महात्मा कहा गया है। यह ऐसा ही है, इस प्रकार का दृढ़ निश्चय तभी पैदा हो पाता है। यही वस्तुत: प्रकाश कहा जाता हैं। अथवा गर्व आदि रहित होने से महान् जिसका अत करण है, उसको भी महात्मा कह दिया जाता है।

७. इस उपनिषद् मे जो साधन और साध्य बताये गये हैं, वे सभी इस सर्वनाम से ग्रहण कर लेने चाहिये। यद्यपि सारे ही वेद आत्मतत्त्व को ही प्रतिपादित करते है परन्तु वेदात तो स्पष्टत इसके अतिरिक्त और किसी चीज का प्रतिपादन करता ही नहीं। शमी के वृक्ष पर उगे हुए (शमीगर्भ) पीपल के वृक्ष की पूर्वमुख या उत्तर-मुख या ऊपर को फैली हुई शाखा को पीछे की ओर ताके बिना काटकर उस लकडी से अरणियों का निर्माण किया जाता है। अरणी की लम्बाई २४ अंगुल, चौडाई ६ अगुल और ऊ चाई ४ अगुल होनी चाहिये। इसमे पहला भाग चार अगुल मस्तिष्क, नेत्र, कान और मुख माना जाता है, दूसरा भाग चार अगुल गर्दन छाती और हृदय माना जाता है एव तीसरा पेट, कमर और वस्ति छ अगुल तथा चौथा दो अगुल गुह्य स्थान है। पाचवा चार अगुल दोनो जाघें हैं। तथा जिस भाग मे दोनो घुटने और पैर वाले चार अगुल है, दो अगुल वाले योनि स्थान का मथन करके अग्नि को उद्दीप्त किया जाता है। प्रथम मथन के लिये ही यह नियम हैं। बाद के मथनो के समय स्थान विशेष का विचार नही किया जाता। जिससे देह शुद्धि, इन्द्रिय शुद्धि,

अहकार शुद्धि और चित्त शुद्धि आदि होती है, उन्ही को यज्ञ कहा जाता है। कर्म से जो यज्ञेश्वर की प्रसन्नता होती हैं, वही अमृत है। त्याग और ग्रहण ही कर्म के दो अग हैं। प्रकृति राज्य मे सभी पदार्थ सांकर्य दोष से युक्त हैं। यहा ऐसा कुछ नहीं, जो बिल्कुल निर्मल हो अथवा केवल मल हो। जिसके द्वारा यह सारासार विवेचन किया जाता है, वही चैतन्य शक्ति है। यज्ञीय परिभाषा मे उसी का प्रतिनिधि सुसास्कृत अग्नि है। मनुष्य देहात्मपरम्परा से ही निम्नतम भूमि मे स्थित है। जाग्रत् शक्ति सर्वप्रथम आत्मबोध को देह से हटाकर समष्टि या महा समष्टि की ओर ले जाती है। पचाग्नि मे महायज्ञ के प्रारम्भ मे जठरानल मे आहार्य की आहुति देने से प्राणाग्निहोत्र के प्रभाव से सप्तम धातु का विकास होता है। सामान्यत बिन्दु की आहुति देना असम्भव होने से वह मृत्यु का कारण बनती है। महाभारत की प्रदीप टीका मे आचार्य नीलकण्ठ ने लिखा है कि मनोवहा नाडी अन्न रस द्वारा हृदयातर वृत्ति मन को आप्यायित करती है, यही अन्न रस की सूक्ष्म सत्ता सम्पूर्ण देह मे तेज के रूप मे सचित होती है जिससे देह मे काति, सौन्दर्य, लावण्य, धृति, स्वास्थ्य आदि गुणो का विकास होता है। चित्त मे कामना, उदय होने पर वह तेज उत्तप्त होकर वीर्य रूप मे परिणत हो जाता है। तब वही मनोवहा नाडी उसे सारे शरीर से खींचकर घनीभूत करके अपने बहिर्मुख वेग से देह मे रहने नहीं देती। महर्षि अत्रि को अन्न, रस व कामना हीन मनोवहा होने से त्रिबीज के अभाव रूप होने से ही अत्रि कहा गया है। प्राय इस बिन्दु का क्षरण देह के कालाग्नि कुण्ड मे होता है एव उसके फलस्वरूप जरा, मरण, विकार, मालिन्य आदि उत्पन्न होते हैं। यदि ऐसा न किया जाये तो वह शुद्ध हुआ हुआ क्रमश सहस्रार के मध्यबिन्दु मे पहुँचकर सादाख्य कला के रूप मे परिणत हो जाता है। भगवान् सुरेश्वराचार्य ने इसीलिये कहा है **मूर्ध्नि सचिनुते सुधाम्** शखिनी

नाडी मूर्धा मे अमृत का सचय करती है। यदि यह ज्ञानपूर्वक किया जाता है तो ब्राह्मी स्थिति हो जाती है। अन्यथा आशिक रूप से क्षरण की सम्भावना बनी रहने के कारण स्वप्रकाशमय स्थिति नही हो पाती। बिन्दु की सामान्य रूप से आहुति द्वितीय अग्नि मे पडती है। उसका सार भाग प्राणमय कोश को पुष्ट करता है। मन का धर्म सकल्प और विकल्प है। अत वह निर्मल नही है। साधारणत जीव इसी विकल्प के अधीन है। चतुर्थ अग्नि मे इसकी आहुति होने पर मन से विकल्प अश हट जाता है, जिसे विज्ञान कहते है अर्थात् विशुद्ध सकल्पमात्र ही विज्ञान है। विज्ञान भूमि का जीव सत्यसकल्पतावश योगसिद्ध है। वहा मनोवहा नाडी निष्क्रिय हो जाती है। पुराण आदि मे उसको ईश्वर भी कहा गया है। वस्तुत यह ईश्वरमय जीव की भूमि है। विज्ञानमय मे अनुकूलता और प्रतिकूलता दोनो है। प्रतिकूलता विज्ञान का मल है। अत जब विज्ञान की भी आहुति दी जाती है तब वह शुद्ध होकर आनन्दरूप मे परिणत होती है जो पचम अमृत है। यह अमृत और अक्षय है यही आनन्दरूप सवित् है। इसकी आहुति नही देनी पडती। परन्तु सूक्ष्मद्रष्टा लोग जानते है कि आनन्दमय कोश भी कोश मे ही गोपनीय है। इसलिये उसका भी अतिक्रम करना पडता है। यहा अपने को रिक्त करना पडता है, इसका नाम ही आत्मसमर्पण है और यही पूर्ण आत्मस्वरूप मे प्रतिष्ठा का साधन है। यहा पहुँचकर अमृत भाव और निर्मल भाव पूर्ण हो जाता है जब तक यह नही होता तब तक अद्वय, विशुद्ध चैतन्य मे स्थिति नही होती। दृढ ब्रह्मानुभवी इस बात को जानते है कि आनन्द ही प्रियतम परमात्मा को उपहार देने के लिये एकमात्र योग्य वस्तु है। अन्य जितनी भी आहुतिया है, वे तो तब तक हैं जब तक इस आनन्द को प्राप्त नही किया। अत जिस मलिन आनन्द को आनद समझते रहे, उसको जला देना ही है। मोटी भाषा मे कह सकते है कि प्रथम पचाग्नि में

आनन्द के साथ आहुति रूप से निरानन्द का ही अर्पण होता है एव इस मलिन आनन्द के अर्पण करने से ही आनद का निर्मल रूप स्वायत्त होता है। चरम आहुति मे उस निर्मल आनन्द का ऐसा समर्पण करनेपर स्वरूपस्थिति की प्राप्ति होती है। अविद्याग्रथि नष्ट हो जाती है और द्वन्द्वातीत परम समाधि मे प्रतिष्ठापित हो जाता है। सक्षेप मे कह सकते है कि उन्हे मृत्यु भी देनी होगी, अमृत भी देना होगा। दु ख भी शिव को ही अर्पित करना पडेगा और उसके बाद आनन्द भी उन्हे दे देना होगा। हेय और उपादेय दोनो उन्हे देने होगे। तभी निर्मल प्रकाश का उदय होगा। तभी अद्वितीय सत्ता जो आनन्द रूप मे प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर होती है, शिव रूप बन जायेगी। अमृत, मृत्यु, सुख, दु ख सभी वह ही है। लौकिक या अलौकिक किसी भी अग्नि की सामर्थ्य नही है जो उस चरम अर्थात् पूर्ण आहुति का गहण कर सके क्योकि वह तो शुद्ध निर्मल अमृत है। एकमात्र विशुद्ध चैतन्य अग्नि मे ही उस निर्मल सोम को धारण करने की सामर्थ्य है। वहा अग्निरूप सोम एकाग्र हो जाता है। यही शिव शक्ति का सामरस्य है, यही परिपूर्ण सत्य है। यद्यपि यहा याज्ञिको की दृष्टि से पञ्चाग्नि का ही उल्लेख है एव उपनिषद् मे भी पचाग्नि विद्या का ही वर्णन है, तथापि यह स्मरण रखना चाहिये कि अग्नियो की सख्या इससे बहुत अधिक है। भगवान् सुरेश्वराचार्य ने मानसोल्लास मे कालाग्नि, वाडवाग्नि, विहिताग्नि, पृथ्व्याग्नि, सूर्याग्नि इत्यादि भेद से अनेक अग्नियो का बडा निरूपण किया है। वेदो मे मरुताग्नि, चद्राग्नि, शोभनाग्नि, हुताग्नि, अशनाग्नि, हव्यवाहन, साहसाग्नि, व्रताग्नि, मृदाग्नि, जठराग्नि, क्रव्याद अग्नि, सवर्तकाग्नि, पावक आदि अग्नियो के अनेक भेद बताये है। वस्तुत एक ही स्तरहीन अखण्ड सत्ता सर्वत्र विराजमान है, उसमे अनत स्तरो की कल्पना की जा सकती है और फिर समझने के लिये उनका कोटिकरण (Categor-

isation) भी किया जा सकता है। जब सभी अग्नियो की क्रिया समाप्त हो जाती है तो अग्नि का आत्मा मे आरोप हो जाता है। उसी प्रकार आत्मभाव अनात्म सत्ता से हटकर द्रष्टा के स्वरूप मे ही स्थित हो जाता है।

सृष्टि रहस्य अत्यत विचित्र है। यहा अमरता और मृत्यु, आनन्द और दु ख, अच्छा और बुरा हमेशा साथ-साथ ही लगे रहते है। आत्मबलि और यज्ञ के द्वारा उसमे से निर्मल अश को ग्रहण करके ऊपर उठा जाता है एव अशुद्धि का त्याग करना पडता है। शनै शनै वहा पहुँचते है जहा मृत्यु समाप्त हो जाती है। दु ख का लवलेश नही रहता, असार वस्तु तुच्छ हो जाती है। यही महाज्ञान का उदय है। उस समय अनुकूल और प्रतिकूल पृथक् रूप से नही रहते। तब लगता है कि प्रकाश की भूमिका पर प्रकाश ही खेल खेल रहा है। सब कुछ अपने मे ही विराजमान है। न कुछ बाहर है, न कुछ भीतर। वस्तुत अपरोक्ष शिव तत्त्व उदय अस्त से रहित, अत' अकर्म है। यही अग्नि वस्तुत गुहाहित कही गई है। आत्मविस्मृति, सदेह आदि भावो से अवच्छिन्न जीव इस मध्य बिन्दु से दूर हो जाता है और इसीलिये शुद्ध, चित् का अज्ञान होकर कर्त्तृत्व की भावना, शक्ति का सकोच आदि अविद्या के परिणाम सामने आ जाते है। अंत में जब इन्द्रिय को स्रुक् बनाकर शिवरूपी अग्नि मे शक्तिरूपी अग्नि ज्वालाओ के मुख के द्वारा परिच्छिन्न चिदात्मा होता बनकर सर्व अनुभूतियो की आहुति देता है, तब पृथक्ता और भेद नष्ट होकर अमृतभाव का आविर्भाव होता है। इस प्रकार की बोधेद्धा वृत्ति से इन्द्रियो के अधिष्ठाता देवता अमृत का भोग करते है। देवता भी तृप्त होकर आनंद-बोध के साथ अभिन्न हो जाते है, यही पूर्णता महा स्वतन्त्र एव अद्वैत भाव है। परशुराम कल्पसूत्र मे इसीलिये कहा है **सर्वम् वेद्यम् हव्यम्, इन्द्रियाणि स्रुव, शक्तयो ज्वाला, स्वात्मा शिव, पावका स्वयमेव**

होता। आत्मा त्वं गिरिजा मति सहचरा प्राणाः शरीरम् गृहम्। पूजा ते विषयोपभोगरचना तथा **प्रणाम संवेश सुखमखिलमात्मार्पणदृशा। सपर्यापर्यायस्तव भवतु यन्मे विलसितम्** इत्यादि के द्वारा सर्वज्ञ शकर भी इसी बात का प्रतिपादन करते है। **अत प्रभास्वति निरंतरमेधमाने मोहाधकारपरिपंथिनि सविदग्नौ। कस्मिश्चि दद्भुतमरीचिविकासभूम्यै विश्वम् जुहोमि वसुधादि शिवावसानम्।** इत्यादि के द्वारा इसी का प्रतिपादन किया गया है।

८ इस समग्र उपनिषद् का वास्तविक अर्थ जीव और शिव की सजातीय, विजातीय, स्वगत तीनों भेदो से रहित एकता ही है। शिव निरतर जीव की भावना कर रहा है परन्तु जीव शिव की भावना नही कर रहा। इसीलिये जीव को कर्त्तव्य का उपदेश देना पडता है, शिव को नही। **मनुष्याधिकारत्वात् शास्त्रस्य** इत्यादि ब्रह्मसूत्र भाष्य इसी बात का प्रतिपादन करता है। शिव अपनी शक्ति से जीव को आनद भोग प्रदान करता रहता है परन्तु शिव प्रदत्त इन भोगो को बिना उसे अर्पित किये हुए ही जीव भोग करके ऋणी बनता जाता है। अर्थात् जीवगत भाव से अपने को परिच्छिन्न मानता हुआ एक छोटे से शरीर, मन के सघात की कामना की पूर्ति के लिये रात दिन प्रयत्न करता रहता है। तुच्छ अहकार के वश मे हुआ कभी अशुभ कर्मों के द्वारा इन कामनाओ की पूर्ति करना चाहता है, कभी शुभ कर्मों के द्वारा। यद्यपि शिव उसे भोग देता है, परन्तु उसके लिये उन्हे चिता करने की आवश्यकता नही है क्योकि वह तो स्वय ही अपनी चिता कर रहा है। परन्तु जो अपनी चिता छोडकर शिव के आतरिक सम्बन्ध को समझ लेता है, वह अनन्य चित्त होकर केवल शिव का ही ध्यान करता है। वह अपनी चिता नही करता, इसलिये उसके भोग और मोक्ष दोनो की चिता केवल शिव ही करते हैं। तात्पर्य यह है कि जिसके हृदय मे दूसरो की चिता लगी हुई है, इस

भाव से नही कि वे दूसरे है, परन्तु साक्षात् अपना ही आत्मस्वरूप है, वह मगलमय जगत् चक्र रूपी यज्ञ को होता बनकर के जगत् चक्र मे से बाहर निकल जाता है। इन्द्रियाराम व्यर्थजीवन वाले व्यक्ति के लिये विश्वसस्थान मे भस्म होने के अतिरिक्त दूसरा उपाय नही है। वह केवल खगोल चक्र मे पिसा जाकर जन्म, मरण, सुख, दुख, रोग, शोक आदि के आवर्त मे पडा हुआ कभी-कभी क्षणमात्र की मधु की एक बू द के मिठास को होठों पर चाट कर अपने आपको कृतार्थसा मानता रहता है। ऐसे लोगो को विषय करने के लिये ही अथर्ववेद ने कहा है कि जिन कर्मो मे मनुष्य कर्मेन्द्रियो, ज्ञानेन्द्रियो, प्राण, मन, बुद्धि और अहकार इन १८ रूपो के भरोसे ही काम करता है और इनके लिये ही सारी प्रवृत्ति करता है, वह पुन पुन ससार चक्र मे ही घूमता रहता है।

प्लवा ह्येते अदृढ़ा यज्ञरूपा अष्टादशोक्तम् अवरम् येषु कर्म।
एतच्छ्रेयो येभिनन्दन्ति मूढ़ा जरामृत्युम् ते पुनरेवापि यान्ति ॥

समग्र उपनिषदो का यही सार है एव इन उपनिषदो मे भी ब्रह्म चक्र इत्यादि के निरूपण के द्वारा इसका स्पष्ट प्रतिपादन किया है। यह स्मरण रखना चाहिये कि बहिर्मुख मनुष्य के लिये जो वृत्ति बधन का कारण बनती है, ठीक वही अतर्मुख व्यक्ति के लिये परमात्म शक्ति का विलास बन जाती है। **बहिर्मुखस्य मन्त्रस्य वृत्तयो या. प्रकीर्तिता । ता एवान्तर्मुखस्यास्य शक्तय परिकीर्तिताः ।**

६ जिसकी ईश्वर और गुरु मे भक्ति है, उसको तत्त्वज्ञान न हो, यह वैसे ही असम्भव है जैसे सूर्य के उदय होने पर अधकार का नाश न होना। भक्ति तारतम्य के कारण इसमे देर-अबेर हो सकती है। परन्तु **यस्मिन् काले तु गुरुणा निर्विकल्पम् प्रकाशितम्। तदैव किल मुक्तोऽसौ यन्त्रस् तिष्ठति केवलम्** इत्यादि के द्वारा यह स्पष्ट है कि गुरु जैसे ही आत्मज्ञान का उपदेश देता है, उसी क्षण जीव मुक्त हो

जाता है। उसके बाद वह यही अनुभव करता है कि मेरा शरीर और मन केवल उनके द्वारा परिचालित यन्त्रमात्र है। यन्त्री तो वे ही है। जिस प्रकार आवाज ढोल से निकलती है परन्तु वही आवाज निकलती है जो बजाने वाला निकाल रहा है। यदि परमात्मा की अथवा गुरु की इस कृपा को हृदय मे अनुभव किया जाता है तो जीवन्मुक्ति की प्राप्ति हो जाती है। अन्यथा अविद्यालेश और प्रारब्ध क प्रतिबन्ध के कारण इस आनन्द से वचित रहना होता है।

१० प्रमाणगत, प्रमेयगत और प्रमातृगत दोषो के कारण ज्ञान की पूर्णता नही हो पाती। गुरु प्रमाणगत प्रमेयगत तथा प्रमातृगत सशयो को निवृत्त कर देते है। वेद जीवेश्वर की एकता का प्रतिपादन नही करते, यह प्रमाणगत सशय है। वेद प्रतिपादित होने पर भी क्या वस्तुत जीव और ईश्वर की एकता है, यह प्रमेयगत सशय है। पापो से आवृत हुआ हुआ जीव इस रूप को देखने मे समर्थ नही हो पाता, यह प्रमातृगत दोष है। इन तीनो दोषो की निवृत्ति गुरु ईश्वर की भक्ति से हो जाती है। अथवा यहाँ शास्त्र का तात्पर्य बता रहे है। अत पराभक्ति वाले अत करण मे प्रमाण और प्रमेयगत सशय तो आ ही नही सकते और जब वह ही मेरे अन्दर बैठा हुआ है तो पापादि स्पर्श भी कैसे कर सकते है, यह भाव प्रमातृगत सशय को भी दूर कर देता हैं। ईश्वर की कृपा के बिना गुरु कृपा उपलब्ध ही नही हो सकती क्योकि शास्त्र का चरम रहस्य है कि ईश्वर ही गुरु मूर्ति धारण करके तत्त्वज्ञान का उपदेश देते है। जहा असत् गुरु मे भी श्रद्धा देखी जाती है, उसके पीछे भी महामहेश्वर का ही सकल्प है क्योकि जब तक साधक मे पूर्ण ज्ञान को ग्रहण करने की सामर्थ्य नही आती तब तक ब्रह्मनिष्ठ गुरु के द्वारा उपदेश सफल नहीं हो सकता। जैसे विशेषज्ञ चिकित्सक के पास जाने के पूर्व सामान्य चिकित्सक के द्वारा इलाज कराना पडता है एव उसके

माध्यम से ही वहा पहुँचा जा सकता है। उसी प्रकार असत् गुरु के माध्यम से सद्गुरु की प्राप्ति होती है। वास्तविक विचारक इसीलिये यह जानते है कि एकमात्र वह महामहेश्वर ही अपने अखण्ड सकल्प से सभी जीवो को पूर्णता की ओर ले जा रहा है क्योकि वह स्वय ही तो उन सभी जीवरूपो मे खेल रहा है एव अपने आपको बद्ध अनुभव कर रहा है। सभी काल क्रम से परिपक्व हुए हुए पूर्णता की ओर ही जा रहे है। अत मेरी श्रद्धा ठीक है या नही अथवा किसी दूसरे की श्रद्धा ठीक है या नही, ये दोनो विचार असगत होने से सर्वरूपो मे स्थित परमात्मा ही सारी क्रीडा कर रहा है यही अतिम प्रकाश सबततम है। इस प्रकाश के होने पर ही फिर और कोई कर्त्तव्य शेष नही रह जाता।

प्राचीन परम्परा के अनुसार अतिम मत्र के अतिम पाद को अथवा समग्र मत्र को दो बार पाठ किया जाता है, यह ग्रन्थ की समाप्ति का द्योतक होता है।

वेदान्तसिंहरूपाय नृरूपाय विलोकने।
प्रत्यगात्मात्मभूताय निर्मलाय नमो नम ॥